गुन्नार मिर्डल

# विश्व निर्धनता की चुनौती

हिन्दी सम्पादन
महेन्द्र भारद्वाज

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली : पटना

Hindi translation of
THE CHALLENGE OF WORLD POVERTY,
originally published by
Pantheon Books,
New York.



सत्य प्रकाशन,
बी 1/6 राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली
के लिए
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली,
द्वारा प्रकाशित



प्रथम हिन्दी संस्करण : मार्च, 1976

मूल्य : रु० 35 00

मुद्रक : गजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
नवीन शाहदरा, दिल्ली

## विषय-क्रम

# निवेदन

प्रोफेसर गुन्नार मिर्डल की रचनाओं में एक ऐसे महान विद्रोही का स्वर सर्वत्र सुनायी पड़ता है, जिसने आर्थिक अनुसन्धान में पूर्वाग्रह और अवसरवादिता के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठा रखा है। पर यही गुन्नार मिर्डल एक व्यक्ति के रूप में बालकों-जैसा सरल और निश्छल हो सकता है, इस बात का परिचय मुझे उनसे फरवरी 1973 में अपनी पहली भेंट के समय मिला। प्रोफेसर मिर्डल की रचनाओ से मेरा लम्बे अर्से से घनिष्ठ परिचय था और उनसे पत्र-सम्पर्क भी। पर मैं उस व्यक्तित्व की कल्पना नही कर पाया था जो अशोक होटल के कक्ष मे उस समय मेरे सामने विराजमान था। मुलाकात का यह सिलसिला कई दिनो तक चला और उनसे कई घण्टों के वार्त्तालाप में विकास के मानवीय पहलू, आर्थिक विकास और सामाजिक सुधारों के पारस्परिक सम्बन्ध और एक-दूसरे पर इनकी निर्भरता, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता, ऊपर से क्रान्ति और नीचे से जन-सामान्य के दबाव, कृषि के पुनर्गठन और इसकी समस्याओं तथा विकास में शिक्षा के महत्त्व आदि विषयों पर चर्चा हुई, जिसका प्रकाशन योजना आयोग के मुखपत्र 'योजना' में तीन किस्तो में हुआ।

इन लम्बी वार्त्ताओं में मैंने जो प्रश्न उठाये उनका उन्होंने जिस सहजता और संवेदनशीलता से उत्तर दिया उससे प्रकट होता था कि यह व्यक्ति किस सीमा तक कम-विकसित देशों, विशेषकर भारत की समस्याओं से स्वयं को सम्बद्ध अनुभव करता है। मैंने उनके भीतर भारत के विकास के लिए जो छटपटाहट और व्यग्रता देखी वह मेरे लिए एक अत्यन्त दुर्लभ अनुभव था। भारत के विकास और आर्थिक उन्नति के सन्दर्भ में भारत के लोगो की जिम्मेदारी का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि आपके देशवासियों को यह संकल्प लेना चाहिए कि हम अमीर नहीं बनना चाहते, ईमानदार बनना चाहते हैं। बस यह संकल्प ले लेने के बाद कोई भी समस्या समाधान से परे नही रह जायेगी। उन्हें भारत के लोगो की क्षमता में अटूट विश्वास है और वे स्वयं को भारत का एक निष्ठावान मित्र और हितैषी बताने में बड़े गर्व का अनुभव करते हैं। उन्होंने कहा कि भारत में मेरा हृदय खो गया है और मैं आपके देश की नियति से स्वयं को व्यक्तिगत रूप से जुड़ा हुआ अनुभव करता हूँ। एक वैज्ञानिक के नाते भविष्य कथन में अनास्था रखने वाले प्रोफेसर मिर्डल की बातो से मुझे प्रतिपल यह विश्वास प्रकट होता हुआ दिखायी पड़ा कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है, पर इस भविष्य के निर्माण के लिए भारत के लोगों को स्वयं मूलत. अपने प्रयासो से आगे बढ़ना होगा।

उनके वृहद् अध्ययन का भी यही निचोड़ है। वे सम्भवतः पहले अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने कम-विकसित देशों की समस्याओं का, विशेषकर भारत की समस्याओं का विस्तार से अध्ययन करने के बाद कहा कि यह देश पश्चिम के तरीकों से कभी विकास नहीं कर सकते। उन्होंने दूसरे महायुद्ध के बाद के आर्थिक दृष्टिकोण को उपनिवेशी सिद्धान्त की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त बताया। उन्होंने भौतिक विकास से कहीं अधिक व्यक्ति के हित और उन्नति को महत्त्व दिया।

विवेकपूर्ण, तर्कसम्मत और आमूल परिवर्तनवादी सुधारों में प्रोफेसर मिर्डल सबसे अधिक महत्त्व भूमि-सुधार की समस्या को देते हैं। उन्होंने कहा कि यद्यपि इसका निहित स्वार्थों द्वारा प्रबल विरोध होगा, पर सच्चे अर्थों में भूमि-सुधार लागू करने के अलावा भारत के सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि भूमि-सुधार से ही खाद्य समस्या, तथा गांवों मे अल्प-रोजगारी और बेरोजगारी की समस्या को सुलझाया जा सकता है। इसके अलावा गांव के लोगों, विशेषकर भूमिहीन खेत मजदूरों का शहरों की ओर भागना, और इसके परिणाम-स्वरूप शहरों की गन्दी बस्तियों की बाढ़ को भी रोका जा सकता है।

तर्कसम्मत आचरण प्रोफेसर मिर्डल के लिए केवल कथनी तक ही सीमित नहीं है, यह बात भारतीय भाषाओं की लिपि क्या हो, इस पर विचार के समय प्रकट हुई। मैंने प्रोफेसर मिर्डल का ध्यान उनके इस आशय के वक्तव्यों की ओर आकृष्ट किया था कि वे भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि अपनाने की बात क्यों कहते हैं। मेरा तर्क था कि देवनागरी लिपि के स्थान पर हिन्दी के लिए रोमन लिपि का प्रयोग पूरी तरह अवैज्ञानिक होगा। उनके शंका उठाने पर मैंने स्वयं उनके नाम के उच्चारण का उदाहरण देते हुए कहा कि रोमन लिपि में जिस रूप में आपका नाम लिखा जाता है, उसके कारण हमारे देश में भिन्न रूपों में इसका उच्चारण होता है, पर देवनागरी लिपि मे लिखे जाने पर इसका केवल एक ही उच्चारण हो सकता है। तर्कसम्मत आचरण के हामी प्रोफेसर मिर्डल ने इस बात को स्वीकार किया और कहा कि आपको इस बात का उल्लेख मेरी पुस्तक 'दि चैलेंज आफ वर्ल्ड पावर्टी' के हिन्दी संस्करण के आरम्भ में अवश्य करना चाहिए।

प्रोफेसर मिर्डल अपनी रचनाओं के हिन्दी में प्रकाशन के प्रति अत्यन्त उत्साहित थे। वे चाहते थे कि उनके विचार इस देश के लोगों तक स्वयं उनकी अपनी भाषा में पहुँचें। मैं आशा करता हूँ कि मिर्डल साहित्य का हिन्दी मे प्रकाशन, प्रस्तुत पुस्तक जिसकी पहली कड़ी है, हमारे देशवासियों के मन में वांछित सुधारों के लिए आवश्यक चेतना जाग्रत करेगी।

—महेन्द्र भारद्वाज

# प्राक्कथन

सन् 1964 की सर्दियों में उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स स्कूल ने क्रिस्टियन ए० हर्टर भाषणमाला समारम्भ करने का निश्चय किया, जिसका उद्देश्य उस विख्यात अमरीकी को यथासम्भव श्रद्धांजलि अर्पित करना था, जिसने लगभग बीस वर्ष पहले इस स्कूल की स्थापना की थी। स्कूलों के प्रबन्धकों को आशा थी कि हमारा भाषणमंच, जो देश की राजधानी में है, उच्चकोटि की विशेषज्ञता-प्राप्त व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण प्रकट करने और कुछ ऐसे बुनियादी सवालों पर गहराई से विचार का अवसर देगा, जो तेजी से बदल रहे संसार मे संयुक्त राज्य अमरीका के समक्ष मौजूद हैं।

सन् 1969 की भाषणमाला के लिए इस स्कूल के संकाय ने स्वीडन के विख्यात विद्वान् और समाजसेवी, डॉक्टर गुन्नार मिर्डल को आमन्त्रण दिया, जिन्होंने हाल में तीन खण्डों में विभाजित अपना विराट् ग्रन्थ एशियन ड्रामा : **ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी ऑफ नेशन्स** प्रकाशित किया था। डॉक्टर मिर्डल ने तुरन्त हमारा निमन्त्रण इस विचार से स्वीकार कर लिया कि उनके भाषण एशियन ड्रामा का तर्कसंगत परिणाम बन सकते हैं। तदनुसार, मार्च, 1969 में उन्होंने उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स स्कूल में 'समृद्ध और निर्धन देश : 1970 से आरम्भ दशक में विकास की नीति' शीर्षक से तीन भाषण किये।

यह पुस्तक इन्हीं भाषणों का विकसित रूप है। जैसाकि शीर्षक से प्रकट होता है, मूल विषय वही है, लेकिन अन्य अनेक नये विषय इसमें जोड़ दिये गये हैं और मूल भाषणों के अलावा पर्याप्त मात्रा में नयी सामग्री भी दी गयी है। इसके परिणामस्वरूप नीति-सम्बन्धी निर्णयों की एक पुस्तक तयार हुई, जो विकसित और विकासशील दोनो देशों के लिए वास्तविक महत्त्व और दिलचस्पी की होगी।

1970 से आरम्भ दशक में पदार्पण करते समय अन्य समस्याओं के अलावा दो सबसे बड़ी समस्याएँ हमारे सामने मौजूद हैं: (1) विश्व समुदाय किस प्रकार ऐसे संघर्षों से बच सकता है, जो खुल्लमखुल्ला परमाणु युद्ध का रूप धारण कर सकते हैं; और (2) हम किस प्रकार विश्व-साधनों का प्रयोग करें कि मानवता गरीबी की तात्कालिक चुनौती का सामना कर सके और फिर बेहतर वस्तुओं की ओर आगे बढ़ सके।

कटु सत्य यह है कि हम इनमें से किसी भी मोर्चे पर अधिक प्रगति नही कर सके हैं। आर्थिक क्षेत्र में, बहुत अधिक बातचीत चली है, लेकिन विकास कार्यों के लिए प्रायः पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं हुई और इसी प्रकार प्राय पर्याप्त प्रभावशाली कारंवाई का भी अभाव रहा। दस वर्ष पहले संयुक्त राष्ट्र ने 1960 से आरम्भ दशक को विकास-दशक घोषित किया था। इसके बाद के वर्षों मे

# भूमिका

जब मैं अपनी पहली पुस्तक, **एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी आफ नेशन्स** की योजना बना रहा था, मैंने अनुभव किया कि इसका समापन नीति सम्बन्धी एक अध्याय में होना चाहिए। यह सच है कि मैं सदा मूल्य सम्बन्धी प्रकट मान्यताओं के आधार पर काम करता हूँ, जो इस पुस्तक के सम्बन्ध में आधुनिकीकरण के आदर्श ही हैं, अतः मैं अनेक अध्यायों और अनुभागों में नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकाल सकता था, और ये निष्कर्ष उन तथ्यों के आधार पर निकाले जाते, जिन्हें मैं समझता था कि मैं तथ्यों और यथार्थ सम्बन्धो के आधार पर प्रमाणित कर चुका हूँ। लेकिन उस पुस्तक में इस बात का विस्तार से विवेचन नहीं हुआ कि कम-विकसित देशों के विकास को सम्भव बनाने और तेज करने के लिए कम-विकसित देशों और विकसित देशो को क्या प्रमुख नीतियाँ अपनानी चाहिए।

लेकिन मैंने देखा और मेरे मन में यह बात पत्रकार सम्मेलनों और भेंट के समय पूछे गये सवालों तथा अनेक समीक्षाओं में चर्चित मुद्दों से आयी कि ये सब प्रश्न वस्तुतः एशियन ड्रामा के उस आठवें भाग से सम्बन्धित हैं, जो उसमें नहीं है और जिसमें नीति सम्बन्धी वे प्रमुख निष्कर्ष होने चाहिए थे, जिन्हें मैं अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप निकालना चाहता था। सार्वजनिक दिलचस्पी के इस प्रकार व्यावहारिक परिवर्तन को प्रशंसा के भाव से देखते हुए और इस कारण से कि मैंने नीति सम्बन्धी निष्कर्षों पर अपने निश्चित विचार निर्धारित कर लिये हैं और इस कारण से भी कि मैं बहुत ठोस बुद्धि का आदमी हूँ, मैंने बड़ी प्रसन्नता से इन प्रश्नों के उत्तर दिये। पर कभी-कभी मुझे गलत समझा गया।

अतः मुझे इस बात का पूरा ज्ञान है कि एशियन ड्रामा को अक्सर इस गलत रूप में समझा गया कि इसमें कम-विकसित देशों को उनके विकास के प्रयासों में सहायता पहुँचाने की कोई चिन्ता न करने के पक्ष में तर्क दिये गये है और यह एक ऐसी बात थी, जिसने पश्चिम के देशों के कट्टरपंथियों और विशेषकर प्रतिक्रियावादियों को प्रसन्नता पहुँचाई। मैंने यह भी देखा कि मेरे कुछ उदारतावादी मित्र भी, जो इसी प्रकार मेरे तर्कों के निष्कर्षों के बारे में भ्रांतिग्रस्त थे, अपने सद्भाव के कारण मेरी पुस्तक को सामान्य सावधानी और सूझ-बूझ से नहीं पढ़ सके। मैं समझता हूँ कि कम-विकसित देशों में मेरे विचारों को बेहतर समझा गया।

जब मुझे उच्च अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों के जॉन्स होपकिन्स विश्वविद्यालय स्कूल ने तीन भाषण करने का निमन्त्रण दिया और यह बात भी स्पष्ट हुई कि इन भाषणों का विस्तार कर इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा सकता है, तो मुझे इस निमन्त्रण को स्वीकार करने और अपनी पहली पुस्तक के उस आठवें

अध्याय पर विचार करने के अवसर से प्रसन्नता हुई, जो उसमे मौजूद नही था।

एशियन ड्रामा मे मैं इस तथ्य पर जोर देने के लिए उत्सुक रहा था कि मेरे अध्ययन का विषय दक्षिण एशिया मे रहने वाली लगभग एक-तिहाई मानवता से ही है। दक्षिण एशिया के देशो से मेरा अभिप्राय सोवियत संघ और चीन के दक्षिण में स्थित, पश्चिम मे पाकिस्तान से लेकर पूर्व मे भूतपूर्व फ्रांसीसी हिन्दचीन के देशो से था, जिनमे इण्डोनेशिया और फिलीपीन भी शामिल है।[1] इसमे भी अधिक यह विश्लेषण उन दो देशों—भारत और पाकिस्तान पर केन्द्रित था, जो ब्रिटिश भारत के विभाजन के बाद बने। इसका कारण इस उपक्षेत्र के लोगों की विशाल आबादी ही नही था, बल्कि यह तथ्य भी था कि विकास सम्बन्धी आंकडे और अन्य सामग्री इन देशो मे बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध है और उसे बेहतर ढंग से व्यवस्थित किया गया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वहां विकास की समस्याओं पर लम्बे अरसे से विचार चल रहा है और यह विचार परिष्कार के एक ऊँचे स्तर पर जारी है। यह अन्तिम तथ्य अधिक निर्णायक था, क्योंकि मेरे अध्ययन का लक्ष्य समस्याओं से था और इसमे इस क्षेत्र की तत्कालीन परिस्थितियो का विस्तृत सर्वेक्षण करने का कोई इरादा नही था।

अब जबकि मैं उस अध्ययन के आधार पर नीति सम्बन्धी प्रमुख निष्कर्ष निकालने जा रहा हूँ, मैं सबसे पहले दक्षिण एशिया और विशेषकर भारत और पाकिस्तान के बारे में ही विचार करता रहूँगा। लेकिन इस संक्षिप्त पुस्तक मे नीति सम्बन्धी समस्याओं का अनुशीलन यथासम्भव सामान्य होगा, अतः यह प्राय. समस्त कम-विकसित ससार के लिए प्रासंगिक होगा।

लेकिन इस पुस्तक मे मैं अपने विश्लेषण को केवल गैर-कम्युनिस्ट देशों तक ही सीमित रखूंगा। हो सकता है कि इसे पूरी तरह अच्छे विचारो से प्रेरित निर्णय न समझा जाये। वस्तुतः कम-विकसित कम्युनिस्ट देशो के समक्ष भी वैसी ही समस्याएँ मौजूद है जैसी अन्य कम-विकसित देशों के समक्ष। लेकिन अनेक दृष्टियों से ये बुनियादी तौर पर भिन्न तरीके से इन समस्याओं का सामना करते हैं। इसके अलावा कम-विकसित देशो को सहायता पहुँचाने के लिए विकसित कम्युनिस्ट देशों और गैर-कम्युनिस्ट देशों के बीच सहयोग, यद्यपि उचित और तर्कसंगत है, पर अभी भी यह बहुत आरम्भिक चरण में है। इस पुस्तक मे कम्युनिस्ट संसार पर विचार न करने का प्रमुख कारण, वस्तुतः व्यावहारिक है, ताकि इस पुस्तक के आकार को सीमित रखा जा सके।

एशियन ड्रामा की ही एक अगली कडी होने के कारण, यह पुस्तक एक दृष्टि से एशियन ड्रामा की निर्देशिका है और नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण से इसे उसका संक्षेप भी कहा जा सकता है। अतः मैं अनेक समस्याओं के अधिक व्यापक अनुशीलन और साहित्य के स्रोतों के रूप मे एशियन ड्रामा का अनेक बार उल्लेख करने को स्वयं को स्वतन्त्र समझूंगा। जहां कहीं किसी दृष्टिकोण अथवा मुद्दे को

1. इस पुस्तक में दक्षिण एशिया और जिन अन्य क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है, उनकी परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी ऑफ नेशन्स (एलेन लेन दि पेनगुइन प्रेस एण्ड पेनगुइन बुक्स, 1968), अध्याय-1, अनुभाग-1, पृष्ठ 41

अधिक विस्तार से समझाने की आवश्यकता होगी, इसी औचित्य के आधार पर, मैं अपनी अन्य पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों का उल्लेख भी उचित मानूंगा। प्रस्तुत पुस्तक में जब कभी उपयुक्त सन्दर्भ-ग्रन्थों के उल्लेख के बिना अन्य लेखकों के उद्धरण दिये जायेंगे, तो इसका यही अभिप्राय होगा कि सम्बन्धित सन्दर्भ-ग्रन्थों का उल्लेख पाद-टिप्पणियों में उल्लिखित एशियन ड्रामा के अनुभागों में हो चुका है। अब क्योंकि पाद-टिप्पणियों का सम्बन्ध प्राय: पूरी तरह से एशियन ड्रामा से है, यह आशा की जाती है कि पुस्तक के मूल पाठ में बार-बार पाद-टिप्पणियों की संख्या का उल्लेख सामान्य पाठक को दिक्कत में नहीं डालेगा। सामान्य पाठक से इन पाद-टिप्पणियों की उपेक्षा कर देने का अनुरोध किया जाता है।

यह एक राजनीतिक पुस्तक है और इस कारण से, मेरे दर्शन के अनुसार, केवल विशेषज्ञों, अधिकारियों और पेशेवर राजनीतिज्ञों को ही लक्ष्य मानकर नहीं, बल्कि सम्बन्धित विषय में दिलचस्पी रखनेवाले सामान्य लोगों को ध्यान में रखकर भी लिखी जानी चाहिए। अत: मैंने अपने सन्देश को यथासम्भव प्रत्यक्ष और सरल बनाने का भरपूर प्रयास किया है। यद्यपि यह कार्य करने में मैंने अपने इस इरादे का त्याग नहीं किया कि नीति सम्बन्धी मेरी सिफारिशें तथ्यों और प्रकट रूप से वर्णित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का तर्कसंगत निष्कर्ष मानी जायें। मैंने कोई राजनीतिक अथवा राजनयिक सतर्कताएँ नहीं बरती हैं, बल्कि यथासम्भव स्पष्टता से अपनी बात कहने का प्रयास किया है। मैं जॉन केनेथ गालब्रैथ के 1969 के उस वक्तव्य को अपने आदर्श वाक्य के रूप में सामने रख सकता हूँ, जो उन्होंने 'अमेरिकन्स फार डेमोक्रेटिक एक्शन' नामक संगठन के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त करते समय अपने भाषण में कहा था :

"हम कृतसंकल्प हैं कि उदारतावादी राजनीति में पूर्वाग्रह से मुक्ति से एक नया मानक कायम होगा—आज से यह केवल गर्व का ही विषय न होगा, बल्कि एक आवश्यकता भी होगी कि हम केवल वही बातें कहें जो हम सोचते हैं और इन बातों को उसी रूप में कहें जिस रूप में इन्हें देखते हैं। आवश्यकता हुई तो हम ऐसे लोगों का विरोध करेंगे, जो अन्य दृष्टियों से योग्य हैं, लेकिन राजनीतिक शब्दाडम्बर के आदी हैं। जहां कहीं हमें यह सन्देह होगा कि कथनी और करनी के बीच बड़ा अन्तर है, हम अपना विरोध प्रकट करेंगे।"

इस पुस्तक का उपशीर्षक बड़ा नाटकीय लग सकता है। लेकिन इस उपशीर्षक में 'एक' शब्द का भी उल्लेख किया गया है और उस पर जोर देने की आवश्यकता है। मैं इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सजग हूँ कि आगामी पृष्ठों में जिन समस्याओं पर विचार होगा, उनके बारे में मतैक्य जैसी कोई बात नहीं है। पाठक निरन्तर इस बात को ध्यान में रख सकें, अत: मैंने तथ्यों और नीतियों के बारे में अपने विचारों को उत्तम पुरुष में व्यक्त किया है।

उप-शीर्षक से संयुक्त राज्य अमरीका के गरीबी विरोधी कार्यक्रम का विचार हो आना उचित ही है। इस बात में सन्देह नहीं है कि कम-विकसित देशों में गरीबी की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और संयुक्त राज्य अमरीका में गरीबी की

समस्याओ के बीच घनिष्ठ समानता है और उन तरीकों के मध्य भी जिन से ये दोनों प्रकार की समस्याएँ जनमानस मे दिखायी पडी है, और नीति सम्बन्धी निर्णयों के आधार पर इन पर विचार और कार्रवाई हुई है। आरम्भ मे, इन दोनो प्रकार की समस्याओ ने उस प्रक्रिया के माध्यम से जनता की चेतना और राजनीतिक क्षेत्र मे महत्त्व का स्थान ग्रहण किया, जिसे मैं बौद्धिक और नैतिक परिशोधन कहता हूँ।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे यह परिशोधन दूसरे महायुद्ध के तुरन्त बाद हुआ और इसके बाद जो महान् राजनीतिक परिवर्तन हुए, वे भी इसका कारण बने। संयुक्त राज्य अमरीका में आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से कष्ट भोग रहे लोगो के समुदाय के प्रति जागृति और चेतना तथा इस सम्बन्ध मे कुछ करने की आवश्यकता 1950 से आरम्भ दशक के अन्त और 1960 के बाद के आरम्भिक वर्षों तक अनुभव नही की गयी। अन्तर-सरकार संगठनो के सचिवालयो ने आँकड़ो का जो व्यापक अध्ययन किया, उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस परिशोधन के कार्य और कारण दोनों का काम किया। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमरीका मे आँकड़ों सम्बन्धी अनुसन्धान, पुस्तको, भाषणो और सम्मेलनो ने इसे जन्म दिया।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का सम्बन्ध है, 1960 से आरम्भ दशक को राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर 'विकास दशक' घोषित किया गया। यह घोषणा सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा के सर्वसम्मत निर्णय से की गयी। और संयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रपति लिडन बी० जॉन्सन ने 1964 के आरम्भ मे 'गरीबी के विरुद्ध बिना शर्त युद्ध' की घोषणा की और आगे चलकर 'महान् समाज' की परिकल्पना जनता के समक्ष रखी। दूसरे महायुद्ध के बाद से पिछड़े हुए देशो को गरीबी के गर्त से निकालने की ऐसी ही करुण घोषणाएँ अवसर की जाती रही।

जैसाकि इस पुस्तक मे संकेत किया जायेगा, इन दोनो प्रकार की समस्याओं के बीच बहुत बड़ी बुनियादी समानताएँ है। यथार्थ दृष्टि मे संयुक्त राज्य अमरीका मे ऐसे जन-समुदाय है, जो स्थानिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अधिकाश अमरीकियो मे बिल्कुल अलग-थलग हैं, जबकि अधिकाश अमरीकी बहुत आरामदेह परिस्थितियों मे रहते हैं। अतः अमरीका के समक्ष विकास सम्बन्धी जो समस्याएँ है, वे अनेक तरीकों मे कम-विकसित देशो जैसी ही हैं। पर महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं, जिनमे मे अधिकाश का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि सयुक्त राज्य अमरीका मे सचमुच गरीब लोग बहुत छोटे अल्पमत मे हैं, कम-विकसित देशो में इनका बहुमत है और इसी प्रकार पूरे ससार मे भी गरीब लोगो की संख्या अमीर लोगो से बहुत बड़ी है।

अन्य समानताएँ भी हैं। संयुक्त राज्य अमरीका मे गरीबी विरोधी कार्यक्रम को आरम्भ मे ही बहुत मामूली समझा गया और स्थिति मे सुधार के लिए जिन सुधारो की आवश्यकता थी और जैसी भावुक घोषणाएँ की गयी थीं, गरीबी समाप्त करने का कार्यक्रम उसके अनुरूप नही था। यह योजना के अनुसार संचालित नहीं था। यह सचमुच कृत्रिम बन गया और उसका संचालन कुशलता से नहीं हुआ। फिर भी यह आशा करना सम्भव था कि यह भविष्य मे घटने वाली किसी बड़ी घटना का समारम्भ था और आगे चलकर इसे व्यापक और

यथार्थवादी आयोजन के निश्चित ढांचे मे दृढ़ और समन्वित कर दिया जायेगा। यह तथ्य स्वयं प्रकट है कि विश्वव्यापी गरीबी विरोधी कार्यक्रम के रूप में हमारे समक्ष जो भी कार्यक्रम था, वह उन्हीं खामियों से आज भी ग्रस्त है, जिनसे पहले ग्रस्त था, यद्यपि ये खामियाँ कुछ बढ़ी ही है, और इस तथ्य का इस पुस्तक में और स्पष्टता मे विवेचन किया जायेगा।

संयुक्त राज्य अमरीका में हाल के वर्षों में गरीबी सम्बन्धी बौद्धिक और नैतिक परिशोधन ने अनेक शक्तियों के प्रभाव के कारण अपनी गतिशीलता खो दी है, जिनमें विएतनाम युद्ध मे संयुक्त राज्य अमरीका के निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में फँसते जाने का तथ्य भी शामिल है। इस युद्ध ने अमरीका के लोगों और विशेषकर वाशिंगटन में बैठे उनके शासकों के ध्यान को पूरी तरह अपने ऊपर ही केन्द्रित कर लिया है। इसने उपलब्ध वित्तीय साधनों को भी आत्मसात् कर लिया है और इसका एक प्रभाव स्वदेश में मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति के रूप में प्रकट हुआ है। एक ऐसे युद्ध के अधिक गहरे मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी है, जिसे अनेक अमरीकी संयुक्त राज्य अमरीका के शेष संसार से अपने सम्बन्धों के प्रति गलत दृष्टिकोण पर आधारित मानने के साथ-साथ गैर-कानूनी, क्रूरतापूर्ण और अनैतिक भी मानते हैं। कुछ अन्य लोगों ने, युद्ध के प्रति इस निरन्तर बढते विरोध के समक्ष, स्वयं अपने देश के अभावग्रस्त लोगों के प्रति भी अपने हृदय को और अधिक कठोर बना लिया है।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय गरीबी विरोधी कार्यक्रमों का सम्बन्ध है, हमने 1960 से आरम्भ दशक मे यह देखा है कि अनेक समृद्ध देशों मे और विशेषकर सयुक्त राज्य अमरीका मे एक समानान्तर आन्दोलन ने कम-विकसित देशों की सहायता करने की लोगों की तत्परता में कमी की है। इस बीच इन देशो का वास्तविक विकास व्यापक रूप से धीमा हुआ है। ये दो अन्तिम प्रवृत्तियां वस्तुत: इस पुस्तक का प्रमुख विषय हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं, जो समानताओं को कम तर्कसम्मत बनाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा राजनीतिक और प्रशासनिक ढांचा है, जो भारी-भरकम और केन्द्र और अन्य स्थानों पर निहित स्वार्थों से ग्रस्त होने के बावजूद यथार्थवादी आयोजन को सम्भव बना सकता था, इन आयोजन को उद्देश्यपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से लागू करने का प्रयास कर सकता था—यदि यह करने की इच्छा मौजूद होती। जहाँ तक पूरे विश्व का सम्बन्ध है, कोई एक सरकार नहीं है। अत: इसके निर्णयों को लागू करनेवाला कोई एकीकृत प्रशासन भी नहीं है। और जहां तक मेरी नज़र जाती है, ऐसे किसी प्रशासन और सरकार की सम्भावना भी दिखायी नही पड़ती।

हमारे युग के अन्तर-सरकार संगठन एक बहुदेशीय पृष्ठभूमि और बहुमुखी परिस्थितियों में राष्ट्रीय राजनय के संचालन के सहमति-प्राप्त सांचे-भर है। फिर भी विभिन्न सरकारों की सहमति को सम्भव बनाकर ये अपना महत्त्व प्रकट कर सकते हैं। इसके अलावा, इनमें से कुछ संगठन इस स्थिति मे भी हैं कि उनके सचिवालय, अध्ययन करने के अलावा, पहल कर सकते हैं और विभिन्न देशों की सरकारों के बीच जो सहमति होती है, उसे लागू करने का माध्यम बन सकते हैं।

कम-विकसित देशों को मिलनेवाली सहायता के आयोजन और समन्वय की खामियों के लिए अन्तर-सरकार संगठनो को केवल आशिक रूप से ही दोष दिया जा सकता है और विभिन्न देशो द्वारा स्वयं अपनी ओर से सहायता देने की प्रवृत्ति में हाल मे जो स्थिरता और कमी आयी है, उसके लिए तो इन्हें और भी कम दोष दिया जा सकता है। यह कमी विकसित देशो की राष्ट्रीय आय की तुलना मे सहायता की निरन्तर घटती हुई राशि के रूप मे हुई है। वस्तुत: इन संगठनों के सचिवालय, उन सीमाओ के भीतर काम करते हुए और सम्बन्धित सरकारों की भर्त्सना का लक्ष्य बने बिना, विकसित और कम-विकसित देशों के बीच निरन्तर बढती हुई खाई का ही नहीं, बल्कि अधिक मात्रा में सहायता देने का भी प्रचार कर रहे है। वे सहायता के इस आयोजन की कुछ रूपरेखाएँ भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वय अपनी सहायता सम्बन्धी गतिविधियों मे वे समन्वय के एक सम्मानित स्तर पर पहुँच जाने मे भी सफल हुए है। इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक' तथा 'खाद्य और कृषि संगठन' के बीच व्यावहारिक सहयोग के परिणामस्वरूप 'खाद्य और कृषि सगठन' उससे कही अधिक बड़ी राशि दे सका है, जितनी वह स्वय अपने बजट से देने की बात सोच सकता था।

लेकिन अन्तर-सरकार संगठनो के माध्यम से जो सहायता वितरित की जाती है, वह उस सहायता का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है जो आज भी अधिकाशतया—लगभग 90 प्रतिशत—विकसित देशों की राष्ट्रीय सरकारें स्वय अपने आप प्रत्यक्ष रूप से देती हैं। इतना ही नहीं, जैसाकि इस पुस्तक में जोर देकर उल्लेख किया जायेगा, दोनो प्रकार के विकसित देशों से मिलनेवाली सहायता, यद्यपि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, पर उसका एक बेहद छोटा हिस्सा है, जो पिछड़े हुए देशो के विकास को सम्भव बनाने और उसे तेज करने के लिए मिलनी चाहिए। इस सहायता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात स्वयं इन देशों के भीतर सामाजिक और आर्थिक सुधार हैं, जिनकी अत्यन्त अपेक्षा और आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अध्ययन संस्था, स्टॉकहोम विश्वविद्यालय
1 अक्तूबर, 1969

गुन्नार मिर्डल

# भाग एक

# दृष्टिकोणों को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने का प्रयास

कम-विकसित देशों[1] की विकास योजनाओं के नीति निर्धारण में तर्कसम्मत निष्कर्ष निकालने के लिए हमें—सम्बद्ध और महत्त्वपूर्ण मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के अलावा जिनका स्पष्ट रूप से ध्यान रखा गया है—कम-विकसित देशों की परिस्थितियों की यथार्थवादी संकल्पना की जरूरत है।[2] मेरा विचार है कि विकास की कमी, विकास और विकास के लिए आयोजन जैसी हमारी वर्तमान संकल्पनाओं का झुकाव उस दिशा में बहुत अधिक है जो बुनियादी तौर पर अवसरवादी है। इन संकल्पनाओं को वैज्ञानिक और लोकप्रिय दोनों प्रकार के आर्थिक साहित्य में और इससे भी अधिक खतरनाक तरीके से कम-विकसित देशों की योजनाओं में प्रस्तुत किया गया है। अतः हमारे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष, यथार्थ सम्बन्धी उन विचारों पर आधारित हैं, जिन्हें विधिवत्, यद्यपि जानबूझकर नहीं, मिथ्या किया जा रहा है।

इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। सर्वव्यापी अज्ञान की तरह, सर्वव्यापी ज्ञान का दावा करनेवालों में सत्य से हटकर अवसरवादी दिशा अपना लेने की भी प्रवृत्ति है।[3]

इस तथ्य को आसानी से देखा जा सकता है कि यथार्थ और विचारधाराओं तथा सिद्धान्तों की संकल्पनाएँ उन समाजों के प्रभावशाली वर्गों के हितों से सामान्यतया प्रभावित होती हैं, जहां उनका निर्माण होता है और कुछ सीमा तक ये सत्य से उतनी विमुख हो जाती हैं, जितना उनका इन वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए विमुख होना जरूरी है और इतिहास के एक पूर्व युग पर विचार करते समय हम इस बात को निश्चित रूप से समझ सकते हैं। लेकिन हम अपने बौद्धिक प्रयासों में सामान्यतया ऐसे प्रभावों के प्रति बचकानेपन से भरी गैर-जानकारी का स्वांग करते हैं, जो हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करती रहती हैं और यह ऐसी बात है जो इतिहास के पहले प्रत्येक युग में लोगों ने की है।

उन्हीं लोगों की तरह और वैसी ही दृढ़ता से हम यह मान लेते हैं कि हम तो केवल तथ्यों के अनुसार काम करते हैं, और विचार, तर्क तथा निष्कर्ष की प्रक्रिया में केवल यथार्थ के प्रेक्षण का ही सहारा लेते हैं। जब हम यथार्थ की और अधिक सच्ची संकल्पना पर पहुँचना चाहते हैं, तो उसकी पहली शर्त यह होती है कि हम उन अवसरवादी हितों को स्पष्ट रूप से देखें, जो हमारे सत्यान्वेषण को प्रभावित कर रहे हैं और यह समझें कि इन प्रभावों का किस प्रकार संचालन होता है। बचकानेपन से छुटकारा पाने के इस प्रयास में विगत इतिहास पर दृष्टि डालना

सहायक होता है।

उपनिवेशकाल में और ठीक दूसरे महायुद्ध के समय तक तथाकथित 'पिछड़े हुए क्षेत्रों' (उस समय इनमें से अधिकांश 'देश' नहीं थे) के लोगों की गरीबी के जो लोकप्रिय और अधिक परिष्कृत स्पष्टीकरण दिये जाते थे, वे आज हमें शुद्ध रूप में एक विशेष दृष्टिकोण से तैयार स्पष्टीकरण दिखायी पड़ते हैं, जिनका उद्देश्य उपनिवेशी शक्तियों और व्यापक रूप से समृद्ध देशों को इन लोगों की गरीबी और विकास की कमी की नैतिक और राजनीतिक जिम्मेदारी से मुक्त करना था।[3]

उस समय इस बात को अनुभवजन्य और अनुभव के आधार पर प्रमाणित मान लिया गया था कि पिछड़े हुए क्षेत्रों के निवासी इस प्रकार निर्मित हैं कि उनके भीतर यूरोप के लोगों से भिन्न तरीके से प्रतिक्रिया होती है : वे सामान्यतया अपनी आय और रहन-सहन के स्तर को बेहतर बनाने की सम्भावनाओं के प्रति सकारात्मक ढंग से प्रतिक्रिया नहीं करते। आलसीपन और अकुशलता की उनकी प्रवृत्ति और वेतन के आधार पर काम तलाश और स्वीकार करने की उनकी अनिच्छा इस बात का प्रमाण मानी गयी है कि उन्हें किसी भी वस्तु की खास आवश्यकता नहीं है, उनका आर्थिक अन्तरिक्ष बहुत सीमित है, उनके मन में बस जैसे-तैसे जीवित बने रहने, आत्मनिर्भरता, निश्चिन्त स्वभाव और काम के बिना आराम का जीवन बिताने की प्रवृत्ति है।

अधिक परिष्कृत लेखन में इन प्रवृत्तियों की जड़ों को सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं की सम्पूर्ण प्रणाली के विभिन्न तत्त्वों में निहित माना गया और यह समझा गया कि ये तत्त्व धार्मिक मान्यताओं और रूढ़ियों से शक्ति प्राप्त करते हैं और उपनिवेशी शक्तियाँ स्पष्ट और उचित कारणों से इन धार्मिक मान्यताओं और रूढ़ियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहतीं। यदा-कदा यह भी कहा जाता कि पोषण की कमी और व्यापक पैमाने पर रहन-सहन का नीचा स्तर, कार्यक्षमता में कमी करना था और ये बातें डटकर काम करने की इच्छा और योग्यता को कुछ सीमा तक प्रभावित करती थी। लेकिन ऐसे मानसिक लक्षणों और उत्पादकता में कमी तथा रहन-सहन के नीचे स्तर के अन्य कारण भी थे, पर यह नहीं माना गया कि ऐसे स्पष्टीकरण स्वयं विकास की सच्ची सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त कर सकते थे।

निरन्तर डटकर काम करने के प्रति इन लोगों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जलवायु को भी एक महत्त्वपूर्ण कारण बताया गया। इस विचारधारा को जातीय दृष्टि से निचले स्तर का होने के सिद्धान्त ने बहुत प्रभावित किया था और इस प्रकार ऐसी किसी भी नीति के लिए दरवाजा बन्द कर दिया था, जो उस समय प्रचलित मुक्त व्यापार और सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति के विपरीत होती।

पश्चिम के सांस्कृतिक नृवंश-विज्ञानियों को छोड़कर, जिन्हें उपनिवेशी शक्तियाँ सामान्यतया स्वीकार करती थीं और जिनका कभी-कभी प्रयोग शासित

लोगों की क्षमताओं के मूल्यांकन के लिए किया जाता था, इन तथाकथित पिछड़े क्षेत्रों की परिस्थितियों के बारे में कोई गम्भीर अनुसन्धान नहीं किया गया।

नृवंश-विज्ञानियों की दिलचस्पी केवल यह पता लगाने में थी कि ये लोग कैसे रहते थे और किस प्रकार अपना अस्तित्व कायम रख पाते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर उनका दृष्टिकोण गतिहीन था। परिवर्तनों को अक्सर स्थापित सामाजिक सम्बन्धों में 'व्यवधान' बताया गया। यद्यपि ये लोग यूरोप के जातीय केन्द्रण के विपरीत प्रतिक्रिया कर रहे थे और सर्वाधिक आदिम जातियों के सामाजिक संगठन को संगतता और सोद्देश्यता प्रदान कर रहे थे—यह नृवंश-विज्ञान सम्बन्धी उनके अनुसन्धान की संवेदनशीलता और मान्यता थी—लेकिन उनके दृष्टिकोण के गतिहीन स्वरूप ने सदा उस उपनिवेशी सिद्धान्त का समर्थन किया, जिसका मैंने संकेत किया है।

दृष्टि से, इन क्षेत्रों का जन-समुदाय उस समय भी इतना ही गरीब था और उनका जीवन इतना ही कष्टपूर्ण था, जितना आज है। इसमें अर्थशास्त्रियों की दिलचस्पी का खुल्लमखुल्ला अभाव तत्कालीन विश्वव्यापी राजनीतिक स्थिति का परिचायक था। उपनिवेशी शासन ऐसे नहीं थे कि ऐसे किसी अनुसन्धान को राजनीतिक और सार्वजनिक हित का विषय बनाकर आर्थिक पिछड़ेपन के बारे में बड़े पैमाने पर अनुसन्धान की व्यवस्था करते।

लेकिन अब स्थिति आमूल रूप से बदल गयी है। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद से उन देशों की समस्याओं के बारे में, जिन्हें अब 'कम विकसित देश' कहा जाता है और जिसका अभिप्राय इस गतिशील संकल्पना से है कि उन्हें विकास करना चाहिए, अनुसन्धानों की बाढ़-सी आ गयी। यह बाढ़ निरन्तर और तीव्र होती जा रही है, जिसमें हम अर्थशास्त्रियों ने पहल की है और पिछड़ेपन, विकास तथा विकास के आयोजन की समस्याओं का सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अध्ययन शुरू किया है।

अनुसन्धान की दिशा और मात्रा में जो अचानक और बहुत बड़े पैमाने पर परिवर्तन आया है वह समाज-विज्ञानों के स्वतः और स्वयं-स्फूर्त विकास का प्रमाण निश्चय ही नहीं है। इसके विपरीत यह उन व्यापक राजनीतिक प्रतिक्रियाओं और असफलताओं का परिणाम है, जिनका एक-दूसरे से सामान्य सम्बन्ध है: पहले, तेजी से उपनिवेशी व्यवस्था की समाप्ति; दूसरे, कम-विकसित देशों में विकास की उत्कट इच्छा अथवा उस शिक्षित और परिष्कृत उच्च वर्गों की विकास की उत्कट अभिलाषा जो अपनी ओर से सोचते, बोलते और कार्य करते हैं; और, तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, विशेषकर शीतयुद्ध, जिसने कम-विकसित देशों के भाग्य को विकसित देशों की विदेश नीति की चिन्ता का एक विषय बना दिया है।[5] समाज-विज्ञान यदा-कदा ही नये परिप्रेक्ष्यों का मार्ग प्रशस्त करते हैं—हमारे कार्य का निरन्तर पुनर्निर्धारण नियमित रूप में राजनीति के क्षेत्र में होता है—एक सामान्य नियम है, यद्यपि हमने शायद ही कभी अथवा कभी भी इसे इतने अचानक, आमूल और पूर्ण रूप में परिवर्तित होकर प्रकट होते हुए, प्रमाणित होते हुए देखा

हो। इस बार यह हम लोगो द्वारा अपनी पहल पर शुरू किया गया कार्य-भर नही रहा, जिसे धीरे-धीरे एक के बाद एक देश मे उस समय व्यापक मान्यता मिली, जब सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ इसके लिए और परिपक्व होती गयी। उदाहरण के लिए विकसेल कीन्स के व्यापार के उतार-चढावो सम्बन्धी दृष्टिकोण का उल्लेख किया जा सकता है।[6] पश्चिमी संसार के समस्त अर्थशास्त्री अपने कार्य के लिए नयी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ और कार्यक्षेत्र की एक नयी दिशा को स्वीकार करने लगे। इस समय तक ये लोग इनका अध्ययन नही करते थे और ये प्रकट रूप मे इस महान् परिवर्तन की राजनीतिक परिस्थितियो से अनभिज्ञ थे।

इस बात की आलोचना नही की जानी चाहिए कि हमारे समाज मे केवल उस विषय का अनुसन्धान किया जाता है, जिसे राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसका केवल यह अर्थ होता है कि हम वैज्ञानिक लोग उस समाज के आह्वान के उत्तर के रूप मे कार्य करते हैं, जिसका हम एक अंग हैं और हम यह कार्य उन समस्याओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने और समाधानों का सुझाव देने के लिए करते है जो लोगो के मन-मस्तिष्क पर छायी रहती है और जिनके बारे मे वे और बेहतर जानकारी चाहते हैं। यद्यपि हम यह कामना कर सकते थे कि वैज्ञानिको के रूप मे हम लोगो को भविष्य के संकेतो को बेहतर रूप मे समझ लेना चाहिए था, ताकि हमारे समाजों को नियमित रूप से अचानक सामने आ खडी होनेवाली समस्याओ का सामना न करना पडता और तदनुसार अपनी नीतियो को इन तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुसार जल्दबाजी मे निर्धारित न करना पडता।

लेकिन निरन्तर प्रकट हो रही राजनीतिक शक्तियों की आवश्यकताओ के अनुसार हमारे कार्य की दिशा मे यह निरन्तर परिवर्तन उन पूर्वाग्रहों का कारण नही बन सकता, जो हमारे अनुसन्धान के परिणामो को ही निरर्थक सिद्ध कर दें।

यद्यपि अनुसन्धान के क्षेत्र मे यह परिवर्तन उन आवश्यकताओ के अनुरूप हमारे काम की उचित पुनर्व्यवस्था का भी प्रतीक है, जिनकी आवश्यकता समाज अनुभव करता है। इसके प्रति चेतना और यह जानकारी कि परिवर्तन इतना आमूल हुआ है, हमे यह समझ लेने के लिए प्रेरित करेगी कि इन्ही राजनीतिक परिवर्तनो का प्रभाव अनुसन्धान के प्रयासो के दृष्टिकोण को भी प्रभावित करेगा। अनुसन्धान को केवल नयी दिशा देने के अलावा, यह प्रभाव निश्चय ही कुछ असंगत पूर्वाग्रहों को जन्म दे सकता है।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उग्र तनावों और भावनाओं से भरी हुई है, सरकारें और देश यह अनुभव करते हैं कि उनके महत्त्वपूर्ण हित दाव पर लगे हैं। कम-विकसित देशों की समस्याओ के बारे में समृद्ध देशों में जो आर्थिक अनुसन्धान हुआ है, उसके पूर्वाग्रहो का प्रमुख स्रोत समृद्ध देशो के राजनीतिक हित होंगे, क्योंकि इनके हित ऐसी अनेक बातो से जुडे हैं कि कम-विकसित देशों में क्या होता है और क्या होना चाहिए, कि इन देशों में किस रूप में इन हितो को सरकारी तौर पर और लोकप्रिय आधार पर अनुभव और व्यक्त किया जाता है।

मैंने अन्यत्र इस विषय का अधिक विस्तार से अनुशीलन किया है।[7] वर्तमान सन्दर्भ में मैं स्वयं को इस बात तक सीमित रखूंगा कि अवसरवादी प्रवृत्ति कम-

विकसित देशों की समस्याओं के प्रति सामान्यतया 'अमैत्रीपूर्ण' दृष्टिकोण को जन्म नही देती। यह उस समय तक नही होता, जब तक ये देश शीतयुद्ध की दृष्टि से विभाजित खेमों में से किसी एक खेमे के पूर्णतः पिछलग्गू न बन जायें।

इसके विपरीत अनुसन्धान के 'राजनयिक' बन जाने की प्रवृत्ति बनी रहती है। यह सहिष्णु और सामान्यतया आवश्यकता से अधिक आशावादी बन जाती है। यह कार्य ऐसे तथ्यों से बच निकलने की प्रवृत्ति के कारण होता है, जो उलझन में डालनेवाली समस्याओं को जन्म देते है। इन तथ्यों को अनावश्यक तकनीकी शब्दावली की आड में छिपाया जाता है अथवा इनका अनुशीलन बच निकलने की प्रवृत्ति और 'सूझबूझ' के तरीके से किया जाता है। स्वाधीनता के नव युग में, कम-विकसित देशों सम्बन्धी समस्याओं के क्षेत्र मे, राजनयिक तरीके से सोचने और कार्य करने की प्रवृत्ति "गोरे आदमी का बोझ" का एक नया स्वरूप बन गयी है।

यदि कम-विकसित देशों का बुद्धिवादी वर्ग यह समझ जाता कि उनकी समस्याओं के प्रति इस दृष्टिकोण में कितना कृपाभाव भरा है, तो वे इस बात से स्वयं को आहत और अपमानित अनुभव करते। लेकिन कुछ ऐसे कारणों से, जिनका उल्लेख मैं आगे चलकर करूँगा, ये लोग सामान्यतया—और यहाँ तक कि अधिक कड़ाई से—स्वयं ऐसे ही पूर्वाग्रहग्रस्त विचार का शिकार बने रहते हैं।

"कम-विकसित देशों" के लिए विभिन्न प्रशंसापूर्ण शब्दों के प्रयोग पर जो सामान्य सहमति है, वह इस मानसिक षड्यन्त्र का एक संकेत और लक्षण है। एक ऐसा ही शब्द "विकासशील देश" है।[8] वस्तुतः यह शब्द तर्कसंगत नहीं है क्योंकि भारी-भरकम शब्दावली के माध्यम से यह अभिव्यक्ति यह मांग करती है कि क्या सम्बन्धित देश विकास कर रहा है अथवा नही। अथवा इस बात की सम्भावना दिखायी पड़ती है कि यह भविष्य में विकास कर सकेगा। इसके अलावा इस अभिव्यक्ति मे यह विचार प्रकट नहीं होता, जो यह सचमुच प्रकट करना चाहता है : कि यह कम-विकसित देश है, यह विकास करना चाहता है, और सम्भवतः यह विकास के लिए योजनाएँ बना रहा है।

अपने-आपमे शब्दावली की यह राजनीति महत्त्वहीन दिखायी पड सकती है, लेकिन इस दृष्टि से इस पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कम-विकसित देशों की समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे घुस आये गहरे पूर्वाग्रहों का संकेत इनसे मिलता है।

इस विशेष दिशा में पूर्वाग्रहों के संचालन की विधिवत् प्रवृत्ति एक अधिक यान्त्रिक कारण से मजबूत हुई है, जिसका सम्बन्ध उस शीघ्रता और तीव्रता से है, जो हम अर्थशास्त्रियों ने पहले पूरी तरह से अछूते क्षेत्र के व्यापक अनुसन्धान में अपनायी है।[9]

तर्कसंगत अनिवार्यता के कारण अनुसन्धान का समारम्भ विश्लेषणात्मक पूर्व संकल्पनाओं अथवा मान्यताओं के आधार पर होना है।[10] अत यह स्वाभाविक था कि विकसित देशों के अध्ययन के लिए जिन सैद्धान्तिक उपादानों का उपयोग किया गया था, उनका यह सोचे बिना ही कि कम-विकसित देशों के यथार्थ के लिए वे पर्याप्त हैं अथवा नहीं, प्रयोग किया गया।

यह कार्य इसलिए और अधिक आसानी से किया जा सका क्योंकि कम-

विकसित देशों की वास्तविक परिस्थितियों और वास्तविकता पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों के बारे में बुनियादी ज्ञान की अत्यन्त कमी थी क्योंकि इन आँकडों को इस दृष्टिकोण की संकल्पनात्मक श्रेणियों के अनुसार एकत्र और विश्लेषित किया गया था, लेकिन जब आवश्यक आँकडे एकत्र किये गये और उनका विश्लेषण किया गया, तो भी उनसे परम्परागत अथवा "युद्ध के बाद के दृष्टिकोण"[11] में कोई परिवर्तन नहीं आया। मैंने शब्दावली के माध्यम से भर्त्सना से बचने के लिए 'युद्ध के बाद का दृष्टिकोण' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग किया है। इन विश्लेषणों के परिणामस्वरूप जो अपार आँकडे प्राप्त हुए, उदाहरण के लिए उनमें 'बेरोजगारी' और 'अर्द्ध-बेरोजगारी'[12] के आँकड़े शामिल है, उनसे किसी कम-विकसित देश के आर्थिक यथार्थ को समझने में या तो कोई सहायता नहीं मिलती, अथवा इन आँकडों के माध्यम से जो कुछ समझाने की कोशिश की जाती है उसमें एकदम विपरीत निष्कर्ष निकलता है।

इस प्रकार अनुभवजन्य आर्थिक अनुसन्धान उथला और त्रुटिपूर्ण बन गया और इसके साथ ही दृष्टिकोण में निहित सकल्पनाओं और सिद्धान्तों को कसौटी पर कसने के लिए भी कम उपयुक्त हो गया। इसके स्थान पर, कम से कम कुछ समय के लिए, यह हुआ कि अब अनुसन्धानकर्ता को अपना खेल खेलने के लिए आँकड़े उपलब्ध हो गये, अत: उसके भीतर अपने मूल और पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को और मजबूत बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी।

मेरा मुख्य मुद्दा यह है कि विकसित देशों में 'शुद्ध' आर्थिक दृष्टि से किया गया विश्लेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है और इसके उपयुक्त निष्कर्ष निकल सकते हैं। इसका कारण यह है कि ये सकल्पनाएँ, नमूने और सिद्धान्त विकसित देशों के यथार्थ के पर्याप्त रूप से उपयुक्त होते हैं। ये विश्लेषण रोजगार और बेरोजगारी, बचत, पूँजी विनियोग और उत्पादन तथा समग्र रूप में इन सब बातों के बारे में हो सकते हैं।

लेकिन कम-विकसित देशों में यह दृष्टिकोण एकदम लागू नहीं हो सकता। यह कार्य विश्लेषण को असंगत और बेहद त्रुटिपूर्ण बनाने की कीमत चुकाकर ही किया जा सकता है। ऊपर वर्णित समग्र 'आर्थिक' शब्दों का (और इनके अलावा अन्य शब्द भी है) उस स्थिति में विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, जब बाजारों का अस्तित्व ही न हो अथवा ये बाजार बेहद या पूर्णत: अपूर्ण हों।

पर उसमें अधिक बुनियादी कमी यह है कि यह दृष्टिकोण प्रवृत्तियों और संस्थाओं से प्रेरित होता है। विकसित देशों में ये या तो इस दृष्टि से संगत बन गये हैं कि ये विकास के उत्साह का मार्ग प्रशस्त करते हैं अथवा बड़ी तेजी से और बिना किसी व्यवधान के व्यवस्थित होकर विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लेकिन यह मान्यता कम-विकसित देशों के बारे में सही नहीं हो सकती।[13] इनकी प्रवृत्तियाँ अथवा संस्थान अथवा संस्थाएँ ऐसी है कि वे बाजारों के सन्दर्भ में विश्लेषण को अव्यावहारिक बना देती है। ये विकास में कम सहायक बनती है और ये बहुत अधिक बड़ी होती है। इन तथा अन्य कारणों से इन्हें विश्लेषण में अपनाये जानेवाले सैद्धान्तिक नमूने में एक महत्त्वपूर्ण और स्पष्ट स्थान दिया जाना चाहिए। यह सच है कि समस्त सैद्धान्तिक विश्लेषण सरल होना चाहिए लेकिन उन तत्वों को निरावसर सरलीकरण की अनुमति नहीं दी जा सकती

जो उस समाज के लिए अत्यधिक महत्त्व की हों, जिसका अध्ययन किया जा रहा हो।

एक अन्य दृष्टि से युद्ध के बाद का दृष्टिकोण कम-विकसित देशों के आर्थिक विश्लेषण को आवश्यकता से अधिक आशावादी बना देता है। विकसित देशो मे आय का जो ऊँचा स्तर कायम हो गया है और वहाँ सामाजिक सुरक्षा की जो व्यवस्थाएँ हैं, उनके कारण पौष्टिक आहार तथा रहन-सहन के स्तर को लोगों के कल्याण की दृष्टि से ही देखा जाता है और उनकी कार्यक्षमता तथा काम करने की इच्छा और काम करते समय उनकी कुशलता आदि बातों का ध्यान नही रखा जाता। अतः पश्चिम मे विकास के अध्ययन में हम जो प्रतिमान अपने सामने रखते है, उनमें इन बातों को सामान्यतया छोड़ा जा सकता है।

लेकिन जब कम-विकसित देशो के कम-विकास और विकास की समस्याओं का विश्लेषण किया जाता है तो इस सरलीकरण की इजाजत नही हो सकती। इन देशों के लोगों का रहन-सहन का बेहद नीचा स्तर उत्पादकता को प्रभावित करता है, जिसकी *कम-विकास और विकास के किसी भी यथार्थवादी आर्थिक विश्लेषण* मे उपेक्षा नही की जा सकती।[14] मैं उस स्थिति पर विचार कर रहा था, जिसे मैंने अधिक यान्त्रिक तरीके से 'आर्थिक' शब्दावली में कम-विकास और विकास की समस्या के प्रति दूसरे महायुद्ध के बाद का दृष्टिकोण कहा है, जो उस तीव्र गति का परिचायक है, जिससे प्रायः अछूते क्षेत्र में अनुसन्धान शुरू हुआ और हमारे भीतर अनुसन्धान के उन तरीकों को अपनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही, जिनसे हम परिचित थे। लेकिन यह मामला कही अधिक जटिल है।[15] मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण उन अनेक परिस्थितियो की उपेक्षा कर देता है, जो केवल कम-विकसित देशों की विशेष परिस्थितियाँ ही नही है, बल्कि ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जो इनके विकास की कमी के लिए अधिकाशतया जिम्मेदार हैं और उन विशेष कठिनाइयो के लिए भी, जिनका उन्हें अपनी विकास-प्रक्रिया मे सामना करना पड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के इस दृष्टिकोण मे जो अनावश्यक सरलीकरण था, उसमें कम-विकसित देशों की भद्दी, कठिन अथवा अवांछित बातों की उपेक्षा कर दी गयी थी। अतः 'आर्थिक' शब्दावली मे विकास के माडलों का निर्माण पहले वर्णित उन पूर्वाग्रहों का हितसाधन करता है, जो राजनयिक और आवश्यकता से अधिक आशावादिता के सम्बन्ध में थे। पूर्वाग्रहों के ये दो स्रोत एक-दूसरे से मिल जाते हैं और एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करते है।

अपनी संकल्पनाओं, माडलों और सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते समय अर्थशास्त्री नियमित रूप से अत्यधिक व्यापक सुरक्षाओं और शर्तों का उल्लेख करने के लिए तत्पर रहते हैं, वस्तुतः वे यह बात जोर देकर कहते हैं कि अन्ततः विकास एक 'मानवीय समस्या' है और आयोजन का अर्थ 'मनुष्य को बदलना' होता है। इस प्रकार ये लोग उन तत्त्वों के समक्ष अपना सिर झुकाते हैं, जिन्हें वे 'गैर-आर्थिक' कारक कहने के आदी हो चुके हैं। इसके बाद वे आगे इस प्रकार कार्य और

विवेचन करते है, मानो उन कारको का अस्तित्व ही न हो।[16]

अधिकांश अर्थशास्त्री बिना किसी क्षमायाचना के यह कार्य करते हैं। कुछ यह कहकर अपना बचाव कर लेते हैं कि वे स्वयं को गैर-आर्थिक कारको का विवेचन करने में सक्षम नही समझते। दोनो स्थितियों में वे यह स्पष्टीकरण देने मे असफल रहते है कि इन कारको की उपेक्षा का उनके अनुसन्धान की वैधता के लिए क्या अर्थ होता है।

आर्थिक अनुसन्धान के प्रति इस दृष्टिकोण की सर्वाधिक लाभदायक व्याख्या—जिसमे एक ओर तथाकथित गैर-आर्थिक कारको के महत्त्व पर जोर दिया जाता है और दूसरी ओर उन माडलों और सिद्धान्तों मे उनकी प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी जाती है, जिनका अनुसन्धान और आयोजन मे उपयोग होता है—यह होगी कि अर्थशास्त्री इन दो बातो मे से किसी एक को मानें : एक, कि प्रेरित 'आर्थिक' परिवर्तन (अधिकांश आयोजन सम्बन्धी नमूनों मे जो अभी भी मुख्यतः भौतिक विनियोग ही होता है) विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्व के है, अथवा, दो, कि अनुसधान मे यह प्रक्रिया की दृष्टि से उचित तरीका है कि पहले किसी 'आर्थिक' सिद्धान्त का निर्धारण किया जाये और गैर-आर्थिक कारको की सम्भावनाओ को जोडने की गुंजाइश रखी जाये।

समकालीन अर्थशास्त्रियों के अधिकांश सैद्धान्तीकरण से यह स्पष्ट है कि वे वस्तुतः प्रथम मान्यता के आधार पर कार्य करते है। कभी-कभी यह कार्य सामान्य शब्दावली में गैर-आर्थिक कारको के महत्त्व पर उनके जोर देने के स्पष्ट रूप से विपरीत होता है। एशियन ड्रामा के समस्त अध्यायो में पर्याप्त विस्तार से अनेक समस्याओं के बारे मे इस मान्यता का खण्डन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस प्रमुख विषय पर आगे विचार होगा।

यदि इस मुद्दे के बारे मे हमारे निष्कर्ष सही है—कि गैर-आर्थिक कारक, मोटे तौर पर ज्ञान या दृष्टिकोण, संस्थाएँ और रहन-सहन के बेहद नीचे स्तर के कारण उत्पादकता सम्बन्धी परिणाम, कम-विकसित देशो में इतने अधिक महत्त्व के हैं कि इन्हें आर्थिक सिद्धान्त और आयोजन से अलग नही किया जा सकता—तो दूसरी मान्यता का इसके निर्णायक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए विश्लेषण किया जाना चाहिए, क्योंकि इस मान्यता मे यह स्वीकार किया गया है कि एक सरलीकृत और बुनियादी सिद्धान्त मे इनके बारे मे बातें जोडकर गैर-आर्थिक कारको का ध्यान रखा जा सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि यह मान्यता सामान्यतः सही नहीं है।

एक बात तो यह है कि आर्थिक सिद्धान्त का यह आवर्द्धन कभी भी नहीं किया गया। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकांश अर्थशास्त्री कम-विकसित देशो की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याओं, दोनो का विवेचन आर्थिक तथ्यो और सम्बन्धों की सीधी-सादी संकल्पना के सन्दर्भ मे करते हैं।

इसके अलावा इसे लागू भी नहीं किया जा सकता। इस सरलीकरण के द्वारा अर्थशास्त्री अक्सर जिस सूक्ष्मता और तत्परता का आभास देने मे सफल होते है, उसके बावजूद उनके विचार के तरीके मे एक बुनियादी तर्कसंगत भ्रान्ति मौजूद रहती है, जो संकल्पनाओ और मान्यताओं की उनकी परिभाषाओं की स्पष्टता की कमी के पीछे छिपी रहती है।[17] यथार्थ मे आर्थिक समस्याएँ नहीं

होती, केवल समस्याएँ होती है और ये जटिल होती हैं।

यह स्पष्टीकरण देना कि 'आर्थिक' समस्याओं का क्या अर्थ होना चाहिए अथवा 'आर्थिक' कारक क्या हैं, वास्तव में एक ऐसे विश्लेषण का संकेत करता है, जिसमें समस्त 'गैर-आर्थिक' निर्णायक तत्व शामिल रहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एकमात्र सम्भव विभाजन—और जो एकमात्र ऐसा विभाजन है, जो तर्क की दृष्टि से खरा उतर सकता है—संगत और कम-संगत कारकों के बीच होता है।

और यह विभाजन उन समाजों की विशेषताओं के अनुसार बदलता रहेगा जिनका अध्ययन किया जाता है। यह बात कही जा चुकी है कि आर्थिक सिद्धान्त मे सामान्यतया जिन कारकों को छोड़ दिया जाता है, वे कम-विकसित देशों मे विशेष महत्त्व के हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में मैं स्वयं को, जो बातें कही गयी है, उनका एक उदाहरण देने तक ही सीमित रखूंगा : 'बेरोजगारी' की पश्चिमी संकल्पना का उपयोग और कम-विकसित देशो की परिस्थितियों पर विचार के सम्बन्ध में 'छिपी बेरोजगारी' अथवा 'अर्द्धबेरोजगारी' के कारण बताने का प्रयास। यद्यपि इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए एशियन ड्रामा का अध्ययन किया जा सकता है,[18] लेकिन विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में 'बेरोजगारी' की संकल्पना सम्बन्धी कुछ मान्यताओ का यहाँ उल्लेख उपयोगी होगा।

इस मान्यता मे एक तरल श्रम बाजार के अस्तित्व की बात निहित रहती है, जहाँ विशेष व्यवसायों के लिए काम के घंटों और काम की परिस्थितियो का मानक, व्यवहार मे और कभी-कभी कानून के द्वारा निर्धारित किया जा चुका है; इसके अलावा जहां सामूहिक सौदेकारी और सामूहिक सहमति की व्यवस्था है और जहाँ श्रम के स्तर में विभिन्न व्यक्तियो के अन्तर अर्थात् उनकी कुशलता, कार्य की तीव्रता और कार्यकुशलता के अन्तर मानकीकरण के आधार पर कम किये जा सकते हैं अथवा इन्हें किसी सामान्य पैमाने के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है।

इस तरल और संगठित श्रम बाजार में श्रम शक्ति के सदस्यों को नियमित रूप से रोजगार की सम्भावनाओं अथवा ऐसी सम्भावनाओं की कमी का ज्ञान होता है। वे इसी प्रकार नियमित रूप से काम करने को भी तत्पर होते हैं। काम प्राप्त न कर पाने और काम न करने की इच्छा के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाता है।

अतः बेरोजगारों की परिभाषा में यह कहा जा सकता है कि ऐसे श्रमिक जिनमें आवश्यक कुशलता है, जिन्हें रोजगार की सम्भावनाओं की जानकारी है और जो वर्तमान बाजार दर पर रोजगार की तलाश कर रहे हैं, लेकिन फिर भी उन्हें रोजगार प्राप्त करने में सफलता नही मिलती। श्रम की सामान्य माँग में पर्याप्त वृद्धि 'पूर्ण रोजगार' की स्थिति उत्पन्न कर सकती है।

'संरचनात्मक रोजगार' के बारे में अनेक शर्तों सहित ये परिस्थितियाँ अनेक विकसित देशों में मौजूद हैं और ये परिस्थितियाँ 'बेरोजगारी' की संकल्पना के प्रयोग को सम्भव बनाती हैं और बेरोजगार श्रमिकों की संख्या को आंकड़ों के आधार पर आंका जा सकता है। (संयुक्त राज्य अमरीका मे अनेक अर्थशास्त्रियों

ने संरचनात्मक बेरोजगारी के अस्तित्व को उस समय तक अस्वीकार करने का प्रयास किया जब तक नैतिक और बौद्धिक भावोन्नयन नही हुआ और जब तक 1960 के बाद के आरम्भिक वर्षों में गरीबी की समस्या के प्रति लोगों मे जागृति नहीं आयी।) इसके अलावा 'सुरक्षित श्रम शक्ति' की परिभाषा देना भी सम्भव है।

कम-विकसित देशों मे स्थिति बिलकुल भिन्न है। जो लोग स्वयं अपने धन्धो मे लगे है, उनके द्वारा उत्पादक कार्य की सम्भावना के निर्माण अथवा श्रमिको की मांग मे वृद्धि, अपने-आपमे श्रमिको अथवा श्रम शक्ति के बेहतर उपयोग का मार्ग प्रशस्त नही कर सकती अथवा यह कार्य बहुत मामूली सीमा तक ही हो सकता है।[19]

नीति सम्बन्धी इन उपायो के पूरक के रूप मे अन्य नीति सम्बन्धी उपाय करने होंगे, जिनका लक्ष्य केवल विनियोग और अधिक श्रमिको की मांग में वृद्धि करना ही नही होगा, बल्कि दृष्टिकोण और संस्थाओ मे और अवसर रहन-सहन के स्तर में परिवर्तन करना होगा। आर्थिक विश्लेषण और आयोजन मे प्रयुक्त सामान्य सिद्धान्तो और नमूनों मे गैर-आर्थिक कारको को निकाल देने से इस मामले मे हमारी यथार्थ सम्बन्धी सकल्पना गम्भीर रूप से विकृत बन गयी है।

एशियन ड्रामा मे मैंने 'बेरोजगारी'—और अर्द्ध-बेरोजगारी—की सकल्पना को दक्षिण एशिया के यथार्थ की दृष्टि मे पूरी तरह अपर्याप्त मानकर त्याग दिया था और श्रम के उपयोग के अपने विश्लेषण को सीधी-सादी व्यवहार सम्बन्धी सकल्पनाओं पर आधारित किया था, जिनका सम्बन्ध प्रेक्षण योग्य तथ्यों मे है : कौन से लोग काम करते हैं; दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष के किस भाग मे कितने समय के लिए वे काम करते हैं और वे कितनी तीव्रता और प्रभावशालिता से काम करते हैं।[20]

सामान्य मुद्दा, जिसे यह उदाहरण देकर मैंने अधिक स्पष्टता से समझाने का प्रयास किया है, यह है कि रोटी तैयार हो जाने के बाद चूल्हे में खमीर फेंकना सम्भव नही है। गैर-आर्थिक कारको को कथित शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त ने इस प्रकार नहीं जोडा जा सकता। सच्चे संस्थागत दृष्टिकोण मे उन संकल्पनाओं को अपने समक्ष रखा जाना चाहिए, जो आरम्भ से ही यथार्थ के अनुरूप हों अर्थात् समस्या के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करने मे ही यह होना चाहिए।[21]

दूसरे महायुद्ध के बाद के सतही दृष्टिकोण का समर्थन करने वाले बडे शक्तिशाली हित मौजूद है और यह दृष्टिकोण गैर-आर्थिक कारकों की उपेक्षा कर निर्धारित किया गया है। शीतयुद्ध और इसके परिणामस्वरूप अवसरवादी प्रवृत्तियों के जन्म के बावजूद, विभिन्न देशों के लोगों ने, अपनी सभ्यता की महान् मानवतावादी परम्परा के अनुसार, संकट मे फंसे लोगो के उद्धार के प्रति आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है। संकटग्रस्त लोगों की परिस्थितियों के प्रति उन महत्वपूर्ण परिवर्तनों के दबाव के कारण यह चेतना बढी, जो दूसरे महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति मे हुए।

यह स्पष्ट है कि कम-विकसित देशों के विकास के प्रयासों में सहायता पहुँचाने की कोशिश करते समय हमारे समक्ष जो समस्याएँ आती है, वे उस स्थिति में बेहद सरल और आसानी से सुलझाई जा सकने योग्य बन जायेंगी, यदि हमारे अनुसन्धान का दृष्टिकोण व्यावहारिक हो। इस स्थिति में सहायता देना हमारे लिए कम महँगा पड़ेगा। और जैसाकि मैं कह चुका हूँ, समस्त स्वार्थों के बावजूद हमारी यह निष्ठापूर्ण आशा है कि ये देश अपने विकास के प्रयासों में सफल होंगे।

हम अर्थशास्त्री इन भावनाओं में सहभागी हैं और इसके साथ ही हम उन निहित स्वार्थों को भी देख सकते हैं, जो उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिपके रहने की प्रेरणा देते हैं, जिसके आधार पर हमें स्वयं अपने देशों में इतनी अधिक सफलता मिली है। प्रक्रिया सम्बन्धी कट्टरता से जो आशापूर्ण पूर्वाग्रह उत्पन्न होते हैं, उनसे केवल पश्चिम के अर्थशास्त्री ही ग्रस्त नहीं हैं। कम-विकसित देशों के हमारे सहकर्मी भी, यदि अधिक नहीं तो कम से कम इन विचारों से इतने ही ग्रस्त हैं।

कम-विकसित देशों के इन अनेक अर्थशास्त्रियों को पश्चिम के विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण मिला है अथवा उन्होंने उन शिक्षकों से शिक्षा पायी है, जिनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिम में हुई। ये सब लोग पश्चिमी परम्परा के महान् आर्थिक साहित्य से प्रभावित हैं। पश्चिमी परम्परा में जिन सिद्धान्तों का जन्म हुआ है, उनकी जानकारी और उनके अनुसार काम करने की योग्यता से इन लोगों को स्वयं अपने देशों और विदेशों में भी सम्मान मिला है।

पश्चिम के पूर्वाग्रहों अथवा रुझानों में हिस्सा बटाने की उनकी प्रेरणा उनके राजनीतिक दृष्टिकोणों से पर्याप्त स्वतन्त्र है। इनमें अधिक आमूल परिवर्तनवादी निश्चय ही योजनाबद्ध विकास की तेजी से सफलता में विश्वास करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना होगा कि बुनियादी संकल्पनाओं और सैद्धान्तिक विकास सम्बन्धी नमूनों का जो इस्तेमाल कम्युनिस्ट देशों में हो रहा है और इन देशों में इनके प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है, वह पश्चिम के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है।

हमें मार्क्स की इस मान्यता को भी स्मरण रखना चाहिए—जिसे आज पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने व्यापक रूप से अपनाया है, यद्यपि वे सामान्यतया इसके मूल स्रोत का उल्लेख नहीं करते और अक्सर उन्हें इस बात का ज्ञान भी नहीं होता—कि औद्योगीकरण और पूंजी विनियोग के प्रभाव सामान्यतया (अन्ततः मार्क्स द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन 'उत्पादन के तरीकों' के बारे में ही हैं) अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में अधिक तेजी से फैलते हैं और संस्कृति के समस्त 'विराट् ढांचे' का निर्धारण करते हैं, जिनमें दृष्टिकोण और संस्थाएँ भी शामिल हैं।[12]

यह मान्यता निश्चय ही दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अधिक प्रकट रूप से ग्राह्य बना देती है। लेकिन यह यथार्थवादी नहीं है। यथार्थ में औद्योगीकरण के 'प्रसारात्मक प्रभाव' रहन-सहन के स्तर का एक अंग हैं, विशेषकर शिक्षा की सुविधाओं का उपलब्ध होना और उनका उपयोग, तथा वर्तमान दृष्टिकोणों और संस्थाओं का अस्तित्व। और यही कारण है कि कम-विकसित देशों में ये प्रभाव सामान्यतया धीमी गति से फैलते हैं और अपूर्ण होते हैं।[13]

पुरातनपंथी और कम-विकसित देशों के विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग दृष्टिकोणों और संस्थाओं के बारे में कम से कम सुनना ही पसन्द करते है, जिन्हें तेजी से विकास के लिए आमूल रूप से बदलने की आवश्यकता है और वे इसी प्रकार निर्धन जनसमुदाय के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने के परिणामस्वरूप उत्पादकता पर पडने वाले प्रभाव की बात भी नही सुनना चाहते।

लेकिन कम-विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों और अधिक व्यापक रूप से इन देशों के बुद्धिवादियों के बीच इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के लिए जो समर्थन मौजूद है, उसके बडे गहरे कारण हैं। ऊपर हमने जिस समान रूप से अवसरवादी उपनिवेशी सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत किया है और इन लोगों की गरीबी और पिछड़ेपन तथा प्रगति की कमी का जो स्पष्टीकरण दिया है और इसके साथ ही प्रगति की बहुत अधिक सम्भावनाओं के प्रकट अभाव की भी जो बात कही है, उसे, जैसाकि स्वाभाविक था, कृपाभाव दर्शाने वाली, अपमानजनक और अरुचिकर अनुभव किया गया।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाना उपनिवेशी सिद्धान्त के प्रति गहरे विरोध के भाव को प्रदर्शित करना समझा गया।[21] इस दृष्टिकोण ने उपनिवेशी सिद्धान्त के समस्त आपत्तिजनक तत्त्वों से तुरन्त छुटकारा दिलाया, जिसका विकास कम-विकसित देशों की पूरी तरह असहाय स्थिति को प्रमाणित करने के लिए किया गया था और इस प्रकार उपनिवेशी शक्तियों को इन देशों के पिछड़ेपन की जिम्मेदारी से मुक्ति दिला दी गयी थी। केवल इस निष्कर्ष को भुला देना भर राहत की बात नहीं थी, बल्कि उन मान्यताओं को भुला देना भी, जिनके आधार पर इसका निर्माण हुआ था।

वस्तुत: जातीय सिद्धान्त का अन्तर्धान हो जाना, स्पष्ट रूप से प्रगति का सूचक है, क्योंकि इस सिद्धान्त का कोई भी वैज्ञानिक औचित्य नही था। इससे भी अधिक गम्भीर बात जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा की है, जिसे उपनिवेशी सिद्धान्त मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। विकसित देशों में, जो सब जलवायु की दृष्टि से सामान्य क्षेत्रों मे हैं, जलवायु के अन्तर ने आर्थिक दृष्टि से कभी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं किया और इस कारण से इस पर विचार की कोई आवश्यकता भी नही थी। लेकिन गर्म और अर्द्ध-गर्म क्षेत्रों में यह बात सही नहीं है, जहाँ कम-विकसित देश स्थित हैं। (देखिए अध्याय-2)[22]

लेकिन जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों के प्रकट महत्त्व के बावजूद विकास की कमी, विकास और योजनाएं बनाने सम्बन्धी लेखन मे अब इसका उल्लेख तक नहीं किया जाता और यह कार्य दूसरे महायुद्ध के दृष्टिकोण के अनुरूप किया जा रहा है। आप सैकड़ों पुस्तकें और लेख पढने के बाद भी 'जलवायु' शब्द का उल्लेख तक नहीं पा सकते।

उपनिवेशी सिद्धान्त मे दृष्टिकोणों और संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था, यद्यपि इनका अनुशीलन बहुत ही अपरिष्कृत और अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त तरीके से किया गया था। लेकिन अब दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण मे इन्हें पूरी तरह निकाल बाहर किया गया है, विशेषकर योजनाओं मे प्रतिबिम्बित आर्थिक नमूनों के निर्माण मे।[23]

अधिकांश कम-विकसित देशों मे भ्रष्टाचार मे वृद्धि और इसका सार्वभौम

सुदृढ़ता तथा समस्त आयोजन और योजना के लक्ष्य पूरा करने पर जो अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ता है (देखिए अध्याय 7) उसका विकास की कमी, विकास और विकास के लिए आयोजन सम्बन्धी आर्थिक साहित्य मे यदा-कदा ही उल्लेख होता है। जब कभी इसकी ओर ध्यान दिया जाता है तब भी अक्सर इसके महत्त्व को कम दर्शा कर प्रस्तुत किया जाता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण मे जिन तत्त्वों को छोड दिया गया है, कभी-कभी व्यवहार-विज्ञान के लेखक उन तत्त्वों पर विचार करते है अथवा ऐसे व्यक्ति उन तत्त्वों पर विचार करते हैं जो सामुदायिक विकास, कृषि विस्तार अथवा परिवार नियोजन जैसी समस्याओं के सम्बन्ध में काम करते हैं। ये विषय बिल्कुल अलग-थलग होते हैं। इनका उल्लेख विशेष पुस्तकों, लेखो और योजनाओं के अलग अध्यायों मे होता है। यदा-कदा ही — और प्रभावशाली ढंग से कभी नही — विकास में इनके महत्त्वपूर्ण योगदान और स्थान पर उस तरीके से *विचार होता है, जो आर्थिक सिद्धान्तों और उनमे निहित मान्यताओं को* चुनौती दे सके।

उपनिवेशी सिद्धान्त का अक्सर जिस रूप मे प्रतिपादन किया जाता था और यह मुक्त व्यापार के निष्कर्षो को जिस ढंग से तर्कसम्मत बनाने का प्रयास करता था, उसे ध्यान मे रखते हुए कम-विकसित देशो के बुद्धिवादियो का इस विचार-प्रक्रिया के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन समझा जा सकता है। इसी प्रकार उस शक्तिशाली भावनात्मक प्रेरक शक्ति को भी समझा जा सकता है, जिसने उन्हे युद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

उपनिवेशों की राजनीतिक स्वाधीनता के व्यापक राजनयिक वातावरण मे विकसित देशो के अर्थशास्त्रियो के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उपनिवेशी सिद्धान्तो के प्रति कम-विकसित देशों के बुद्धिवादियो के विरोध-प्रदर्शन अथवा विरोध के भाव के प्रति सहानुभूति रखें।

यह प्रतिक्रिया इस सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप भी थी कि भद्दी समस्याओ से बचा जाये और अनुसन्धान में राजनय की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए प्रत्येक वस्तु को सर्वाधिक आशाप्रद ढंग से देखा जाये। रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तरो के परिणामस्वरूप उत्पन्न दृष्टिकोणों, सस्थाओं और उत्पादकता की उपेक्षा करते हुए, वे लोग गैर-विवेचनात्मक ढंग से एक ऐसा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपना सकते थे, जिसमे वे परिचित थे और जिस पर उन्होंने आसानी मे अधिकार प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार पूर्वाग्रह की समस्त शक्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहीं और एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करती रही और इस प्रकार इन शक्तियों ने विकास की कमी, विकास और आयोजन के अध्ययन के दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को दृढ आधार पर स्थापित करने में सहायता दी। पूर्वाग्रह अब एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच चुका था।

इस दृष्टिकोण को अपना समर्थन देने वाले उन निहित स्वार्थों के क्षेत्र के

पुरातनपंथी और कम-विकसित देशों के विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग दृष्टिकोणों और संस्थाओं के बारे में कम से कम सुनना ही पसन्द करते हैं, जिन्हें तेजी से विकास के लिए आमूल रूप से बदलने की आवश्यकता है और वे इसी प्रकार निर्धन जनसमुदाय के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाने के परिणामस्वरूप उत्पादकता पर पड़ने वाले प्रभाव की बात भी नहीं सुनना चाहते।

लेकिन कम-विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों और अधिक व्यापक रूप में इन देशों के बुद्धिवादियों के बीच इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के लिए जो समर्थन मौजूद है, उसके बड़े गहरे कारण हैं। ऊपर हमने जिस रूप में अवसरवादी उपनिवेशी सिद्धान्त का विवरण प्रस्तुत किया है और इन लोगों की गरीबी और पिछड़ेपन तथा प्रगति की कमी का जो स्पष्टीकरण दिया है और इसके साथ ही प्रगति की बहुत अधिक सम्भावनाओं के प्रकट अभाव की भी जो बात कही है, उसे, जैसाकि स्वाभाविक था, कृपाभाव दर्शाने वाली, अपमानजनक और अरुचिकर अनुभव किया गया।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाना उपनिवेशी सिद्धान्त के प्रति गहरे विरोध के भाव को प्रदर्शित करना समझा गया।[21] इस दृष्टिकोण ने उपनिवेशी सिद्धान्त के समस्त आपत्तिजनक तत्त्वों से तुरन्त छुटकारा दिलाया, जिसका विकास कम-विकसित देशों की पूरी तरह असहाय स्थिति को प्रमाणित करने के लिए किया गया था और इस प्रकार उपनिवेशी शक्तियों को इन देशों के पिछड़ेपन की जिम्मेदारी से मुक्ति दिला दी गयी थी। केवल इस निष्कर्ष को भुला देना भर राहत की बात नहीं थी, बल्कि उन मान्यताओं को भुला देना भी, जिनके आधार पर इसका निर्माण हुआ था।

वस्तुतः जातीय सिद्धान्त का अन्तर्धान हो जाना, स्पष्ट रूप से प्रगति का सूचक है, क्योंकि इस सिद्धान्त का कोई भी वैज्ञानिक औचित्य नहीं था। इससे भी अधिक गम्भीर बात जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों की पूर्ण उपेक्षा की है, जिसे उपनिवेशी सिद्धान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। विकसित देशों में, जो सब जलवायु की दृष्टि से सामान्य क्षेत्रों में हैं, जलवायु के अन्तर ने आर्थिक दृष्टि से कभी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं किया और इस कारण से इस पर विचार की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। लेकिन गर्म और अर्द्ध-गर्म क्षेत्रों में यह बात सही नहीं है, जहाँ कम-विकसित देश स्थित हैं। (देखिए अध्याय-2)[22]

लेकिन जलवायु सम्बन्धी तत्त्वों के प्रकट महत्त्व के बावजूद विकास की कमी, विकास और योजनाएँ बनाने सम्बन्धी लेखन में अब इसका उल्लेख तक नहीं किया जाता और यह कार्य दूसरे महायुद्ध के दृष्टिकोण के अनुरूप किया जा रहा है। आप सैकड़ों पुस्तकें और लेख पढ़ने के बाद भी 'जलवायु' शब्द का उल्लेख तक नहीं पा सकते।

उपनिवेशी सिद्धान्त में दृष्टिकोणों और संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था, यद्यपि इनका अनुशीलन बहुत ही अपरिष्कृत और अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त तरीके से किया गया था। लेकिन अब दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में इन्हें पूरी तरह निकाल बाहर किया गया है, विशेषकर योजनाओं में प्रतिबिम्बित आर्थिक नमूनों के निर्माण में।[26]

अधिकांश कम-विकसित देशों में भ्रष्टाचार में वृद्धि और इसका राष्ट्रीय

सुदृढता तथा समस्त आयोजन और योजना के लक्ष्य पूरा करने पर जो अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ता है (देखिए अध्याय 7) उसका विकास की कमी, विकास और विकास के लिए आयोजन सम्बन्धी आर्थिक साहित्य में यदा-कदा ही उल्लेख होता है। जब कभी इसकी ओर ध्यान दिया जाता है तब भी अक्सर इसके महत्त्व को कम दर्शा कर प्रस्तुत किया जाता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण मे जिन तत्त्वों को छोड़ दिया गया है, कभी-कभी व्यवहार-विज्ञान के लेखक उन तत्त्वों पर विचार करते हैं अथवा ऐसे व्यक्ति उन तत्त्वों पर विचार करते हैं जो सामुदायिक विकास, कृषि विस्तार अथवा परिवार नियोजन जैसी समस्याओ के सम्बन्ध में काम करते हैं। ये विषय बिल्कुल अलग-थलग होते है। इनका उल्लेख विशेष पुस्तकों, लेखों और योजनाओ के अलग अध्यायों मे होता है। यदा-कदा ही -- और प्रभावशाली ढंग से कभी नही -- विकास मे इनके महत्त्वपूर्ण योगदान और स्थान पर उस तरीके से विचार होता है, जो आर्थिक सिद्धान्तों और उनमें निहित मान्यताओ को चुनौती दे सके।

उपनिवेशी सिद्धान्त का अक्सर जिस रूप में प्रतिपादन किया जाता था और यह मुक्त व्यापार के निष्कर्षों को जिस ढंग से तर्कसम्मत बनाने का प्रयास करता था, उसे ध्यान मे रखते हुए कम-विकसित देशो के बुद्धिवादियो का इस विचार-प्रक्रिया के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन समझा जा सकता है। इसी प्रकार उस शक्तिशाली भावनात्मक प्रेरक शक्ति को भी समझा जा सकता है, जिसने उन्हें युद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

उप.नवेशो की राजनीतिक स्वाधीनता के व्यापक राजनयिक वातावरण मे विकसित देशों के अर्थशास्त्रियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उपनिवेशी सिद्धान्तों के प्रति कम-विकसित देशों के बुद्धिवादियो के विरोध-प्रदर्शन अथवा विरोध के भाव के प्रति सहानुभूति रखें।

यह प्रतिक्रिया इस सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप भी थी कि भद्दी समस्याओ से बचा जाये और अनुसन्धान मे राजनय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक वस्तु को सर्वाधिक आशाप्रद ढंग से देखा जाये। रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तरों के परिणामस्वरूप उत्पन्न दृष्टिकोणो, संस्थाओ और उत्पादकता की उपेक्षा करते हुए, वे लोग गैर-विवेचनात्मक ढग से एक ऐसा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपना सकते थे, जिससे वे परिचित थे और जिस पर उन्होंने आसानी से अधिकार प्राप्त कर लिया था।

इस प्रकार पूर्वाग्रह की समस्त शक्तियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रही और एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करती रही और इस प्रकार इन शक्तियो ने विकास की कमी, विकास और आयोजन के अध्ययन के दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को दृढ आधार पर स्थापित करने मे सहायता दी। पूर्वाग्रह अब एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच चुका था।

इस दृष्टिकोण को अपना समर्थन देने वाले उन निहित स्वार्थों के क्षेत्र के

इस खाके से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी आलोचना का प्राय. प्रत्येक क्षेत्र में विरोध किया जायेगा। इन निहित स्वार्थों के साथ अर्थशास्त्र में वैज्ञानिक विचार प्रक्रिया की गतिहीनता और पुरातनपंथी दृष्टिकोण को भी जोड़ दिया जाना चाहिए, जब कभी प्रश्न सिद्धान्तों के स्वरूप का हो और केवल इस ढाँचे के भीतर किसी विशेष व्यवस्था का नहीं।[27] हमारी व्यापकतम संकल्पनाओं और पूर्व-कल्पनाओं के समान शक्तिशाली अन्य कोई निहित स्वार्थ नहीं होता।

इस प्रकार कम-विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं के प्रति वर्तमान पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के विरुद्ध वैज्ञानिक विद्रोह, वस्तुत: शक्तिशाली 'प्रतिष्ठान' के विरुद्ध है, जिसमें प्रभावशाली निहित स्वार्थ गहराई में जमे हुए हैं और ये निहित स्वार्थ उन अधिकांश लोगों के हैं, जो इन समस्याओं के अध्ययन अथवा समाधान में लगे है। चाहे वे लोग यह कार्य अध्ययनकर्ताओं के रूप में अथवा राजनीतिक और व्यावहारिक रूप में क्यों न कर रहे हों।

इसके बावजूद मैं यह निश्चयपूर्वक अनुभव करता हूँ कि कम-विकसित देशों की परिस्थितियों के बारे में जो बड़े पैमाने पर अनुसन्धान हो रहे हैं, वे 10-15 वर्ष के समय में एक ऐसे पूरी तरह नये दृष्टिकोण की आवश्यकता को प्रकट करेंगे, जिसे मैं समस्याओं की संस्थागत संकल्पना कहता हूँ।[28]

यथासमय यह एक वैसा ही बुनियादी परिवर्तन होगा, जैसा उपनिवेशी सिद्धान्त से दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में हुआ था। हमें उन अधिकांश तरीकों को त्यागना होगा, जिन्हें अर्थशास्त्रियों के मध्य अक्सर गलत ढंग से 'परिष्कृत' तरीके कहा जाता है। इसी प्रकार बहुत कठोर तथा अनावश्यक सूक्ष्मता को भी त्यागना होगा, पर बुनियादी मान्यताओं और संकल्पनाओं की परिभाषा के सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि दूसरे महायुद्ध के बाद के परम्परागत दृष्टिकोण में यही अधिक लापरवाही बरती गयी है।[29]

मेरा विश्वास इस आस्था पर निहित है कि अनुसन्धान में आत्मशुद्धि की क्षमता निहित होती है।[30] तथ्य बहुत प्रभावशाली ढंग से अपनी बात कहते हैं और उस स्थिति में भी यह कार्य करते हैं—यद्यपि कुछ विलम्ब होता है—जब आवश्यक जानकारी और आँकड़े सर्वप्रथम उन कोटियों के अन्तर्गत एकत्र किये जाते हैं, जो अनुसन्धान में लागू पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप होती हैं, लेकिन यथार्थ को उजागर करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होती। कम से कम मेरे अपने अनुसन्धान का यही अनुभव रहा है।

लम्बे अरसे से समाजशास्त्र और आचरण सम्बन्धी विज्ञानों के शोधकर्ता हम अर्थशास्त्रियों को यह चेतावनी देते आ रहे हैं कि हमें अमुक-अमुक बातों को नहीं भुलाना चाहिए। इसके बाद उन लोगों ने अपने लिए अध्ययन का एक नया क्षेत्र तैयार किया है। ये लोग एक-दूसरे का उद्धरण देते हैं। अपनी अनावश्यक रूप से झक्कीपन में भरी शब्दावली विकसित करते हैं और समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि हम अर्थशास्त्रियों को अधिक विचलित नहीं कर पाते। वस्तुत. उन्होंने कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं सम्बन्धी हमारे

प्रमुख दृष्टिकोण को चुनौती देने का कभी भी साहस नहीं दिखाया। और इन समस्याओं के समाधान के लिए वैकल्पिक मैक्रो-सिद्धान्त (समष्टि भाव सिद्धान्त) तैयार करने के लिए तो इतना भी नहीं किया।

उन परम्पराओं के अनुरूप जो अब दो शताब्दियों से अधिक पुरानी हो चुकी है, हम अर्थशास्त्रियों का कुछ सीमित, लेकिन सामाजिक दृष्टि से उपयोगी रुझान होता है; हम स्वाभाविक रूप से एक पूरे देश की पूरी तस्वीर और वस्तुत. पूरे संसार की तस्वीर अपने सामने रखने की जिम्मेदारी स्वीकार करते है और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो के गतिशील सन्दर्भ मे सोचने की जिम्मेदारी का निर्वाह करते है। आप किसी भी अर्थशास्त्री को किसी कम-विकसित देश की राजधानी मे बैठा दीजिए और उसे आवश्यक सहायता दीजिए और जल्दी ही वह एक योजना प्रस्तुत कर देगा। इस दृष्टि से हमारी समस्त सामाजिक वैज्ञानिको के मध्य विलक्षण स्थिति है। कोई भी समाजशास्त्री, मनोविज्ञानी अथवा नृवंश-विज्ञानी यह प्रयास करने की कल्पना भी नही कर सकता।

और इस कारण से— तथा अन्य सामाजिक विज्ञानो के हमारे सहयोगियो के समस्त अनुसन्धानो का स्वागत करते हुए— मेरा अर्थशास्त्रियो के व्यवसाय में यह विश्वास है कि एक बार जब उन्हे उचित जानकारी मिल जाती है और जब वे दृष्टिकोणों, संस्थाओ और उत्पादकता पर रहन-सहन के स्तर के प्रभावो को समझ लेते है, विशेषकर उन स्थानो पर, जहाँ रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है, वे अपने समस्त अध्ययनो और अनुसन्धानो मे इसकी अनिवार्य आवश्यकता को भी समझ लेते है।[31]

किसी राज्य को किन वस्तुओं की आवश्यकता है, और राजनीति क्या है, वस्तुत. एक मैक्रो योजना होती है, जिसे अनेक परिस्थितियो मे एक साथ परिवर्तन लाने के लिए लागू किया जाता है। ये परिस्थितियाँ केवल आर्थिक ही नही होती और यह कार्य इस प्रकार किया जाता है कि इन सब परिवर्तनो का इस दृष्टि से समन्वय किया जा सके कि प्रयासो और बलिदानो का अधिकतम विकास सम्बन्धी लाभ मिल सके। लोकप्रिय शब्दावली में हम यह कह सकते है कि आयोजन अथवा योजनाबद्ध विकास की यही परिभाषा होनी चाहिए।

अक्सर, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अर्थशास्त्री अपने परम्परागत और संकीर्ण क्षेत्र के बाहर के विचारो को ग्रहण करने और उदारमना बनने के लिए बड़े उत्सुक दिखायी पड़ते हैं। अत्यधिक उदार शर्तों और मान्यताओ का उल्लेख करने के बाद वे सदा की तरह शुद्ध 'अर्थशास्त्र' की शब्दावली में तर्क करने लगते है।

इन अर्थशास्त्रियों के संशयों और शर्तों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तक मे जिस प्रकार की आलोचना हुई है—और जिसे एशियन ड्रामा मे अधिक व्यापक रूप से प्रस्तुत किया गया है—उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया मुख्यतः यह होगी कि लेखक समय से पीछे है और वह खुले दरवाजो के भीतर घुसने का प्रयास कर रहा है। उसे एक 'समाजशास्त्री' की संज्ञा भी दी जा सकती है, जो एक ऐसा शब्द है, जिसे एक सच्चे अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तकार के लिए कुछ अपमानजनक ही माना जा सकता है। पर यह निश्चित है कि यह एक ऐसा शब्द है, जिससे उन बाहरी लोगों की ओर संकेत किया जाता है जो आर्थिक सिद्धान्तकार के अमूर्त आर्थिक नमूनों के परिष्कृत स्वरूप को नही समझ पाते।

परिष्कार के इस स्वांग के साथ अक्सर विचारों के इतिहास और विज्ञान के दर्शन और सामाजिक दृष्टिकोण की बहुत कम जानकारी भी जुड़ी होती है। अतः अनुसन्धान में पूर्वाग्रहों की भूमिका की समस्या को उठाना एक ऐसी बात है, जिसकी लोग बिना समझे ही उपेक्षा कर बैठते हैं।

हाल के दशकों में सामाजिक समस्याओं की जानकारी और सूझ-बूझ में यह जो खामी रही है, उसे अर्थशास्त्रियों को प्रशिक्षण देने के तरीकों से बल मिला है। पहले महायुद्ध के समय तक प्राय कोई भी व्यक्ति एक अर्थशास्त्री के रूप में अपना विद्वत्-कार्य शुरू नहीं करता था। वह इससे पहले के युग में व्यावहारिक कार्यों में लगा व्यक्ति होता था, जो अपनी प्रौढ़ावस्था में अर्थशास्त्र में दिलचस्पी लेने लगता था। अथवा वह एक ऐसा व्यक्ति होता था, जिसे गणितज्ञ, नैतिक, दार्शनिक, वकील, इतिहासकार आदि के रूप में पहले प्रशिक्षण प्राप्त हुआ हो।

उस समय अर्थशास्त्री कभी भी शुद्ध अर्थशास्त्रियों के रूप में कार्य शुरू नहीं करते थे, जबकि अब लगभग आधी शताब्दी से यह सामान्य बात बन गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि एक विद्यार्थी को उस समाज की बेहद आंशिक जानकारी रहते हुए ही एक प्रोफेसर बन जाने का अवसर मिला, जिसका वह अध्ययन कर रहा था।

दुर्भाग्यवश, यह सच नहीं है कि कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में पहले ही सुधार हो चुका है, और अब इसकी आलोचना करने की कोई तुक नहीं है। निरन्तर और नियमित रूप से आर्थिक विकास की समस्याओं के बारे में यह सोचा जाता है कि इसका मूल भौतिक विनियोग में निहित है, यदाकदा इसके लिए तकनीकी कुशलताओं, प्रबन्ध के अनुभव आदि की भी जरूरत होती है। राष्ट्रीय अथवा औसत आय, बचत, रोजगार और बाजारों, दामों और तकनीकी गुणांकों के सन्दर्भ में रोजगार और उत्पादन की शब्दावली में लगातार तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं और इस बात के प्रति अधिक चिन्ता नहीं दिखायी जाती कि इन देशों में इन शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है और आँकड़ों को किस जादूगरी से इनका निर्धारण किया गया है।

हाल के वर्षों में बुनियादी दृष्टिकोण की यह कट्टरता उस समय विशेष रूप से प्रकाश में आयी जब अर्थशास्त्रियों की एक टोली ने विकास के लिए शिक्षा के महत्त्व का पुनरनुसन्धान किया।[32] यह वस्तुतः शिक्षाशास्त्रियों अथवा आर्थिक इतिहासकारों के लिए कोई नयी बात नहीं है और एडम स्मिथ से लेकर एलफ्रेड मार्शल तक के सब पुरातन और नव-पुरातन अर्थशास्त्रियों ने इस बात के महत्त्व को समझा और उसे प्रकट किया है। अब जब यह बात अर्थशास्त्रियों के लिए एक अनुसन्धान बन गयी है तो इसका सीधासादा स्पष्टीकरण यही है कि हमारे पेशे के लोगों ने इस बात को भुला दिया था, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के बाद, उस समय से जब अपने विकास सम्बन्धी नमूनों में हम केवल 'आर्थिक' दृष्टि से और विशेष रूप से भौतिक विनियोग की दृष्टि से ही विचार करने लगे थे।

इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि अर्थशास्त्रियों का यह नवीनतम सम्प्रदाय—जो अपने योगदान को आर्थिक सिद्धान्त के एक महत्त्वपूर्ण नवीकरण के रूप में देखने में किसी संकोच का अनुभव नहीं करता—पर्याप्त आमूल परिवर्तनवादी नहीं है। वस्तुतः वे स्वयं को निवेश की संकल्पना को और व्यापक

बनाने तक ही सीमित रखते हैं—जिसे उस समय तक भौतिक निवेश के रूप में ही समझा जाता था—और यह कार्य पूंजी-उत्पादन के नमूनों के सन्दर्भ में इस संकल्पना को व्यापक बनाकर किया जाता है, ताकि इसमें 'मनुष्य के रूप में निवेश' को भी शामिल किया जा सके। अन्यथा यह नमूना, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के लिए बड़े बुनियादी महत्त्व का है, सदा की तरह अपरिवर्तित और सर्वोपरि छोड़ दिया गया है। विशेष रूप से कम-विकसित देशों के सम्बन्ध मे, शिक्षा का यह वित्तीय दृष्टि से निवेश और उत्पादन पर आधारित विवेचन निरर्थक है।

एडम स्मिथ और एल्फ्रेड मार्शल कभी भी यह बात नही सोच सकते थे क्योंकि वे संस्थावादी थे। मार्शल ने तो शिक्षा के कारक को निवेश और उत्पादन की वित्तीय शब्दावली में रूपान्तरित करने के खतरे के प्रति चेतावनी भी दी थी। इस प्रकार के मूल्याकन से विकास मे शिक्षा के योगदान की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्या सम्बन्धी व्यावहारिक और उचित अनुसन्धान के मार्ग मे बाधा ही पड़ सकती है (देखिए अध्याय—6)।

इस समस्या पर बुनियादी तौर पर शिक्षा के स्वरूप और इसके दृष्टिकोणों तथा संस्थाओं पर पडनेवाले प्रभाव के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है, और विशेष रूप से आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निर्मित विभिन्न स्तरों और इन तत्त्वों का स्वयं शिक्षा पर क्या प्रभाव होता है, इस सन्दर्भ मे विचार किया जा सकता है। विकास मे शिक्षा के योगदान की यही वास्तविक समस्याएँ है, जिनसे मनुष्य के रूप मे विनियोग के फार्मूले में वस्तुतः बचने का प्रयास किया जाता है।

इस बीच कम-विकसित देशो के लिए निरन्तर योजनाएँ तैयार की जा रही है। इन पर विचार हो रहा है और आगे चलकर इनका वित्तीय योजनाओ के रूप में, वस्तुतः सार्वजनिक निवेश के लिए वित्तीय योजनाओं के रूप मे मूल्यांकन किया जाता है।[33] अब क्योंकि विकास के लिए नीति सम्बन्धी जिन अधिकाश उपायो की आवश्यकता होती है, चाहे ये उपाय कार्यन्वयन सम्बन्धी छोटी अवधि के उपाय हों अथवा दृष्टिकोणों या संस्थागत ढाँचे में परिवर्तन का संकेत देते हुए अधिक स्थायी स्वरूप के हों, उनका वित्तीय अर्थो मे लागत और लाभ से सर्वाधिक सयोगवश ही सम्बन्ध होता है और यही बात वित्तीय निवेश बजट के बारे मे भी सही है। इस बात से वास्तविक आयोजन के बिना ही योजना बना लेने की सम्भावना का संकेत मिलता है।

वस्तुतः एक वित्त बजट की आवश्यकता सार्वजनिक प्रशासन और सार्वजनिक व्यय को व्यवस्थित ढंग से चलाने और नियन्त्रित रखने के लिए होती है और अगले कई वर्षों के लिए यह बजट तैयार करना वस्तुत युक्तिसगत है। लेकिन इस प्रकार के 'आयोजन' को वास्तविक योजना अथवा आयोजन का आधार तक नही माना जा सकता, जिसके भीतर हर प्रकार की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो मे प्रेरित परिवर्तन निहित होने चाहिए और ये परिवर्तन समन्वित तरीके से लागू किये जाने चाहिए।

एक संचय प्रक्रिया की चक्राकार कारणता में होनेवाले विभिन्न परिवर्तनो के पारस्परिक सम्बन्धो के गुणांकों की जानकारी न होना[34] इस बात की सफाई पेश नही कर सकता कि इसके स्थान पर सरल आर्थिक शब्दावली मे किसी नमूने

को प्रस्थापित कर दिया जाये। यह आर्थिक नमूना अधिकांशतया वित्तीय और मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं तक ही सीमित रखा जाता है। यह बात इस दृष्टि से विशेष रूप से होती है, क्योंकि कम-विकसित देशों में दृष्टिकोण, संस्थाएँ और रहन-सहन के स्तर विकसित देशों की तुलना में बहुत अधिक महत्त्व के होते हैं।[35]

एशियन ड्रामा और प्रस्तुत पुस्तक में संस्थागत दृष्टिकोण की जो चर्चा की गयी है, उसे स्पष्ट करने के लिए एक सामान्य टिप्पणी आवश्यक है।[36] दूसरे महायुद्ध के बाद का एक ऐसा अर्थशास्त्री जो परम्परागत तरीकों में विश्वास रखता हो, यह निश्चय ही विश्वास करेगा कि उसका दृष्टिकोण 'मात्रात्मक' है, जबकि संस्थावादी का दृष्टिकोण 'गुणात्मक'। पर वस्तुतः यह बात सत्य के विपरीत है।

संस्थावादी का दृष्टिकोण उसे अनुसन्धान के लिए और अधिक प्रेरित करता है और यह ऐसा अनुसन्धान होता है जो उसके सिद्धान्तों को मात्रात्मक सूक्ष्मता प्रदान कर सकता है और उन्हें बुनियादी कसौटी पर कसने के योग्य बना सकता है। अब क्योंकि वह बुनियादी तौर पर अधिक समालोचनात्मक दृष्टि रखने वाला होता है अतः वह नियमित रूप से यह देखता है कि परम्परागत तरीकों में विश्वास रखने वाले अर्थशास्त्री का मात्रात्मक सूक्ष्मता का दावा अनावश्यक होता है और अक्सर तर्कसम्मत आधार पर यह बात कही जा सकती है।

यह बात भी नहीं है कि संस्थावादी 'नमूनों के प्रति विरोध का भाव' रखता हो।[37] नमूनों का निर्माण वैज्ञानिक अनुसन्धान का एक सार्वभौम तरीका है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार ज्ञान को ठोस आधार पर स्थापित करना अनुसन्धान का प्रकट रूप से स्पष्ट लक्ष्य होता है। लेकिन समालोचनात्मक दृष्टि अपनाये बिना हवा में, संकल्पनाओं के आधार पर नमूनों का निर्माण, और जो सकल्पनाएँ यथार्थ के सन्दर्भ में अपर्याप्त हों और तर्क की कसौटी पर भी खरी न उतरती हों, और इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति का स्वाँग करना जब वस्तुतः ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, वैज्ञानिक प्रगति का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि यह बौद्धिक धोखाधड़ी के समीप की बात होती है।

यह मूल्यांकन कम-विकसित देशों की ओर संकेत करता है और यही बात सामान्यतया एशियन ड्रामा और प्रस्तुत पुस्तक में कही गयी है। विकसित देशों के लिए इकोनोमैट्रिक (अर्थमिति) माडल, चाहे वे मैक्रो (समष्टिभाव) किस्म के ही क्यों न हों और इनका सम्बन्ध पूरे देश से हो, उस समय की तुलना में आज अधिक सम्भव और उपयोगी हैं जब एल्फ्रेड मार्शल ने उन्हें अव्यावहारिक कहकर उनकी निन्दा की थी। आँकड़ों के माध्यम से उपलब्ध सामग्री अधिक पूर्ण और अधिक विश्वासयोग्य है। आर्थिक विश्लेषण में 'गैर-आर्थिक' कारक इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्हें जानबूझकर इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है अथवा ये जल्दी ही इस प्रकार व्यवस्थित हो जाते हैं ताकि आर्थिक आवेग प्रवाहित हो सकें। कम-विकसित देशों में विपरीत बात सच है।[38]

मूल्य सम्बन्धी स्पष्ट मान्यताओं के आधार पर काम करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में, मैं इस संदर्भ में संक्षेप में विचार करूँगा और अपनी इससे पहले की रचनाओं का हवाला दूँगा। यह उल्लेखनीय है कि मूल्य सम्बन्धी ये स्पष्ट मान्यताएँ ऐसी हैं, जिनकी सार्थकता, महत्त्व और सम्भाव्यता को कसौटी पर कसा जा चुका है।[39]

आर्थिक सिद्धान्त मे एक परम्परा है, जिसकी स्थापना जान स्टुआर्ट मिल ने अपनी आरम्भिक रचनाओं मे की थी, कि व्यावहारिक और राजनीतिक निष्कर्ष निकालने के लिए तथ्यों के ज्ञान को मूल्य सम्बन्धी निश्चित मान्यताओ से समन्वित किया जाना चाहिए। विशिष्ट बात यह है कि आर्थिक सिद्धान्त के समस्त इतिहास मे आज तक इस नियम का कभी भी पालन नही किया गया, यद्यपि विषय-प्रवेश और भूमिका मे अक्सर इसका उल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्रियो ने सदा अपने नीति सम्बन्धी निष्कर्ष अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख किये बिना ही निकाले है और वे आज भी यही कर रहे है।

स्वयं अपने द्वारा निर्धारित प्रक्रिया सम्बन्धी नियम से स्वयं को मुक्त कर लेने की अपनी विलक्षण योग्यता को 'निरपेक्ष' दर्शाने के लिए उन्होने एक तथाकथित निरपेक्ष मूल्य सिद्धान्त और एक हितकारी सिद्धान्त का निर्माण किया है। इन सिद्धान्तो की मान्यताओं में उस सुखवादी मनोविज्ञान तथा उपयोगितावादी आध्यात्मिक और नैतिक दर्शन के तत्वों का समावेश है, जो अब पुराने हो चुके हैं। यह उपयोगितावादी दर्शन इससे भी कही अधिक पुराने नैसर्गिक नियम के दर्शन की विस्तृत पुनरावृत्ति भर है। इसके अलावा इन सिद्धान्तो में कोई सार नही है।

इसके साथ यह तथ्य भी जुड़ा है कि तथ्यों और तथ्यात्मक सम्बन्धों विषयक जानकारी को निर्धारित करने के सैद्धान्तिक चरण मे भी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ की आवश्यकता होती है। उत्तर तभी दिये जाते है जब पहले प्रश्न उठाये गये हों। किसी दृष्टिकोण के बिना किसी दृष्टि को अथवा विचार को प्रस्तुत करना असम्भव है। 'आप किस स्थान पर खड़े हैं, इसके अनुसार चीजें अलग-अलग शक्ल की दिखायी पड़ती है।'

कभी भी 'दिलचस्पी से रहित' समाज-विज्ञान का अस्तित्व नही था और ऐसा विज्ञान कभी भी अस्तित्व में नही आ सकता और इसके तर्कसम्मत कारण हैं। *सत्य के अन्वेषण में मूल्यांकन सदा निहित होता है, जिस प्रकार अन्य उद्देश्यपूर्ण* आचरण में होता है। पर मूल्याकन छिपा हो सकता है और यह भी सम्भव है कि अनुसन्धानकर्ता स्वयं को इससे अनभिज्ञ ही रखे। जैसाकि वे अस्पष्ट और अपरिभाषित रहकर करते है और इस प्रकार पूर्वाग्रहो के दरवाजे खोल देते हैं।

विपरीत दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तार्किकता हमे पूर्वाग्रहों से स्वयं को मुक्त रखने के लिए जो एकमात्र साधन प्रदान करती है, वह अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की आवश्यकता है। इस कार्य की आवश्यकता उस स्थिति में और अधिक स्पष्टता से अनुभव की जायेगी, जब हम इस बात के प्रति कम बचकानापन प्रकट करें कि हमारे विज्ञान की परम्पराओ, जिस समाज का हम अंग है उसके प्रभावो, और वस्तुतः स्वयं हमारे अपने व्यक्तित्व से हमारे दृष्टिकोण प्रभावित और निर्धारित होने की प्रवृत्ति रखते है, क्योकि स्वयं अपने व्यक्तित्व का हमारे व्यक्तिगत इतिहास और अनुभवो, हमारी मनोरचना तथा हमारी मनोवृत्तियों के आधार पर निर्धारण होता है।

मान्यताओं के रूप मे प्रयुक्त किया गया है : तर्कनापरकता, विकास और विकास आयोजन, उत्पादकता मे वृद्धि, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना, सामाजिक और आर्थिक समान स्तरीकरण, वेहतर अथवा सुधरी हुई संस्थाएँ और दृष्टिकोण, राष्ट्रीय सुदृढता, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, छोटे-से-छोटे स्तर पर लोकतन्त्र और सामाजिक अनुशासन।[40]

ये सब मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ और अनेक ऐसी मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ, जिन्हे निष्कर्ष के रूप मे प्राप्त किया गया है, तर्कसम्मत विचारक्रम के अनुसन्धान मे एक-दूसरे से सम्बन्धित होती है और अध्ययन के दौरान ही वस्तुतः इन्हे अपनी सूक्ष्म परिभाषा प्राप्त होती है।[41] वास्तविक परिस्थितियां, सदा आदर्श से बहुत दूर होती है। अनुसन्धान के लिए इन आदर्शो को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के रूप मे प्रस्तावित करने का यह अर्थ होता है कि इन आदर्शो की प्राप्ति की दिशा मे परिवर्तन आयोजन का वांछित लक्ष्य है।

आधुनिकीकरण के आदर्शों को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के रूप में कम-विकसित देशों के अध्ययन के लिए अंगीकार करने का केवल यही कारण नही है कि व्यापक रूप से इन देशो की सरकारो ने और वस्तुत इन देशों के अधिक प्रबुद्ध और अपनी बात कह पाने की क्षमता रखने वाले लोगों ने इन्हे लक्ष्य निर्धारित करने वाली नीति के रूप मे स्वीकार किया है। बहुत से कम-विकसित देशों मे इन आदर्शो ने प्राय राज्य के धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया है।[42]

इस कारण के साथ यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भी जुडा हुआ है, विशेषकर आवादी की वर्तमान वृद्धि और भविष्य मे भी इसकी वृद्धिदर में बढोतरी को ध्यान मे रखते हुए, कि आधुनिकीकरण के आदर्शों को प्राप्त करने के लिए तेजी से कदम बढाया जाना चाहिए, क्योकि इस प्रकार केवल प्रवाहहीनता अथवा विकास की कमी मे ही नही बचा जा सकता, बल्कि यह न करने पर जल्दी अथवा देर मे जन-समुदाय की वास्तविक भयानक निर्धनता बढेगी और उनके कष्टो में भी वृद्धि होगी।

यह हो सकता है कि ये देश इन आदर्शो को पूरा करने में बहुत अधिक सफल न हो। लेकिन इस बात की जरा भी सम्भावना नही है कि फिर पुराने परम्परागत समाज की स्थापना हो सकती है। ये सब देश अब उस सीमा को पार कर गये है, जहाँ से पीछे लौटना असम्भव है।

यह लग सकता है कि आधुनिकीकरण के आदर्शो को मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के रूप मे प्रस्तुत करना कम-विकसित देशों की समस्याओं का पश्चिम की दृष्टि से अथवा विकसित देशों मे सामान्यतया मौजूद परिस्थितियो की दृष्टि से अध्ययन करना है। यह सच है कि विकसित देशो मे उससे वहुत अधिक सीमा तक इन आदर्शो को पूरा कर लिया गया है, जिस सीमा तक बहुत लम्बे अरसे तक कम-विकसित देशो मे पूरा करने की सम्भावना दिखायी नही पडती।

पर मूल्य सम्बन्धी इन मान्यताओ का चुनाव इस अध्याय के प्रमुख प्रतिपादन के विपरीत दिखायी नही पडता कि कम-विकसित देशो का अध्ययन उन बातों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए, जो वहाँ के यथार्थ के अनुरूप और पर्याप्त हों। और न दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की मेरी आलोचना के ही ये विरुद्ध हैं, जो विशाल जन-समुदायों के बहुत नीचे रहन-सहन के स्तर के कारण उत्पन्न

विकासशीलों, देशों और इस प्रकार के [illegible] की उपेक्षा करता है। [illegible] सम्बन्धी [illegible], केवल इस दृष्टिकोण का विरोध करता है, जिसने [illegible] का अध्ययन किया [illegible] है। [illegible] दृष्टिकोण [illegible] करता कि [illegible] और [illegible] को [illegible] के [illegible] और [illegible] करते हैं। यह ठीक है कि [illegible] होना चाहिए कि [illegible] के अनुकूल [illegible] कर सके और यह भी कि [illegible] विभिन्न देशों से बहुत भिन्न है। [illegible] कोई भी [illegible] यह नहीं कहता कि [illegible] और [illegible] तर्कसंगत नहीं होना चाहिए।

इस आर्थिक प्रश्न में एक अन्तिम बात कहना आवश्यक होगा। अनेक क्षेत्रों में यह कहा गया है कि अल्पविकसित देशों सम्बन्धी अनुसन्धान और उनके लिए योजनाएं तैयार करने में आधुनिकीकरण के आदर्शों को लागू करना एक गलती होगी।

यह बात और ज़ोर देकर कही गयी है कि ये मूल्यांकन[14] अल्पविकसित देशों के लिए अनुचित अथवा असम्बद्ध बात हैं। इनका जन्म पश्चिम के विकसित देशों और कम्युनिस्ट देशों में हुआ है। यह भी कहा जाता है कि अल्पविकसित देशों को स्वयं अपने परम्परागत मूल्यांकनों के अनुसार विकास करने की छूट होनी चाहिए।

यह मत जिस प्रकार व्यक्त किया जाता है, उससे पुराने और स्थिर नृवंश-विज्ञान सम्बन्धी दृष्टिकोण की याद हो आती है, जिसमें परिवर्तनों को गड़बड़ के रूप में देखने की प्रवृत्ति मौजूद रहती थी।

मेरा विश्वास है कि अनेक कारणों से यह मत गलत है। एक बात तो यह है कि परम्परागत मूल्यांकनों का लक्ष्य परिवर्तनों को प्रेरित करना नहीं है। वे स्थिर और गतिहीन हैं। अतः उनका स्वरूप ऐसा नहीं है कि उनका उपयोग आयोजन के लक्ष्यों को निर्धारित करने में किया जा सके।[15]

इस प्रकार हम आधुनिकीकरण के आदर्शों की प्रतियोगितात्मक शक्ति पर आते हैं, जिसे तर्कनापरक सिद्धान्त के अन्तर्गत संगठित किया गया है। जैसे ही विकास की स्थापना एक निश्चित लक्ष्य के रूप में होती है, आधुनिकीकरण के आदर्शों को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जब यह अनुभव किया जाता है कि आबादी में वर्तमान और भावी अनुमानित वृद्धि को देखते हुए अधिक गतिहीनता और यहां तक कि आर्थिक अवनति को रोकने के लिए आधुनिकीकरण के आदर्शों की प्राप्ति की ओर अधिक तेजी से प्रगति की जानी चाहिए, तो इस बात को और अधिक बल मिलता है।

इतना ही नहीं, जब परम्परागत मूल्यांकनों को एक अधिक 'ऊंचे', एक अधिक स्पष्ट स्तर पर लाया जाता है तो यह दिखायी पड़ता है कि ये आधुनिकीकरण के आदर्शों के विपरीत नहीं हैं।[16] वस्तुतः अधिकांशतया वे या तो इन आदर्शों का समर्थन करते हैं, अथवा, कम से कम तटस्थ रहते हैं।

इस प्रकार, उदाहरण के लिए, पहनावे और इससे भी कम लोगों के अपने इतिहास, दर्शन, धर्म (ऊंचे स्तर पर, देखिए अध्याय—3), साहित्य, कला आदि के प्रति लगाव में परिवर्तन करने में विकास-प्रक्रिया की कोई दिलचस्पी नहीं

होती। अनेक परम्परागत रीति-रिवाजों में वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार व्यावहारिक व्यवस्था रहती है, उदाहरण के लिए यह अक्सर मकानों के निर्माण में दिखायी पड़ती है और इस प्रकार आयोजन के युक्तिमंगत दृष्टिकोणों अथवा व्यवस्थाओं के यह बात अनुरूप होती है।

पर कुछ मामलों मे आधुनिकीकरण के आदर्शों और परम्परागत मूल्याकनों के बीच विरोध रहता है। भारत मे गोहत्या के प्रति जो परम्परा मे विरोध का भाव मौजूद है, वह पशुपालन के तर्कसंगत दृष्टिकोण के विपरीत है। भारत मे और अन्य कम-विकसित देशों में अलग-अलग भाषाओं और इससे भी अधिक अलग-अलग रीतियों के प्रति जो लगाव मौजूद है, वह शिक्षा की सर्वाधिक तर्क-संगत व्यवस्था और अक्सर राष्ट्रीय एकता के विपरीत बात सिद्ध होती है।[7]

इस प्रकार परम्परागत मूल्याकन आयोजन के मार्ग मे निषेध और अवरोध उपस्थित करते हैं। यदि ये इतने सशक्त होते है कि इन्हे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है, तो यह अवसर सम्बन्धी लागत होती है, जिसका ध्यान योजना सम्बन्धी गणनाओं मे रखा जाना चाहिए।

कम-विकसित देशों की उन समस्त परिस्थितियों के साथ, जिनका आयोजन में ध्यान रखना अनिवार्य है, परम्परागत मूल्यांकनों का महत्त्वपूर्ण तथ्यों के रूप मे अध्ययन किया जाना चाहिए। वस्तुत. दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के ऊपर मैंने जो आरोप लगाये हैं, यह उसका एक भाग है कि अक्सर यह कार्य नही [illegible]
वस्तु
यह

अध्याय : 2

# परिस्थितियों का अन्तर

पिछले अध्याय में दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की आलोचना इस निर्णय के आधार पर हुई थी कि कम-विकसित देशों की परिस्थितियाँ विकसित देशों की तुलना में, जहाँ यह दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक रूप से लागू हो सकता है, विकास के प्रति कहीं अधिक निषेध (सत्तारूढ़ व्यक्तियों के मध्य) और अवरोध(जन-समुदाय के मध्य)[1] उत्पन्न करती हैं। ये दृष्टिकोण संस्थाओं के कारण और बल प्राप्त करते हैं, जो इन दृष्टिकोणों के कार्य और कारण दोनों का कार्य करती है। जनसमुदाय के रहन-सहन का बेहद नीचा स्तर, श्रमिकों की उत्पादकता को भी बहुत निचले स्तर पर बनाये रखता है। जहाँ तक दृष्टिकोणो और संस्थाओं का सम्बन्ध है—यद्यपि यह बात रहन-सहन के स्तर के बारे मे इतनी अधिक व्यापक रूप से सही नही है—यह कहना सही होगा कि यदि विकसित देशों के सम्बन्ध में भी यह तुलना उस युग के सन्दर्भ मे की जाये, जब इन देशो में औद्योगिक क्रान्तियां हो रही थी अथवा पिछली शताब्दियों की परिस्थितियों से इनकी तुलना की जाये, तो यह बात खरी उतरेगी।[2]

जहाँ तक राजनीतिक संस्थाओं का सम्बन्ध है, एक स्पष्ट अन्तर यह है कि अब जो देश विकसित हैं वे उस समय स्वतन्त्र थे और अधिकांशतया ये पर्याप्त सुदृढ राष्ट्र थे और औद्योगिक क्रान्तियों से बहुत समय पहले ही सुदृढ राष्ट्रों के रूप मे अपनी राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने की स्थिति मे थे। ये मोटे तौर पर समान संस्कृतियों वाला एक छोटा-सा संसार थे, जिसके मध्य लोग और विचार प्राय. स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते रहते थे।

इस छोटे-से संसार में, औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले ही पुनर्जागरण, सुधार और बौद्धिक क्रान्ति ने संकल्पनाओं और मूल्यांकनो को क्रान्तिकारी रूप मे बदल दिया था और इसके परिणामस्वरूप तर्कनापरकता अथवा तर्क-सम्मत विचार प्रक्रिया की स्थापना हुई थी और परम्परागत आचरण और विचार प्रक्रिया कमजोर पड गयी थी। इन देशों में आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का विकास हुआ और उनकी कृषि तथा उद्योगों मे, जो उस समय तक बहुत छोटे पैमाने पर सचालित थे, आधुनिक टेक्नालॉजी का आरम्भ मे भी उपयोग किया जाने लगा। महान् वैज्ञानिक आविष्कारों और यूरोप के बाहर उपनिवेशो की स्थापना ने विचारों को और अधिक व्यापक बनाने मे सहायता दी। वस्तुतः इसके परिणामस्वरूप स्वयं उपनिवेशों की तुलना में यूरोप के देशो में दृष्टिकोणो और संस्थाओं में परिवर्तन आया। केवल उन उपनिवेशों को ही अपवाद कहा जा सकता है, जो नयी दुनिया अर्थात् अमरीका की तरह बहुत कम आबादी वाले

होती। अनेक परम्परागत रीति-रिवाजो में वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार व्यावहारिक व्यवस्था रहती है, उदाहरण के लिए यह अवसर मकानो के निर्माण में दिखायी पडती है और इस प्रकार आयोजन के युक्तिसंगत दृष्टिकोणों अथवा व्यवस्थाओ के यह बात अनुरूप होती है।

पर कुछ मामलों मे आधुनिकीकरण के आदर्शों और परम्परागत मूल्याकनों के बीच विरोध रहता है। भारत मे गोहत्या के प्रति जो परम्परा मे विरोध का भाव मौजूद है, वह पशुपालन के तर्कसंगत दृष्टिकोण के विपरीत है। भारत मे और अन्य कम-विकसित देशों मे अलग-अलग भाषाओं और इससे भी अधिक अलग-अलग रीतियो के प्रति जो लगाव मौजूद है, वह शिक्षा की सर्वाधिक तर्क-संगत व्यवस्था और अक्सर राष्ट्रीय एकता के विपरीत बात सिद्ध होती है।[47]

इस प्रकार परम्परागत मूल्याकन आयोजन के मार्ग मे निषेध और अवरोध उपस्थित करते है। यदि ये इतने सशक्त होते हैं कि इन्हें बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है, तो यह अवसर सम्बन्धी लागत होती है, जिसका ध्यान योजना सम्बन्धी गणनाओं में रखा जाना चाहिए।

कम-विकसित देशो की उन समस्त परिस्थितियो के साथ, जिनका आयोजन मे ध्यान रखना अनिवार्य है, परम्परागत मूल्याकनो का महत्त्वपूर्ण तथ्यो के रूप मे अध्ययन किया जाना चाहिए। वस्तुत दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के ऊपर मैंने जो आरोप लगाये है, यह उसका एक भाग है कि अक्सर यह कार्य नही किया गया। लेकिन इन मूल्याकनों मे विकास के तथ्यो को ढूंढने का विचार वस्तुतः तर्कसंगत आयोजन से दूर हट जाने के समान होता है। कम-विकसित देश यह करने की स्थिति मे नही हैं और उन्होंने यह किया भी नही है।

अध्याय : 2

# परिस्थितियों का अन्तर

पिछले अध्याय में दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की आलोचना इस निर्णय के आधार पर हुई थी कि कम-विकसित देशों की परिस्थितियाँ विकसित देशों की तुलना मे, जहाँ यह दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक रूप से लागू हो सकता है, विकास के प्रति कही अधिक निषेध (सत्तारूढ़ व्यक्तियों के मध्य) और अवरोध (जन-समुदाय के मध्य)[1] उत्पन्न करती हैं। ये दृष्टिकोण संस्थाओं के कारण और बल प्राप्त करते हैं, जो इन दृष्टिकोणों के कार्य और कारण दोनों का कार्य करती हैं। जनसमुदाय के रहन-सहन का बेहद नीचा स्तर, श्रमिकों की उत्पादकता को भी बहुत निचले स्तर पर बनाये रखता है। जहाँ तक दृष्टिकोणों और संस्थाओं का सम्बन्ध है—यद्यपि यह बात रहन-सहन के स्तर के बारे मे इतनी अधिक व्यापक रूप से सही नही है—यह कहना सही होगा कि यदि विकसित देशों के सम्बन्ध में भी यह तुलना उस युग के सन्दर्भ मे की जाये, जब इन देशो मे औद्योगिक क्रान्तियाँ हो रही थीं अथवा पिछली शताब्दियों की परिस्थितियों से इनकी तुलना की जाये, तो यह बात खरी उतरेगी।[2]

जहाँ तक राजनीतिक संस्थाओं का सम्बन्ध है, एक स्पष्ट अन्तर यह है कि अब जो देश विकसित हैं वे उस समय स्वतन्त्र थे और अधिकांशतया ये पर्याप्त सुदृढ राष्ट्र थे और औद्योगिक क्रान्तियों से बहुत समय पहले ही सुदृढ़ राष्ट्रों के रूप में अपनी राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने की स्थिति मे थे। ये मोटे तौर पर समान संस्कृतियों वाला एक छोटा-सा संसार थे, जिसके मध्य लोग और विचार प्रायः स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते रहते थे।

इस छोटे-से संसार में, औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले ही पुनर्जागरण, सुधार और बौद्धिक क्रान्ति ने संकल्पनाओं और मूल्यांकनों को क्रान्तिकारी रूप मे बदल दिया था और इसके परिणामस्वरूप तर्कनापरकता अथवा तर्क-सम्मत विचार प्रक्रिया की स्थापना हुई थी और परम्परागत आचरण और विचार प्रक्रिया कमजोर पड़ गयी थी। इन देशों में आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का विकास हुआ और उनकी कृषि तथा उद्योगों में, जो उस समय तक बहुत छोटे पैमाने पर सचालित थे, आधुनिक टेक्नालॉजी का आरम्भ में भी उपयोग किया जाने लगा।

महान् वैज्ञानिक आविष्कारों और यूरोप के बाहर उपनिवेशों की स्थापना ने विचारों को और अधिक व्यापक बनाने में सहायता दी। वस्तुतः इसके परिणामस्वरूप स्वयं उपनिवेशों की तुलना में यूरोप के देशों में दृष्टिकोणों और संस्थाओं में परिवर्तन आया। केवल उन उपनिवेशों को ही अपवाद कहा जा सकता है, जो नयी दुनिया अर्थात् अमरीका की तरह बहुत कम आबादी वाले

उपनिवेश थे, और जहाँ मूल निवासियो का संहार किया जा सकता था अथवा उन्हे अनेक तरीको से कुछ खास इलाकों मे ही रखकर यूरोप से आने वाले लोगों और उनकी सन्तान के लिए जगह बनायी जा सकती थी।

इसके विपरीत, आज के अधिकाश कम-विकसित देश हाल में ही स्वतन्त्र हुए है और इन्हे ऐसे संगठित राष्ट्रो का अभी स्वरूप धारण करना है, जो प्रभावशाली ढग से राष्ट्रीय नीतियों को लागू करने की क्षमता रखते हों।

आधुनिकीकरण के आदर्श, जो बहुत व्यापक रूप से इन देशो के शिक्षित शासक वर्ग के लिए एक प्रकार राज्य के धर्म के समान बन गये है, देसी नहीं हैं। और इन आदर्शों को साकार करने मे इस शासक वर्ग मे अत्यधिक निषेध दिखायी पडता है और जन-समुदाय मे इसके लिए अवरोध उत्पन्न होता है। अन्य अनेक कारणो से भी, जो इस पुस्तक मे आगे स्पष्ट होते जायेंगे, यहाँ परिवर्तन धीमा होने की बजाय तेज गति से लाना आवश्यक है, जैसाकि वर्तमान विकसित देशो मे हुआ था।[3]

ये बातें समग्र दृष्टि से एशिया और अफ्रीका के कम-विकसित देशों के बारे में सच हैं। लेटिन अमरीका के देश अनेक दृष्टियो से भिन्न हैं। लेटिन अमरीका के देशो का राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र देशों के रूप मे लम्बा इतिहास है। इस दृष्टि से उनका परम्परागत समाज नही है कि इनकी जड़ें सैकड़ों अथवा हज़ारों वर्षो के इतिहास और परम्परा मे पैठी हुई हो। ये, नयी दुनिया के देशो की तरह, यूरोपीय बस्तियाँ हैं, जो आरम्भ से ही अपने मार्ग से विचलित हो गयी हैं।

और इस प्रकार उनकी वर्तमान स्थिति शेष कम-विकसित देशों से अधिक भिन्न नही है, दृष्टिकोणो और संस्थाओ की दृष्टि मे यह कतई भिन्न नहीं है, जो विकास के मार्ग मे निषेध और अवरोध बनती हैं। यद्यपि लेटिन अमरीका के अधिकाश देशो मे आय का औसत स्तर सामान्यतया ऊँचा समझा जाता है, लेकिन गाँवो और शहरो की गन्दी बस्तियो मे रहने वाला उनका विशाल जन-समुदाय इसी प्रकार निर्धनता और अभाव से ग्रस्त है और आधुनिक जीवन की सुख-सुविधाओं से बहुत अलग-थलग पडा हुआ है।

कम-विकसित देशो मे बहुत-सी दूसरी परिस्थितियाँ भी हैं, जो अब विकसित देशों में किसी समय मौजूद थी और जो विकास मे किसी भी प्रकार सहायक नही बनती। अपने प्रमुख नीति सम्बन्धी निष्कर्षो पर विचार करने से पहले हमे इन दूसरे अन्तरो का भी सक्षेप मे उल्लेख करना चाहिए। यद्यपि ये अन्तर उन बातों मे शामिल नहीं हैं, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को निरर्थक सिद्ध कर देती हैं, क्योंकि इन्हे आसानी से 'आर्थिक' सिद्धान्त और आयोजन मे शामिल किया जा सकता है—हम देखते है कि इस दृष्टिकोण मे जो गहरे पूर्वाग्रह मौजूद है, उनके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशो और योजनाएँ तैयार करने की विकास सम्बन्धी समस्याओं के समकालीन साहित्य मे इन्हे घटाकर दिखाया गया है।

एक बात तो यह है कि कम-विकसित देशो मे वर्तमान विकसित देशों की उस स्थिति की तुलना में, जब उन्होने आधुनिक विकास शुरू किया था, प्राकृतिक साधनों की अक्सर कमी दिखायी पड़ती है। मैंने इस पूरी पुस्तक में कम-विकसित देशो के नक्शे के उन स्थानों की उपेक्षा की है, जहाँ तेल और ऐसे अन्य खनिज विशाल मात्रा में उपलब्ध है, जिनकी विकसित देशों मे बहुत अधिक और

तेजी से बढ़ती हुई मांग है। यह स्थान अक्सर ऐसी बस्तियाँ बन जाते है, जो एक या अनेक विकसित देशों की अर्थव्यवस्था से घनिष्ठतापूर्वक जुड़ी होती है।

दक्षिण एशिया, जिसमें संसार की प्रायः तिहाई, और गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशो की दो-तिहाई आबादी रहती है, समग्र दृष्टि से प्राकृतिक साधनों में प्रायः समृद्ध नही है।[4] अफ्रीका और लेटिन अमरीका मे, समग्र दृष्टि से प्राकृतिक साधन बहुतायत से पाये जाते है। लेकिन यह स्मरणीय है कि आर्थिक दृष्टि से इन प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए पूंजी का बडी मात्रा मे विनियोग आवश्यक होता है जो आसानी से उपलब्ध नहीं है। अफ्रीका के देशो को इस सम्बन्ध मे बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

पर साधनों का आधार विकास के लिए आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण नही समझा जाना चाहिए। सर्वाधिक विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में से अनेक —उदाहरण के लिए, डेनमार्क, स्विट्जरलैंड और जापान—ने अपने उद्योगो की स्थापना मुख्यतया आयातित कच्चे माल के आधार पर की है। यह कम-विकसित देशों के लिए, कम से कम बड़े पैमाने पर, इस प्रकार सम्भव नही होगा।

फिर भी विकास का यह तरीका विकास प्रक्रिया के एकदम समारम्भ में कही अधिक कठिन होता है। विकास के एक अधिक विकसित दौर में, जब पूंजीगत लागत बढ चुकी होती है और विशेषकर वेतन ऊँचे स्तर पर पहुँच चुके होते है, कच्चे माल की लागत उत्पादन की कुल लागत का एक छोटा हिस्सा रह जाती है। इस कारण से विकसित देशों को प्राकृतिक साधनों की अपने देश के भीतर ही उपलब्धि पर निर्भर करने की आवश्यकता है।

एक दूसरा बड़ा अन्तर कम-विकसित और विकसित देशो के बीच जलवायु का है।[5] प्राय. सब कम-विकसित देश उष्ण अथवा उप-उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रो मे स्थित हैं। यह एक तथ्य है कि आधुनिक युग मे सर्वत्र सफल औद्योगीकरण सम-जलवायु वाले क्षेत्रो मे ही हुआ है। इसे शुद्ध रूप से इतिहास का एक संयोग भर नही कहा जा सकता, बल्कि इसका सम्बन्ध कुछ विशेष अक्षमताओं से होना चाहिए, जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जलवायु से सम्बन्ध हो।

जैसाकि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, जलवायु को उपनिवेशी सिद्धान्त में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। लेकिन अब यह साहित्य और योजना प्रक्रिया से प्रायः पूरी तरह अन्तर्धान हो गया है। वस्तुत. यह नये और विपरीत पूर्वाग्रहों का एक अतिवादी उदाहरण है।

यद्यपि दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण पर आधारित अनुसन्धान, सार्वजनिक विचार-विमर्श और आयोजन मे दृष्टिकोणों, संस्थाओं तथा रहन-सहन के तरीको और स्तरों से उत्पन्न जटिलताओ की विधिवत् उपेक्षा करने की प्रवृत्ति रही है, फिर भी इन तथ्यों अथवा कारकों का विकास की समस्याओं से सम्बन्ध, बीच-बीच मे उल्लिखित शर्तों और इस सामान्य घोषणा से कम से कम 'प्रकट' अवश्य हो जाता है कि विकास एक 'मानवीय समस्या' है। दूसरी ओर जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों की या तो पूरी तरह उपेक्षा कर दी गयी है अथवा यह कहकर इस बात को टाल दिया जाता है कि इसका कोई महत्त्व नहीं है।

यदि इस कारण से विकास-आयोजन में जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियो के महत्त्व के बारे मे बहुत कम अनुसन्धान किया गया है, तो यह स्पष्ट है कि, सामान्य-

तथा अधिकांश कम-विकसित देशों में अत्यधिक गर्मी और आर्द्रता मिट्टी के गुण को घटाती है और इसी प्रकार अन्य अनेक भौतिक वस्तुओं पर भी असर पडता है। यह आशिक रूप से कुछ फसलों, जंगलो और जानवरों की कम उत्पादकता के लिए उत्तरदायी है और इसके कारण केवल श्रमिकों को कष्ट ही नही होता, बल्कि उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता है और वे अधिक समय तक काम नही कर पाते और उनकी कार्यकुशलता भी प्रभावित होती है।

आयोजित नीतियो के द्वारा इन समस्त विपरीत प्रभावों से अधिकाशतया वचा जा सकता है अथवा इनका मुकाबला किया जा सकता है। लेकिन इन विपरीत प्रभावो को समाप्त करने के लिए—और यदाकदा इन्हें लाभ में बदलने के लिए, जो अनेक देशो में कृषि के क्षेत्र में सम्भव है, खर्च की आवश्यकता होती है। अक्सर यह खर्च निवेश जैसा होता है। और क्योकि पूंजी और प्रशासन आदि पर आने वाली सच्ची लागत जैसे तत्त्वों की वहुत कमी है, अत: जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियां अक्सर विकास के मार्ग में गम्भीर वाधाएँ डालती हैं।

आवादी की वर्तमान घनता और आवादी में तेजी से वृद्धि की जो मम्भावना दिखायी पडती है वह कम-विकसित देशो और विकसित देशों के वीच एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है।[6]

यूरोप मे औद्योगीकरण के पहले के युगों मे आवादी में वृद्धि की जो धर्म-निरपेक्ष प्रवृत्ति मौजूद थी, वह अपेक्षाकृत धीमी थी। यद्यपि औद्योगीकरण के दौर के समीप पहुँचकर इसमें कुछ तेजी आ गयी थी। इसके विपरीत अधिकाश कम-विकसित देशों की आवादी काफी लम्वे अरसे से तेजी से बढती रही है, यद्यपि यह वृद्धि वर्तमान तेज गति से नही हुई थी। इसके परिणामस्वरूप कुछ कम-विकसित देश—उदाहरण के लिए भारत और पाकिस्तान, जहाँ लगभग ७० करोड़ लोग रहते है—व्यक्ति और भूमि के ऊँचे अनुपात के रहते काम कर रहे हैं और यह अनुपात यूरोप के देशों के आरम्भिक युगों के व्यक्ति और भूमि के अनुपात से पर्याप्त ऊँचा है। यह वात इन लोगो को विकास की सम्भावना की दृष्टि मे कठिन स्थिति मे डाल देती है।

दक्षिण एशिया के अन्य भाग, लेटिन अमरीका के अधिकांश भाग, पश्चिम एशिया के कुछ भाग और वस्तुत: अफीका के कुछ भाग (उत्तरी हिस्सों को छोड कर) और उन देशो के अनेक क्षेत्र, जिनमे व्यक्ति और भूमि का औसत अनुपात ऊँचा है, कम घने बसे है और अक्सर इनमे खेती के लिए वहुत अधिक जमीन उपलब्ध है। लेकिन अभी तक इस भूमि मे खेती नही की गयी है। लेकिन सत्य यह है कि उन देशो में भी अधिकाशतया लोग वहुत भीड वाले क्षेत्रों में रहते हैं, जहाँ वहुत वडी मात्रा मे सुरक्षित भूमि पडी है।

इस विशाल भूमि का प्रभावशाली उपयोग घरेलू संस्थागत सुधारों पर निर्भर करता है, विशेषकर भूस्वामित्व और काश्तकारी के अधिकार, शिक्षा और प्रशिक्षण की वेहतर व्यवस्था, और, इनसे पहले, एक ऐसा राजनीतिक वातावरण जो पर्याप्त राजनीतिक और आर्थिक सुधार के लिए लाभदायक हो। इसके लिए अक्सर वडे पैमाने पर पूंजी निवेश की भी आवश्यकता होती है और कुछ मामलो मे विकसित देशो को माल भेजने के लिए निकास-द्वारों की भी ज़रूरत होती है।[7] यदि देश और विदेश मे नीतियों के आधार पर ऐसी परिस्थितियों का

निर्माण नही होता, तो उस स्थिति में भी एक देश, 'आवश्यकता से अधिक आबादी वाला' बना रह सकता है, जब पर्याप्त मात्रा में पास ही प्राकृतिक साधन उपलब्ध हों।

पर विकास के लिए कही अधिक हानिप्रद बात आबादी का भयंकर विस्फोट है, जो हाल के वर्षो में कम-विकसित देशो में आबादी में प्रतिवर्ष तीन प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक की दर से होता रहा है।

दूसरे महायुद्ध के बाद के युग मे कम-विकसित देशों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन का विस्फोट ही सिद्ध हुआ है। यह अन्य किसी भी सुधार अथवा विकास के प्रयास से कही अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है और इसके परिणामस्वरूप सुधार और विकास प्रयासों की सफलता मे बहुत अधिक बाधा पड़ी है। अध्याय-5 में हम उन कारणो का उल्लेख करेंगे कि निकट भविष्य मे यह आशा क्यों नही की जा सकती कि आबादी में वृद्धि की दर को पर्याप्त घटाया जा सकता है।

आबादी में वृद्धि की इतनी ऊँची दर—जिसका यह अर्थ है कि 20 अथवा 25 वर्षो में आबादी दुगनी हो जायेगी—विकास के मार्ग मे बहुत बड़ी बाधा खड़ी कर देती है।[8] यह उस स्थिति में भी होता है, जब व्यक्ति और भूमि का अनुपात नीचा होता है।

विकसित देशों ने—नयी दुनिया के उन देशों के कुछ युगो को छोड़कर जहाँ विकास के लिए असाधारण रूप से लाभप्रद परिस्थितियाँ थी और जहां वयस्क लोगों के प्रवास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी—आबादी मे इतनी अधिक वृद्धि की समस्या का कभी सामना नही किया। यह सन्देह की बात है कि यदि इन देशों की आबादी इतनी तेज गति से बढ़ती रहती तो क्या इन देशों मे औद्योगिक क्रान्ति हो सकती थी अथवा इतनी तेज गति से हो सकती थी और समाज के अपेक्षाकृत निर्धन वर्गों पर बहुत कम बुरा असर पड़ता।

वर्तमान विकसित देशो के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने 'विकास के इंजन' का काम किया। इन देशों के निर्यात में निरन्तर वृद्धि ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। साथ ही, अपेक्षाकृत राजनीतिक स्थिरता ने किसी नवागन्तुक के लिए यह आसान बना दिया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार से ऋण ले सके और अक्सर वह तीन प्रतिशत अथवा इससे भी कम ब्याज की दर पर यह ऋण प्राप्त कर सका।

यद्यपि आरम्भिक उत्प्रेरणा निर्यात बढाने की थी, पर आयात को और अधिक बढाया जा सकता था। यही कारण है कि 19वीं शताब्दी में, उत्पादन से कही अधिक तेज गति से व्यापार में वृद्धि हुई।

इसी प्रकार उपनिवेश युग में बहुत से कम-विकसित देशो को इसी प्रकार की उत्प्रेरणा मिली और इन देशों ने अपना निर्यात बढाया।[9] इन देशों के मामले में संचालन कारक अक्सर विदेशी पूंजी विनियोग होता था। यह विनियोग अधिकाशतया बागानों और खानों में हुआ। अनेक कारणों से यह विकास कार्य

अधिकांशतया नियमित रूप से कुछ खास इलाकों में ही हुए और इनका इन देशों की शेष अर्थव्यवस्था पर बहुत कम प्रभाव पड़ा।[10] उपनिवेशी युग में इनके परिणामस्वरूप प्रायः कहीं भी औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई।

अब जबकि ये देश विकास के लिए योजनाएँ बना रहे हैं, इनके सामने बहुत बड़ी-बड़ी कठिनाइयां आती है। विकसित देशों ने जब तेजी से अपना विकास शुरू किया था, उस समय इन सब देशों की आबादी बहुत कम थी। ये देश पिछड़े हुए लोगों के महासागर के बीच छोटे-छोटे द्वीपों के रूप में विद्यमान थे।

अब जबकि कम-विकसित क्षेत्र आर्थिक और राजनीतिक निर्भरता से मुक्ति पाने का प्रयास कर रहे है, वे विकसित देशों की विकास प्रक्रिया की पुनरावृत्ति भर नहीं कर सकते। 19वीं शताब्दी में किसी देश के विलम्ब से विकास शुरू करने के कारण उसे किसी कठिनाई या हानि का सामना नहीं करना पड़ता था, बल्कि बात इसके विपरीत ही होती थी। लेकिन 20वीं शताब्दी में यह एक गम्भीर कठिनाई है।

वस्तुत पहले महायुद्ध के समय से ही अधिकांश कम-विकसित देश यह देखते आ रहे हैं कि उनकी व्यापारिक स्थिति निरन्तर निर्बल होती जा रही है।[11] विश्व व्यापार के विकास की तुलना में इनकी निर्यात योग्य वस्तुओं की माँग कम होती गयी है। इनकी व्यापार की शर्तें इसी प्रकार निर्बल नहीं हुई हैं, जिसका कारण यह है कि निर्यात होने वाली वस्तुओं का उत्पादन अक्सर बड़ा धीमा रहा। इनके निर्यातों में वृद्धि की सम्भावना बहुत अच्छी दिखायी नहीं पड़ती।

इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के पीछे अनेक कारण मौजूद हैं। विकसित देशों में टेक्नालॉजी का जो बहुमुखी और द्रुत विकास हुआ है, उसने बुनियादी उत्पादनों की माँग में वृद्धि को धीमा कर दिया है, जिसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई है। इसके साथ ही टेक्नालॉजी की उन्नति से, विकसित देशों की इन वस्तुओं को अथवा ऐसे कच्चे माल को अधिक मात्रा में कम दाम पर बनाने की क्षमता में वृद्धि हुई है। विकसित देशों में जो सरक्षण उपलब्ध है, उनसे इन प्रभावों में और अधिक वृद्धि हुई है। उद्योगों में प्रयुक्त कच्चे माल के स्थान पर दूसरी चीजों का इस्तेमाल शुरू किया गया है। यह बात रबड़ और वस्त्र उद्योग में प्रयुक्त कच्चे माल के बारे में विशेष रूप से सही है।

रबड और कुछ अन्य कच्चे माल को कुछ सीमा तक छोड़कर सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि कम-विकसित देश जिन अधिकाश वस्तुओं का परम्परा से निर्यात करते रहे हैं, आय की दृष्टि से उनमें बहुत कम लचकीलापन है और इन में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसके लिए तेजी से बढ़ती हुई माँग मौजूद हो और यह माँग विकसित देशों के आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हो।

विकसित देशों में औद्योगिक क्षेत्र में भेदभाव पर आधारित सीमा-शुल्क दरों के कारण, जिनमें वस्तुओं के परिष्कार या परिशोधन की स्थिति के अनुसार वृद्धि होती है, कम-विकसित देशों के निर्यात करने वाले उद्योगों के विकास पर बुरा असर पड़ता है। इस बाधा के अलावा, एक ऐसे उत्पादक उद्योग की स्थापना की सम्भावना इस कारण से अत्यधिक सीमित है कि विकसित देशों में पहले से जमे हुए उद्योग बहुत ही बेहतर परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। इनके अलावा

वस्तुओ के निर्माण और उनकी बिक्री की अत्यधिक कुशल व्यवस्था, उनकी बाह्य अर्थव्यवस्थाएँ, अनुसन्धान में बहुत अधिक पूँजी निवेश और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात टेक्नालॉजी के क्षेत्र में तेजी से परिवर्तन और विकास है।[12]

इधर कम-विकसित देशों की आयात की आवश्यकताएँ बढ रही हैं। एक बात तो यह है कि इन अनेक देशो में आबादी के विस्फोट ने अनाज के आयात की आवश्यकता को बढा दिया है। इसके साथ ही उन देशों को, जिनमें अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न उपलब्ध है, निर्यात की सम्भावनाएँ भी कम हो गयी है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात ऐसी वस्तुओं के आयात की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकता है, जिनकी विकास के लिए जरूरत है।

इन परिस्थितियों में, जैसाकि स्वाभाविक और सामान्य है, आयात की जाने वाली वस्तुओ के भुगतान और निर्यात होने वाली वस्तुओं से प्राप्त आय के बीच का अन्तर बढ़ गया है। बहुत कम सीमा तक इस अन्तर को गैर-सरकारी पूँजी बाजार से ऋण लेकर पूरा किया गया है, जहाँ पूँजी लगाने वाले केवल इस कारण से ही धन देने से नहीं हिचकते कि इन देशों मे आर्थिक सम्भावनाएँ बहुत कम और अनिश्चित है, बल्कि इस कारण से भी कि उपनिवेशी सत्ता की समाप्ति के बाद इन देशों मे अक्सर राजनीतिक स्थिरता की कमी रही है। कुछ प्रत्यक्ष पूँजी विनियोग हुआ है, लेकिन कम-विकसित ससार के अधिकाश भाग मे इसकी मात्रा बहुत कम रही है।

अब क्योंकि गैर-सरकारी साधनो से पूँजी के आगमन ने इसकी आवश्यकता को नाममात्र के लिए ही पूरा किया है, अतः इस अन्तर को विकसित देशो की सरकारो के अनुदानों और ऋणो के द्वारा ही अधिकांशतया पूरा किया गया और कुछ सीमा तक अन्तर-सरकार संगठनो की सहायता से, जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (विश्व बैंक) प्रमुख हैं[13], यह कार्य हुआ।

कम-विकसित देशो को उपलब्ध सार्वजनिक कोषो मे अनुदानो का हिस्सा निरन्तर घटता रहा है। यह सच है कि कुछ सार्वजनिक ऋण ब्याज की रियायती दरो पर दिये गये है और इनकी अदायगी की शर्तें भी सरल रखी गयी हैं। इसके बावजूद ऋणों की अदायगी इन देशों के विदेशी मुद्रा के साधनो पर गम्भीर भार बन गयी है। जैसाकि हम अध्याय-11 में विचार करेंगे, हाल में यह प्रवृत्ति रही है कि सार्वजनिक पूँजी का आगमन रुक गया है और अनेक दृष्टियो से इसके स्तर में भी गिरावट आयी है।

विश्व बैंक की मार्फत जो नियमित विकास ऋण दिये जाते हैं उनका भुगतान भी केवल तभी होता है, जब विकसित देशों की सरकारें इसके लिए गारण्टी दें। इसके बावजूद ब्याज की प्रभावशाली दर उस दर से दुगनी है, जिस दर पर विकसित देशों ने उस समय धन ब्याज पर लिया था, जब उन्होंने तेजी से विकास करना शुरू किया था।

*इन परिस्थितियों में कम-विकसित देश, आयात होने वाली वस्तुओं के स्थान* पर देश में निर्मित वस्तुओं के प्रयोग के द्वारा विकास करने का प्रयास कर रहे हैं।[14] इस नीति में एक दुविधा यह निहित है कि नये उद्योग शुरू करने के लिए सामान्यतया बड़े पैमाने पर पूँजीगत माल का आयात करना पड़ता है और मशीनों

के अतिरिक्त पुर्जे और हिस्से, अर्द्ध-तैयार माल और कच्चा माल अक्सर निरन्तर आयात करना पड़ता है। इन आयातों के स्थान पर सहायक उद्योग चालू करने के लिए फिर सम्बन्धित पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता सामने आ जाती है।

आयात प्रतिस्थापन नीति के समक्ष अधिक गम्भीर कठिनाई यह है कि प्रतिस्थापन का चुनाव अथवा पसन्द तर्कसंगत आयोजन के द्वारा अक्सर सम्भव नहीं होता। सामान्यतया सबसे पहली बात यह होती है कि कम-विकसित देश विदेशी मुद्रा की कठिनाई मे फँस जाता है और इसके बाद उसे किसी न किसी प्रकार का आयात सम्बन्धी नियन्त्रण लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। स्वाभाविक और वस्तुतः तर्कसंगत कारणो से यह देश सबसे कम आवश्यक वस्तुओं के आयात को ही कम करता है, जिसके परिणामस्वरूप इन वस्तुओं को स्वतः सर्वाधिक संरक्षण प्राप्त हो जाता है।

विकास की दृष्टि से यह अनियोजित संरक्षण है। इसके परिणामस्वरूप, हर प्रकार के विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के बावजूद, ऐसे उद्योग की स्थापना होती है, जिसे किसी प्रतियोगिता का सामना नहीं करना पड़ता और जिसकी लागत भी बहुत ऊँची होती है।

अब तक जिन आरम्भिक परिस्थितियों के अन्तरों का उल्लेख किया गया है, वे सब कम-विकसित देशों के आर्थिक विकास को आज उससे कहीं अधिक कठिन बना देती हैं, जितना वह एक समय वर्तमान विकसित देशों के लिए था। कम-विकसित देशों को यह लाभ अवश्य प्राप्त है कि उन्हें कहीं अधिक विकसित टेक्नालॉजी उपलब्ध है, जिसका उपयोग वे निर्माण करने का भार उठाये बिना ही कर सकते हैं।[15]

कुछ ऐसे कारण हैं, जिनके आधार पर इस लाभ को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। एक कारण इस तथ्य से सम्बन्धित है कि इस टेक्नालॉजी के अधिकतम उपयोगी बनने के लिए यह आवश्यक है, कि इसे कम-विकसित देशों के विभिन्न कारकों के अनुपात में आवश्यक परिवर्तनों के साथ अपनाया जाये। अन्य आरम्भिक कठिनाइयां सहायक औद्योगिक ढांचे का अभाव, जिसके निर्माण में समय लगता है, और विभिन्न स्तरों पर कुशल व्यक्तियों की कमी हैं।

फिर भी निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान विकसित देशों में औद्योगिक क्रान्ति के समय से टेक्नालॉजी के क्षेत्र मे जो विशाल प्रगति हुई है, उसका लाभ अवश्य मिलना चाहिए। और इस बात को कम-विकसित और विकसित देशों के अर्थशास्त्री और राजनीतिक तथा बौद्धिक नेता अक्सर बड़ी आशा मे कहते है और अक्सर इसकी अभिव्यक्ति बड़ी करुणाजनक हो जाती है। इस बात पर प्रायः नियमित रूप से ध्यान नहीं दिया जाता कि यह एक स्थिर विचार अथवा दृष्टिकोण है।

विकसित देशों में, जिनके पास अपार साधन हैं, विज्ञान और टेक्नालॉजी की प्रगति कहीं अधिक तेज गति मे हो रही है।[16] आर्थिक लेखन मे जिस बात को प्रायः अवर्णित ढंग से छिपा लिया जाता है, वह यह प्रकट तथ्य है कि विभिन्न

देशो मे विज्ञान और टेक्नालॉजी की जो उन्नति हुई है और जो आज हो रही है उसका प्रभाव कम-विकसित देशों पर पहले भी पड़ा है और अब भी पड़ रहा है और यह प्रभाव किस सीमा तक होता है यह बात कम-विकसित देशों की विकास की सम्भावनाओ पर निर्भर करती है। जब इस बात को नही देखा-समझा जाता तो इसका कारण यही है कि यह उन सामान्य पूर्वाग्रहों का एक और प्रमाण है, जिनका उल्लेख पहले अध्याय में किया जा चुका है।

यह बात इस कारण से और भी स्पष्ट हो जाती है, क्योकि इस गतिशील प्रभाव के तत्त्वों को सब विशेष अध्ययनो में देखा जाता है। यह तथ्य कि विकसित देशों में टेक्नालॉजी की प्रगति कम-विकसित देशो के व्यापार मे गिरावट के लिए अधिकांशतया उत्तरदायी है, उदाहरण के लिए एक सामान्य बात है और इन देशों के व्यापार के विकास के सम्बन्ध मे इसका व्यापक और गहरा अध्ययन किया जाता है।

यह भी एक सर्वविदित तथ्य है, और एक ऐसा तथ्य भी जिस पर अक्सर यथार्थवादी ढंग से विचार होता है, कि विकसित देशों मे निरन्तर टेक्नालॉजी की प्रगति, केवल उनका वर्तमान उच्च स्तर ही नही, आंशिक रूप से उस कठिनाई के लिए जिम्मेदार है, जो कम-विकसित देश अपना उत्पादन बढाने और अपने तैयार माल का निर्यात करने मे अनुभव करते है।

इन विचारो को समन्वित करने का काम प्राय: नियमित रूप से नही होता। जो भी अनुसन्धान कार्य होता है उसका अधिकांश भाग विकसित देशो मे होता है और इन देशो की सरकारें, संस्थाएँ, विश्वविद्यालय और उद्योग इस अनुसन्धान कार्य के लिए पैसा देते हैं। अतः सचमुच यह आशा करना असंगत होगा कि ये अनुसन्धान और विकास सम्बन्धी प्रयास स्वय उनके हित की दिशा में ही संचालित न हों।

अमीर देशों मे हम निरन्तर खेती मे उत्पादकता बढ़ाने, कच्चे माल के उपयोग मे कमखर्ची बरतने और देश में जो माल उपलब्ध न हो उसके स्थान पर दूसरे माल के इस्तेमाल का प्रयास निरन्तर जारी रखेंगे। उदाहरण के लिए हम जल्दी ही, जैसाकि संयुक्त राज्य अमरीका की संसद की एक समिति की रिपोर्ट में कहा गया है, कृत्रिम तरीकों से केवल कॉफी ही तैयार नही करने लगेंगे, बल्कि चाय और कोको का भी इसी प्रकार उत्पादन शुरू कर देंगे।

ब्रिटेन के परमाणु ऊर्जा संस्थान ने यह रिपोर्ट प्रस्तुत की है कि ब्रिटेन के वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उन्होंने एक ऐसा सस्ता रेशा बनाने का तरीका निकाल लिया है जो इस्पात से चार गुना मजबूत और उससे कहीं अधिक हल्का होगा और इस प्रकार अनेक धातुओं के स्थान पर इसका इस्तेमाल किया जा सकेगा। इतना ही नहीं इसका इस्तेमाल बहुत सस्ता भी बैठेगा। यह भी उल्लेख-नीय है कि निकेल और अलुमीनियम, जो दो ऐसी धातुएँ है, जिनकी माँग निरन्तर तेज़ी मे बढ रही है और जो इस नये रेशे से होड़ कर सकेंगी, अधिकांशतया विकसित देशों में उत्पन्न होते हैं।

ऐसी प्रगतियों को रोकना स्वयं हमारी सभ्यता की भावना के ही विपरीत होगा। विकसित देशों के हम लोग, कम-विकसित देशों को क्षति से बचाने के लिए केवल यही कर सकते हैं कि ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए विज्ञान

और टेक्नालॉजी के विकास के अधिकाश भाग को निर्देशित करें जिनका समाधान कम-विकसित देशों के हित मे हो। कुछ सीमा तक यह काम पहले ही किया जा रहा है, जिसका उल्लेख हम आगामी अध्यायों में करेंगे।

इस प्रयास को उस सीमा तक ऊपर उठाने के लिए जहाँ यह उन आरम्भिक प्रभावों से कम-विकसित देशों को राहत पहुँचायेगा, जो विकसित देशों मे अत्यधिक तेजी से टेक्नाल्मॉजी सम्बन्धी विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न होंगे, यह आवश्यक है कि विकसित देश इन देशों को दूसरे किस्म की सहायता अधिक मात्रा मे दें। वस्तुत यह सहायता पहले के समस्त स्तरों से कहीं अधिक ऊँचे पैमाने पर दी जानी चाहिए। इस तकनीकी सहायता की चर्चा मैं आगामी अध्यायो मे अनेक स्थलो पर करूँगा।

यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि विकसित देशों में टेक्नालॉजी की प्रगति को कम-विकसित देशों मे तुरन्त व्यवहार में लाया जा सकता है, जैसे पीने के पानी की सप्लाई के प्रति निरन्तर बढती हुई चिन्ता के परिणामस्वरूप समुद्र के पानी का खारीपन समाप्त करने के लिए अनुसन्धान कार्यों पर विशाल धनराशि खर्च की जा रही है। यही बात सन्तति निरोध के तरीको की प्रगति पर भी लागू होती है। लेकिन मैं यहाँ सामान्य प्रवृत्ति की चर्चा कर रहा हूँ, विशेषकर सामान बनाने वाले उद्योगो के सम्बन्ध मे।

इस गतिशील कारक के सच्चे महत्त्व को तभी समझा जा सकता है, जब हम यह अनुभव करें कि विज्ञान और टेक्नालॉजी के स्तर केवल तेजी से ऊँचे ही नहीं उठ रहे है, बल्कि यह भी आशा की जा सकती है कि भविष्य मे इनमें अधिक तेजी से वृद्धि होगी और इनका घातीय वक्र निरन्तर ऊर्ध्वगामी ही बना रहेगा।[17] समय रहते विकसित और अविकसित देशों मे हो रहे परिवर्तनों में समन्वय करना ही एकमात्र विकल्प है और केवल इसी प्रकार निरन्तर कायम विकास के अवरोध को ही समाप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि अवनति से भी बचा जा सकता है।

सामान्य भ्रान्ति के बावजूद, तथ्य यह है कि जो देश अब विकसित है, उनमें परिवर्तन तेजी से नहीं आया था। इन देशों को धीरे-धीरे परिवर्तन करने का लाभ मिला था और इसके साथ ही, जैसाकि हम कह चुके है, आरम्भ से इन्हें उन दृष्टिकोणों और संस्थाओं का लाभ प्राप्त था, जो कहीं अधिक आसानी से परिवर्तन की अनुमति देती थी अथवा स्वयं को इस परिवर्तन के अनुरूप ढाल लेती थीं। बाहर से आधुनिकीकरण के तेजी से आगमन और उस क्रमिक संक्रमण का अभाव, जिसका लाभ विकसित देशो को मिला तथा आबादी का विस्फोट कम-विकसित देशों मे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है, जहाँ एक ऐसे समाज मे आधुनिकता के तत्त्व चारों ओर छिटके रहते है, जहाँ अन्य बहुत-सी परिस्थितियाँ वैसी ही बनी रहती है जैसी सदियों पहले थी। जैसाकि जवाहरलाल नेहरू ने भारत के विषय मे कहा था : "हमारे पास परमाणु ऊर्जा है और हम गोबर का इस्तेमाल भी करते हैं।"

यदि यह आशावादी दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया जाये कि आधुनिकता के तत्त्वों का विकास महत्त्वपूर्ण 'विकास के केन्द्रबिन्दुओं' के रूप में होता है तो हमे अन्य अनेक बातो को भी मानकर चलना होगा : कि स्वदेश में आबादी के भयंकर विस्फोट के अवरोधक प्रभावों और विकसित देशों में इतनी अधिक तेजी से हो रही तकनीकी प्रगति का समाधान निकाल लिया जायेगा और कम-विकसित देशों के भीतर जो प्रसार प्रभाव उत्पन्न होगे, उन्हे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से संचालित किया जा सकेगा।

यह स्पष्ट है कि यह घटना किसी 'प्राकृतिक' क्रम-विकास के द्वारा नही घटेगी और इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि योजनाबद्ध विकास का रास्ता अपनाया जाये और योजनाओ मे उन आमूल परिवर्तनवादी या दूरगामी सुधारों को भी शामिल किया जाये, जिनकी चर्चा आगामी अध्याय में की जा रही है। आयोजन का लक्ष्य, उन बड़ी कठिनाइयों के बावजूद, जिनका उल्लेख हमने इस अध्याय मे किया है, राज्य की समन्वित नीतियो के माध्यम से विकास करना है। प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि आयोजन को उन अन्य अनेक वस्तुओं की ओर भी निर्देशित किया जाये जो दूसरे महायुद्ध के बाद के उस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण में शामिल नही है, जिसकी चर्चा मैंने पहले अध्याय मे की है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए, जो प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिकोणों और संस्थाओ को प्रभावित करे।[18]

विकास के विभिन्न स्तरों मे जो अन्तर है उनके बारे में सामान्यतया यह दृष्टिकोण अपनाया जाता है कि ये अन्तर केवल "आकार" सम्बन्धी है और इनका स्वरूप "गुणात्मक" नही है, और इससे भी अधिक यह दृष्टिकोण कि विकसित और कम-विकसित देशों के बीच केवल 'समय का अन्तर' है, भ्रान्तिपूर्ण और गलत हैं।[19] *दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की अन्य अनेक बातों की* तरह इन बातों का मूल मार्क्स की विचारधारा में है। अब क्योंकि इन विचारो को 'विकास के विभिन्न चरणों' के तथाकथित सिद्धान्त में विकसित किया गया है, अतः ये उद्देश्यवादी आध्यात्मिक पूर्व-धारणाओं पर आधारित हैं।[20]

संयुक्त राज्य अमरीका मे अनावश्यक आशावादिता लोगों की राष्ट्रीय मनोवृत्ति बन गयी है, जिसे एक बार जार्ज केनन ने "उत्साह और आत्म-सम्मोहन की अमरीकी लोगों की महान् क्षमता" कहा था। कम-विकसित देशो के बुद्धि-वादियों की भी यही स्वाभाविक उत्प्रेरणा है। इसका एक प्रमाण यह है कि इन देशों की योजनाएँ नियमित रूप से आशावादी दिशा मे आवश्यकता से अधिक प्रेरित होती हैं। कम्युनिस्ट देशों में आशावादिता कार्यक्रम का अंग बन जाती है और इसके प्रति अविश्वास को 'बुर्जुआ' अतिरेक बताया जाता है।[21]

अक्सर यह कहकर आशावादिता का समर्थन किया जाता है कि कठिनाइयों का सामना करने में इससे साहस को बल मिलता है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी देखा जाये तो अनावश्यक आशा-वादिता पर आधारित साहस अन्ततः मोहभंग की स्थिति में लोगो को पहुँचा देता

है। प्रत्येक व्यक्ति मोहभग की चर्चा करता है—हाल में कम-विकसित देशो के विकास के सम्बन्ध मे भी इसका कम उल्लेख नही हुआ है—लेकिन ये लोग स्वय को यह याद नही दिलाते कि साधारणतया इसका अर्थ यह होता है कि पहले कुछ भ्रान्तियाँ अथवा मोह मौजूद थे।

एक अध्येता की दृष्टि से निराशावादिता की तरह ही आशावादिता का अर्थ एक पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अलावा अन्य कुछ नही होता। लेकिन हमे यथार्थवाद का ही अन्वेषण करना चाहिए, चाहे इस अन्वेषण की प्रक्रिया में अध्येता को स्वय अपने पेशे मे व्याप्त वर्तमान विचारो से संघर्ष ही क्यो न करना पडे। और यदि अध्येता अपना कार्य निष्ठा से और प्रभावशाली ढंग से करता है, तो उसे उस स्थिति मे प्रतिवाद करने या विरोध प्रकट करने का अधिकार होगा, जब उसके अधिक यथार्थवादी विचारो को निराशावादी करार दे दिया जाये।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यथार्थवाद के प्रति मेरे प्रयास जब मुझे मेरे साथी अर्थशास्त्रियो में आज भी व्याप्त विकास की सम्भावना से कहीं अधिक गम्भीर सम्भावनाओं का दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित करते हैं, तो मैं इसके परिणाम-स्वरूप निराशावादिता के गर्त मे नहीं गिरता।

मेरा निष्कर्ष है कि विकास के लिए अधिक और अनेक दृष्टियो से कही *अधिक दूरगामी और आमूल परिवर्तनवादी प्रयासों की आवश्यकता होती है :* कम-विकसित देशो मे अधिक तेजी से और अधिक प्रभावशाली ढंग से बडे पैमाने पर सुधार और विकसित देशो मे कम-विकसित देशो के प्रति अधिक चिन्ता और अधिक ठोस बलिदान करने की तत्परता।

वर्तमान विचारधारा के आशावादी रुझान की, जिसका प्रतिनिधित्व दूसरे महायुद्ध के बाद का दृष्टिकोण करता है, गहनतम नैतिक आलोचना इस कारण से है कि इसने कम-विकसित देशो मे लापरवाही को बढ़ावा दिया है और विकसित देशों में इन समस्याओं के प्रति तत्परता और गम्भीरता मे कमी की है।

कम-विकसित देशो मे विकास की गति को तेज करने की समस्या आज विश्व की समस्याओ मे शामिल है—एक दूसरी समस्या शस्त्रीकरण की विवेक-हीन और अभी भी तेज हो रही होड को बन्द करना है—और इस सम्बन्ध मे घटिया आशावादिता विनाशकारी सिद्ध हो सकती है। आज एक यथार्थवादी दृष्टिकोण मे तर्कसगत दृष्टि से एक ऐसे साहस और संकल्प की माँग की जा सकती है, जो प्रायः इस सीमा तक पहुँच चुका हो कि हर कीमत पर विकास करने के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाये।

इस और पिछले अध्याय मे इस पुस्तक के विषय के आरम्भिक प्रतिपादन के बाद, अब प्रमुख व्यावहारिक नीति सम्बन्धी समस्याओ को लिया जायेगा और इन पर अलग-अलग विचार होगा। दूसरे भाग मे पहले उन नीतियों पर विचार होगा, जिनकी स्वय कम-विकसित देशों में तर्कसम्मत आवश्यकता है।

तीसरे भाग में यह समस्या उठायी जायेगी कि कम-विकसित देशों के विकास के लिए विकसित देश क्या कर सकते है ।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात स्वय कम-विकसित देशो में सुधार सम्बन्धी नीतियो की है । लेकिन इनके समक्ष जो कठिनाइयाँ मौजूद है, वे इतनी बड़ी है कि इनमें से अधिकांश के उस समय तक सफल होने की मुश्किल से ही गुंजाइश दिखायी पड़ती है, जब तक विकसित देशों से अधिक मात्रा मे सहायता प्राप्त न हो।

राजनीति पर निर्भर विकास की महत्त्वपूर्ण समस्या को चौथे और अन्तिम भाग मे लिया जायेगा : कम-विकसित देशों मे क्रान्ति के बिना सुधार लागू करने की सम्भावना, अधिकांशतया विकसित देशो की नीतियों पर निर्भर करती है। इसकी चर्चा भाग तीन में हुई है।

•
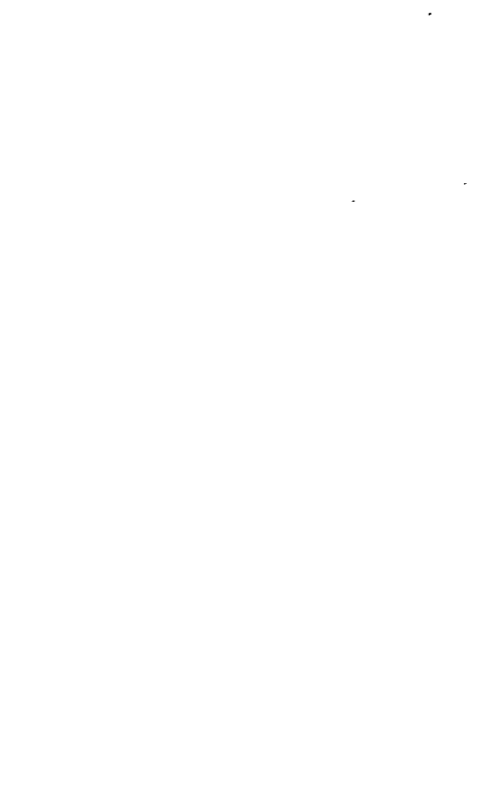
# भाग दो

## कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता

अध्याय : 3

# समानता का प्रश्न

## 1. कुछ सामान्य बातें

कम-विकसित संसार के अधिकांश हिस्से में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण असमानता पर आधारित और कठोर है—यद्यपि विभिन्न देशो मे यह अलग-अलग सीमा तक है। बहुत कम देशों को छोडकर—दक्षिण एशिया मे सम्भवत. श्रीलंका को एक ऐसा देश कहा जा सकता है[1]—हाल के वर्षो मे आर्थिक असमानता बढ़ती हुई दिखायी पड़ रही है।[2]

कम-विकसित देशों की विकास समस्याओं में समानता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। असमानता का सम्बन्ध समस्त सामाजिक और आर्थिक सम्बन्धों से है। अत. समानता का प्रश्न सामुदायिक विकास, कृषि नीति, शिक्षा सम्बन्धी सुधार और वस्तुतः कराधान जैसे समस्त नीति सम्बन्धी मामलो मे एक तत्त्व, और अक्सर एक प्रमुख तत्त्व, बन जाता है। इस दूसरे भाग के सब अध्यायो मे हम समानता के इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

लेकिन समानता के प्रश्न को इन देशों की विकास समस्याओं अथवा आयोजन सम्बन्धी साहित्य में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नही दिया गया है। वस्तुत:—जसाकि अगले अध्याय में विकास की एक महत्त्वपूर्ण समस्या खेती के सम्बन्ध मे दर्शाया जायेगा—हाल के वर्षो में पहले से कहीं अधिक पूर्णता से इससे बचने का प्रयास किया गया है।

मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि असमानता और असमानता मे वृद्धि की जो प्रवृत्ति है वह विकास के सम्बन्ध मे निषेधों और अवरोधो के सम्मिश्र के रूप में काम करती है और परिणामस्वरूप इस प्रवृत्ति को उलट देने की आवश्यकता है और विकास को तेज करने की एक शर्त के रूप में अधिक समानता कायम करने की भी आवश्यकता है।

परम्परा से, इसके विपरीत, पश्चिम के अर्थशास्त्री अधिकांशतया यह मानकर चलते हैं कि आर्थिक विकास और समानतावादी सुधारों में संघर्ष होता है। ये लोग इस बात को स्वयंसिद्ध समझते हैं कि सुधारो के लिए कीमत चुकानी पडती है और अक्सर गरीब देशों के लिए यह कीमत आवश्यकता से अधिक ऊँची होती है।

यह दृष्टिकोण संस्थापित अर्थशास्त्रियों की समझौता करने की प्रवृत्ति से प्रेरित विचारधारा जितना पुराना है। इन अर्थशास्त्रियों को आमूल परिवर्तनवादी नीति की मान्यताओं से अपनी रक्षा करने के लिए इस विचारधारा को अपनाना पड़ा था। यह विचारधारा उनके सिद्धान्त का आधार बन गयी है और उन्होंने इस विचारधारा को नैसर्गिक नियम के नैतिक दर्शनों से लिया था और उपयोगितावाद

से भी इसे प्रेरणा मिली थी, जिससे एक समय आर्थिक सिद्धान्त का उदय हुआ था।[3]

आधुनिक अर्थशास्त्री, जो अपने आध्यात्मिक पूर्वजों की तुलना में आर्थिक सिद्धान्त के दार्शनिक मूल के बारे मे सामान्यतया कम परिष्कृत हैं, अधिकांश रूप से बस यह मान लेते है कि ऐसा संघर्ष मौजूद है और इस सम्बन्ध मे किसी हिच-किचाहट का भी अनुभव नही करते। इस मान्यता को प्रमाणित करने के लिए शायद ही कभी कोई बुनियादी और अनुभवजन्य अनुसन्धान किया गया हो।

पश्चिम मे भी आज हमे इस बात का विस्तृत ज्ञान प्राप्त नहीं है कि बचत का औसत, श्रम विनियोग और श्रमिक कार्यकुशलता जैसे कारक आय और सम्पत्ति के वितरण मे विभिन्न सीमाओ तक समानता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया किस प्रकार प्रकट करते हैं। इन विषयो पर विचार-विमर्श अधिकांशतया अमूर्त और कल्पना पर आधारित होता है।

इस बीच सब विकसित देशो मे बड़े पैमाने पर समानतावादी सुधार पर आधा-रित नीतियाँ अपनायी गयी है और पहले महायुद्ध के समय से ही यह सुधार कार्य निरन्तर तीव्र गति से चलता रहा है।[4] अब ये सब राज्य 'हितकारी राज्य' बन गये हैं। पर इस सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण बात, जिसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए, यह है कि केवल अर्थशास्त्रियो ने ही नही, बल्कि इन सुधारो की माँग करने वालो और प्रचारको ने भी इस परम्परागत सामान्य मान्यता को व्यापक रूप से स्वीकार किया कि समानतावादी सुधारो के लिए कीमत चुकानी पडती है।

इन सुधारो के सम्बन्ध में अधिक सामाजिक न्याय स्थापित करने के सन्दर्भ में तर्क किये गये, जिसकी आवश्यकता को विकसित देशों में इतने व्यापक रूप से स्वीकार किया जाने लगा था कि संसदों द्वारा कानून बनाकर इन्हें लागू करने की राजनीतिक परिस्थितियों का निर्माण हो गया। यह समझा जाने लगा कि इन सुधारों को लागू करने के लिए कीमत चुकाना उचित ही है।

केवल सर्वाधिक विकसित हितकारी राज्यों मे ही और वह भी बहुत हाल के वर्षो मे यह विचारधारा सामने आयी कि हितकारी सुधार, समाज के लिए व्ययसाध्य होने के स्थान पर वस्तुतः स्थिर और तीव्र आर्थिक विकास की आधारशिला रखने में सहायक बनें। इन सुधारों का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव हुआ, इसके बुनियादी अध्ययन का प्रयास अधिकांशतया समाजशास्त्रियों, सामाजिक कार्य-कर्ताओं और सांख्यिकी विशेषज्ञों की दिलचस्पी का ही विषय बना रहा और अर्थ-शास्त्री अधिकांशतया अपनी पुरानी मान्यताओ से चिपके रहे—केवल हाल के वर्षो में इन लोगों ने नये प्रस्तावों के सम्बन्ध में यह भविष्यवाणियाँ करने की पहले जैसी तत्परता नहीं दिखायी कि यदि इन सुधारो को लागू किया गया तो ये विनाश-कारी साबित होंगे। इसका कारण यह है कि उनकी ऐसी अनेक चेतावनियाँ अनुभव की कसौटी पर पूरी तरह गलत सिद्ध हो चुकी हैं।

मैंने पश्चिम के अर्थशास्त्रियो का अपने देशो मे सैद्धान्तिक विकास का यह

संक्षिप्त विवरण इस कारण से दिया है, ताकि कम-विकसित देशों में समानता के प्रश्न पर इन लोगों के दृष्टिकोण को बेहतर ढंग से समझा जा सके।

जब दूसरे महायुद्ध के अन्त के बाद इन लोगों ने बड़ी जल्दबाजी में (देखिए अध्याय-1) इन देशों की विकास समस्याओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान की दिलचस्पी दिखायी, तो उनकी एक पूर्व-धारणा यह थी, जिसे वे स्वयंसिद्ध समझते थे, कि ये अत्यधिक गरीब देश सामाजिक न्याय के सन्दर्भ मे सोचने और समानतावादी सुधारों की कीमत चुकाने की स्थिति में एकदम नहीं हैं। आर्थिक विकास करने के लिए इन्हें सामाजिक न्याय का बलिदान देना होगा। इस दृष्टिकोण का एक अच्छा उदाहरण पाकिस्तान के विकास के सम्बन्ध में हाल मे प्रकाशित एक पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरण से मिल जाता है :

"विकास और समानता के लक्ष्यों के बीच···एक संघर्ष मौजूद है···आय मे असमानताएँ अर्थव्यवस्था के विकास मे योगदान देती हैं। और यह विकास कम आय वाले वर्गों की वास्तविक बेहतरी को सम्भव बनाती है।"[4क]

इस विचार को इस कथन के द्वारा अक्सर तर्कसंगत बनाने की कोशिश की जाती है कि "वितरण से पहले उत्पादन की आवश्यकता होती है।" यह एक ऐसा विचार है जो आर्थिक विचारधारा के विकास की पूर्ण अवधि में विकसित देशों मे लोकप्रिय रहा। भारत के योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी॰ आर॰ गाडगिल उन व्यक्तियों में थे, जिन्होंने इस प्रकार की तर्क-प्रणाली में निहित भ्रान्ति की ओर निरन्तर संकेत किया· "वितरण से पहले उत्पादन ··एक ऐसी नीति को छिपाने का मुखौटा है, जिसे इस नीति के समर्थक खुलकर प्रतिपादित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं।" एक ही समष्टिभाव-प्रणाली में वितरण तथा उत्पादन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

अधिक समानता और आर्थिक विकास के बीच संघर्ष के विचार का···जब कि गरीब देशों में विकास को प्राथमिकता देनी पड़ती है—सामान्यतया समर्थन वर्तमान विकसित देशों का उदाहरण देकर किया जाता है। पश्चिम के देशों और यहाँ तक कि जापान ने भी अपने औद्योगीकरण के आरम्भिक चरणों मे असमानताओं में वृद्धि का अनुभव किया था। इस प्रकार यह मान लिया जाना है कि गरीबों के भद्दे और खुल्लमखुल्ला शोषण की जिस परिस्थिति ने बचत और अत्यधिक साहसपूर्ण उद्यम को सम्भव बनाया, वही औद्योगिक क्रान्ति को गतिशील बनाने का आधार बनी।

*इन ऐतिहासिक सुविधाओं को निश्चयपूर्वक निर्णायक नहीं मान लेना चाहिए।*[5] एक बात तो यह है कि आज अधिकांश कम विकसित देशों ने अपनी नीति सम्बन्धी व्यावहारिक लक्ष्य के रूप में समानता स्थापित करने की घोषणा की है और यह ऐसी बात है, जो वर्तमान विकसित देशों में उन आरम्भिक युगों मे शायद ही कभी हुई हो।[6] अनेक कम-विकसित देश आज राष्ट्रीय आयोजन के माध्यम से विकास कार्यों का संचालन करने और विकास की गति को तेज बनाने के लिए वचनबद्ध हैं, जो एक दूसरा अन्तर है।[7] इतना ही नहीं, समानता की स्थापना को आयोजन का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य निरन्तर घोषित किया जाता है। (देखिए वस्तुतः सरकार की समस्त नीतियों का यह लक्ष्य घोषित किया जाता है नीचे)।[8]

का आर्थिक विकास पर बुरा असर पडेगा ।

मैंने ऊपर कहा है कि हाल में उन अत्यधिक विकसित देशों में, जो हितकारी राज्यो के रूप में सबसे अधिक बढ़े-चढे है, रहन-सहन के कही अधिक ऊँचे स्तर के मौजूद रहते हुए निचले आय वर्गो के बारे मे जो अध्ययन किये गये है. उनसे यह सिद्ध होता है कि निरन्तर समानतावादी सुधारों के जारी रहने का उन देशों तक में उत्पादकता पर लाभकारी प्रभाव पडा है। इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उसी प्रकार के सुधारो से कम-विकसित देशों को भी लाभ होगा ।

हम इस अनुमान का समापन, एशिया और सुदूरपूर्व के आर्थिक आयोग के सचिवालय के इस निर्णय का उदाहरण देकर करेंगे, जो कल्पना के आधार पर काम करने वाले, विशेषकर पश्चिम के, अर्थशास्त्रियो की तुलना में कम-विकसित देशो के जीवन के कही अधिक समीप है :

"वास्तविक अनुभव के आधार पर यदि निर्णय करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आय की बड़ी और निरन्तर बढती हुई असमानताएँ, तेज आर्थिक गतिविधि और विकास के प्रबल प्रवाह के लिए लाभदायक सिद्ध नही हुई है । वस्तुत. इस बात की कही अधिक सम्भावना दिखायी पडती है कि आय के अत्यधिक संकेन्द्रन ने अक्सर स्वस्थ आर्थिक विस्तार के मार्ग मे बाधा डाली है । उसने यह कार्य विकास में जनता के हिस्सा लेने के मार्ग मे प्रभावशाली बाधा डालकर (भौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनो प्रकार की बाधाएँ) किया है । इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि विकास-नीति के वितरण सम्बन्धी पहलुओ की ओर मुक्त व्यापार के वर्तमान रवैये से एशिया के देशों मे राजनीतिक और सामाजिक यथा-स्थिति कायम रखने को बडा सुविधाजनक समर्थन मिलता है ।" [15]

अब तक मैं कम-विकसित देशो मे समानता के प्रश्न के बारे मे अत्यधिक अमूर्त और सामान्य शब्दावली मे विचार करता रहा हूँ। अगले अध्याय मे मैं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृषि नीति की समस्या के सन्दर्भ मे इसी विषय पर विचार करूँगा ।

लेकिन इससे पहले मैं कम-विकसित देशो मे विद्यमान असमानता के मोटे तथ्यों पर अधिक गहराई से नजर डालना चाहता हूँ और विशेषकर यह प्रश्न उठाना चाहता हूँ कि सामाजिक और आर्थिक खाइयो को क्यों कायम रहने दिया गया और यह बढती हुई क्यो दिखायी पड रही है ।

## 2. असमानता और सत्ता

कम-विकसित देशों में असमानता अनेक रूप धारण कर सकती है । यह एक ऐसे समाज मे भी उसी प्रकार कठोर हो सकती है, जिस समाज मे वस्तुतः आर्थिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति सम्पन्न न हो—उदाहरण के लिए, मान लीजिए भारत के किसी गाँव मे, पश्चिम बंगाल के किसी गाँव का उल्लेख किया जा सकता है, भूस्वामित्व ऊँची जाति के लोगो के हाथों मे है, जो स्वयं काम नहीं करते पर इनके पास भी जमीन के छोटे-छोटे टुकड़े है । दूसरी ओर आधे अथवा इससे भी अधिक खेत-मजदूर मालिको की ओर से खेतो मे काम करते है और स्वयं उनके

पास कोई जमीन नही होती । [16] इसके अलावा कुछ गिने-चुने अमीर जमीदारों का एक छोटा-सा वर्ग है, जो अक्सर गाँव से गैर-हाजिर रहते हैं, और इन जमींदारों के मैनेजर इन गाँवो मे सर्वोपरि स्थिति मे होते हैं तथा समाजो के सबसे निचले वर्ग के रूप मे बड़ी संख्या में भूमिहीन मजदूर होते हैं। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान में सिन्ध और अन्य हिस्सों का तथा लेटिन अमरीका के अनेक देशों का उल्लेख किया जा सकता है।

सामाजिक असमानता और आर्थिक असमानता के बीच अन्तर करना सम्भव है। सामाजिक असमानता स्पष्ट रूप से व्यक्ति की स्थिति मे सम्बन्धित होती है और सम्भवतः इसकी सर्वोत्तम परिभाषा यही दी जा सकती है कि इसमे सामाजिक गतिशीलता का अत्यन्त अभाव होता है और मुक्त रूप से प्रतियोगिता करने की सम्भावना बहुत सीमित रहती है। अर्थशास्त्र मे 'मुक्त प्रतियोगिता' का जिन अर्थो में प्रयोग किया जाता है, उनसे कहीं अधिक व्यापक अर्थो में यहाँ प्रयोग किया गया है। आर्थिक असमानता अधिक सीधी-सादी संकल्पना है और इसका सम्बन्ध सम्पत्ति तथा आय के अन्तरों से होता है।

लेकिन इन दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि सामाजिक असमानता आर्थिक *असमानता का एक प्रमुख कारण होती है और साथ ही आर्थिक असमानता* सामाजिक असमानता को समर्थन देती है। अधिकांश परिस्थितियो में सामाजिक और आर्थिक असमानता मिलाजुला मामला होती है, जिसे केवल एक विश्लेपण के द्वारा ही दो अलग-अलग विभागों में विभाजित किया जा सकता है और यह विश्लेपण स्वरूप की दृष्टि से संस्थागत होना चाहिए।

गरीबी और असमानता के बीच अनेक सम्बन्ध होते है। एक सम्बन्ध इस अध्याय का सामान्य विषय है कि, जैसाकि हम तर्क देते हैं, सामाजिक और आर्थिक असमानता किसी भी देश की गरीबी का एक प्रमुख कारण होती है। योजना की दृष्टि से इसका यह अभिप्राय होता है कि किसी समाज को गरीबी मे मुक्ति दिलाने के लिए अधिक समानता एक पूर्व शर्त होती है।

दूसरा सम्बन्ध यह है कि कोई देश समग्र अथवा औसत दृष्टि से जितना अधिक गरीब होगा, आर्थिक असमानता उन लोगों के लिए कही अधिक कठोर कष्टों की सृष्टि करेगी जो सबसे निर्धन होते हैं। [17] यदि समग्र असमानता की सीमा की तुलना 'लोरेन्ज वक्र' की दृष्टि से विकसित देशो से की जा सके, जिसमे आबादी के किसी निर्धारित प्रतिशत की कुल आय का हिस्सा दर्शाया जाता है—जो सामान्यतया नहीं होता, यद्यपि उपलब्ध आँकड़ो मे सूक्ष्मता मे कमी के कारण कुछ देशों में इसकी सम्भावना को पूरी तरह नजरअंदाज नही किया जा सकता—तो इसका कम-विकसित देशों के निचले आय-वर्गो के लोगों के ऊपर कही अधिक बुरा असर पड़ेगा।

तीसरा सम्बन्ध यह है कि सम्भवत. आर्थिक और सामाजिक असमानता वर्तमान गरीबी और गरीबी मे छुटकारा पाने के लिए कोई देश जिस कठिनाई का अनुभव करता है उसका एकमात्र कारण न हो, बल्कि उसका परिणाम भी हो। दक्षिण एशिया में असमानता और गरीबी की सीमाओं के मोटे पारस्परिक *सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए, यह प्रश्न उठाना उचित हो है कि क्या गरीबी* असमानता को जन्म देती है अथवा नही। [18]

एक सामान्य प्रक्रिया यह होगी कि अर्थव्यवस्था के एक बहुत निचले स्तर पर *मानवीय उदारता के लिए बहुत कम स्थान शेष रहेगा*, जबकि हर प्रकार के सामाजिक अन्तरो अथवा भेदभावों को बनाये रखने की अधिक प्रबल आवश्यकता अनुभव होगी। स्वीडन की एक कहावत है कि "जब नाँद खाली हो जाती है, तो घोडे एक-दूसरे को काटने लगते हैं।" यदि यह सच और महत्त्वपूर्ण है तो इस बात को एक ऐतिहासिक संयोगमात्र नही समझा जाना चाहिए कि भारत और पाकिस्तान के विशिष्ट गाँवो मे, जिनमे आय के स्तर अत्यधिक नीचे है, सामान्यतया बडा स्पष्ट और गहरा अन्तर दिखायी पडता है।

थाईलैण्ड या बर्मा का कोई गाँव, हो सकता है बहुत अधिक अमीर न हो, लेकिन कुछ ही गाँव वाले अनाज की कमी मे इस सीमा तक ग्रस्त है, जिस सीमा तक भारत और पाकिस्तान के। थाईलैण्ड और बर्मा मे मनुष्यो के बीच जो अधिक समानता है, उसका कारण ऊँचा आर्थिक स्तर कहा जा सकता है। हम इस बात का भी उल्लेख कर सकते है कि ऐतिहासिक दृष्टि से, पश्चिम के विकसित देशो मे अवसर की अधिक समानता मे आर्थिक स्तर ऊँचा उठने के साथ-साथ सामान्यतया वृद्धि हुई।

पर वस्तुत कम-विकसित देशों में असमानता के क्या कारण है, यह बात कही अधिक जटिल है और यह भी हो सकता है कि केवल गरीबी ही इसका एकमात्र कारण, और कभी-कभी तो एक प्रमुख कारण भी, न हो।

थाईलैण्ड और बर्मा जैसे देशो मे अधिक समानता का सम्बन्ध अक्सर इन दो देशों के बौद्ध धर्म के साथ बैठाया जाता है। हम इस स्पष्टीकरण से पूरी तरह आश्वस्त नही हो सकते। विद्वत् और अन्य उच्च स्तरो पर इस्लाम की शिक्षाएँ और अभिव्यक्तियाँ भी बौद्ध धर्म से कम समानतावादी नही है।

इसके अलावा, सामान्यतया उस समय विश्वास न कर पाने के कारण मौजूद रहते है, जब पश्चिम के, और दक्षिण एशिया के भी, लेखक यह सोचते हुए दिखायी पडते है कि वे हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम अथवा ईसाई धर्म के प्रभाव के बारे मे जब बिना किसी सूक्ष्मता के विचार प्रकट करते है, तो वे कोई महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। कारण यह है कि जब वे इन धर्मों का उल्लेख करते हैं, तब वे उन्हे केवल संकल्पनाओ और सिद्धान्तों के रूप में ही लेते है। अक्सर उस बौद्धिक और अमूर्त रूप में इन पर विचार होता है, जिस रूप मे ये अपने धार्मिक साहित्य और विद्वतापूर्ण धार्मिक उपदेशों मे दिखायी पडते हैं।[19]

धर्म का क्या प्रभाव होता है, इसके अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि हम धर्म के उस स्वरूप पर विचार करें जो सामान्य लोगों मे वास्तविक रूप मे विद्यमान है: धार्मिक कर्मकाण्ड और विभिन्न स्तरों में विभाजित अत्यधिक भावनात्मक विश्वासों और मूल्यांकनो की व्यवस्था, जो नियमित रूप से परम्परा से प्राप्त संस्थागत व्यवस्थाओ को, रहन-सहन के तरीको और दृष्टिकोणों को पवित्रता, हर स्थिति मे पालनयोग्य वस्तु और अपरिवर्तनीयता प्रदान करती है; कम-विकसित देशो के बडे जन-समुदायों के बीच सामान्यतया जिस रूप मे अनेक

धर्म विद्यमान है, और जिनमें कोई विशेष अन्तर दिखायी नही पड़ता, उनमें अन्धविश्वासो और हर प्रकार के असंगत निषेधो की भरमार दिखायी पडती है और ये ऐसी बातें होती हैं जिनका इन धर्मो के 'उच्च' स्तर पर प्रतिपादित *शिक्षाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता।*

लोकप्रिय धर्म की एक सामान्य विशेषता यह है कि वह सामाजिक निष्क्रियता उत्पन्न करने के लिए एक बडी शक्ति के रूप में काम करता है, और परम्परा से जो भी सामाजिक और आर्थिक समानता प्राप्त है उसका समर्थन करता है। यदि कहीं भी मार्क्स के इस कथन का औचित्य सिद्ध हुआ कि धर्म लोगों के लिए अफीम का काम करता है, तो यह कम-विकसित देशों के गरीब लोगों के बीच ही हुआ।

वर्तमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण, जो इतिहास की उपज है, रीति-रिवाजो से समर्थित है और स्वयं इन रीति-रिवाजों को धर्म से समर्थन प्राप्त होता है, जिसका अक्सर यह अर्थ होता है कि गरीब लोग अपने कष्टो के *खिलाफ आवाज नही उठाते, उनका विरोध नहीं करते, बल्कि अपने दुर्भाग्य को* देवताओ द्वारा निर्देशित मानते है। वे यह विश्वास करते है कि समस्त आधि-भौतिक शक्तियो ने उनके लिए यही विधान किया है।

कम-विकसित देशों के प्रगतिशील नेता लोकप्रिय धर्म को चुनौती देने से अक्सर बचते है। ऐसा लगता है कि वे अब इस बात पर अधिक भरोसा कर रहे हैं कि शिक्षा के प्रसार और अधिक प्रभावशाली संचार साधनों की व्यवस्था हो जाने पर, अधिक तर्कसम्मत आचरण की ओर लोगो का रुझान होगा। दक्षिण एशिया मे कम्युनिस्ट तक धर्म का विरोध न करने की सावधानी बरतते है।

इन सामान्य मुद्दों का उल्लेख करने के बाद अब हम एक विचित्र विरोधा-भास पर आते हैं।

*सब कम-विकसित देशों की नीति सम्बन्धी घोषणाओ में अधिक समानता* की बात कही जाती है। अपने योजनाबद्ध विकास में वे बड़े सामान्य और विशिष्ट रूप से व्यापक जन-समुदाय के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने का व्यावहारिक लक्ष्य अपने सामने रखते है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इन देशों की एक भी सरकार ने यह घोषणा नही की कि कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त समृद्ध लोगों को और अधिक अमीर बनाकर अधिक असमानता की स्थापना करना उसका लक्ष्य है।[20]

*जैसाकि एशिया और सुदूरपूर्व के आर्थिक आयोग के सचिवालय ने हाल मे* निष्कर्ष निकाला है :

"अधिकांश योजनाओं में यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है अथवा उनका यह अभिप्राय होता है कि उनका प्रमुख उद्देश्य व्यापक जन-समुदाय के रहन-सहन के स्तर को पर्याप्त ऊँचा उठाना है और रहन-सहन को ऊँचा उठाने का यह कार्य निरन्तर जारी रहेगा तथा तेज़ी से आर्थिक विकास को इस लक्ष्य की पूर्ति का साधन माना जाना चाहिए, अपने-आपमे एक लक्ष्य नही। बुनियादी तौर पर *विकास आयोजन को 'सामाजिक' रुझान प्रदान करने के कार्य का उल्लेख क्षेत्र* के राजनीतिक नेता अपने भाषणो मे अक्सर जोर देकर करते हैं और कुछ देशो में तो संविधान की व्यवस्थाओं के द्वारा इसे और अधिक प्रभावशाली बनाया

जाता है।"[21]

भारत मे, जहाँ गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित ससार के तिहाई मे अधिक लोग रहते हैं, सरकार द्वारा मान्य समानतावादी आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत लम्बी-चौडी बातें कही जाती हैं। यही कारण है कि उस समाज को अभिव्यक्त करने के लिए, जिसकी स्थापना की आकाक्षा भारत करता है 'हितकारी राज्य', 'वर्गविहीन समाज' और 'सहकारी राष्ट्रमण्डल' जैसे शब्दो का ही इस्तेमाल नही किया जाता, बल्कि समाज जिस दिशा मे आगे बढ रहा है और यदाकदा तो समाज के वर्तमान स्वरूप के लिए भी इन शब्दों का प्रयोग होता है।

यह भी बड़ी सामान्य बात है कि देश मे घट रही घटनाओ के लिए 'आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति' जैसी बातें कही जाती है। आज भी अक्सर बड़े उद्योगपति और राजनीतिज्ञ, 'समाजवादी' अथवा ऐसी अनेक अभिव्यक्तियो का प्रयोग करते हैं, जिसमे 'समाजवादी' शब्द आता है और इसे अक्सर नीति का व्यावहारिक लक्ष्य बताया जाता है।[22]

यद्यपि भारत में आमूल परिवर्तनवादी शब्दावली का सामान्य प्रयोग सबसे अधिक होता है, पर समानतावादी आदर्श का पालन करने और यह स्वांग रचने का प्रयास कि यह आदर्श व्यावहारिक नीतियो को प्रभावित कर रहा है, प्रायः सब कम-विकसित देशो मे बडी सामान्य बात है। अन्तर इस बात पर जोर देने भर का होता है। वस्तुत. समस्त आधुनिकीकरण के आदर्शों में, जिन्हें आयोजन की नीतियो के लक्ष्यो के रूप में सर्वत्र अगीकार किया जा रहा है, किसी भी अन्य लक्ष्य को इससे अधिक प्रकट विश्वास के साथ व्यक्त नही किया जाता।

विरोधाभास इसलिए उत्पन्न होता है, क्योकि प्रायः सब कम-विकसित देशों में आर्थिक असमानता बढती हुई दिखायी पड़ती है।[23] और सामाजिक असमानता, एक सामान्य अभिव्यक्ति के रूप मे यह कहना उचित होगा, सामान्यतया घट नहीं रही है।[24]

इन प्रवृत्तियों को अधिक सूक्ष्मता से प्रदर्शित करने के मार्ग मे केवल यही कठिनाई नही है कि कम-विकसित देशों मे सम्बन्धित आंकड़ो की सामान्य कमी है, बल्कि जिन लोगों के हाथो में नियन्त्रण है, उनमे यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे इस विरोधाभास का सामना करने से बचते हैं और असमानता का क्या हो रहा है इसके बारे में अधिक गहराई से जाँच नहीं करते।[25] यह बात और उन पुरातनपंथी नीतियो को दूरगामी और आमूल परिवर्तनवादी नीतियों के रूप मे प्रकट करने की सामान्य प्रवृत्ति, जबकि ये पुरातनपंथी नीतियाँ असमानताओं को और बढाती है,[26] अवसरवादी पूर्वाग्रहों की सर्वव्यापी प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिनके ऊपर अध्याय—1 मे विचार हुआ है।

इस विरोधाभास—अधिक समानता के पक्ष मे जोरदार शब्दो मे घोषणाएँ

और अधिक असमानता की ओर आगे बढ़ने की प्रकट प्रवृत्ति का पारस्परिक विरोध—का स्पष्टीकरण निश्चय ही कम-विकसित देशों में सत्ता के वितरण से सम्बन्धित है।[27]

कम-विकसित देशों में प्रायः सर्वत्र राजनीतिक सत्ता कुछ विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के हाथों मे ही है और इस स्थिति पर इस तथ्य का प्रायः कोई प्रभाव नहीं है कि इन देशों में सरकार का स्वरूप कैसा है। इन वर्गों की प्रथम कोटि मे बडे जमीदार, उद्योगपति, साहूकार, व्यापारी और उच्च सैनिक तथा असैनिक अधिकारी आते हैं। इन उच्च वर्गों के नीचे अन्य समुदाय आते हैं, जो निश्चयपूर्वक अत्यधिक गरीब लोगों के समुदाय से बहुत ऊँचे होते हैं, जिन्हें इन देशों मे सामान्यतया 'मध्यम वर्ग' कहा जाता है और जिसमे प्रायः सब 'शिक्षित' लोग आते हैं।

इस 'मध्यम वर्ग' मे अधिकांशतया उस वर्ग को भी शामिल कर लिया जाता है, जिसे भारत में अक्सर 'गाँव का समृद्ध वर्ग' कहा जाता है। इस वर्ग में किसान-जमीदार और कुछ अमीर काश्तकार आते हैं, जो गांवों में ही रहते हैं। इस वर्ग मे मैनेजर, व्यापारी, साहूकार, अफसर और ऐसे अन्य लोग आते हैं जो स्थानीय स्तर पर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रण की दृष्टि से सामान्यतया सर्वोपरि स्थिति मे होते हैं।

वस्तुतः यह शब्दावली वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी तरह गलत है। तथाकथित 'मध्यम वर्ग' के लोग केवल पश्चिमी समाजों की शब्दावली की दृष्टि से ही मध्यम वर्ग के हैं—ये भूतपूर्व उपनिवेशों और इससे भी अधिक सही ढंग से, *पश्चिम के उन देशों के समाजों के सन्दर्भ मे मध्यम वर्ग के हैं, जो इन देशो* पर शासन करते थे। 'शिक्षित' शब्द को इस कारण से अपना सच्चा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्त्व प्राप्त होता है कि बहुत कम लोग शिक्षित हैं।

*कम-विकसित देशों मे इन सब वर्गों को उच्च वर्ग के ही अन्तर्गत समझा* जाना चाहिए। समस्त 'शिक्षितों' और सामान्यतया 'मध्यम वर्ग' को जोड कर भी, यह उच्च वर्ग अपने समाजों मे एक बहुत छोटा ऊपरी हिस्सा बना रहता है।

लेकिन यहाँ हमें इस बात का उल्लेख करना होगा कि कम-विकसित देशों मे जो अनेक कर सम्बन्धी और अन्य सुधार हो रहे हैं, और जिन्हे अधिक आर्थिक समानता के स्थापना की दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग के हित में बताया जाता है, एक उच्च-उच्च वर्ग को क्षति पहुँचाकर किये जाते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण से इन [illegible] इस सीमित उद्देश्य की [illegible] एक से अधिक उच्च वर्ग के [illegible] ा है। यहाँ हमे उच्च वर्ग [illegible] ानता की स्थापना की दिशा में वास्तविक प्रगति तभी हो सकती है, जब गरीब लोगों के विशाल जन-समुदाय के हितों की चिन्ता की जाये।

यह विशाल निर्धन जन-समुदाय अधिकाशतया निष्क्रिय, उदासीन और अपनी मांगो को प्रकट न करने वाला है। यह शायद ही कभी अपने हितो को आगे बढाने और उनकी रक्षा करने के लिए सगठित हो पाता है। इस सम्बन्ध मे एक बार जवाहरलाल नेहरू ने कहा : "जो लोग सचमुच गरीब है, वे कभी हड़ताल नही करते, उनके पास प्रदर्शन करने के न तो साधन है और न ही शक्ति।" बहुत समय पहले मार्क्स ने भी गरीबो के सन्तोष और माँग की कमी के बारे में शिकायत की थी।

इस गरीब जन-समुदाय को धार्मिक उन्माद, जातीय पूर्वाग्रहो, ईर्ष्या और द्वेष के आधार पर तथा एक-दूसरे की जमीन और घरेलू सम्पत्ति चुराने तथा दुकानो को लूटने के प्रति जो संकोच और निषेध का भाव रहता है, उसमे ढील देने का अवसर प्राप्त होने पर दगों और हिंसा के लिए भड़काया जा सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप के भारत और पाकिस्तान मे विभाजित होने के समय सामाजिक व्यवस्था बड़े पैमाने पर ध्वस्त हो गयी थी और इसके बाद भी ऐसी अनेक परिस्थितियों में इन दोनो देशो मे अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर यही हुआ।[29] नाइजीरिया मे धार्मिक और जातीय घृणा ने गृहयुद्ध को जन्म दिया और ऐसे ही संघर्ष अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देशो के अनेक हिस्सो मे शुरू हो गये हैं अथवा इनके लक्षण दिखायी पड रहे है। यदाकदा ऐसे दगे वर्ग संघर्ष का नाटक करते है, उदाहरण के लिए भारत उपमहाद्वीप के विभाजन के बाद जो व्यापक अव्यवस्था हुई उसमें अनेक हिन्दू जमीदारो को पूर्व-पाकिस्तान से भगा दिया गया, अथवा मलाया के हाल के दगो का उल्लेख किया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप एक आपतकालीन सरकार की स्थापना हुई और इसे मलाया के संवैधानिक संसदीय लोकतन्त्र के स्थान पर एक निरंकुश शासन की स्थापना कहा जा सकता है।

कम-विकसित ससार के अनेक हिस्सो में समय-समय पर जमीदारों के खिलाफ किसानों के छुटपुट विद्रोह होते रहे है।[30] लेकिन प्राय. नियमित रूप से यह उसी प्रकार निरर्थक रहे, जिस प्रकार गृहयुद्ध से पहले की शताब्दियो मे संयुक्त राज्य अमरीका में गुलामो के विद्रोह हुए थे। इन विद्रोहों मे संगठन का अभाव था और इनकी कोई स्पष्ट योजना भी नही थी तथा इन्हे बहुत आसानी से दबा दिया गया था।

जब सार्वजनिक नीति का प्रश्न आता है, कम-विकसित संसार मे जन-समुदाय राजनीति का लक्ष्य बन जाता है, पर शायद ही कही यह इसकी विषय-वस्तु बन पाता हो। जो विभिन्न समूह उच्च वर्ग का निर्माण करते है, और जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उनके भीतर आपसी समझौतो, एक-दूसरे को रियायत और यदा-कदा भीतरी लड़ाई के द्वारा जन-समुदाय पर शासन होता है।

जब विभिन्न कम-विकसित देशों मे 'जनमत' का उल्लेख किया जाता है, तो वस्तुतः इसका अभिप्राय अधिकाशतया उन लोगो के मत से होता है, जो अपनी बात उठा सकते है और ये सामान्यतया उच्च वर्ग के लोग ही होते हैं। अक्सर ये लोग इस बात को स्पष्ट नही करते, जो इस सम्बन्ध में भाषण करते हैं अथवा लिखते हैं, चाहे ये लोग स्वयं इन देशो के हो अथवा पश्चिम के रहने

वाले।

कम-विकसित देशों में राजनीतिक विकास के वैज्ञानिक लेखन मे भी अक्सर इस गलत शब्दावली का प्रयोग होता है। यह अवसरवादी पूर्वाग्रह का एक और उदाहरण है और इसमे उन परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया जाता है, जो पश्चिम के विकसित देशों मे विद्यमान है, जिसके वारे मे हमने अध्याय—1 मे विचार किया है।

दक्षिण एशिया के अधिकाश अन्य देशों के विपरीत भारत तेजी से सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर संसदीय प्रणाली की स्थापना कर सका और इसके वाद इस प्रणाली की रक्षा में भी सफल रहा। इस प्रणाली के अन्तर्गत सयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक व्यापक पैमाने पर लोग चुनावों मे हिस्सा लेते हैं और सम्भवत. इस प्रणाली का गैर-कानूनी ढंग से अथवा कानून-सम्मत तरीके से उतना उल्लंघन नही हुआ जितना अमरीका में हुआ है। नागरिक स्वतन्त्रताओं और विशेषकर विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता की रक्षा बड़ी तत्परता से की गयी है।

इसके वावजूद भारत की सरकार सामाजिक और आर्थिक गतिहीनता की सरकार रही है। लोकतन्त्र ने अधिकाश गरीब लोगों को स्वयं अपने हितो को आगे वढाने के लिए सत्ता पर अधिकार करने और अपने हितों के लिए सत्ता के उपयोग के निमित्त स्वयं को सगठित करने की प्रेरणा और क्षमता प्रदान नही की है। सत्ता का संघर्ष उच्च वर्ग के व्यक्तियों और समूहो के वीच ही मोटे तौर पर सीमित रहा है।

यह तथ्य कि राजनीतिक सत्ता उच्च वर्ग के व्यक्तियो और समूहों के हाथो में है और व्यापक जन-समुदाय निष्क्रिय बना हुआ है, एक ऐसी स्थिति है, जो दक्षिण एशिया के सब देशों में व्याप्त है। इस तथ्य का इस वात पर कोई प्रभाव नही पडा है कि कुछ देशों मे अपनी माँगें प्रकट करने वाले उच्च वर्ग के लोगों के वीच खुले और स्वतन्त्र विचार-विमर्श की अनुमति है। ये वे देश है, जिन्होंने संसदीय लोकतन्त्र के स्वरूप को कायम रखा है और व्यापक नागरिक अधिकारो की रक्षा की है।

दक्षिण एशिया के कुछ अन्य देशों मे सरकारो का तख्ता उलटने के बाद, जिन अधिक निरंकुश सरकारों की स्थापना हुई है, उसके परिणामस्वरूप, इस बुनियादी दृष्टिकोण से कोई, अन्तर नही आया है। राजनीतिक शासन मे परिवर्तन उस गरीब जन-समुदाय के दवाव के परिणामस्वरूप नही हुआ, जो अपने हितो के प्रति राजनीतिक दृष्टि से अधिक सजग हो गया हो और सामूहिक कार्रवाई के लिए संगठित हो गया हो।[31]

इसके विपरीत नियमित रूप से इसका अर्थ उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों के वीच सत्ता का हस्तान्तरण होता है और अक्सर सेना के उच्च अधिकारी सत्ता पर अधिकार कर लेते हैं और इसके वाद सत्ता पर अपना एकाधिकार बनाये रखने के प्रयास में लगे रहते हैं। पर सत्ता का उपभोग उच्च वर्ग के अन्य समूहों के साथ विभिन्न सीमाओं तक मिलकर किया जाता है।

किसी सरकार का तख्ता उलटने के कारण साधारणतया कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार वताये जाते हैं। (देखिए अध्याय—7) सत्ता पर ऐसे किसी भी

अधिकार से पहले और उसके बाद भी सामान्य जन-समुदाय राजनीतिक प्रभाव से वंचित रहता है और पहली सरकार का तख्ता उलटने की कार्रवाई उनकी कोई भी चिन्ता किये बिना की जाती है।

पाकिस्तान में एकदम हाल में जो जबर्दस्त राजनीतिक उथल-पुथल हुई हैं, और ये पंक्तियाँ लिखते समय जिनका अन्त भी नहीं हुआ था, इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति अयूब खान की अध्यक्षता में जो निरकुश सरकार सन् 1958 से सत्तारूढ थी, उसके विरुद्ध उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों ने मिलकर मोर्चा बनाया, इसमें स्वयं को 'मध्यम वर्ग' कहने वाले वर्ग का बड़ा हिस्सा शामिल था। इस वर्ग मे विद्यार्थी भी शामिल माने जाते हैं।

सन् 1958 में सरकार का तख्ता उलटने से पहले जो "लोकतन्त्री" शासन थे, वे हर दृष्टि से पूरी तरह असफल रहे और इसके परिणामस्वरूप व्यापक भ्रष्टाचार फैला और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक गतिहीनता कायम रही।[32] अयूब खान और उनकी सरकार ने अच्छा समारम्भ किया। सर्वाधिक कुख्यात ढग से कानून तोडने वाले लोगो में से कुछ को सजा दी, कुछ सीमा तक सामाजिक अनुशासन कायम किया और आयोजन के लक्ष्य के रूप में समस्त आधुनिकीकरण आदर्शो का समर्थन किया—बस सामान्य जन-समुदाय के लिए अधिक समानता की स्थापना के प्रयास को घटाकर दर्शाया गया अथवा इसे मात्र मौखिक समर्थन दिया गया।

वस्तुत: यह नया शासन पुराने शासक वर्ग का प्रतिरक्षात्मक पुनर्गठन था और इस खतरे को पहले ही देखा जा सकता था कि कालान्तर मे यह फिर राजनीतिक, सैद्धान्तिक और नैतिक दृष्टि से पतन के गर्त मे गिर जायेगा। लेकिन हाल में हिंसक विद्रोह शुरू होने तक, इस शासन को दो कारणो से सम्भव आर्थिक विकास का श्रेय प्राप्त था: पिछले 'लोकतन्त्री' युग के दौरान जो प्राय: पूर्ण निष्क्रियता कायम हो गयी थी, यह उसमे बाहर निकल आया था और इसका नये शासन के लिए प्रत्यक्ष लाभ दिखायी पड़ता था और इसे भारत की तुलना में विदेशो से, मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका से, प्रति व्यक्ति विभिन्न प्रकार की दुगनी 'सहायता' प्राप्त हुई थी। संयुक्त राज्य अमरीका मे इस निरंकुश शासन की उपलब्धियो की बेहद प्रशंसा की गयी थी और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्रियो की टोली ने इस सफलता का बड़ा विज्ञापन किया, जिन्होंने पाकिस्तान के लिए योजनाएँ बनाने में हिस्सा लिया था, लेकिन जिन्हे अब समाचार-पत्रों में प्रकाशित रिपोर्टों के अनुसार वहाँ से खदेड़ा जा रहा है।[33]

लेकिन नयी आय और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न सम्पदा की प्रवृत्ति उच्च-उच्च वर्ग के सदस्यों के हाथों में ही पहुँचने की रही और कुछ सीमा तक खेती मे लगे 'मध्यम वर्ग' को भी इसका लाभ मिला, जबकि शहरो में रहने वाले वेतनभोगी वर्गों का वेतन बढने नही दिया गया। एक बार फिर भ्रष्टाचार कल्पनातीत हो गया और इससे उच्च सैनिक और असैनिक अफसर, मन्त्री और स्वय अयूब भी तथा/अथवा उनके रिश्तेदार नहीं बचे। कहा जाता है कि एक उद्योगपति ने इस भ्रष्टाचार का कारण समझाते हुए कहा: "...इस देश मे अब भ्रष्टाचार पहले से भी बेहद बुरी स्थिति में है। जब चोटी के लोग अमीर होते जा रहे हैं तो हर आदमी यही करता है। हम सब लोगों ने—व्यापारियों,

नौकरशाहों, मन्त्रियों ने—मिलकर जनता के शोषण के लिए संगठन बना लिया है।"[34]

पाकिस्तान की सफलता की कहानी के दूसरे पहलू की जानकारी अमरीकी जनता को नहीं दी गयी और यह भी लगता है कि उनकी सरकार को भी उस समय तक यह जानकारी प्राप्त नहीं हुई, जब तक भण्डा नहीं फूट गया और पेशेवर रिपोर्टरों ने इस पर गहरी नजर नहीं डाली। यह असामान्य बात नहीं है कि पत्रकारों को सच्चाई का पता लगाना और इसे जनता को बताना पड़ता है—जबकि राजनयिक और गुप्तचर सूत्र इसका पता नहीं लगाते और प्रोफेसर लोग उलझन में डालने वाली बातों पर चुप्पी साधे रहते हैं।

इस प्रकार मध्यम वर्ग और उच्च-उच्च वर्ग के उन लोगों के लिए, जो अपनी आवाज नहीं उठा सके थे अथवा जिन्हें भ्रष्टाचार का लाभ प्राप्त नहीं हुआ था, और विशेषकर पिछले शासन से सम्बद्ध कुछ राजनीतिज्ञों के लिए विरोध प्रकट करने का अच्छा मौका था। अयूब शासन के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी मुल्ला भी थे—जो 'मध्यम वर्ग' का एक और समूह है, जो सदा आधुनिकीकरण के अभियान के प्रति सन्देह की दृष्टि रखते थे।

जब फरवरी 1969 में अयूब का प्रभाव समाप्त हो गया और उन्हें एक नाममात्र का राष्ट्रपति बने रहने के लिए बाध्य किया गया और उन्होंने अपने राजनीतिक विरोधियों से सौदेबाजी शुरू की तब एक महत्त्वपूर्ण बात और कारण यह था कि अब वे संगठित सैनिक शक्ति के पूर्ण समर्थन के ऊपर निर्भर नहीं कर सकते थे। सन् 1965 में भारत से हुई लड़ाई में पाकिस्तान की सैनिक पराजय के फलस्वरूप सैनिक अफसरों में असन्तोष फैल रहा था। इसके परिणामस्वरूप कटु राष्ट्रवादी आक्रोश प्रकट हुआ था, जो समस्त 'मध्यम वर्ग' में व्यापक रूप से व्याप्त था।

जैसीकि कल्पना की जा सकती थी,[35] मध्यम वर्ग के समूहों के विद्रोह का, जिसका प्रतिनिधित्व बड़े ढीले ढंग से संगठित अनेक राजनीतिक पार्टियाँ कर रही थीं, प्रायः कोई सामान्य कार्यक्रम नहीं था। केवल संसदीय लोकतन्त्र की पुनर्स्थापना और उन्मुक्त नागरिक अधिकारों की स्थापना की ही माँग थी, जिसमें समाचारपत्रों की स्वाधीनता पर लगी पाबन्दियाँ हटाने की माँग भी शामिल थी। अब क्योंकि इस विरोध प्रदर्शन को शान्त नहीं किया जा सका, अतः यह आन्दोलन आबादी के अपेक्षाकृत निचले स्तर पर भी पहुँचा। पहले बड़े उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के छोटे-से वर्ग में—जो पाकिस्तान जैसे देश में लगभग 'मध्यम वर्ग' की हैसियत रखता है—और फिर पूर्व पाकिस्तान के प्रायः हर प्रकार के लोगों में यह आन्दोलन फैला जहाँ पश्चिमी पाकिस्तान के उपनिवेशवाद के खिलाफ राष्ट्रीय आक्रोश बहुत बढ़ा हुआ और व्यापक है।[36] उस समय समानतावादी सुधार के नारे अक्सर और अधिक जोर से सुनायी पड़ने लगे।

लेकिन मुख्यतया, विशेषकर पूर्व पाकिस्तान में, जब इस आन्दोलन ने एक व्यापक आन्दोलन का रूप धारण करना शुरू किया, तो इसके साथ ही पूर्व परिचित तरीके से उद्देश्यहीन दंगों, लूटमार, हत्याकाण्ड, आगजनी और सामान्यतया असंगठित भीड़ की हिंसा शुरू हो गयी। अब सेना के बड़े और प्रभावशाली

अफसरों को एक बार फिर एक दूसरे जनरल के नेतृत्व में संगठित होना पड़ा और शोर मचाने वाले 'मध्यम वर्ग' के समूहों को अयूब खान द्वारा दी गयी रियायतें वापस ले ली गयी, क्योंकि इसी वर्ग ने यह विद्रोह शुरू किया था। मार्शल लॉ लगा दिया गया, संविधान को रद्द कर दिया गया और अन्य अनेक कानूनों को भी रद्द किया गया, विधानमण्डलों को भंग कर दिया गया और समस्त संगठित राजनीतिक गतिविधि पर पाबन्दी लगा दी गयी।

यह सम्भावित दिखायी पडता है कि एक बार फिर कुछ समय के लिए शान्ति कायम हो जायेगी, और पाकिस्तान में सेना और उच्च-उच्च वर्ग के उन समूहों का पहले से अधिक कठोर शासन फिर कायम हो जायेगा, जिन समूहों का बलिदान सरकार की खोई हुई प्रतिष्ठा को कुछ सीमा तक पुनः प्राप्त करने के लिए नहीं किया जा सकता। पर इस समय पूर्व-पाकिस्तान में जो व्यापक असन्तोष व्याप्त है, वह पहले की तरह ही विस्फोटक बना रहेगा। सम्भवतः लोकतन्त्र और अधिक नागरिक स्वतन्त्रताओं के नये प्रयोग शुरू करने में अभी समय लगेगा। हाल के वर्षों मे अयूब खान के प्रयोग से जो अनुभव प्राप्त हुआ है, वह चेतावनी के रूप में सामने मौजूद रहेगा।

यह अभी देखना शेष है कि नयी निरकुश सरकार व्यापक भ्रष्टाचार को, जो अयूब खान के शासन के अन्तिम वर्षों में बहुत अधिक फैला हुआ था और जिसने 'मध्यम वर्ग' के समूहों को विरोध प्रकट करने का अवसर प्रदान किया था, किस सीमा तक और कितनी तत्परता से समाप्त करती है।[37] यह भी इसी प्रकार अनिश्चित है कि क्या नया शासन उस उत्साह को कायम कर सकेगा जो पिछली सरकार के आरम्भिक वर्षों में उस समय दिखायी पड़ा था जब अयूब खान ने आधुनिकीकरण के आदर्शों के अनुरूप अनेक कदम उठाने का साहस दिखाया था। यह भी अनिश्चित है कि सेना के बडे अफसर कब तक सगठित रूप से काम करते रहेंगे।

इस समय जहाँ तक पूर्व-कल्पना की जा सकती है यह दिखायी पडता है कि किसी भी परिस्थिति में पाकिस्तान में सामान्य लोगों के हाथ में वास्तविक सत्ता नहीं आयेगी।

दक्षिण एशिया में व्यापक जन-समुदाय की राजनीतिक निष्क्रियता के सामान्य नियम का एकमात्र स्पष्ट अपवाद वियतनाम के लोगों में धीरे-धीरे सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न होना है।[38] इसका प्रमुख स्पष्टीकरण दूसरे महायुद्ध से पहले फ्रान्स के उपनिवेशी शासन के स्वरूप, युद्ध के दौरान जापानियों से सहयोग करने वाले वाइची शासन वाले फ्रान्स के नियन्त्रण और इसके बाद की घटनाओं में मिलता है। वियतनामियों के दृष्टिकोण से उपनिवेशी युद्ध चौथाई शताब्दी से अधिक समय तक चला है। यह युद्ध वियतनाम के अधिकाधिक लोगों के लिए एक विदेशी, श्वेत और समृद्ध राष्ट्र की सैनिक घुसपैठ के विरुद्ध लडाई रहा है—पहले संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता से लड़ रहा यह देश फ्रान्स था और 1954 के बाद यह देश केवल संयुक्त राज्य अमरीका रह गया।

इन श्वेत विदेशियों द्वारा अपने-आपको विएतनामियों पर थोपने और आक्रामक कार्रवाइयाँ करने तथा देश के विशेषाधिकार-प्राप्त समूहों से सहयोग करने के परिणामस्वरूप, एक प्रकार का विएतनामी राष्ट्रवाद व्यापक रूप से फैला, जो अब सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आमूल परिवर्तनवादी विचार से भर गया है।

ब्रिटेन के अपने भारतीय साम्राज्य से तेजी से, बिना किसी शर्त के और यहाँ तक कि उदारतापूर्वक वापस लौट आने की कार्रवाई ने,[39] इसके विपरीत, स्वतन्त्र भारत को एक ऐसा देश बना दिया, जहाँ राजनीतिक लोकतन्त्र का सर्वाधिक पूर्ण स्वरूप भी सामान्य जन-समुदाय को राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लेने के लिए प्रेरित नहीं कर सका। स्वतन्त्रता संग्राम में जिस आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति का वचन दिया गया था, वह जल्दी ही अपनी गतिशीलता से वंचित हो गयी।[40]

हिन्द चीन में फ्रान्सीसियों की तरह, दूसरे महायुद्ध के बाद हालैण्ड निवासियों ने ईस्ट इंडीज में अपना उपनिवेशी शासन कायम रखने के लिए लगातार सैनिक प्रयास किये। इस कारण से और हालैण्ड के पश्चिम न्यूगिनी पर अपना कब्जा बनाये रखने के कारण—और इस सन्देह के कारण, जो पूरी तरह निराधार नहीं था कि संयुक्त राज्य अमरीका अपनी सेण्ट्रल इन्टेलीजेंस एजेंसी (सी आई ए) के माध्यम से और दूसरे तरीकों से विद्रोहों को समर्थन दे रहा है—सुकार्णो को अत्यधिक उन्मादपूर्ण और प्रबल पश्चिम विरोधी प्रचार करने का अवसर मिला।[41] सुकार्णो श्वेत विरोधी और क्रान्तिकारी भावनाओं को व्यापक रूप से फैलाने में सफल हुए, जिसे जापानियों ने इंदोनेशिया से रवाना होने से पहले जानबूझकर बहुत प्रोत्साहन दिया। इसके अलावा बहुसंख्यक इंदोनेशियाइयों और इंदोनेशिया में रहने वाले चीनी अल्पसंख्यकों के बीच जो तनाव मौजूद था उसका लाभ भी उठाया। आर्थिक क्षेत्र में चीनियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण यह तनाव स्वाभाविक रूप से पैदा हुआ था, लेकिन जापानियों ने इस तनाव को बढ़ाने में मदद दी थी। सम्भवत: इन सब कारणों ने इंदोनेशिया में सामान्य लोगों को सगठित राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने के लिए जाग्रत किया, यद्यपि यह कार्य विएतनाम की तरह प्रभावशाली ढंग से नहीं हो सका।

विएतनाम की तरह ही एक नये सामाजिक क्रान्तिकारी आन्दोलन ने, जो सामान्य लोगों में फैल चुका था, एक प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद का रूप धारण किया। वर्तमान सैनिक सरकार, जिसे मुस्लिम पार्टियों के जमींदारों के उच्च वर्ग का समर्थन प्राप्त है—और जिसे संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों से सहायता मिल रही है—और जिसकी स्थापना 1965 की शरद ऋतु की *भयंकर घटनाओं के बाद हुई थी, शायद अधिक स्थिर साबित न हो सके।*[42]

पश्चिमी हस्तक्षेप, विशेषकर जब यह सैनिक हस्तक्षेप का रूप ले लेता है, किसी कम-विकसित देश में जन-सामान्य को राजनीतिक चेतना और गति के

उच्च स्तर तक ऊपर उठा सकता है, जो अन्यथा वहाँ मौजूद नहीं होती और इस प्रकार यह राजनीतिक चेतना एक शक्ति बन जाती है। यह बड़ा विद्रूपपूर्ण विचार है कि यह नयी सामूहिक गतिविधि, जो पश्चिम के हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न होती है, पश्चिम के विरुद्ध कार्य करती है—विशेषकर शीतयुद्ध के कारण उत्पन्न ससारव्यापी स्थिति मे—और आसानी से इसका साम्यवाद से गठजोड हो जाता है।

ये बातें कहते समय मेरे मन में विएतनाम की बात थी और सम्भवतः उस सीमा तक इन्दोनीशिया की भी जो भविष्य मे प्रकट होगी। लेकिन कम-विकसित देशों मे और भी समानान्तर उदाहरण है। लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका की आर्थिक और यदा-कदा सैनिक शक्ति की दृष्टि से मौजूदगी और सी आई ए तथा अन्य संगठनो द्वारा अमरीका की गुप्त गतिविधियो के बारे में सामान्य जानकारी व्यापक जन समुदाय के कुछ हिस्सों को अधिक सतर्क और राजनीतिक दृष्टि से चेतनायुक्त बनाती है। इसके बाद ऐसा कोई भी आन्दोलन अमरीका विरोधी बन जाता है और यह दूरगामी परिवर्तन चाहने वाले किसी आन्दोलन का कुछ स्वरूप धारण कर लेता है। जैसाकि एक अमरीकी अर्थशास्त्री मार्टिन ब्रॉनफेन ब्रेनर ने काफी समय पहले एक बडे प्रतिभासम्पन्न लेख मे उल्लेख किया था[13] कि बड़े पैमाने पर विदेशी पूंजी निवेश के राजनीतिक प्रभाव किसी क्रान्तिकारी स्थिति के स्वरूप को बदल सकते हैं। सामाजिक और राजनीतिक यथास्थिति के लिए शक्तिशाली समर्थन बनने के स्थान पर, यह निवेश जब्त करने की कार्रवाइयो के लिए प्रलोभन बन जाते है। जब ये निवेश बहुत बडे पैमाने पर होते है तो इन्हें जब्त करने की कार्रवाइयों को किसी क्रान्तिकारी सरकार के लिए आर्थिक लाभ की बात समझा जाता है।

निःसन्देह यह सच है कि आधुनिकीकरण के आदर्शों की तुलना में राष्ट्रवाद को कम-विकसित देशो के सामान्य लोगों मे फैलाना कही अधिक आसान है।[14] और यह बात अमीर और श्वेत पश्चिमी देशों के विदेशियो के विरुद्ध आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद के बारे में विशेष रूप से सही है।

अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और रोडेशिया मे नीग्रो बहुसख्यकों में व्यापक रूप से आक्रोश फैल रहा है। और इन लोगों के मन में उन अल्पमत सरकारों का तख्ता उलट देने का संकल्प जग रहा है, जो इन्हे दबाये हुए हैं। इस बात पर भी आश्चर्य नही होना चाहिए कि इसके बाद यह राष्ट्रवादी आक्रोश, श्वेत लोगों के विरुद्ध और विशेषकर पश्चिम की महान् शक्तियों के विरुद्ध भड़क सकता है।

यह भी स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है कि ये महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र के निर्णयो को लागू करने के लिए उक्त अल्पमत सरकारो के विरुद्ध प्रभावशाली प्रतिबन्ध लागू करने में अनिच्छुक दिखायी पड़ी। इतना ही नही, ये महाशक्तियाँ अपने व्यापारिक हितो को विनियोग और अन्य साधनो से दक्षिण अफ्रीका की अच्छी व्यापारिक स्थिति का लाभ उठाने के लिए अनुमति देती हैं। यह कारण नीग्रो लोगों के दृष्टिकोणों को कम राष्ट्रवादी अथवा कम प्रभावशाली नही बनाता कि ब्रिटेन में ऐसे व्यापारिक हितो को श्रमिकों का उदारतापूर्ण समर्थन प्राप्त है, जो अपना रोजगार और आय खो देने की आशंका से भयभीत होते हैं।

इस बात के भी प्रमाण हैं कि अफ्रीका में पुर्तगाल के उपनिवेशों में नीग्रो लोगों का विद्रोह अब जन-सामान्य को राजनीतिक चेतना और गतिविधि के लिए प्रेरित कर रहा है। यह तथ्य कि प्रायः पूरा श्वेत पश्चिमी संसार पुर्तगाली उपनिवेशवादियों को व्यापार, विनियोग और यहाँ तक कि हथियारों की सप्लाई के द्वारा भी सहायता पहुँचा रहा है, अफ्रीका के इस नव-राष्ट्रवाद को व्यापक रूप से पश्चिम विरोधी और श्वेत विरोधी बना देता है। पुर्तगाल को यूरोप के मुक्त व्यापार संघ की सदस्यता और पश्चिमी संसार के समस्त वाणिज्य और सैनिक संगठन की सक्रिय भागीदारी के कारण यह सहायता प्राप्त होती है।

न्यूज वीक[15] में प्रकाशित एक अत्यधिक दिलचस्प भेंटवार्ता में अफ्रीका के एक सर्वाधिक बुद्धिमान अफ्रीकी नेता जाम्बिया के राष्ट्रपति केनेथ डी० कौंडा ने अन्य बातों के अलावा ये विचार प्रकट किये :

"लेकिन जो देश स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वालों को (रोडेशिया, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और पुर्तगाली गिनी, अंगोला और मुजाम्बीक में), सहायता देने के लिए तैयार दिखायी पड़ते हैं वे केवल पूर्वी गुट के ही देश हैं। पश्चिम के देश हथियार देकर उनकी सहायता नहीं करेंगे। सच्चाई यह है कि दक्षिण अफ्रीका में जातीय आधार पर नियन्त्रित और शासित देशों में बहुत बड़े पैमाने पर पश्चिम के देशों की पूँजी लगी है। भौतिक लाभ के समक्ष नैतिक मूल्यों, आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान गौण हो गया है, जो वस्तुत: पश्चिम के लिए केवल छोटी अवधि में ही लाभदायक हो सकता है। लम्बी अवधि की दृष्टि से पश्चिम के देशों को यह स्वीकार करना होगा कि एक दिन ये गुरिल्ला योद्धा अपने देशों के नेता बनेंगे······

"मुझे यह कहना बेहद नापसन्द है, लेकिन मुझे केवल जातीय विस्फोट के ही लक्षण दिखायी नहीं पड़ रहे हैं, बल्कि सैद्धान्तिक विस्फोट के भी लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं और मुझे भय है कि अन्त में यह एक ऐसा युद्ध होगा जिसमें, विएतनाम युद्ध की तरह, पश्चिम की शक्तियाँ दक्षिण अफ्रीका में जातीय भेदभाव बरतने वालों के साथ मिलकर काले लोगों के विरुद्ध यह बहाना बनाकर लड़ेंगी कि साम्यवाद आ रहा है।"

राष्ट्रपति कौंडा का यह अभिप्राय है कि राजनयिक दबाव के द्वारा पश्चिम की शक्तियाँ समस्त दक्षिण अफ्रीका में समस्याओं का समाधान "बहुमत की इच्छा के अनुसार करा सकती हैं। यदि वे यह कार्य करती हैं, तो यह हथियार देने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।" लेकिन "जाम्बिया में स्वयं मेरे देशवासियों का जीवन और सम्पत्ति पुर्तगाली सेनाएँ नष्ट करने में लगी हैं और इस काम में वे उन हथियारों का इस्तेमाल करती हैं जो उन्हें नाटो संगठन के सदस्य देशों से प्राप्त हुए हैं। हम सब जानते हैं कि इन हथियारों के बिना पुर्तगाली पूरी तरह से असहाय हो जायेंगे······जब मैं यहाँ इस स्थिति को देखता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं जाम्बेसी नदी पर किसी छोटी-सी नौका में बैठा हुआ हूँ और यह नौका विक्टोरिया प्रपात की ओर तेजी से बढ़ी जा रही है।"

अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि गैर-श्वेत लोगों के ये और अन्य विद्रोह समस्त शेष कम-विकसित संसार में सजग लोगों में आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद का प्रचार कर रहे हैं और यह कम-विकसित संसार अधिकांशतया अश्वेत

लोगों का ही है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद सामान्य लोगों में भी अधिक आसानी से फैलता हुआ दिखायी पड़ता है और यह इन सामान्य लोगों को उनकी निष्क्रियता से छुटकारा दिलाने का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी बन सकता है।

इस प्रकार यदि कुछ विशेष परिस्थितियों में पश्चिम के विकसित देशों की नीतियाँ कम-विकसित देशों के सामान्य लोगों को सक्रिय बनाने और उनकी इस सक्रियता को पश्चिम विरोधी, श्वेत विरोधी और जातीय स्वरूप प्रदान करने की प्रेरणा देती है, तो विकसित देशों में, कम से कम विश्व इतिहास के वर्तमान दौर में, प्रमुख नीतियाँ यह होती हैं कि कम-विकसित देशों में विशेषाधिकार प्राप्त समूहों को अपने देशों में नीति निर्धारण पर अपना नियन्त्रण कायम रखने के लिए समर्थन दिया जाये।

विश्वव्यापी उपनिवेशी शक्ति प्रणाली में, जो दूसरे विश्व महायुद्ध तक चालू थी, एक ऐसी व्यवस्था मौजूद थी, जो उपनिवेशी शक्ति को प्रायः स्वचालित ढंग से इन देशों के विशेषाधिकारप्राप्त समूहों के साथ गठजोड़ करने की प्रेरणा देती थी। इन समूहों पर इस दृष्टि से निर्भर किया जा सकता था, क्योंकि 'इनका कानून और व्यवस्था' को बनाये रखने में समान हित था, जिसका अधिकांशतया यही अभिप्राय होता था कि आर्थिक और सामाजिक यथास्थिति को कायम रखा जाये।

अत अपने शासन को कायम रखने के लिए उपनिवेशी शक्ति यह अनुभव करती थी कि अपने उपनिवेश में असमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को कायम रखा जाये अथवा इसे और अधिक मजबूत बनाया जाये। उपनिवेशी प्रशासन की मुक्त व्यापार की प्रवृत्ति का यह प्रमुख तत्त्व था, जिसका उल्लेख हमने अध्याय—1 में किया है। अक्सर यहाँ तक हुआ कि उपनिवेशी शक्ति ने सम्बन्धित उपनिवेश में अपने शासन को दृढ बनाने के लिए नये विशेषाधिकारों और नये विशेषाधिकारप्राप्त समूहों का निर्माण किया।

इस बात में सन्देह नहीं है कि उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद भी ऐसी ही बातें चल रही है और आज भी पहले की तरह उन कम-विकसित देशों में जो राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र है, उपनिवेशवाद का एक दूसरा स्वरूप दिखायी पड रहा है। यह बात लेटिन अमरीका के बारे में प्रमुख रूप से सही है। 'नव-उपनिवेशवाद' शब्द के प्रयोग का यही प्रमुख औचित्य है।

जब उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित राजनीतिक स्थिरता समाप्त हो गयी, तो यह स्वाभाविक ही था कि पश्चिम के समृद्ध देश ऐसे किसी भी नव-स्वतन्त्र देश के प्रति विशेष सहानुभूति दिखाते, जहाँ कोई कट्टरपंथी सरकार कड़ाई से ऐसा शासन कायम रखे हुए है, जिसके अन्तर्गत उपनिवेशी युग से विरासत में प्राप्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की परिस्थितियों को जैसे का तैसा रखा जा रहा हो।

यह भी इसी प्रकार स्वाभाविक है कि पश्चिम के व्यापारिक हित ऐसे किसी देश में पूंजी लगाने के लिए अधिक तत्पर थे। यह भी स्वाभाविक था कि उन्होंने इन कम-विकसित देशों के अमीर और प्रभावशाली लोगों में ही अपने व्यापारिक सम्बन्ध रखना पसन्द किया। यह भी स्वयं प्रमाणित है कि इस कार्रवाई ने

स्वदेश में इन समूहों की स्थिति को और अधिक मजबूत बनाया।[16]

इस तरीके अथवा प्रक्रिया का—अर्थात् ऊपर वर्णित प्रवृत्तियों का स्वाभाविक और प्राय: स्वचालित विकास—जोर देकर इसलिए उल्लेख किया गया है, ताकि यह बात स्पष्ट की जा सके कि यह प्रवृत्ति पश्चिम के विकसित देशो के नीति सम्बन्धी निर्णयो से पूरी तरह स्वतन्त्र रहकर पनपती रहेगी। उदाहरण के लिए, स्वीडन की व्यापारिक कम्पनियाँ—जहाँ राज्य की किसी भी नीति में कम-विकसित देशों मे असमानता का समर्थन सम्भव नही है, लेकिन जहाँ इसके विपरीत नीति अपनाने के लिए सब लोकप्रिय संगठनो द्वारा जबर्दस्त दबाव डाला जाता है—ठीक वही प्रतिक्रिया दिखायेंगी जो संयुक्त राज्य अमरीका मे दिखायी जाती हैं और इनका भी सम्बन्धित देशों मे वही प्रभाव होगा।

शीतयुद्ध ने इस प्रक्रिया को और अधिक मजबूत बना दिया। उपनिवेशो की समाप्ति के साथ-साथ शीतयुद्ध शुरू हुआ था और जैसे-जैसे उपनिवेशों की समाप्ति की कार्रवाई आगे बढ़ती गयी, शीतयुद्ध का तनाव भी बढ़ता गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने इस प्रकार के अत्यधिक प्रभावशाली समर्थन के लिए राज्य की नीति को माध्यम बनाया। यह कार्रवाई डलेस-मेकार्थी युग मे विशेष रूप से हुई, जब कम्युनिस्ट विरोध अमरीका की विदेश नीति का निर्णायक उद्देश्य बन गया था। और अमरीका ने इस प्रक्रिया को इस कारण से भी समर्थन दिया, क्योंकि वह स्वयं को 'स्वतन्त्र संसार' का नेता होने के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए बाध्य समझता था।

इस युग में वित्तीय और सैनिक सहायता अत्यन्त प्रतिक्रियावादी शासनो को अत्यधिक संकल्प से दी गयी। इसके बाद यह स्थिति उत्पन्न हुई कि इन सरकारो ने यह धमकियाँ देकर निरन्तर स्थिति का लाभ उठाया कि यदि अमरीका से सहायता नहीं मिलेगी, तो उनका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। आज यदि वित्तीय, वाणिज्यिक तथा सैनिक सहायता के वर्तमान वितरण पर नजर डाली जाये, तो अधिक परिवर्तन दिखायी नही पड़ता। बस अन्तर केवल इतना है कि सहायता के लिए निर्धारित राशि, और अनेक दृष्टियो से इसका स्तर, घट गया है। (देखिए अध्याय—11)

लेकिन हाल के वर्षों में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रबुद्ध बौद्धिक और राजनीतिक नेताओं ने निरन्तर बढ़ती हुई दृढ़ता से इस प्रक्रिया को, जो उपनिवेशी युग से विरासत में मिली है, जैसे का तैसा चलते रहने मे निहित खतरे को देखा है। उन्होंने उस जोखिम को भी समझा है, जो दूसरे चरण मे इसके बिलकुल विपरीत हो जायेगी अर्थात् यह कम-विकसित देशों मे जनसामान्य को राजनीतिक चेतना प्रदान करेगी और उन्हें इन गतिविधियों मे हिस्सा लेने का बढ़ावा देगी और फिर इसका स्वरूप अमरीका विरोधी और अक्सर पश्चिम विरोधी होगा। इतना ही नही, इसके परिणामस्वरूप ये देश किसी न किसी प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद को अंगीकार करने के लिए बाध्य होंगे। वियतनाम मे संयुक्त राज्य की नीति की भयानक असफलता, इन नेताओं की आलोचना का समस्त अमरीकी

राष्ट्र पर गहरा प्रभाव छोड़ेगी ।

इस बात को समझा जा सकता है कि इस प्रतिक्रिया का यदा-कदा उपयोग संयुक्त राज्य अमरीका को कम-विकसित देशों को अधिक सहायता देने से रोकने के लिए किया जायेगा। यह भी हो सकता है कि पूरी तरह सहायता बन्द कर देने की माँग करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाये। यह माँग इस सिद्धान्त के आधार पर की जायेगी कि इस प्रकार की सहायताओं से संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर कुछ ऐसे दायित्व आ जाते है, जिनका अन्त सैनिक हस्तक्षेप मे हो सकता है। लेकिन मेरा निष्कर्ष यह है कि इसके विपरीत हमे कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता में पर्याप्त वृद्धि करनी चाहिए और इसके साथ ही सहायता के समस्त सिद्धान्त और इसे लागू करने के तरीके को भी बदलना चाहिए (देखिए अध्याय 9-11)।

इससे भी अधिक बुनियादी तौर पर हमे कम-विकसित देशों के प्रति अपने दृष्टिकोण मे, विशेषकर उनके सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और उनके इन स्तरो के सुधार-सम्बन्धी दृष्टिकोण और उपलब्धियो के प्रति अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना चाहिए।

पन्द्रह साल पहले ही न्यायाधीश विलियम ओ० डॉगलस ने यह मत प्रकट किया था कि यह बात अमरीका के विलक्षण इतिहास और महानतम महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप होगी कि वह विश्व क्रान्ति के अग्रिम दस्ते का नेतृत्व करे न कि जैसाकि आज तक हुआ है, संसार भर में राजनीतिक प्रतिक्रियावादियो का समर्थन करता रहे। और यह कहते समय वे रक्तपात और हत्याकाण्डों की बात नही सोच रहे थे, बल्कि उनके मन मे दूरगामी सुधारों की बात थी, जो राजनीतिक क्रान्तियो की हिंसा को रोक सकते हैं और इस हिंसा का स्थान ले सकते हैं।

हम यहां उठायी गयी समस्याओं पर भाग 3 और 4 मे आगे विचार करेंगे।

यदि विदेशो के प्रभावों को भी ध्यान मे रखा जाये, फिर भी कम-विकसित देशों में समानता की प्रमुख समस्या यह है कि स्वदेश में विभिन्न शक्तियाँ प्रायः स्वतन्त्र रूप मे कार्य कर रही हैं। समानतावादी स्वाँग के विरोधाभास को समझाने के लिए कम-विकसित संसार के बड़े हिस्से में, जहाँ जन-समुदाय निष्क्रिय है और उच्च वर्ग के व्यक्ति और समूह शासन कर रहे है, राजनीतिक सत्ता के सामान्य वितरण पर जोर दिया जाता है जबकि अधिकांश कम-विकसित देशों मे यथार्थ में असमानता को कायम रखा जाता है और यहाँ तक कि इसे और अधिक बढ़ाया जाता है।

उच्च वर्ग के लोगों ने भी, विशेषकर प्रमुख और विशिष्ट बुद्धिवादी वर्ग के लोगों ने, पश्चिम के समानतावादी आदर्शों को अंगीकार किया है और इनका समस्त "शिक्षित" लोगों में प्रसार किया है। इन लोगो मे प्रायः पूरा उच्च वर्ग आ जाता है। इस तथ्य ने इस प्रभाव को और भी अधिक बढ़ा दिया है कि साम्यवादी देशों से इस सम्बन्ध मे जो प्रभाव पहुँचा वह भिन्न नही था।[17] इन आदर्शों ने

साधारणतया आजादी से पहले के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में अपनी भूमिका निभायी।

इन देशों में कुछ नेता निरन्तर इस विरोधाभास[48] पर जोर देते रहे हैं और यह कहते रहे हैं कि व्यापक रूप से स्वीकृत समानतावादी आदर्शों को अमल में लाने के लिए अधिक प्रयास किये जाने चाहिए। जैसाकि भारत की एक सरकारी रिपोर्ट मे स्पष्टीकरण दिया गया है : "अमीर, उच्च जाति के और शक्तिशाली लोगों को अपने अभागे भाइयों की स्थिति के प्रति अधिक संवेदनशीलता दिखानी चाहिए और आवश्यक बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

लेखक का यह विचार है कि आदर्श उस समय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य होते हैं, जब इनकी जड़ें संस्थाओं और लोगों के हृदयों में गहराई से पैठी हुई हों। जब मेरे कुछ सहयोगी यह विश्वास प्रकट करते हैं कि वे अपने विश्लेषणों में लोगों की आत्मा अथवा अन्त.करण के प्रति अपील को कोई स्थान नही देते और वे इस प्रकार कठोर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हैं, तो मैं केवल यही कहूँगा कि वे केवल शुद्ध अयथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। लम्बी अवधि की दृष्टि से प्रायः समस्त कम-विकसित देशों में समानतावादी आदर्शों का प्रसार निर्णायक महत्त्व का सिद्ध हो सकता है। ये वे आदर्श हैं, जो प्रबोधन के युग में पनपे और उस युग के बाद से हमारी विचारधारा उदार पश्चिम में अथवा पूर्व के कम्युनिस्ट देशों में कभी भी इन आदर्शों से वंचित नही रही।[49]

लेकिन दिन-प्रतिदिन के विचार मे इन आदर्शों को अक्सर और अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से मूल्यांकन के निचले स्तर पर रखा जाता है और यह निचला स्तर हमारे आचरण को निर्धारित कर रहा है।[50] समानतावादी आदर्शों को महत्त्वपूर्ण बनने के लिए नीचे से दबाव की आवश्यकता होती है। और वस्तुतः अधिकांश कम-विकसित देशों में इसी बात का अभाव है।

लिखित इतिहास में आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई विशेषाधिकार प्राप्त समूह स्वयं अपने आप और अपने आदर्शों को साकार करने के लिए, अपने विशेषाधिकारों को त्याग दे और उन क्षेत्रों को, जिन पर उसका एकाधिकार है, अधिकारो से वंचित लोगों के लिए छोड़ दे। अधिकारो से वंचित लोगो को अधिक समानता की अपनी मांगों के प्रति अधिक सजग होना पड़ेगा और इन्हें साकार करने के लिए संघर्ष करना होगा। इसी स्थिति में आदर्शों की सामान्य स्वीकृति कार्यशील और महत्त्वपूर्ण बन सकती है और यही कारण है कि मेरी राय मे शासन करने वाले उच्च वर्ग में सिद्धान्तों के स्तर पर समानतावादी आदर्शों को सामान्य रूप से स्वीकार करना कोई महत्त्व की बात नहीं है।

लेकिन जब नीचे से इस प्रकार का दबाव प्रायः पूरी तरह गैर-मौजूद रहता है, जैसाकि अधिकांश कम-विकसित देशों में है, तो हमें इस बात पर आश्चर्य नही करना चाहिए कि उपनिवेशी युग के असमानतावादी सामाजिक और आर्थिक स्तरों को कायम रखा जा रहा है और अधिक असमानता की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है।

इन परिस्थितियों में यह होता है कि जिन नीतियों को गरीब समुदाय की सहायता के लिए बनाया गया है, उन्हें या तो लागू ही नहीं किया जाता अथवा इनका लाभ उन लोगों को मिलता है, जो अधिक गरीब नहीं है। अगले अध्यायों में हम इस प्रक्रिया के संचालन के सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देंगे।[51]

अन्त मे यह जोर देकर कहना होगा कि आदर्शो और यथार्थ के बीच जो खाई है, उसका स्पष्टीकरण बडा जटिल है और केवल वंचना भर कहकर इसे नहीं समझाया जा सकता। लोग जब अपने दिन-प्रतिदिन के प्रयासो मे अपने आदर्शों से समझौता करते है, तो वे सामान्यतया वंचनापूर्ण नही होते और दूसरो के कष्टो के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव तो उनके मन में और भी कम होता है। कम-विकसित देश के बौद्धिक नेता अक्सर यह विश्वास करते है कि उन्हे स्वयं को अपने राष्ट्र के आदर्शो के साथ एकाकार करना चाहिए। बहुत अधिक संकल्पशील और उत्साही लोग इसका प्रयास भी करते है।

उच्च वर्ग को विशेपाधिकार प्राप्त है। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्ग समानतावादी विचारो का वाहक रहा है और आज भी है। यह कहा जा सकता है कि यदि घटनाक्रम इसे कभी चुनौती देगा तो इसकी नैतिक स्थिति कमजोर ही रहेगी।[62]

"विकास की राजनीति" शीर्षक भाग-4 मे कम-विकसित देशो मे सत्ता की स्थिति के बारे मे इस विचार को आगे बढाया जायेगा। वहाँ हम इन देशो में घटित उन घटनाओं पर विचार करेंगे, जो शासन करने वाले उच्च वर्ग के इन समानतावादी सुधारो के प्रति प्रतिरोध को मजबूत अथवा कमजोर बना सकती है।

•

अध्याय : 4

# खेती

## 1. महत्त्वपूर्ण तथ्य

सम्भवतः दक्षिण एशिया, उत्तर-पूर्व एशिया, पश्चिम एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के प्रमुख कम-विकसित क्षेत्रों, तथा इन क्षेत्रों के विभिन्न देशों और यहाँ तक कि अनेक देशों के विभिन्न जिलों[1] के बीच जितने अधिक अन्तर कृषि के क्षेत्र में है, उतने अधिक आर्थिक गतिविधि के अन्य किसी क्षेत्र में नही।

कृषि नीति सम्बन्धी इस अध्याय में सर्वत्र इस बात का एक सामान्य तथ्य के रूप मे स्मरण रखा जाना चाहिए; क्योंकि इस अध्याय के शेष भाग मे जो भी बातें कही गयी है, उनमें से प्रत्येक के बारे मे किसी अपवाद का उल्लेख करना आसान है। यद्यपि जो बातें कही गयी है वे सही है। इसके बावजूद सब अथवा प्रायः सब कम-विकसित देशों मे खेती की कुछ ऐसी सामान्य परिस्थितियाँ है, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आज विकसित देशों में जो खेती होती है वह दो भिन्न किस्मों की है।[2] पहली किस्म की खेती मे विशाल क्षेत्रों मे जमीन का व्यापक उपयोग होता है और इस किस्म की खेती उत्तर अमरीका, आस्ट्रेलिया और रूस के कम आबादी वाले इलाको मे होती है। इन इलाको मे कभी-कभी भूमि की प्रति इकाई के हिसाब से कम उत्पादन होता है। दूसरे किस्म की खेती में कृषि भूमि का सघन उपयोग होता है और जमीन की प्रति इकाई के हिसाब से ऊँची पैदावार मिलती है। इस प्रकार की खेती उन क्षेत्रों मे होती है, जहाँ मनुष्य और भूमि का अनुपात ऊँचा है। यूरोप और जापान मे विभिन्न सीमाओं तक यह खेती होती है।

कम-विकसित देशो के अधिकाश हिस्सो मे खेती इन प्रमुख समूहो मे से किसी के भी *अन्तर्गत नहीं आती। इसका तीसरा और अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण समूह* है। अर्थात् यह समूह उन इलाकों मे जहाँ मनुष्य और भूमि का अनुपात बहुत ऊँचा है, जमीन के व्यापक उपयोग का है। जैसाकि स्वाभाविक है, इस पारस्परिक सम्बन्ध से विनाशकारी रूप से नीची वास्तविक आय उपलब्ध होती है; क्योंकि खेती की प्रति एकड़ उपज ही बहुत कम नही है, बल्कि कुल श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस अत्यधिक कम कृषि उत्पादन मे लगा हुआ है।

इस प्रकार दक्षिण एशिया में चार में से केवल एक श्रमिक इस मामूली फसल को उगाने के अलावा अन्य गतिविधियों के लिए उपलब्ध है, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका मे दस मे से नौ और यूरोप मे तीन मे से दो से *अधिक श्रमिक*

खेती के अलावा अन्य कार्यों में लगे है। ऐसे समग्र तुलनात्मक अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण एशिया के क्षेत्र की बुनियादी आर्थिक समस्याएँ क्या हैं। इनमे अन्य कम-विकसित देशो की स्थिति का भी आभास मिल जाता है।

हमे सबसे पहले इस तथ्य पर विचार करना है कि अधिकाश कम-विकसित देशों मे प्रति एकड उपज बहुत कम है।[3] और इसके बाद ही हम इस दूसरे तथ्य पर विचार करेंगे कि श्रम शक्ति का उपयोग भी भरपूर नहीं होता। प्रति एकड अत्यन्त कम उपज के तीन प्रमुख अपवाद है।

एक अपवाद उन देशो मे देखने को मिलता है, जहाँ बागानों की फसल का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस कोटि मे लेटिन अमरीका के कई देश और दक्षिण एशिया मे श्रीलका और मलाया आते है। यह बात उन क्षेत्रों मे विशेष रूप से सही है, जहाँ बागानो पर पश्चिम यूरोप के लोगो का स्वामित्व है और वे ही उनका प्रबन्ध करते हैं। भूमि के इस प्रकार अत्यधिक व्यापारिक आधार पर उपयोग को—जिसका उद्देश्य सदा निर्यात होता है—उद्योग समझना कही अधिक उचित होगा।[4]

माल बनाने वाले उद्योगो की तरह बागान भी अत्यधिक विशेष उत्पादक इकाइयाँ है, जिनमें नियमित आधार पर मजूरी पर श्रमिको को लगाया जाता है, जहाँ पूँजी निवेश अपेक्षाकृत ऊँचा और महत्त्वपूर्ण होता है तथा विकसित टेक्नालॉजी का उपयोग किया जाता है। अनेक देशों मे पूँजी की तीव्रता बडी कम है और टेक्नालॉजी पिछडी हुई है। लेकिन यह बात कम-विकसित देशों में परम्परागत माल बनाने वाले उद्योगों के बारे मे भी अक्सर सच होती है।

बागान उद्योग, जिस पर इस अध्याय मे आगे विचार नही किया गया है, साधारणतया आज तेजी से विस्तृत होता हुआ उद्योग नही है, केवल पश्चिम अफ्रीका के कुछ देशों मे ही यह हो रहा है।

यदा-कदा दूसरा अपवाद, लेकिन सदा नही, खेती के उस हिस्से का होता है, जिसके अन्तर्गत अनाज के अलावा अन्य नकदी फसलो का उत्पादन होता है, जिन्हें सामान्यतया निर्यात किया जाता है। सम्भवत अधिकाश कम-विकसित देशों मे खेती का यह भाग अनाज पैदा करने से अधिक लाभदायक है।

इस प्रकार नकदी फसलें उगाने मे जिस क्षेत्र का इस्तेमाल किया जाता है, उसमे कमी करके अनाज का उत्पादन बढाने का प्रयास करना कोई विवेकसंगत बात नहीं है और इसी कारण से ऐसी किसी नीति की सफलता की भी प्राय. कोई आशा नही है।[5] भारत और पाकिस्तान जैसे देशों में 'अधिक अनाज उपजाओ' अभियानों के अन्तर्गत अनाज की उपज बढाने के जो प्रयास यदाकदा किये गये हैं, उन्हे प्रायः नियमित रूप मे कोई विशेष सफलता नही मिली है।

जैसाकि बागान उद्योग के बारे मे सही है, खेती के इस क्षेत्र को भी जो अनाज के अलावा अन्य नकदी फसलें उगाने मे लगा है, अधिक बढाने की गुंजाइश नहीं है। यदि हम पूरे कम-विकसित संसार पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि विभिन्न देशों के बीच इन नकदी फसलों के बारे में जो प्रतियोगिता की स्थिति मौजूद है, उसके कारण यह कार्रवाई लाभदायक नही हो सकती। ये फसलें ऐसी भी नहीं हैं, जिनकी माँग विकसित देशों मे तेजी से बढ रही हो।

प्रति एकड़ अत्यधिक कम उपज के नियम का तीसरा अपवाद कम-विकसित देशों के मिस्र जैसे उन कुछ गिने-चुने हिस्सों में देखने को मिलता है, जहां लगातार सिंचाई की सुविधा उपलब्ध रहती है और मनुष्य तथा भूमि का अनुपात बहुत ऊँचा है।

कम-विकसित देशों में खेती के अत्यधिक बड़े भाग का सम्बन्ध अनाज पैदा करने से ही है। और इस अध्याय में मुख्यतया अनाज के उत्पादन की परिस्थितियों पर भी विचार होगा। यह कार्य बहुत कम शर्तों के साथ किया जा सकता है, क्योंकि अनाज के अलावा नकदी फसलें उगाने वाले क्षेत्र की उत्पादकता का विकास भी प्रायः अनाज के उत्पादन के समान ही रहा है और इस पर भी परिवर्तन और निष्क्रियता के आकस्मिक तथ्यों का इसी प्रकार प्रभाव पड़ा है।[6]

कम-विकसित संसार के बड़े हिस्से में खेती की उपज बहुत कम ही नहीं है, बल्कि यह उपज पीढ़ियों से कम रही है और सम्भवतः सदा उपज की यही स्थिति रही। अंग्रेजी शासन के अधीन भारत जैसे विशाल क्षेत्र में आजादी से बहुत समय पहले ही उपज बहुत अधिक घट गयी थी।[7]

यदि सब कम-विकसित क्षेत्रों को एक साथ लिया जाये, तो महायुद्ध के बाद की अवधि में उत्पादन में वृद्धि हुई है, लेकिन यह वृद्धि आबादी की वृद्धि के एकदम अनुरूप नहीं हुई।[8] खराब मौसम के कारण ही 1965 में खेती की उपज में वास्तविक कमी हुई और 1966 में केवल एक प्रतिशत वृद्धि हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन दो वर्षों में प्रति व्यक्ति अनाज का उत्पादन चार प्रतिशत कम हो गया। लेकिन बाद के दो वर्षों में उत्पादन फिर पुरानी स्थिति में पहुँच गया।

कम-विकसित देशों में उत्पादन में यह धीमी वृद्धि हाल तक मुख्यतया कृषि भूमि के क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण हुई। यद्यपि उत्पादन के प्रतिशत में इस हिसाब से वृद्धि नहीं बैठती।[9] इस सम्बन्ध में सामान्य सहमति है कि भविष्य में इन देशों में उत्पादन में वृद्धि अधिक उपज के द्वारा ही मुख्यतया सम्भव हो सकेगी, क्योंकि खेती योग्य भूमि निरन्तर अधिकाधिक दुर्लभ होती जा रही है और इस जमीन में खेती के लिए निरन्तर अधिक पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है।

एक अमरीकी विशेषज्ञ, लेस्टर आर० ब्राउन के लिए कम-विकसित संसार में कृषि नीति का मुख्य प्रश्न यह है : "कम-विकसित देश कितनी जल्दी अनाज के उत्पादन में वृद्धि के लिए कृषि भूमि के विस्तार के तरीके के स्थान पर अनाज का उत्पादन बढ़ाने के तरीकों का इस्तेमाल करना शुरू करते हैं।" यदि नीति का लक्ष्य, अनाज के उत्पादन को इतना अधिक और इतनी तेजी से बढ़ाना है, जिसकी अपोषण और पौष्टिक आहार की कमी दोनों की जल्दी से समाप्ति के लिए और तेजी से बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यकता है, तो यह बात विशेष रूप से सच है।

इसके साथ इस तथ्य को भी जोड़ दिया जाना चाहिए कि भारत और पाकिस्तान जैसे बहुत अधिक आबादी वाले गरीब देशों में प्रति एकड़ उपज न्यूनतम है और अन्य देशों के उन जिलों में भी यही हाल है, जो औसत से अधिक निर्धन है।

कम-विकसित देशों और उन विकसित देशों के बीच खेती की उपज एक

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर को प्रकट करती है, जो अत्यधिक कम आबादी वाले इलाकों में कृषि भूमि के व्यापक उपयोग के तरीके का लाभप्रद ढंग से इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं। इन देशों में कृषि उपज केवल बहुत ऊँची ही नहीं है, बल्कि काफी लम्बे अरसे से, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के समय से, बहुत अधिक तेजी से बढ़ रही है और इस प्रकार एक निरन्तर बढ़ती हुई खाई का निर्माण कर रही है। खेती में निरन्तर बढ़ती हुई यह खाई, आय के निरन्तर बढ़ते हुए अन्तर में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।[10]

कम-विकसित देशों में कम उपज के साथ-साथ और कम उपज के कारण भी पौष्टिक आहार की कमी की गम्भीर समस्या मौजूद है।[11]

अधिकांश कम-विकसित देशों में लोगों को भोजन के रूप में कैलोरी की जो औसत मात्रा प्राप्त होती है, वह पूर्ण स्वास्थ्य और काम करने की क्षमता के लिए आवश्यक औसत से बहुत नीची है। इन देशों में आय की अत्यधिक असमानता के कारण आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से को, इससे भी कम भोजन मिलता है। जैसाकि हमने पिछले अध्याय में कहा है, आर्थिक असमानता अधिकांश कम-विकसित देशों में बढ़ती हुई दिखायी पड़ रही है।

कैलोरी की कम मात्रा से भी अधिक सामान्य बात प्रोटीन, विटामिन और कुछ महत्त्वपूर्ण खनिजों, जैसे लोहा, कैल्शियम और फास्फोरस की कमी है और ये खनिज अधिकांश कम-विकसित देशों के लोगों को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होते।

स्थिति इस कारण से और अधिक बिगड़ जाती है कि खान-पान की आदत तर्क-संगत नहीं है और इनमें उन पोषक तत्त्वों का अभाव रहता है, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, पर उदाहरण के लिए चीन के लोग अपने भोजन के चुनाव में बड़ी सतर्कता दिखाते हैं। यद्यपि सर्वोच्च वर्गों को छोड़कर प्राय. सब आय वर्गों में भोजन की आदत तर्कसंगत नहीं है, पर गरीब लोगों के लिए स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले पोषक तत्त्वों का अभाव, जो सामान्यतया अधिक महँगे खाद्य पदार्थों में उपलब्ध होते हैं, विशेष रूप से गम्भीर रहता है।

इसके साथ ही छूत की बीमारियों तथा कीटाणुओं के कारण फैलने वाली बीमारियों के परिणामस्वरूप—ये बीमारियाँ गर्म और कुछ कम गर्म जलवायु में, रहन-सहन के नीचे स्तर और विशेषकर बुरी आवास व्यवस्था, अपर्याप्त भोजन, सार्वजनिक और निजी स्वच्छता के नीचे स्तर के कारण फैलती है[12]—भोजन का सही उपयोग करने की शरीर की क्षमता कम हो जाती है।

अनेक अध्ययनों से निरन्तर यह निश्चित निष्कर्ष निकला है कि कम मात्रा में भोजन के रूप में कैलोरी की प्राप्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न 'छिपी भूख' और विशेषकर भोजन में पौष्टिक तत्त्वों का अभाव स्वास्थ्य के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न करता है और अधिक व्यापक रूप से, आलस्य को जन्म देता है और पहल करने की क्षमता को समाप्त कर देता है।

दक्षिण एशिया के लोगों के बारे में सामान्यतया जो स्वभावगत बातें कही जाती हैं—आध्यात्मिक चिन्तन की ओर रुझान, आध्यात्मिक संसार को अधिक महत्त्व देना, निष्क्रियता और आराम पसन्द करना आदि, सदा-सदा अधिक बुद्धिवादी स्तर पर किसी एक देश अथवा समस्त एशिया के धार्मिक सिद्धान्त, दर्शन, अथवा

कुछ विशेष 'मूल्यों' में प्रतिबिम्बित होता है—वे वस्तुतः भोजन में पौष्टिक तत्त्वों की कमी और स्वास्थ्य की बुरी स्थिति के कारण हो सकती हैं।[13]

एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक आयोग (इकाफे) के सचिवालय की एक हाल की रिपोर्ट में कहा गया है कि "आलस्य जैसी जातीय विशेषताएँ···अथवा जीवन के प्रति ईर्ष्यायोग्य दार्शनिक दृष्टिकोण पौष्टिक आहार की कमी अथवा इसके अभाव जैसे महत्त्वपूर्ण पर्यावरण सम्बन्धी कारक हो सकते हैं।" अन्य गरीब देशों में सामान्य जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं के बारे में जो ऐसे ही विचार प्रकट किये गये हैं, उनका कारण भी यही हो सकता है।

प्रोटीन की कमी छोटे बच्चों और गर्भवती तथा दूध पिलाने वाली स्त्रियों के लिए विशेष रूप में हानिप्रद हो सकती है। हाल के वर्षों में छोटे बच्चों में प्रोटीन की कमी के कारण उत्पन्न होने वाले स्वास्थ्य सम्बन्धी खतरों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है और कहा गया है कि प्रोटीन की कमी से मस्तिष्क की कोशिकाओं की संख्या में कमी होती है और इससे मानसिक विकास में बाधा पड़ती है।

जैसाकि खाद्य और कृषि संगठन ने कहा है, कम-विकसित देशों के अधिकांश लोगों के बारे में यह माना जा सकता है कि वे किसी न किसी सीमा तक पौष्टिक आहार की कमी *अथवा अभाव* से पीड़ित रहते हैं। इस बात से उनकी *निर्धनता* की स्थिति विशेष रूप में खराब हो जाती है। और इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे इस स्थिति में भी अपनी आय का एक बड़ा हिस्सा खाने की चीजों पर खर्च करते हैं। दक्षिण एशिया में वे अपनी आय का दो-तिहाई हिस्सा अथवा इससे भी अधिक भोजन पर खर्च करते हैं।

कम-विकसित देशों में पौष्टिक आहार की स्थिति दूसरे महायुद्ध के समय से सामान्यतया सुधरी नहीं है। अनेक देशों में हो सकता है कि स्थिति और खराब हो गयी हो, विशेषकर खेती में लगे बहुसंख्यक खेत मजदूरों की।

व्यापक जनसमुदाय में वर्तमान भोजन की कमी, आबादी के विस्फोट और खाने की चीजों के उत्पादन में धीमी वृद्धि ने कम-विकसित देशों में संसारव्यापी भूख की भयानक स्थिति उत्पन्न कर दी है। जैसाकि कुछ वर्ष पहले प्रोफेसर अर्ल एल० वुड्स ने कहा था :

"संसार टकराहट के रास्ते पर आगे बढ़ रहा है···जब विस्फोट की स्थिति में पहुँची विश्व की आबादी की महाशक्ति खाने की चीजों के उत्पादन की स्थिर प्रवृत्ति से टकरायेगी, तो किसी न किसी वस्तु का समाप्त होना आवश्यक है। यदि हम इस टकराहट की आशंका के प्रभाव को कम करने के लिए निरन्तर अधिक ध्यान नहीं देते, तो एक दशक के भीतर ही संसार के अनेक भाग विनाश के कगार पर इस सीमा तक पहुँच जायेंगे कि शान्ति और स्थिरता के लिए खतरा पैदा हो जायेगा।"[11] अनेक बड़े देशों में, जैसे भारत और पाकिस्तान में और कम-विकसित संसार के सब क्षेत्रों में अनेक छोटे देशों में सम्भवतः एक दशक पहले ही भूख का संकट उत्पन्न हो चुका था। और अनेक देशों में, जिनमें वे देश भी शामिल हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, यह 1965 और 1966 में बहुत गम्भीर रूप धारण कर लेता बशर्तेकि यह ऐतिहासिक संयोग उत्पन्न न हुआ होता कि संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी कृषि नीति के इरादों के विपरीत बहुत बड़ी मात्रा में अनाज का भण्डार संचित न कर लिया, जिसे इन देशों को सार्व-

जनिक कानून 480 के अन्तर्गत दिया गया ।

संसार में अनाज के इस पुनर्वितरण पर कम से कम इस पैमाने पर एक ऐसी अस्थायी कार्रवाई के अलावा अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका मे उपलब्ध अतिरिक्त अनाज को बहुत बडे पैमाने पर रियायती दरों पर इन देशों को दिया गया । इसके अलावा इस कार्रवाई से केवल भोजन के रूप मे कैलोरी की भयावह कमी को भी पूरा किया जा सकता है ।

समृद्ध विकसित देशो और गरीब कम-विकसित देशो के बीच कितनी बड़ी असमानता है—जो उस अमूर्त आय सम्बन्धी अन्तर से प्रकट होती है, अथवा उसके पीछे रहती है जो निरन्तर बढ रहा है—यह बात उस समय तुरन्त प्रकट हो जाती है जब हम यह विचार करते हैं कि किन लोगो को प्रोटीन और अन्य पौष्टिक स्वास्थ्यप्रद आहार प्राप्त हैं ।

प्रोफेसर जार्ज बोर्गस्त्रोन ने निरन्तर इस तथ्य को दोहराकर सार्वजनिक प्रबोधन के लिए बडी सेवा की है कि अनेक कम-विकसित देश निरन्तर बड़ी मात्रा मे उच्च कोटि की प्रोटीन की दृष्टि से समृद्ध खाने की चीजों को निर्यात कर रहे हैं, ताकि समृद्ध विकसित देशों मे आवश्यकता से अधिक खाने की प्रवृत्ति को कायम रखा जा सके और बढ़ाया जा सके · उदाहरण के लिए अफ्रीका और लेटिन अमरीका के क्षेत्रो से मछली का, जबकि ये ऐसे इलाके हैं जो दक्षिण एशिया मे भी अधिक प्रोटीन के अभाव से ग्रस्त हैं, निर्यात किया जाता है, ताकि संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप में ब्राइलरो और मवेशियो को उन्हे खाने के लिए दिया जा सके । इसके अलावा अन्य अनेक कम-विकसित देशों से भी सोयाबीन, खली, टूना मछली और अन्य मछलियाँ तथा गोश्त भी निर्यात किया जाता है ।

इसका परिणाम यह होना है कि अमीर देशो के लोग संसार में उपलब्ध स्वास्थ्यकर भोजन का कुल मिलाकर बहुत बड़ा हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं और इसका उपयोग बहुत कम किफायत से करते हैं जैसाकि कम-विकसित देशों में करना आवश्यक होता है । इसके साथ ही ये लोग इसी प्रकार मवेशियों को खिलाने के लिए बहुत बडी मात्रा में अनाज प्राप्त करते हैं ।

कम-विकसित देशो में प्रति एकड कम उपज उस स्थिति में विशेष आघातजनक दिखायी पडती है, जब हम यह देखते हैं कि इन मामूली-सी फसलों को उगाने के लिए बहुत बड़ी श्रम शक्ति का इस्तेमाल होता है । यह कुल श्रम शक्ति के पचास प्रतिशत से भी बहुत अधिक होता है । भारत में खेती के काम मे लगे लोगों की संख्या कुल आबादी का 70 प्रतिशत है । लेकिन इस बडी आबादी को भी अपने देश की अनाज की आवश्यकता पूरी करने में काफी समय मे सफलता नही मिली, जबकि इस देश में पौष्टिक आहार का स्तर बहुत नीचा है ।

इसका यह अभिप्राय है कि केवल भूमि की उत्पादकता ही कम नहीं है, बल्कि अधिकांश कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति की उत्पादकता भी बहुत कम है ।[15] इसके अलावा विकसित और कम-विकसित देशों में श्रम की उत्पादकता के बीच बडा अन्तर है और जो कहीं अधिक तेजी से बढ रहा है और यह क्रम काफी लम्बे अरसे से चला आ रहा है ।

कम-विकसित देशों की कृषि में श्रम की अत्यधिक नीचे स्तर की उत्पादकता

की जो जटिलताएँ है, उनको प्रायः समझा नही जाता। विशेषकर उन कम-विकसित देशों में जहाँ खेती में लगी श्रम शक्ति और कृषि भूमि के बीच ऊँचा अनुपात है। सामान्य विचार यह है कि उनका खेती का तरीका श्रम का अधिक उपयोग करने का है।

कुछ सीमा तक यह बात मिस्र जैसे देश के बारे मे सही हो सकती है—जिसकी प्रति एकड उपज भी ऊँची है, यद्यपि यह निरन्तर बढती हुई आबादी की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही है—लेकिन यह बात कम-विकसित ससार के अधिकांश हिस्से के बारे में सही नही है, जहाँ उपज बहुत कम है। सामान्य विचार के विपरीत कृषि में श्रम के सघन उपयोग का तरीका नही अपनाया जा रहा है, बल्कि अधिक संख्या मे श्रमिको का उपयोग ही किया जा रहा है।[16]

प्रति श्रमिक के हिसाब से श्रम का हिस्सा काम के घंटों की दृष्टि से बड़ा कम है और कार्यकुशलता भी बड़े नीचे स्तर की है। इस प्रकार प्रति एकड कम उपज श्रम शक्ति का भरपूर उपयोग न कर पाने का परिणाम है। इसका दूसरा पहलू यह है कि श्रम के हिस्से में वृद्धि से—जिसे श्रमिकों की संख्या सम्बन्धी अनुपातो को बेहतर बनाकर तथा काम के घटो और कार्यकुशलता के स्तर को ऊँचा उठाकर प्राप्त किया जा सकता है[17]— उत्पादन बढेगा और इस कार्य के लिए श्रम के अलावा अन्य किसी टेक्नालॉजी की दृष्टि से नयी विधियों अथवा अतिरिक्त पूँजी निवेश की आवश्यकता नही होगी।

यद्यपि यदा-कदा ही यह निष्कर्ष निकाला जाता है, लेकिन देशों, जिलो और काश्तकारो के बीच भी कृषि उत्पादन का जो अन्तर विद्यमान है उससे यह सत्य स्वयं प्रकट हो जाता है। खेती की उपज के इन अन्तरो का विवरण विस्तार से समस्त कृषि व्यवस्था सम्बन्धी अध्ययनो मे प्राप्त है। इन अध्ययनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिट्टी के गुण और खेती की अन्य भौतिक परि-स्थितियों में कोई अन्तर न होने के बावजूद उपज में बहुत अन्तर होता है। इन मामलों में खेती की विधियो मे भी कोई अन्तर नही होता, जिनका उपयोग आस-पास के इलाको के कुछ किसानो द्वारा किया जाता है। अत. अधिक विकसित विधियाँ अपनाकर उपज को और बढ़ाया जा सकता है। लेकिन इससे इस बुनियादी तत्त्व को छिपाने की अनुमति नही दी जानी चाहिए कि आज टेक्नालॉजी के वर्तमान स्तर पर जो नयी विधियाँ उपलब्ध हैं, उनके रहते भी श्रम शक्ति का भरपूर उपयोग नहीं हो रहा है।

अनेक कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति का एक हिस्सा कोई भी काम नही करता, यद्यपि यह स्थिति विभिन्न देशों में अलग-अलग है। अधिक सामान्य और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जो अधिकाश श्रमिक काम करते है, वे बहुत छोटी अवधियों—प्रतिदिन, सप्ताह, महीना और वर्ष—के लिए काम करते है और यह काम बहुत तीव्रता अथवा कार्यकुशलता से भी नही किया जाता। यह पश्चिम और यूरोप के कम्युनिस्ट देशों की परिस्थितियो से मिथ्या तुलना का एक उदा-हरण है और दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप है और इस बात को 'बेरोजगारी' और 'अर्द्धबेरोजगारी' की शब्दावली में समझाया जाता है।[18]

म-विकसित देशो मे इस आचरण का स्वरूप एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया
ा निर्धारित दृष्टिकोणो मे निहित है। इन्हें सस्थाओ ने, विशेषकर आर्थिक
माजिक स्तरीकरण की सस्थाओ ने, आधार दिया है जिनका सर्वप्रथम
भूस्वामित्व और खेती के पट्टे मे है और ये व्यवस्थाएँ भूमि के उपयोग
रण करने मे सहायक बनी है।[19]

के साथ ही पौष्टिक आहार की स्थिति बडी बुरी है और यह स्थिति भी
रीबी से उत्पन्न हुई है और इसका विशेष कारण कम उपज है। इसके
स्वरूप काम करने की इच्छा और क्षमता तथा डटकर काम करने की
पर बुरा असर पडता है और खेती की उपज बढ नही पाती। और
कार्य-कारणों का यह दुष्चक्र[20] प्रमुख कारण बन जाता है, जिसे ध्यान मे
ा, खाने की चीजो के रूप मे विकास के लिए सहायता यदि सुनियो-
ीके से और अन्य दृष्टियो से भी बेहतर परिस्थितियों मे दी जाये, तो
ो उपज बढाने मे सहायक बन सकती है।

ष्टिकोणो, सस्थाओ और रहन-सहन का नीचा स्तर कम-विकसित देशो मे
कार काम के मार्ग मे बाधा और अवरोध बन सकता है तथा श्रम के
उपयोग और कृषि की उपज बढाने की नीतियों की प्रभावशालिता के मार्ग
किस प्रकार बाधक बन सकता है, इस पर इसी अध्याय मे आगे चलकर
 मे विचार होगा। लेकिन यदि अमूर्त दृष्टि मे इस स्थिति पर विचार
ाये, तो इसमें कुछ अच्छाई छिपी हुई दिखायी पडती है। कम-विकसित
खेती का पिछडापन अपने-आपमे एक अनुकूल कारक होना चाहिए।[21]
ाकि भारत के एक प्रमुख अर्थशास्त्री एम० एल० दांतवाला ने—जबकि
 अनाज की औसत उपज जापान और ब्रिटेन की तुलना मे चौथाई से
है—जोर देकर कहा है "खेती की ज्ञात विधियो का अधिक व्यापक
जिसके लिए अतिरिक्त पूंजी निवेश की प्राय कोई आवश्यकता नही है,
 दौर मे हर हालत मे, तेजी से उत्पादन बढाने मे सहायक होगा।"
 एक इतने ही प्रसिद्ध भारतीय सहयोगी, एस० आर० सेन ने इस मुद्दे
 विस्तार से समझाते हुए कहा है :

"... उपज का अन्तर केवल विभिन्न क्षेत्रो मे ही नहीं, बल्कि किसानों
न समूहो मे भी दिखायी पडता है। एक ही क्षेत्र मे सर्वोत्तम किसानों
किसानों की तुलना मे प्रति एकड़ कई गुनी अधिक उपज प्राप्त की
न...सर्वोत्तम और औसत के बीच भारत मे तकनीकी दृष्टि से बड़े-बड़े
तुलना मे कहीं अधिक अन्तर है। यह भारतीय कृषि के पिछडे हुए
 सूचक होने के साथ-साथ इसकी विकास की क्षमता का भी प्रमाण है।"
ये कृषि के विकास को योजनाबद्ध विकास के लिए "लाभकारी क्षेत्र"

ान यदि सब कम-विकसित देशों के बारे मे नहीं तो कम से कम अधिकांश
ारे मे इतनी ही सच है। इस समय अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए
ें मौजूद है, उनका लाभ न उठा पाने की असफलता का स्पष्टीकरण
 नहीं किया जा सकता है कि इस समय काम के जो तरीके अपनाये जा
 श्रम का सही उपयोग नहीं होता। हमे इस बात का यहां उल्लेख

करना होगा कि विभिन्न देशों, क्षेत्रों और खेतों में उत्पादन का जो बहुत बड़ा अन्तर है और जिसका स्पष्ट सम्बन्ध काम के घण्टों और श्रम की कार्यकुशलता के अन्तर से है, यह सिद्ध करता है कि आर्थिक विचार-विमर्श मे अपनायी जाने वाली यह घिसीपिटी मान्यता, जो दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण पर आधारित है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है, तथ्यों के अनुसार बिल्कुल गलत है और सैद्धान्तिक दृष्टि से अमान्य है।[22]

इस प्रकार खेती की उपज में सुधार करने की बड़ी सम्भावना खेती के उन तरीकों में परिवर्तन करने से साकार हो सकती है, जिनके परिणामस्वरूप श्रम शक्ति का कम उपयोग होता है और जिसका यह अभिप्राय है कि खेती में अधिकांशतया जमीन का व्यापक उपयोग हो रहा है, जबकि मनुष्य और भूमि का अनुपात ऊँचा है। हम इस प्रश्न पर आगे चलकर फिर विचार करेंगे।

उपज के बेहतर परिणामों सहित श्रम के उपयोग और उपयोग की तीव्रता को पूरे वर्ष भर खेती करने, खेती की देखभाल करने और फसल की कटाई में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके साथ ही यह तथ्य भी मौजूद है कि कम-विकसित देशों में सर्वत्र अतिरिक्त श्रम के इस प्रकार उपयोग की आवश्यकता है, जिसे पूंजी निवेश समझा जाये, क्योंकि इससे भविष्य में और अधिक उपज बढ़ने की पूरी सम्भावना रहती है।[23]

उदाहरण के लिए सड़कों, पुलों, सिंचाई नहरों, भूमि का कटाव रोकने के लिए तटबन्धों, अनाज भरने के लिए गोदामों, पानी की निकासी के लिए खाइयों, कुओं और तालाबों के निर्माण तथा वनारोपण और चरागाहों मे सुधार के लिए बहुत अधिक सघन श्रम की आवश्यकता होती है और इसके लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध श्रम के अलावा बहुत कम साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

गाँव के लोगों के फालतू समय के उपयोग का प्रत्यक्ष सम्बन्ध खपत से है : स्कूल की इमारतों, औषधालयों, शौचालयों और गन्दे पानी की निकासी के लिए नालियों के निर्माण; पीने के पानी के लिए स्वच्छ कुओं; धूल और कीचड़ से बचने के लिए गाँव की गलियों को पक्का करने; मकानों की स्थिति मे सुधार करने, साधारण फरनीचर बनाने, चूहों को मारने अथवा बच्चों को नहलाने-धुलाने और मक्खियों को उनकी आँखों से दूर रखने के कार्य किये जा सकते है। यह भी व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि खपत की दृष्टि से इन बातों की व्यवस्था अत्यधिक उत्पादक सिद्ध होती है।

अतिरिक्त श्रम का उपयोग करने की इन विभिन्न सम्भावनाओं को स्वर्गीय प्रोफेसर रगनार नूरक्से ने 'छिपी हुई बचत क्षमता' बताया है। पश्चिम और विकसित कम्युनिस्ट देशों मे तथा स्वयं गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों के सब विशेषज्ञों में इस बात से अधिक अन्य किसी विषय पर सहमति नहीं हुई। अनेक कम-विकसित देशों में योजनाओं मे बचत करने की क्षमता के उपयोग के बारे मे बड़े साहसपूर्ण प्रस्ताव शामिल किये गये, लेकिन अक्सर इन प्रस्तावों का कोई खास परिणाम नहीं निकला।

अनेक कठिनाइयां है। एक बात तो यह है कि इन कार्यों के लिए सामूहिक कार्रवाई की आवश्यकता होती है। और इस कार्रवाई के लिए संगठन आवश्यक होता है, क्योंकि जिस पैमाने पर प्रयास करने की आवश्यकता होती है, वह गाँव

के परिवारों के तात्कालिक हितों और साधनों से अधिकांशतया ऊपर होती है। ऐसे सामूहिक कार्य और संगठन का जो व्यापक लाभ मिलेगा उसे समझने के लिए एक सीमा तक तर्कसम्मत आचरण और सामाजिक एकता की आवश्यकता होती है, जो अक्सर अनेक टुकड़ों में विभाजित गांवों में मौजूद नहीं होती।

इसके अलावा ऐसी किसी भी कार्रवाई से तुरन्त इसके लाभों और लागतों के वितरण के सवाल उठते हैं और इस प्रकार समानता का प्रश्न सामने आ जाता है, जिस पर पिछले अध्याय में विचार हुआ है। क्या भूमिहीन मजदूरों को इन कार्यों के लिए मजदूरी चुकायी जाये और यदि हां तो कितनी, जबकि इन कार्यों का लाभ मुख्यतया भूस्वामियों और अपेक्षाकृत ऊंचे स्तर के अन्य लोगों को प्राप्त होता है, जो अक्सर न तो स्वयं काम करने के लिए तैयार होते हैं और न ही दूसरों को काम के लिए पैसा देने को सहमत होते हैं।

इससे भी अधिक व्यापक दृष्टि से श्रम शक्ति को ऐसे सामूहिक कार्यों के लिए संगठित करने के प्रयासों को पुराने समय से चली आ रही काम की विधियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ता है। काम के ये तरीके भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली पर आधारित हैं और स्वयं यह प्रणाली श्रम के व्यक्तिगत उपयोग को मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से निचले स्तर पर ही रखती है। (आगे भी देखिए)।

एक दृष्टिकोण से कम-विकसित देशों में श्रम शक्ति का कम उपयोग खेती के आदिम तरीकों का परिणाम कहा जा सकता है, क्योंकि यह बुनियादी तौर पर आजमाया जा सकने वाला सामान्य नियम है कि कुछ बहुत थोड़े-से अपवादों को छोड़कर, टेक्नालॉजी की दृष्टि से अधिक विकसित तरीकों के उपयोग से श्रम की बचत नहीं होगी, बल्कि इसके विपरीत, अधिक मात्रा में और अधिक कार्यकुशल श्रम की जरूरत होगी।[24]

श्रम के उपयोग और टेक्नालॉजी के इस महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध की कृषि नीति सम्बन्धी विचार में अक्सर उपेक्षा कर दी जाती है। मनुष्य और भूमि के ऊंचे अनुपात के आधार पर अक्सर मौन सहमति के रूप में यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि कम-विकसित देशों में कृषि के लिए अधिक सघनश्रम की आवश्यकता होती है—यह निष्कर्ष इस मान्यता के बावजूद निकाला जाता है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है।

इसके बाद यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक हो जाता है कि अधिक विकसित टेक्नालॉजी के उपयोग की समस्या केवल प्रति एकड़ भूमि की उत्पादकता से ही सम्बन्धित होनी चाहिए—क्योंकि श्रम बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध है और इसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य ही बनी रहेगी। यह समस्त विचारधारा असामान्य और गलत मान्यताओं पर आधारित है और जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, यह बहुत अधिक गुमराह करने वाली और भ्रान्तिकारक है।

सामान्यतया टेक्नालॉजी सम्बन्धी सुधारों में श्रम की आवश्यकता में कमी नहीं होती, बल्कि प्राय. बिना किसी अपवाद के इसमें वृद्धि होती है। यह बात उस समय भी सही होती है जब उन तरकीबों के अधिक व्यापक उपयोग का प्रश्न होता है, जिन तरकीबों की सामान्य जानकारी है और जिनका उपयोग स्थानीय परिस्थितियों में कुछ किसानों ने किया भी है। यह बात उस समय भी समान रूप

से सच होती है, जब समस्या नयी टेक्नालॉजी के इस्तेमाल की होती है अर्थात् खेती के पूरी तरह से नये तरीकों को अपनाने अथवा पुराने तरीकों में सुधार करने की समस्या होती है।

हर प्रकार के टेक्नालॉजी सम्बन्धी सुधार का परिणाम अधिक अच्छी फसल होना चाहिए, जिसके लिए कटाई के समय अधिक श्रम की आवश्यकता होगी। खेती सम्बन्धी अधिकांश सुधारों में जमीन को बुआई के लिए तैयार करने, बीज बोने, खर-पतवार निकालने और बढ़ती हुई फसल की देखभाल करने के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। कुछ सुधारों के लिए पहले से ही पर्याप्त श्रम विनियोग की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए सिंचाई व्यवस्था के निर्माण और इसे अच्छी हालत में बनाये रखने का उल्लेख किया जा सकता है।

मशीनों से खेती करना एक अलग और विशेष मामला है। इसका उपयोग श्रम के लिए पूंजी के स्थान पर किया जा सकता है, विशेषकर वहाँ जहाँ कृषि भूमि की इकाई बहुत बडी हो। इसके परिणामस्वरूप ऐसे उदाहरण देखने को मिले हैं, विशेषकर लेटिन अमरीका के देशों मे, जहाँ मशीनों से खेती के कारण श्रमिक रोजगार के अवसरों से वंचित हो गये हैं और इस प्रकार उपलब्ध श्रम शक्ति के कम उपयोग में और अधिक वृद्धि हुई है।[25]

लेकिन अधिक सामान्य मामले में, ऐसा मशीनीकरण जो कम-विकसित देशो मे विद्यमान परिस्थितियों के अनुरूप हो, सामान्य नियम के अनुरूप सिद्ध होगा अर्थात् इससे श्रम की माँग में वृद्धि होगी।[26] जिन देशो मे सामान्यतया विदेशी मुद्रा की स्थिति कठिन होती है और जहाँ इसी प्रकार सामान्यतया घरेलू उद्योगों को बढ़ाना और नियमित करना है, खेती की ऐसी मशीनों की सप्लाई को प्रतिबन्धित रखना एक स्वाभाविक नीति होगी, जो मशीनें श्रम का स्थान लेती हैं और श्रम की माँग मे वृद्धि नहीं करतीं।

इस सन्दर्भ में मैं स्वयं को इन्ही बातों तक सीमित रखूंगा और पाठक से अनुरोध करूंगा कि वह अधिक विस्तृत अध्ययन के लिए एशियन ड्रामा देखे जिसमें मैंने टेक्नालॉजी सम्बन्धी उन सुधारों का पर्याप्त विस्तार से विश्लेषण किया है, जिनमें श्रम के अधिक उपयोग की आवश्यकता होगी।[27]

खेती में आदिम तरीको के उपयोग को समाप्त करने के लिए – जो एक दृष्टिकोण से श्रम के अधिक उपयोग और अधिक उपज प्राप्त करने के लिए आवश्यक है—अनेक और विविध कठिनाइयो का सामना करना पडता है। एक सामान्य कठिनाई यह है कि कृषि क्षेत्र में श्रम शक्ति के आकार में तेजी से वृद्धि की सम्भावना स्पष्ट दिखायी पड़ती है और वर्तमान श्रम शक्ति का भी पूरा उपयोग नही हो पा रहा है।

यह स्वाभाविक है कि कम-विकसित देशो ने उद्योगीकरण के द्वारा ही गरीबी से मुक्ति पाने का रास्ता सम्भव समझा।[28] इन्हें कम-विकसित और विकसित देशो के बीच प्रमुख अन्तर यही दिखायी पड़ता है कि उनकी श्रम शक्ति का कहीं अधिक बडा हिस्सा खेती में लगा हुआ है। 'कम-विकसित' शब्द के सम्भ्रान्त पर्याप्त के रूप

मे 'कम-उद्योगीकृत' शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[29]

लम्बी अवधि की दृष्टि से कम-विकसित देशो की उद्योगीकरण मे दिलचस्पी पूरी तरह से तर्कसंगत है। आबादी में वृद्धि की जो स्पष्ट सम्भावना दिखायी पड़ रही है (देखिए अध्याय-5) उसे ध्यान मे रखते हुए वस्तुतः यह विश्वास कर पाना कठिन है कि भारत जैसा घना बसा देश, जिसकी विशाल श्रम शक्ति का 70 प्रतिशत भाग खेती में लगा है, इस शताब्दी के अन्त तक अपने व्यापक जनसमुदाय के वर्तमान अत्यधिक कष्टपूर्ण रहन-सहन के स्तर को भी कायम रख सकता है, यदि इसकी श्रम शक्ति के एक बडे हिस्से को कृषि के अलावा अन्य कार्यों में नही लगाया गया। और यह निष्कर्ष उस स्थिति में भी कायम रहेगा, जब खेती मे टेक्नालॉजी सम्बन्धी अत्यधिक व्यापक सुधार और बडे पैमाने पर श्रम के उपयोग को भी सफलतापूर्वक लागू क्यो न कर लिया जाये।[30]

विभिन्न सीमा तक अधिकांश देशो के बारे मे भी यह बात सच है। प्रायः सब कम-विकसित देशो के यथासम्भव तेजी से उद्योगीकरण करने के अच्छे कारण मौजूद हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नही होना चाहिए कि वे खेती में भूमि और श्रम की उत्पादकता बढाने के प्रयासो मे कमी कर दें।

उद्योगीकरण पर अधिक ध्यान देने के लिए उन्हें इस बात से भी प्रेरणा मिली कि उद्योगीकरण मे सशक्त निहित स्वार्थो का सामना नही करना पडता, जबकि खेती की उपज बढाने सम्बन्धी नीतियों मे इसकी आवश्यकता पडती है। यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की योजनाएँ ही सामान्यतया इस प्रकार बनायी जाती हैं कि वे निजी उद्योगो के लिए लाभदायी सिद्ध हों।[31]

यह स्वाभाविक है कि खेती मे जिस श्रम शक्ति का पूरा उपयोग नही हो पाता, उसे उद्योगो मे लगाने के लिए कम-विकसित देशों ने उद्योगीकरण की आवश्यकता अनुभव की। 'कम-विकास' का समस्त सिद्धान्त इस सम्भावना के विचार पर आधारित है कि खेती मे लगी श्रम शक्ति को अन्यत्र लगाया जा सकता है।[32] और अक्सर यह भी समझ लिया जाता है कि ऐसी घटना वस्तुतः बडे पैमाने पर घट भी रही है।[33]

लेकिन तथ्य यह है कि कम अवधि की दृष्टि से—उदाहरण के लिए अगले बीस वर्षों के लिए—जिस गति मे अब तक उद्योगीकरण हुआ है अथवा उसकी योजना बनायी गयी है लेकिन जिसे अमल मे नही लाया जा सका—यदि इससे भी तेज गति से उद्योगीकरण होता है, तो भी यह आशा नही की जा सकती कि श्रम की माँग बहुत अधिक बढ जायेगी।[34] इसका मुख्य कारण उद्योगीकरण का नीचा स्तर है, जहाँ से यह कार्य आरम्भ हो सकता है तथा आधुनिक औद्योगिक टेक्नालॉजी भी इसका एक स्वरूप है। (नीचे देखिए)।

उद्योगीकरण का श्रम की कुल माँग के ऊपर पर्याप्त समय तक यही प्रभाव होगा कि इसकी माँग मे कमी होगी। इस 'प्रतिगामी प्रभाव' का कारण यह है कि आधुनिक उद्योग उस परम्परागत उद्योग और दस्तकारी मे होड़ कर रहा है, जिसमें श्रम का सघन इस्तेमाल होता है। जब योजनाओं मे इस बात को स्पष्ट रूप मे नहीं देखा जाता, तो अक्सर उस स्थिति मे अप्रत्याशित वृद्धि होती है, जिसे 'बेरोजगारी' कहा जाता है।[35]

उद्योगों में श्रम की जितनी नयी माँग उत्पन्न होती है, उसमें कही अधिक

संख्या मे खेती में लगे श्रमिको का उद्योगों में जाना शुरू हो सकता है और कम-विकसित देशों मे वस्तुतः यह हुआ भी है और हो रहा है।[36] गरीबी से ग्रस्त गाँवो से शहरों मे पहुँचने वाले ये 'शरणार्थी' अपने नये पर्यावरण में उन अनेक 'खुले धन्धो' मे श्रमिको की संख्या में वृद्धि करते है, जहाँ श्रम की उत्पादकता बहुत नीचे स्तर की है।[37] श्रमिकों का शहरों की ओर जाना, जिसके परिणामस्वरूप तीसरे वर्ग के व्यवसायों में श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती है और जहाँ श्रम का भरपूर उपयोग नहीं हो पाता, सम्बन्धित साहित्य में अक्सर सही विवेचन के अभाव में, और विकसित देशो से मिथ्या तुलना के आधार पर, विकास का लक्षण मान लिया जाता है।[38] गाँवो से इस प्रकार शहरों में जाने की प्रवृत्ति को राष्ट्रीय आयोजन के दृष्टिकोण से वांछित नहीं माना जा सकता, जहाँ अक्सर गन्दगी, स्वच्छता की कमी, अत्यधिक भीड़ और शहर की गन्दी बस्तियों में रहने की अपर्याप्त व्यवस्था की स्थिति और बिगड़ जाती है। इस तरीके से खेती मे श्रम शक्ति के कम उपयोग की समस्याओं को नही सुलझाया जा सकता, क्योंकि शहरो में भी इन श्रमिकों का *कम उपयोग ही होता है।*

इसके अलावा श्रमिकों की शहरो में जाने की प्रवृत्ति का खेती मे लगी श्रम शक्ति की वृद्धि दर पर अक्सर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि खेती में कुल श्रम शक्ति का बहुत बड़ा हिस्सा लगा है। लेकिन अमरीका तक में, जहाँ नगरों की ओर यह प्रवास बहुत बड़ी संख्या में हो रहा है, खेती में लगे श्रमिको की संख्या मे इसके बावजूद तेजी से वृद्धि हो रही है और यह वृद्धि 1·5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की औसत से हो रही है।[39] इनमे से किसी भी देश मे खेती में लगे लोगो की संख्या मे वस्तुतः कोई कमी नही हुई है।

भारत की जनगणनाओं के अनुसार 1951 और 1961 के दो जनगणना वर्षों में यह देखा गया कि खेती में लगी आबादी के अनुपात मे प्रायः कोई अन्तर नहीं पडा है, जबकि इस दशक में अधिकांश अन्य कम-विकसित देशो की तुलना मे कही अधिक तेजो से उद्योगीकरण हुआ है। एशिया के समस्त कम-विकसित देशों का उल्लेख करते हुए इकाफे की एक हाल की रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया है : "खेती पर निर्भर आबादी का अनुपात······बहुत मामूली-सा घटा है अथवा पहले जितना ही रहा है। यह स्थिति अधिकांश विकासशील देशो में है।"

इससे यह पता चलता है कि अगले कुछ दशकों मे—जो किसी भी यथार्थ-वादी आयोजन के लिए समय की सही अवधि हो सकती है—अधिकांश कम-विकसित देशों मे केवल कृषिगत श्रम शक्ति की वृद्धि को ही नही, बल्कि राष्ट्रीय श्रम शक्ति की प्रत्याशित तीव्र गति से स्वाभाविक वृद्धि के अधिकाश भाग को आत्मसात् करना होगा।

अतः आयोजन में विकास का लक्ष्य उस श्रम शक्ति का अधिक उपयोग होना चाहिए, जिसका इस समय बहुत कम उपयोग हो रहा है। यह उपयोग कृषि कार्यों मे हिस्सा लेने और विशेषकर, काम के समय की अवधि और कार्य-कुशलता दोनों दृष्टियों से होना चाहिए। यह तथ्य कि श्रम शक्ति निरन्तर और तेजी से बढती जायेगी, इस लक्ष्य की पूर्ति को और कठिन बना देता है।

उद्योगीकरण अभियान के 'अधिक रोजगार उपलब्ध कराने' मे असफल रहने के कारण, हाल के वर्षों में कुछ देशो मे विकास योजनाओं मे उद्योगीकरण में अधिक खेती पर जोर देने का प्रयास हुआ है।

लेकिन आयोजन की नीति के इस पुनर्निर्धारण के अन्य कारण भी है: तेजी मे आबादी मे वृद्धि, जिसकी व्यापकता का अनुमान 1960 के आसपास की जनगणनाओं तक योजनाकार नही लगा सके थे, अधिकाश देशों मे आशा से कम गति से खेती की उपज मे वृद्धि और अनेक देशों मे 1965 के आसपास फसल की विनाशकारी स्थिति, और अन्तिम पर कम महत्त्वपूर्ण नही—अनाज की सहायता देने वाले देशो, विशेषकर सयुक्त राज्य अमरीका का निरन्तर बढ़ता हुआ दबाव।

साधारणतया प्राथमिकताओं के सन्दर्भ मे नीति सम्बन्धी लक्ष्यों मे इस परिवर्तन पर विचार हुआ है और अधिकाशतया इसे बजट के 'विकास व्यय' को उद्योगों के स्थान पर कृषि के ऊपर लगाना बताया गया है। अनेक कारणों से सोचने का यह तरीका सतही है। यह वित्तीय दृष्टि से आयोजन के गलत तरीके को प्रकट करता है (देखिए अध्याय—1)।[10]

इस कथन से उपलब्ध धनराशि के लिए होड की बात मान ली जाती है, जो अक्सर वास्तविक नही होती। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के औद्योगिक विकास और खेती मे इसकी उत्पादकता के बीच एक सकारात्मक सम्बन्ध होता है। नीति के दृष्टिकोण मे, खेती की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर अधिक जोर देना तर्कसगत ढंग से उद्योगों की दिशा को पुनर्निर्धारित करने का एक कारण हो सकता है—उर्वरकों, कीटनाशक दवाओ, हर प्रकार के कृषि उपकरणों, मशीनो और औजारो का निर्माण—इसका अभिप्राय उद्योगीकरण के अभियान को धीमा करना नही है।

इसके अलावा कृषि के क्षेत्र मे कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए—उदाहरण के लिए भूमि सुधार (ऊपर देखिए) अथवा श्रम के सामूहिक निवेश की दिशा मे संगठित प्रयास (नीचे देखिए)—पूंजी की अधिक आवश्यकता नही होती और विदेशी मुद्रा की तो इतनी भी जरूरत नही होती।

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि उद्योगीकरण के लम्बी अवधि के *प्रभावों को ध्यान मे रखते हुए और निरन्तर बढ़ती हुई श्रम शक्ति को पेशों के* मध्य भिन्न ढंग से वितरित करने की आवश्यकता के कारण कम-विकसित देश और विशेषकर घनी आबादी वाले कम-विकसित देश अपने उद्योगीकरण के अभियान को धीमा नहीं कर सकते। उन्हे वस्तुतः एक 'बडी योजना'[11] की आवश्यकता है, जिसमे उन सब बातों की व्यवस्था हो जो उद्योगीकरण की रफ्तार तेज करने के लिए आवश्यक है। और इसके साथ ही खेती मे श्रम शक्ति के अधिक उपयोग का भी महत्त्वपूर्ण प्रयास किया जाना चाहिए।

यहाँ एक बात याद दिलाना आवश्यक है: विकसित देशो मे खेती मे श्रम की उत्पादकता में आरम्भ मे ही अत्यधिक वृद्धि—जो नयी पीढ़ियों मे चली आ

रही थी—हो सकी, यद्यपि कृषि में लगी श्रम शक्ति में कमी हो रही थी। पहले यह कमी कुल श्रम शक्ति के अनुपात के रूप में हुई और फिर जल्दी ही शुद्ध संख्यात्मक दृष्टि से ही यह कमी आयी।

इससे वर्तमान अत्यधिक विकसित देशो मे कई पीढियों पहले और कम-विकसित देशों मे आज की परिस्थितियों का बुनियादी अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस अन्तर को समझाने के लिए हमें यह समझना होगा कि विकसित देशों ने अक्सर उद्योगीकरण के ऊँचे स्तर से कार्य आरम्भ किया और इससे भी अधिक यह बात *समझनी होगी कि उद्योग के क्षेत्र मे आरम्भिक टेक्नालॉजी आज की तुलना मे* कही अधिक श्रम सघन थी अर्थात् इसमे श्रम का अधिक उपयोग होता था। तीसरा अन्तर यह है कि उनकी कुल श्रम शक्ति मे कही कम तेज गति से वृद्धि हुई।

अब उद्योगीकरण का प्रयास करने में लगे कम-विकसित देशों के समक्ष अधिक श्रम सघन टेक्नालॉजी का उपयोग कर पाने की कुछ सीमित सम्भावनाएँ है।[42] उद्योग के क्षेत्र मे उन्हें आधुनिकतम और विकसित टेक्नालॉजी को ही अपनाना है, जिसकी उपलब्धि को, सही ढंग से इन देशों के लिए एक महान् अवसर समझा जाता है। और परम्परागत कारीगरी को, जो कही अधिक श्रम सघन है, सुरक्षित रख पाना केवल अस्थायी और सीमित बात ही हो सकती है। इस सरक्षण को सफल बनाने के लिए इन दस्तकारियों में प्रयुक्त टेक्नालॉजी को आधुनिक बनाने के प्रयासों की आवश्यकता होगी, यद्यपि यह नयी टेक्नालॉजी ऐसी है, जिससे श्रम के उपयोग में कमी होती है।[43]

पर इस सबका यह निष्कर्ष होता है कि विकसित देशो मे खेती की विधियो मे सुधार प्रायः आरम्भ से ही शुरू किया जा सकता था, जबकि खेती में लगी उनकी श्रम शक्ति घट रही थी और इसका तेजी से उद्योगो मे उपयोग हो रहा था। लेकिन आज कम-विकसित देशों में यह नहीं हो रहा है। अतः यह आवश्यक है कि इनकी *नयी कृषि विधियाँ अथवा टेक्नालॉजी ऐसी हो, जिसमे श्रम का अधिक* से अधिक उपयोग किया जा सकता हो। यह इस कारण भी जरूरी है कि खेती मे लगी श्रम शक्ति का इस समय कम उपयोग हो पा रहा है और अधिकांश कम-विकसित देशों मे आगामी अनेक दशकों तक कृषि मे लगी श्रम शक्ति में निरन्तर तेजी से वृद्धि होती रहेगी।

इस सम्भावना को बहुत निराशाजनक नही समझ लेना चाहिए, क्योकि अभी इन देशो की खेती में श्रम का सघन उपयोग नही हो रहा है और टेक्नालॉजी सम्बन्धी समस्त सुधारों से श्रम की माँग में वृद्धि होगी। इसके अलावा इन देशो के लोगों के भोजन मे मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से जो बेहद कमी मौजूद है, उसके कारण लम्बे अरसे तक खेती के समक्ष बाजार के सीमित होने की कोई कठिनाई नही रहेगी; यदि उन्हें पौष्टिक आहार सम्बन्धी आवश्यकता को प्रभावशाली माँगो मे बदलने मे सफलता मिलती है। उन्हें यह प्रयास अनिवार्य रूप से करना होगा, क्योंकि यह विकास का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। पौष्टिक आहार की कमी बहुत अधिक व्यापक है।

परम्परागत दस्तकारियों के विपरीत कृषि क्षेत्र पर उद्योगीकरण का प्रतिगामी प्रभाव पड़ने की सम्भावना नही है, विशेषकर निकट भविष्य मे तो इस

उद्योगीकरण अभियान के 'अधिक रोजगार उपलब्ध कराने' में असफल रहने के कारण, हाल के वर्षो मे कुछ देशों में विकास योजनाओं मे उद्योगीकरण से अधिक खेती पर जोर देने का प्रयास हुआ है।

लेकिन आयोजन की नीति के इस पुनर्निर्धारण के अन्य कारण भी है: तेज़ी से आबादी मे वृद्धि, जिसकी व्यापकता का अनुमान 1960 के आसपास की जनगणनाओं तक योजनाकार नही लगा सके थे, अधिकांश देशों में आशा से कम गति से खेती की उपज मे वृद्धि और अनेक देशों में 1965 के आसपास फसल की विनाशकारी स्थिति, और अन्तिम पर कम महत्त्वपूर्ण नही—अनाज की *सहायता देने वाले देशो, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका का निरन्तर बढ़ता* हुआ दबाव।

साधारणतया प्राथमिकताओं के सन्दर्भ मे नीति सम्बन्धी लक्ष्यो मे इस परिवर्तन पर विचार हुआ है और अधिकाशतया इसे बजट के 'विकास व्यय' को उद्योगो के स्थान पर कृषि के ऊपर लगाना बताया गया है। अनेक कारणो मे सोचने का यह तरीका सतही है। यह वित्तीय दृष्टि से आयोजन के गलत तरीके को प्रकट करता है (देखिए अध्याय—1)।[40]

इस कथन से उपलब्ध धनराशि के लिए होड की बात मान ली जाती है, जो अक्सर वास्तविक नही होती। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के औद्योगिक विकास और खेती मे इसकी उत्पादकता के बीच एक सकारात्मक सम्बन्ध होता है। नीति के दृष्टिकोण से, खेती की स्थिति मे सुधार की आवश्यकता पर अधिक जोर देना तर्कसंगत ढंग से उद्योगों की दिशा को पुनर्निर्धारित करने का एक कारण हो सकता है—उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं, हर प्रकार के कृषि उपकरणों, मशीनो और औजारो का निर्माण—इसका अभिप्राय उद्योगीकरण के अभियान को धीमा करना नही है।

इसके अलावा कृषि के क्षेत्र में कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सुधारो के लिए—उदाहरण के लिए भूमि सुधार (ऊपर देखिए) अथवा श्रम के सामूहिक निवेश की दिशा मे संगठित प्रयास (नीचे देखिए)—पूँजी की अधिक आवश्यकता नही होती और विदेशी मुद्रा की तो इतनी भी जरूरत नही होती।

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि उद्योगीकरण के लम्बी अवधि के *प्रभावों को ध्यान मे रखते हुए और निरन्तर बढती हुई श्रम शक्ति को पेशों के* मध्य भिन्न ढंग से वितरित करने की आवश्यकता के कारण कम-विकसित देश और विशेषकर घनी आबादी वाले कम-विकसित देश अपने उद्योगीकरण के अभियान को धीमा नहीं कर सकते। उन्हें वस्तुत: एक 'बड़ी योजना'[41] की आवश्यकता है, जिसमे उन सब बातों की व्यवस्था हो जो उद्योगीकरण की रफ्तार तेज करने के लिए आवश्यक है। और इसके साथ ही खेती में श्रम शक्ति के अधिक उपयोग का भी साहसपूर्ण प्रयास किया जाना चाहिए।

यहाँ एक बात याद दिलाना आवश्यक है: विकसित देशो मे खेती में श्रम की उत्पादकता मे आरम्भ से ही अत्यधिक वृद्धि—जो नयी पीढ़ियों से चली आ

रही थी—हो सकी, यद्यपि कृषि में लगी श्रम शक्ति मे कमी हो रही थी। पहले यह कमी कुल श्रम शक्ति के अनुपात के रूप में हुई और फिर जल्दी ही शुद्ध संख्यात्मक दृष्टि से ही यह कमी आयी।

इससे वर्तमान अत्यधिक विकसित देशो मे कई पीढियों पहले और कम-विकसित देशों मे आज की परिस्थितियो का बुनियादी अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस अन्तर को समझाने के लिए हमें यह समझना होगा कि विकसित देशों ने अक्सर उद्योगीकरण के ऊँचे स्तर से कार्य आरम्भ किया और इससे भी अधिक यह बात समझनी होगी कि उद्योग के क्षेत्र मे आरम्भिक टेक्नालॉजी आज की तुलना मे कही अधिक श्रम सघन थी अर्थात् इसमे श्रम का अधिक उपयोग होता था। तीसरा अन्तर यह है कि उनकी कुल श्रम शक्ति मे कही कम तेज गति से वृद्धि हुई।

अब उद्योगीकरण का प्रयास करने में लगे कम-विकसित देशों के समक्ष अधिक श्रम सघन टेक्नालॉजी का उपयोग कर पाने की कुछ सीमित सम्भावनाएँ है।[12] उद्योग के क्षेत्र मे उन्हें आधुनिकतम और विकसित टेक्नालॉजी को ही अपनाना है, जिसकी उपलब्धि को, सही ढग से इन देशो के लिए एक महान् अवसर समझा जाता है। और परम्परागत कारीगरी को, जो कही अधिक श्रम सघन है, सुरक्षित रख पाना केवल अस्थायी और सीमित बात ही हो सकती है। इस संरक्षण को सफल बनाने के लिए इन दस्तकारियो में प्रयुक्त टेक्नालॉजी को आधुनिक बनाने के प्रयासो की आवश्यकता होगी, यद्यपि यह नयी टेक्नालॉजी ऐसी है, जिससे श्रम के उपयोग मे कमी होती है।[13]

पर इस सबका यह निष्कर्ष होता है कि विकसित देशो मे खेती की विधियो में सुधार प्राय: आरम्भ से ही शुरू किया जा सकता था, जबकि खेती मे लगी उनकी श्रम शक्ति घट रही थी और इसका तेजी से उद्योगों मे उपयोग हो रहा था। लेकिन आज कम-विकसित देशों में यह नही हो रहा है। अत: यह आवश्यक है कि इनकी नयी कृषि विधियाँ अथवा टेक्नालॉजी ऐसी हो, जिसमे श्रम का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता हो। यह इस कारण भी जरूरी है कि खेती में लगी श्रम शक्ति का इस समय कम उपयोग हो पा रहा है और अधिकाश कम-विकसित देशों में आगामी अनेक दशको तक कृषि में लगी श्रम शक्ति मे निरन्तर तेजी से वृद्धि होती रहेगी।

इस सम्भावना को बहुत निराशाजनक नही समझ लेना चाहिए, क्योंकि अभी इन देशों की खेती मे श्रम का सघन उपयोग नही हो रहा है और टेक्नालॉजी सम्बन्धी समस्त सुधारो से श्रम की माँग मे वृद्धि होगी। इसके अलावा इन देशो के लोगों के भोजन में मात्रा और गुण दोनों दृष्टियो से जो बेहद कमी मौजूद है, उसके कारण लम्बे अरसे तक खेती के समक्ष बाजार के सीमित होने की कोई कठिनाई नही रहेगी; यदि उन्हें पौष्टिक आहार सम्बन्धी आवश्यकता को प्रभावशाली माँगों में बदलने में सफलता मिलती है। उन्हें यह प्रयास अनिवार्य रूप से करना होगा, क्योंकि यह विकास का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। पौष्टिक आहार की कमी बहुत अधिक व्यापक है।

परम्परागत दस्तकारियों के विपरीत कृषि क्षेत्र पर उद्योगीकरण का प्रतिगामी प्रभाव पड़ने की सम्भावना नही है, विशेषकर निकट भविष्य में तो इस

बात की कोई सम्भावना ही नहीं है।[14]

२. नीतियाँ

इस तथ्य से कि कम-विकसित देशों में कृषि विधियों अथवा टेक्नालॉजी को अत्यधिक श्रम सघन बनना होगा, जबकि यह वर्तमान विकसित देशों मे अत्यधिक कम श्रम से चलायी जा रही है, यह प्रकट होता है कि कृषि के क्षेत्र मे उतने प्रत्यक्ष तरीके से आधुनिक टेक्नालॉजी को नही अपनाया जा सकता, जितने प्रत्यक्ष तरीके से उद्योग मे अपनाया जा सकता है। कम-विकसित देशों मे कृषि टेक्नालॉजी को विभिन्न कारको के अनुपात को ध्यान में रखते हुए संचालित करना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है।[15]

कुछ विशेष विधियों को अपनाया जा सकता है, जैसे गायों का कृत्रिम उपायों से गर्भाधान कराना, पौधो के रोगो की नये तरीको से रोकथाम, और चूहे मारने के नये तरीके। लेकिन अक्सर इनमें भी बुनियादी तौर पर कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। साधारणतया नये अनुसन्धान की तुरन्त आवश्यकता है, चाहे अक्सर इन अनुसन्धानो का आधार विकसित देशों मे हुए बुनियादी अनुसन्धान ही क्यों न हो।

इसके अलावा विकसित देशो मे आज जो आधुनिक कृषि टेक्नालॉजी अपनायी जा रही है, वह जलवायु, मिट्टी और बीजों आदि के बारे मे तीव्र और स्थानीय अनुसन्धान का परिणाम है। यह अधिकाशतया सम-जलवायु वाले देशो तक ही सीमित रही है। अत: एक अत्यधिक आवश्यक कार्य यह है कि गर्म और कम गर्म क्षेत्रों में बडे पैमाने पर इसी प्रकार का अनुसन्धान किया जाये, क्योंकि इन्ही क्षेत्रों मे अधिकाश कम-विकसित देश स्थित हैं।[16] जिन देशो के कारक अनुपात, जलवायु और अन्य बातें भी भिन्न है, उन देशों में अपने वैज्ञानिक ज्ञान के बेहतर उपयोग के लिए हमे सम्बन्धित अनुसन्धान कार्यो के लिए वित्तीय और कर्मचारियों सम्बन्धी माँगों को पूरा करना होगा क्योकि कम-विकसित देश उस पैमाने पर भी यह कार्य करने की स्थिति में नही है जो किसी प्रकार उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। अत: इस दृष्टि से विकसित देशो से सहायता मिलना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि यह मान लिया जाये कि इन कठिनाइयों को धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जायेगा और अत्यधिक तर्कसंगत और परिस्थितियों के अनुकूल कृषि टेक्नालॉजी उपलब्ध हो जायेगी, फिर भी यह कृषि सुधार का केवल समारम्भ भर होगा। करोडों किसानों को इस नयी टेक्नालॉजी का इस्तेमाल करने के लिए प्रेरित करना होगा। छोटे पैमाने पर आजमाइश के तौर पर चलायी जाने वाली योजनाएँ सर्वोत्तम मामलों में भी अधिक से अधिक एक समारम्भ मानी जा सकती हैं।

ये देश, और विशेषकर इनकी खेती, लम्बे समय से विकास की कमी से ग्रस्त रहे हैं। यदि वे अपनी आय और अपने रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना चाहते हैं तो कृषि में लगे लोगों के मन मे एक महत्त्वाकाक्षा जगाना जरूरी है, जो आज प्राय: मौजूद नहीं है।[17] उन्हें यह करने और अपनी टेक्नालॉजी को आदिम स्तर से ऊपर उठाकर आधुनिक स्तर तक लाने की प्रेरणा देने के लिए, जिस पैमाने पर शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है वह सचमुच विराट है।

एक विशेष अतिरिक्त कठिनाई यह है कि प्रश्न केवल किसी खास काम को एक नये तरीके से करने का नही होता, वल्कि अनेक प्रेरित परिवर्तनो को एक साथ स्वीकार करने और उन पर अमल करने का होता है। आवश्यकता इस बात की है कि खेती के तरीको मे समग्र दृष्टि से सुधार किया जाये, अनेक प्रेरित परिवर्तनों को एक साथ लागू करने के लिए स्वीकार किया जाये। अन्यथा न तो अच्छे परिणाम निकलेंगे और न ही कोई लाभ मिलेगा।[13]

सिंचाई व्यवस्था के द्वारा अधिक पानी की सप्लाई वस्तुतः तभी लाभदायक होती है, जब दो या तीन फसल उगाने की प्रणाली अपनायी जाये। इसी प्रकार, पानी के अभाव मे उर्वरक अधिकाशतया प्रभावहीन होते हैं और इसी प्रकार उर्वरकों के विना सिंचाई का भी पूरा लाभ नही मिलता। इसी तरह वेहतर किस्म के वीजो से पर्याप्त उपज लेने के लिए पानी और उर्वरक दोनो की आवश्यकता होती है।

कृषि टेक्नालॉजी के अन्य सब सुधारो पर भी पारस्परिक और एक-दूसरे के पूरक परिवर्तनो का यह नियम लागू होता है : अधिक गहरी जुताई, भूसंरक्षण और मिट्टी की बनावट मे सुधार, हरी खाद डालना और प्राकृतिक उर्वरकों का उपयोग, खरपतवार का वेहतर नियन्त्रण, पौधो की रोगो से रक्षा, वारी-वारी से फसल उगाने की अच्छी व्यवस्था आदि।

तेजी से उगने और तैयार होने वाले वीजों की किस्मों का विकास कृषि कार्य की गति को तेज बनाकर दोहरी फसल उगाने के मार्ग मे आने वाली वाधाओं को समाप्त कर सकता है। लेकिन इसके लिए सवमे पहले सिंचाई की जरूरत होती है। और सस्ते उर्वरको का उपलब्ध होना, परती भूमि अथवा उन भूमि में खेती करने को प्रोत्साहन दे सकता है, जिसका अब केवल चरागाह के रूप में इस्तेमाल होता है। लेकिन यह तभी किया जा सकता है, जब खेती में सुधार करने के लिए आवश्यक अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध हो।

करोड़ों अत्यधिक गरीब, अधिकांशतया निरक्षर, और [illegible] किसानों को एक पिछड़ी हुई और गतिहीन कृषि व्यवस्था में कोई [illegible] विधि सिखाना और उन्हें इस नयी विधि को पूरी निष्ठा से और उत्साहपूर्ण ढंग से अपनाने के लिए तैयार करना पर्याप्त कठिन कार्य है। अतः अनेक नयी विधियों को एक साथ लागू करने के लिए स्वीकार करना अत्यन्त कठिन होता। लेकिन अधिकाश कम-विकसित देशों में खेती की स्थिति इतनी बुरी है कि यह करने का प्रयास करना ही होगा।

उपयोग की खामी को दूर किया जा सकता है। और उस स्थिति में जबकि श्रम शक्ति निरन्तर और तेजी से बढ रही हो, यह कार्य करना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध मे यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अपने-आपमे श्रम शक्ति की वृद्धि निरन्तर अपने अधिकाश हिस्से को और अधिक निर्धनता के स्तर पर धकेलती रहती है और सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे को अधिक असमानतावादी और कठोर बनाती जाती है।[49]

और हम यहाँ उस बडी कठिनाई का सामना करते है, जो ऊपर वर्णित अन्य सब कठिनाइयो के ऊपर छायी रहती है अर्थात् अधिकाश कम-विकसित देशो मे असमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण। जिन बातो को 'भूमि सुधार' अथवा 'कृषि सुधार' कहा जाता है, जिसमे काश्तकारी सम्बन्धी सुधार शामिल है, उनकी समस्या को एक ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए सुलझाया जाना चाहिए जहाँ श्रम शक्ति को कही अधिक प्रभावशाली ढग से काम करने के अवसर उपलब्ध हो और श्रमिक प्राप्त प्रोत्साहनों से परिचित और प्रेरित हो। इस प्रकार हमारे सामने समानता के प्रश्न का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक और ठोस पहलू उपस्थित हो जाता है।

कृषि के क्षेत्र मे जिन श्रमिकों के श्रम का अत्यधिक कम उपयोग होता है, वे पूरी तरह से भूमिहीन मजदूर है, जिनका हिस्सा कुल श्रम शक्ति का चौथाई और इससे अधिक होता है। केवल आबादी के विस्फोट के परिणामस्वरूप ही नही, बल्कि अन्य कारणो से भी खेत मजदूर गाँवों मे निचले स्तर पर रहते है और भूमिहीन खेत मजदूरो का हिस्सा खेती मे लगे मजदूरो में निरन्तर बढता जा रहा है। जिन किसानों के पास जमीन तो है, लेकिन यह जमीन बेहद थोड़ी है, वे भी उसी स्थिति मे है और उन तत्त्वो का उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पडता है कि वे अपनी इस थोडी-बहुत जमीन के लाभ से भी वंचित हो जाते है। ये समूह इन परिस्थितियों के कारण निष्क्रिय रहते है और ये अपने श्रम को बढ़ाने अथवा अधिक तीव्रता से काम करने का कोई प्रोत्साहन अनुभव नही करते।

बटाई पर खती करने की व्यापक प्रणाली न तो टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तन के उपयोग की दृष्टि से लाभदायक है और न ही श्रम और धन के रूप में विनियोग की दृष्टि से। इसी प्रकार इससे खेती में प्रयुक्त श्रम की मात्रा और स्तर मे भी कोई वृद्धि नही होती, जिसकी अपेक्षा रहती है।[50] बटाई पर खेती करने वाला किसान, जो जमीन के मालिक को अक्सर आधी से अधिक उपज देता है, गरीबी और उदासीनता से निरुत्साहित और ग्रस्त रहता है।

लगान की प्रणाली उसके पास बहुत छोटा-सा हिस्सा बकाया छोडती है और यह हिस्सा उत्पादन मे वृद्धि का बहुत छोटा हिस्सा होता है। इसके साथ ही उसका काश्तकारी का अधिकार भी हमेशा खतरे मे पडा रहता है, जिसका यह अभिप्राय है कि उसके पास जमीन को सुधारने का कानून द्वारा रक्षित कोई अधिकार नही होता, चाहे वह अपने श्रम के द्वारा ही यह कार्य क्यों न करना चाहे।

साथ ही यह एक सामान्य अनुभव है कि बटाई की प्रणाली के अन्तर्गत, कुछ अपवादो को छोड़कर, जमीन का मालिक, चाहे वह बडा अथवा छोटा दूरवासी जमींदार हो अथवा किसान भूस्वामी अथवा गाँव मे रहने वाला आर्थिक दृष्टि से

वेहतर स्थिति वाला किसान, वह बटाई पर खेती करने वाले काश्तकार अथवा उपकाश्तकार की तरह ही जमीन को वेहतर बनाने के लिए न तो अपना श्रम लगाने को तैयार होता है और न ही धन। जमीन की कीमत ऊँची, अक्सर स्थिर, या यहाँ तक कि निरन्तर बढती हुई होती है और जमीन के मालिक को अक्सर कोई नयी जोखिम अथवा अतिरिक्त परेशानी या कष्ट उठाये बिना ही उपज के रूप में ऊँचा हिस्सा मिलता रहता है।

मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ, और अनेक गहन अध्ययनों से इसकी पुष्टि भी हुई है, कि दक्षिण एशिया में बटाई पर खेती की व्यवस्था उन अनेक निषेधों और अवरोधों के समूह के रूप मे विद्यमान है जो खेती की विकसित विधियों के उपयोग और श्रम के अधिक उपयोग तथा उपज बढ़ाने के उपायों के विरुद्ध प्रभावशाली ढंग से काम करते हैं। ऐसी प्रणाली "केवल सामाजिक न्याय के ही विरुद्ध नहीं है, वल्कि गाँवों के जन-समुदाय द्वारा विकास कार्यों में प्रभावशाली ढग मे हिस्सा लेने के मार्ग में भी प्राय अलंघ्य बाधा के रूप मे काम करती है।"[51]

लेटिन अमरीका की लातीफदिया और मिनिफंदिया प्रणालियों के प्रभावों के बारे में मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुत अधिक गहरी जानकारी नही है। लेकिन इस सम्बन्ध मे मैंने जो कुछ पढ़ा है और जो कुछ प्रेक्षण करने की मैं स्थिति में रहा हूँ उससे यह प्रकट होता है कि यह प्रणाली भी - जिसमे बटाई पर खेती करने की प्रणाली के तत्त्व अक्सर मौजूद रहते हैं -- इसी प्रकार टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति के विपरीत जाती है। टेक्नालॉजी की प्रगति से ही श्रम के उपयोग को वढाया जा सकता है और उपज में वृद्धि की जा सकती है।

इसके साथ ही यह तथ्य भी मौजूद है कि औसत उपज वहुत कम है और इसमे वृद्धि भी अधिक नही हो रही है, जिन देशों और जिलों मे यह प्रणाली मौजूद है वहाँ यही स्थिति मौजूद है। लेटिन अमरीका के आर्थिक आयोग के सचिवालय ने हाल मे लेटिन अमरीका की कृषि के बारे में जो विशेष रूप से निष्ठापूर्ण और तर्कसंगत अध्ययन किया है,[52] उसके विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेटिन अमरीका के विभिन्न देशो में भूस्वामित्व, किसानो के कृषि भूमि से वंचित रहने की स्थिति और दूसरे की जमीन में खेती करने वाले किसानों की प्रणाली किस प्रकार खेती की उन्नति मे बाधक बनी है:

"गाँवों की अधिकांश आवादी के पास अतिरिक्त आय नही है और उनके पास इतनी पर्याप्त जमीन भी नही है कि विनियोग मे वृद्धि की जा सके। जबकि वे लोग जो अधिकांश भूमि के स्वामी हैं और जिनकी वडी आय है, अपनी जमीन में सुधार करने, उपज बढाने, उत्पादकता मे वृद्धि करने मे अक्सर कोई दिलचस्पी नही रखते अथवा यह भी कहा जा सकता है कि उनमें यह कार्य करने की क्षमता नही है। बड़ी-बड़ी जमीदारियों से जो लाभ प्राप्त होते हैं, शायद ही कभी उनके किसी हिस्से को जमीन सुधारने में लगाया जाता हो। इसके विपरीत लाभ की राशि को शहरों में पूंजी विनियोग और ऐश-आराम की चीजों पर खर्च किया जाता है अथवा देश के वाहर भेज दिया जाता है।"[53]

वस्तुत. विशाल कम-विकसित संसार के विभिन्न देशो और एक ही देश के अलग-अलग जिलो में भूस्वामित्व और काश्तकारी की अनेक प्रणालियाँ लागू हैं। अत किसी न किसी प्रकार का कृषि सम्बन्धी सुधार (नीचे देखिए) प्रायः सर्वत्र

लागू करना अनिवार्य है; क्योंकि इन सुधारों के बिना खेती की विकसित विधियों को लागू करने की नीति सम्बन्धी प्रयासो को अमल मे लाना सम्भव न होगा।

कुछ अपवादो को छोडकर एक अन्य व्यापक रूप से लागू और सही बात यह दिखायी पडती है कि—अधिकाशतया उन देशों मे, जहाँ क्रान्तिकारी स्थिति रही अथवा जहाँ बाहरी प्रभुत्व और दवाव ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, जैसे फारमोसा का मामला—दूसरे महायुद्ध के बाद से कम-विकसित देशों मे भू-स्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों की बडी-बड़ी बातो के बावजूद प्राय: अधिक काम नहीं हुआ है। जहाँ कहीं सम्बन्धित कानून बनाये भी गये है वे मामूली सुधारो तक ही सीमित रहे अथवा शुद्ध रूप से सुधारों का नाटक किया गया। जहाँ तक भूमिहीन खेत मजदूरो का सम्बन्ध है इन सुधारों मे नियमित रूप मे ऐसी कोई व्यवस्था नही हुई, जिसके द्वारा इन लोगों को अपनी जमीन दी जा सके। दक्षिण एशिया के विशाल क्षेत्र के सम्बन्ध मे इस समस्या पर एशियन ड्रामा मे कुछ विस्तार से विचार हुआ है।[54]

वहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस क्षेत्र मे कृषि सम्बन्धी सुधारो की असफलता का मुख्य स्पष्टीकरण प्रभावशाली भूस्वामियों का प्रतिरोध है। छोटे भूस्वामियो ने इस कार्य मे बडे जमींदारों का साथ दिया, क्योंकि वे इसे अपने हित मे एकता की कार्रवाई समझते थे।

इस तथ्य के कारण कि कृषि भूमि मे पूँजी निवेश को अपनी व्यक्तिगत सम्पदा को बनाये रखने का सुरक्षित और सुविधाजनक तरीका समझा जाता है, शहरों के छोटे-बडे पूँजीपति कृषि भूमि खरीदने के लिए बहुत उत्सुक रहे है। भारत जैसे देश मे सम्भवत समस्त उच्च वर्ग, जिसकी परिभाषा पिछले अध्याय मे की गयी है, के पास कुछ न कुछ जमीन है, यद्यपि यह प्रमाणित करने के लिए आँकडे उपलब्ध नही है।

शहरो के उच्च वर्ग और गाँवों के खेती न करने वाले लोगो मे भूस्वामित्व की इस व्यापकता के कारण—और इन दोनो वर्गों मे छोटे और उच्च पदों पर काम करने वाले अनेक सरकारी कर्मचारी भी शामिल है—भूमि सुधार विरोधी जबर्दस्त गुट का निर्माण हो जाता है। यह गुट उन देशो मे जहाँ चुनाव होते है, इस कारण से शक्तिशाली नही है कि इसके पास मतदान की बडी शक्ति है, बल्कि इसका कारण यह है कि इस गुट के अन्तर्गत गाँवो और शहरों के समस्त पढे-लिखे और अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से उठाने की क्षमता रखने वाले लोग शामिल है।

इस तथ्य के अलावा कि अक्सर कुछ न कुछ जमीन पर इनका स्वामित्व होता है, वे अधिकारी जिनके ऊपर शासन चलाने और सुधारों को लागू करने का दायित्व है, गाँवो के उच्च वर्ग के लोगो मे स्वभावत: साँठगाँठ करते है और सुधारों को प्रभावहीन बना देते हैं।

गाँवों के गरीब लोग, जिनके हित की दृष्टि से सुधारों की बात कही जाती है और कभी-कभी कानून भी बनाये जाते हैं, अधिकांशतया उदासीन रहते हैं। अपने हितों के लिए संघर्ष करना तो दूर, वे लोग अपने समान हितों को देखने-समझने के लिए संगठित तक नही हैं। वर्तमान सामाजिक स्थिति मे वे असहाय हैं और पिछले अध्याय मे प्रतिपादित कथ्य को प्रमाणित करने मे इस बात से

सहायता मिलती है। कथ्य यह है कि सामान्यतया उच्च वर्ग के विभिन्न समूहों के हाथों मे ही समस्त सत्ता केन्द्रित है, जबकि सामान्य जन-समुदाय अपनी माँग नही उठा पाता और अपने हितों की रक्षा के लिए असंगठित ही बना हुआ है तथा निष्क्रिय भी है।

लेटिन अमरीका में, यद्यपि वहाँ भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली अनेक दृष्टियों से भिन्न है, कृषि सम्बन्धी सुधारों का विकासक्रम दक्षिण एशिया जैसा ही रहा है। वहाँ भी कृषि सुधार घोषित नीतियों का एक सामान्य लक्ष्य रहा और 1961 मे पुता डेल ऐस्त के घोषणापत्र मे इस बात पर बड़ी गम्भीरता से सहमति प्रकट की गयी। लेटिन अमरीका के आर्थिक आयोग के सचिवालय द्वारा लेटिन अमरीका की कृषि के अध्ययन का पहले ही हवाला दिया जा चुका है, जिसका प्रकाशन 1968 मे हुआ और जिसमे एक पूरा अध्याय "कृषि विकास मे बाधक भूस्वामित्व की प्रणाली और अन्य सस्थागत बाधाएँ" के बारे में है।[55]

इस अध्ययन के लेखकों को यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि नीति सम्बन्धी इन प्रयासों का प्रायः कोई परिणाम नही निकला है और यह भी कि "इससे वह प्रभाव स्पष्ट होता है जो बडे जमींदार विभिन्न देशो मे कृषि नीति के निर्धारण पर डालते रहे हैं और आज भी डाल रहे हैं।"[56] सहमति प्राप्त और व्यावहारिक लक्ष्यों से वास्तविक परिणामों की तुलना करते हुए लेखक कहते है :

"······शुद्ध दृष्टि से लेटिन अमरीका के देशों ने बहुत कम सफलता प्राप्त की है और आवश्यकताओं अथवा लक्ष्यो की तुलना मे तो प्राय. कोई प्रगति नही हुई है ·····यद्यपि भूमि सुधार सम्बन्धी कानून बनने और भूमि सुधार संस्थाओ की स्थापना से भूस्वामित्व और काश्तकारी की व्यवस्था मे गहरे परिवर्तनो के नवयुग के समारम्भ की आशा की जाती है, लेकिन यथार्थ मे अधिकाश सुधार कार्यक्रमों को निरन्तर प्रभावहीन बनाया गया है और इनमे से अधिकाश पूरी तरह से गतिहीन हैं······अब तक जिन परिवारो को जमीन देकर बसाया गया है, उनकी संख्या काश्तकारी करने वाले परिवारो की सख्या मे होने वाली स्वाभाविक वार्षिक वृद्धि का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा भर है······दूसरे शब्दो मे अब तक भूमि सुधार की गतिविधियो ने भूस्वामित्व और काश्तकारी की प्रणाली को नाममात्र के लिए बदला है और कोई भी कार्यक्रम सच्चा भूमि सुधार सिद्ध नही हुआ है।"[57]

पश्चिम एशिया मे, और इथियोपिया जैसे एक अफ्रीकी देश मे भी, भूस्वामित्व और काश्तकारी की समस्याएँ, यद्यपि काफी भिन्न हैं, लेकिन फिर भी दक्षिण एशिया की ऐसी ही समस्याओं से बहुत अधिक भिन्न नही है। सहारा के दक्षिण मे अफ्रीका के अधिकाश स्वतन्त्र देशो मे, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से स्थिति कम 'परिपक्व' है। इस क्षेत्र के अनेक हिस्सो मे समस्या यह निर्णय लेने की है कि क्या सामूहिक स्वामित्व की कबीलो की प्रणाली को फिर पुनर्गठित किया जाये अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की किसी प्रणाली को नये सिरे से स्थापित किया जाये। यह तथ्य विशेष प्रकार की समस्याओ को जन्म देता है कि अनेक नवस्वतन्त्र देशों मे यूरोपियनो ने कृषि भूमि प्राप्त कर रखी है और अधिकाशतया इनके पास सर्वोत्तम कृषि भूमि है। ये समस्याएँ उस स्थिति मे भी

जब ये यूरोपियन वही रहने का निर्णय करते है, मौजूद रहती है और तब भी जब ये लोग उन देशों को छोड़कर चला जाना पसन्द करते हैं।

यह अक्सर देखा गया है कि उत्पादकता की दृष्टि से सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए कृषि सुधार के साथ-साथ अन्य और पूरक संस्थागत सुधारो की भी बहुत आवश्यकता होती है। इनमे कृषि विस्तार, रियायती दरों पर ऋण देने की व्यवस्था और उर्वरकों, बीज और खेती के औजारो की सप्लाई, कृषि उपज की बिक्री के लिए बाजारों की बेहतर व्यवस्था आदि शामिल हैं।

समस्त कम-विकसित ससार में एक सामान्य नीति यह रही है कि सहकारिता के आधार पर ये सुधार किये जायें। अनेक देशों मे—जिनमें दक्षिण एशिया के सब देश शामिल हैं—इन सुधारो को गाँवों के गरीब लोगों के लाभ की दृष्टि से प्रेरणा मिली है और प्रकट रूप से इनके संचालन की दिशा भी यही है। इसका उद्देश्य अधिक आर्थिक और सामाजिक समानता की स्थापना है।

एशियन ड्रामा मे नीति सम्बन्धी इन उपायों के ऊपर दक्षिण एशिया के सन्दर्भ मे प्रायः पूरा विचार हुआ है।[58] इसमें ऋण और अन्य सहकारियों, सामुदायिक विकास और कृषि विस्तार, स्वायत्त शासन, और सरकारी खेती पर विचार हुआ है। इन सब प्रयासों के पीछे जो विचारधारा है वह सशक्त रूप से समानतावादी है। अक्सर इन्हे गाँवो में अधिक समानता की स्थापना के लिए क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के रूप में प्रस्तुत किया गया।

लेकिन इन देशों में जो असमानतावादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरीकरण है और जो इन देशो के गाँवों मे भी इसी तरह व्याप्त है, उसकी तार्किकता के अनुसार इन सब कार्रवाइयों का प्रायः नियमित रूप से विपरीत प्रभाव हुआ। साधारणतया केवल ऊँचे स्तर के लोग ही उन सुविधाओं का लाभ उठा सके, जो सहकारी संस्थाओ से प्राप्त हो सकती थी और इन संस्थाओं की स्थापना और सुविधाएँ देने के लिए जो सरकारी सहायता दी गयी उसका लाभ भी इन्ही लोगो को मिला। इसका शुद्ध परिणाम यह निकला कि असमानता मे कमी नही हुई बल्कि इसमे वृद्धि हुई।

यद्यपि लागू होने की स्थिति मे, भूमि सुधार और काश्तकारी सम्बन्धी कानून सम्पत्ति के अधिकारों और आर्थिक दायित्वों में मूलभूत परिवर्तन करने के साधन हैं, पर ये अन्य सस्थागत उपाय वर्तमान असमानतावादी सत्ता के ढांचे पर प्रत्यक्ष प्रहार करने मे असफल रहते हैं। वस्तुतः इनका लक्ष्य इस ढांचे को छुए बिना स्थिति में सुधार करना है और वस्तुतः इसका अर्थ समानता के प्रश्न से बच निकलना है।

यही बात ग्रामोत्थान के व्यापक कार्यक्रम के बारे मे भी सही है जिसे साधारणतया सामुदायिक विकास कहा जाता है और जिसके ऊपर कम-विकसित संसार और पश्चिम के विकसित देशों में बहुत अधिक आशाएँ केन्द्रित की गयी है। "इस आरम्भिक अवधि मे सामुदायिक विकास के बारे मे अधिकांश विचार-विमर्श पूरी तरह से अवास्तविक वातावरण में हुआ, क्योकि इस बात पर व्यापक रूप मे विश्वास किया जाता था कि एशिया के असख्य गाँवों में आर्थिक और सामाजिक जीवन मे क्रान्ति लाने की कुंजी इसी आन्दोलन में निहित है।"[59]

इस कार्यक्रम के असफल रहने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण यह

है कि जिस रूप में इस कार्यक्रम का संचालन किया गया, उसमें समानता के प्रश्न से बच निकलने का प्रयास भी शामिल था, जबकि निरन्तर इस कार्यक्रम को गरीबो के लाभ के लिए चलाये जाने वाला कार्यक्रम बताया जाता रहा।[60]

भारत, जो इन पूरक सस्थागत सुधारों को लागू करने का प्रयास करने वाला कम-विकसित देशों में सबसे अधिक अग्रगामी देश है, एक ऐसा देश भी है जहाँ निरन्तर *यथार्थवादी मूल्यांकन* किये जाते रहे और जहाँ *सर्वाधिक प्रवुद्ध विचार-विमर्श* जारी रहा। यहाँ जो बातें कही गयी है, उनके मूल्याकन को सम्बन्धित अध्ययनो में बड़ी ईमानदारी से स्वीकार किया गया है। जैसाकि भारत की एक सरकारी रिपोर्ट में जोर देकर कहा गया है: "जब तक समाज का और हमारे सोचने के तरीकों का वर्तमान स्वरूप कायम रहता है, विकास के लाभ का अनिवार्यतः अत्यधिक असमान वितरण होगा, और कमजोर वर्गों को सबसे छोटा हिस्सा मिलता रहेगा।" इस रिपोर्ट में कथित हितकारी नीतियो, जिनमे सामुदायिक विकास भी शामिल था, की असफलता का उल्लेख किया गया। ये नीतियाँ गाँवों के गरीब लोगों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से स्वीकार की गयी थीं।[61] अन्त में इस रिपोर्ट मे कहा गया है: "खेती का विच्छिन्न तरीका किसी भी प्रभावशाली सीमा तक खेती मे सुधार करने और उसे विवेकसम्मत बनाने को प्राय असम्भव बना देता है। जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार सम्भव होता है, वह वर्तमान परिस्थितियों के कारण सबसे बड़े भूस्वामियो को छोटे-छोटे किसानो से कही अधिक लाभ पहुँचाता है।"

इस वक्तव्य में यह निष्कर्ष निहित है कि भारत में ये पूरक संस्थागत सुधार, उन समानतावादी रुझानों के बावजूद, जो इन्हें देने का प्रयास किया जाता था, वस्तुतः अधिक असमानता की सृष्टि करेंगे, जब तक भूस्वामित्व और काश्तकारी की बुनियादी रूप से असमानतावादी प्रणाली को बुनियादी तौर पर बदला नही जाता। कम-विकसित संसार में अन्यत्र जहाँ कही इन सुधारों को लागू करने का प्रयास किया गया, वहाँ भी गाँवों के अधिक बेहतर स्थिति वाले लोगों को ही इनका लाभ मिला। और इनसे गरीब लोगों को या तो बहुत कम लाभ पहुँचा अथवा वे लाभ से पूरी तरह वंचित रहे।

पिछले कुछ पृष्ठों मे समानतावादी आदर्श की दृष्टि से इस बहुत गम्भीर स्थिति पर विचार किया गया है, क्योंकि भूमि, काश्तकारी और अन्य पूरक सस्थागत सुधारों का लक्ष्य समानता की स्थापना ही था। अब हमारे सामने स्पष्ट असफलता मौजूद है।

सुधार या तो लागू नही किये जा सके अथवा इनसे असमानता में वृद्धि हुई और यह घटना बहुत तेजी मे बढती हुई आबादी के साथ-साथ घटती रही, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। और आबादी की यह वृद्धि स्वतः अधिक लोगों को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में नीचे की ओर धकेलती जाती है और इस प्रणाली को अधिक कठोर और अलाभकारी बना देती है।

लेकिन इस घटना को उत्पादकता की दृष्टि से ही देखा जा सकता है। नि.सन्देह ग्रामीण उच्च वर्ग के कुछ सदस्यों ने—मुख्यतया उन लोगो ने जो किसान भूस्वामियों और बेहतर स्थिति वाले काश्तकारों के समूह मे आते है और जो स्वयं अपने परिवार के सदस्यों तथा खेत मजदूरों की सहायता से खेती करते है—

यह देखा कि खेती को आधुनिक बनाकर अधिक पैसा कमाया जा सकता है और इस काम के लिए सरकार से उदार सहायता प्राप्त की जा सकती है।

यद्यपि इस सम्बन्ध में भरोसे योग्य आँकड़े उपलब्ध नही है, और विभिन्न जिलो और देशो मे परिस्थितियाँ भी अलग-अलग है, पर यह समूह बहुत छोटा है, जबकि बटाई पर खेती करने वाले, नौकरो की सहायता से खेती करने वाले अधिक परम्परागत किसान, उनके खेतो मे काम करने वाले भूमिहीन खेत-मजदूर और बहुत कम जमीन वाले भूस्वामी किसान बहुत बड़ी सख्या मे है।[62] दक्षिण एशिया मे गांवो की आबादी का यह बडा हिस्सा जिस भूमि मे खेती करता है, वह समस्त कृषि भूमि का बहुत बडा हिस्सा है।

अत. उत्पादकता की दृष्टि से भी यह घटना बहुत महत्त्वपूर्ण परिणामों को जन्म नही दे सकती। पर इस बात मे सन्देह नही है कि यद्यपि प्रगतिशील किसानो की संख्या बहुत थोड़ी है, पर कम-विकसित देशो मे खेती की उपज में जो वृद्धि हुई है उसका श्रेय अधिकाशतया इन्ही लोगो को है। खाद्य और कृषि संगठन के भूतपूर्व महानिदेशक, डॉक्टर बी० आर० सेन, जिनका उद्धरण हम पहले दे भी चुके है, का भारत के सम्बन्ध मे यह कहना है कि रिपोर्टों से यह पता चलता है कि "समृद्ध किसानो और आर्थिक दृष्टि से बेहतर स्थिति वाले ग्रामीणो" को ही सामुदायिक विकास का लाभ मिला है और वे इसे 'स्वागत योग्य' बात समझते हैं। वे आगे लिखते है . "इस प्रकार भारतीय कृषि को आधुनिक बनाने मे सामुदायिक विकास सक्रिय भूमिका निभा सकता है।" लगता है डॉक्टर सेन इस बात को ध्यान मे रखते हुए यह निर्णय नहीं देते और यह सिफारिश नही करते कि यदि किसानो को [illegible] सामने रखते हुए अन्य संस्थागत सु[illegible] व्यवस्था के प्रभावशाली सुधारो के [illegible] कही अधिक व्यापक लाभ प्राप्त होता। भूस्वामित्व और काश्तकारी व्यवस्था सम्बन्धी सुधारो के अभाव ने अन्य सस्थागत सुधारों को किसानो के कही अधिक व्यापक जनसमुदाय को अन्य सस्थागत सुधारो के लाभ से वंचित कर दिया।

इसके बावजूद यदि यथार्थ स्थिति के रूप मे यह स्वीकार करना पड़े कि मोटे तौर पर भारत जैसी राजनीतिक स्थिति वाले किसी कम-विकसित देश मे वैसे सुधारो को लागू कर पाने की आशा नही है, जैसे ईमानदारी पर आधारित, प्रभावशाली भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारो की योजनाएँ बनायी जाती हैं और इनके लिए अधिकाशतया कानून भी बनाये जाते हैं, तो कृषि सम्बन्धी सुधार और ग्रामोत्थान की समस्त समस्या पर नये सिरे मे विचार किया जाना चाहिए। इस स्थिति मे यह भी निश्चित रूप से मान लिया जाता है कि किसी राजनीतिक क्रान्ति, अर्थात् वर्तमान सत्ताधारियो के विरुद्ध गरीब जन-समुदाय के विद्रोह की निकट भविष्य मे कोई सम्भावना दिखायी नही पडती (देखिए अध्याय-3 और अध्याय-12)। एशियन ड्रामा मे ऐसे पुनर्विचार का प्रयास किया गया है।[63]

ऊपर जिन दो मान्यताओं का उल्लेख किया गया है, उनके अन्तर्गत इस बात को उपयोगी समझा गया कि कृषि व्यवस्था के बारे मे पूरी तरह से नयी दृष्टि अपनाने का प्रयास किया जाये। आरम्भ मे सरकार को एक ऐसी निश्चित नीति निर्धारित कर देनी चाहिए, जिसे वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थितियो

मे वस्तुतः लागू किया जा सके।

यह नीति यह होगी कि अब तक असफलतापूर्वक जिन भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों को लागू करने का प्रयास किया गया, उन्हें त्याग दिया जाये, क्योंकि यह करने के लिए राजनीतिक संकल्प मौजूद नही है और इसी प्रकार इन सुधारों को लागू करने के लिए प्रभावशाली प्रशासन का भी अभाव है।

यद्यपि इससे कोई आमूल परिवर्तनवादी कार्रवाई सम्भव नही हुई है, फिर भी आमूल परिवर्तनवादी घोषणाओं और कानूनों ने जिस वातावरण का निर्माण किया, उसका यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव हुआ कि खेती मे लगे ऐसे व्यक्तियों के मन मे अनिश्चितता उत्पन्न हुई जो आर्थिक प्रोत्साहन का उचित लाभ उठाने की क्षमता रखते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि नीति को दोनो ओर से सबसे बुरी बातें ही हाथ लगी : समानता में वस्तुत: कोई वृद्धि नही हुई, जबकि गाँवों के उच्च वर्ग की कार्यकुशलता का इन अनिश्चितताओ के कारण लाभ नहीं मिल सका।

अतः इन परिस्थितियो मे यह उचित और ग्राह्य होगा कि पूंजीवादी कृषि व्यवस्था के पक्ष में जानबूझकर नीति सम्बन्धी निर्णय लिया जाये और किसान भूस्वामियों और समृद्ध काश्तकारों के समूह में प्रगतिशील उद्यमियों को अपने परिश्रम का पूरा लाभ उठाने का प्रोत्साहन दिया जाये। इससे अन्य ऐसे ही किसानों को यही करने का प्रोत्साहन मिल सकता है और वे लोग, विशेषकर, बटाई पर खेती करने का तरीका छोड़ सकते हैं।

इस प्रकार समानता के बुनियादी प्रश्न पर एक भिन्न कोण से और भिन्न नीति सम्बन्धी उपायों से विचार करना होगा। समानता और उत्पादकता दोनों दृष्टियों से जो बात हानिप्रद है, वह है इस समय व्याप्त अर्द्धपूंजीवाद का एक स्वरूप, जिसमें अनियन्त्रित पूंजीवाद की सबसे बुरी बातों के साथ-साथ सामन्ती व्यवस्थाओ और आर्थिक संगठन के शक्तिशाली अवशेष शामिल है।[51]

एक बात तो यह है कि विकास का सच्चा पूंजीवादी रास्ता उन लोगो के निष्क्रिय और परजीवी भूस्वामित्व को सहन नही कर सकता, जो कृषि क्षेत्र की अतिरिक्त आय को तो आत्मसात् कर लेते हैं, लेकिन इसकी उत्पादकता मे वृद्धि के लिए कोई अंशदान नही करते। काश्तकारी की एक प्रणाली के अंग के रूप मे बटाई पर खेती, दूरवासी भूस्वामित्व, और ऐसे 'किसानो' की मौजूदगी जो वस्तुत. खेती का काम नही करते, समाप्त की जानी चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक ऐसी कर प्रणाली से बहुत कुछ किया जा सकता है, जिसमें खेती के काम में हिस्सा न लेने वाले भूस्वामियों की आय पर बहुत अधिक कर लगाया जाये। इससे भी अधिक कार्य ऐसा कानून बनाकर किया जा सकता है, जिससे भविष्य में ऐसे लोगो के नाम कृषि भूमि न की जा सके, जो खेती नही करते और यह व्यवस्था विशेषकर उन लोगों पर लागू होनी चाहिए, जो गाँवों मे नही रहते। अनेक लोकतन्त्री देशों में, जिनमें स्वीडन एक है, ऐसे कानून मौजूद हैं, यद्यपि गाँवों में रहकर खेती न करने वाले भूस्वामियो की संख्या इन देशों मे बेहद कम है।

यह बात भारत मे सत्ता की स्थिति की परिचायक है कि यद्यपि 'सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति' और 'जो जोते उसकी जमीन' जैसी नीतियो का सरकारी

दस्तावेजों तक मे बडे आमूल परिवर्तनवादी तरीके से उल्लेख किया गया है, लेकिन सुधार का स्पष्ट और व्यावहारिक तरीका कभी भी नही सुझाया गया।

यदि अधिक भूस्वामी प्रगतिशील किसान बन जाते है, और खेती की विकसित विधियाँ अपनाने को तैयार होते है तो इसमे सामान्यतया श्रम की माँग मे वृद्धि होगी। यदि इसके विपरीत, किसी खास मामले मे खेती के मशीनीकरण से श्रम के अनुपयोग का प्रभाव उत्पन्न होता है तो मशीनो के उपयोग को एक ऐसे देश मे बडी आसानी से रोका जा सकता है, जिसे बाध्य होकर उद्यम और निवेश पर नियन्त्रण रखना पड रहा हो और जो निरन्तर विदेशी मुद्रा की कठिनाइयो तथा उद्योगो के लिए आवश्यक सामान की व्यवस्था के मार्ग मे आने वाले अवरोधो से लगातार संघर्ष कर रहा हो।[65]

श्रम की माँग मे निरन्तर वृद्धि और बटाई पर खेती की धीरे-धीरे समाप्ति तेजी से बढ रही कृषि श्रम-शक्ति के लम्बी अवधि के हित मे होगी। यह बात जोर देकर कही जानी चाहिए कि गाँवो मे गरीब जनसमुदाय का तब तक सच्चे अर्थो मे उत्थान नही हो सकता, जब तक डटकर हाथ से काम करने के प्रति परम्परागत अरुचि को समाप्त नही कर दिया जाता और विशेषकर मजदूरी पर काम करने की अरुचि को समाज व्यवस्था और लोगो के मन से पूरी तरह उखाड़ नही फेंका जाता।

लेकिन यह आवश्यक है कि खेत मजदूरो की सुरक्षा के लिए अतिरिक्त उपाय किये जायें। ये उपाय उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है, जिस प्रकार भूस्वामियो को सच्चे अर्थों मे कृषि उद्यम के लिए प्रोत्साहन देना महत्त्वपूर्ण है। भारत मे न्यूनतम वेतन या मजदूरी के लिए कानून बनाना, निकट भविष्य मे और श्रम शक्ति के वर्तमान कम उपयोग के मौजूद रहते सम्भव दिखायी नही पडता। इसे वस्तुत. भूमि सुधार और काश्तकारी कानून से भी कही अधिक मुश्किल से सफलतापूर्वक लागू किया जा सकेगा।

लेकिन गाँवो के वर्तमान निम्नतर स्तर के भूमिहीन लोगो को थोड़ी जमीन देने के कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसके साथ ही जीवन के प्रति गरिमापूर्ण और नवीन दृष्टिकोण भी आय के एक छोटे स्वतन्त्र स्रोत के साथ-साथ उत्पन्न किया जाना चाहिए। अत्यधिक घने बसे इलाकों मे भी परती भूमि को इन लोगों को छोटे-छोटे हिस्सो मे बाँटा जा सकता है। वर्तमान कृषि भूमि की वर्तमान व्यवस्था को बहुत अधिक गम्भीरता से बदलने की आवश्यकता नही है—कुछ इलाकों में तो इसमे जरा भी परिवर्तन करने की आवश्यकता नही होगी।

भूमि के बहुत सीमित वितरण की ऐसी किसी योजना मे यह अनिवार्य होगा कि जमीन को प्राप्त करने और उसके इस्तेमाल का असीमित अधिकार केवल व्यक्तियो के रूप मे भूमिहीन लोगों को ही प्राप्त हो। भारत मे, जहाँ भूमिहीन लोगो को परती जमीन देने के बहुत छोटे पैमाने के प्रयास किये जा रहे है, इन लोगो को ग्राम पंचायत के नियन्त्रण मे (जिनके ऊपर अधिकाशतया भूस्वामियों की उच्च जातियों का प्रभुत्व है) सहकारी समितियो के रूप मे सगठित होने के लिए दबाव डालने के प्रयास मे यह सन्देह जगता है कि इसका उद्देश्य नीची जाति के लोगो को भूस्वामी की गरिमा प्राप्त करने से रोकना था चाहे इस भूस्वामी का खेत कितना भी छोटा क्यो न हो।[66] वास्तविकता चाहे कुछ भी क्यो न रही हो

पर इसका यही प्रभाव हुआ।

वस्तुत: नीति सम्बन्धी ये सब उपाय समग्र रूप से यदि लागू किये जायें तो इनका परिणाम अत्यधिक दूरगामी भूमि सुधार होता है। यद्यपि यह सुधार उससे भिन्न किस्म का होगा, जिस पर बहुत अधिक विचार होता है और जिसे लागू करने का प्रयास कानून बनाकर किया जाता है खेती में उत्पादकता में वृद्धि की दृष्टि से यह कहीं अधिक प्रभावशाली होगा। इसके साथ ही यह ग्रामीण जन-समुदाय को कही अधिक समानता और आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे के भीतर कही अधिक गतिशीलता की दृष्टि से भी परिवर्तित करेगा।

ऐसे लोग हैं जो यह जोर देकर कहेंगे कि भारत में इन प्रस्तावों की दिशा में वस्तुत: विकास हो रहा है। पर परम्परागत तरीके से भूमि के पुनर्वितरण और काश्तकारी सम्बन्धी कानून को लागू करने के प्रयास में घटती हुई दिलचस्पी के अलावा यह बात सच नहीं है।

एक बात तो यह है कि जोतने वाले को जमीन देने के आमूल परिवर्तनवादी लक्ष्य के बारे में हाल तक निरन्तर जो घोषणाएँ हर प्रकार की सरकारी रिपोर्टों मे की जाती रही है, उनके परिणामस्वरूप भूस्वामित्व के बारे में अनिश्चितता बनी हुई है।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रकट रूप से यह दिखायी नही पड़ता कि बटाई पर खेती करने और गांवों से दूर रहने वाले तथा निष्क्रिय और दूसरे के परिश्रम पर जीने वाले भूस्वामियों के विरुद्ध कदम उठाने की कार्रवाई पर कोई विचार किया जा रहा है।

भूमिहीन खेत-मजदूरो की सौदाकारी की क्षमता को बढाने के लिए उन्हें छोटे-छोटे खेत देकर व्यावहारिक कदम उठाने में भी कोई दिलचस्पी नही दिखायी जा रही है।

मैंने कृषि नीति को जिस दिशा में उन्मुख करने के सुझाव दिये है, उस दिशा मे भारत में कृषि नीति को संचालित करने की सम्भावनाएँ राजनीतिक दृष्टि से आशाप्रद दिखायी नहीं पड़ती। शहरों में रहनेवाले दूरवासी भू-स्वामी और खेती न करनेवाले 'किसान' सत्ता की दृष्टि से प्रभावशाली स्थिति मे हैं। और बटाई पर खेती, यद्यपि यह बहुत बर्बादी का कारण है, इतनी लाभदायक है कि जिन्हें इससे लाभ प्राप्त होते हैं वे कभी भी परिवर्तन का समर्थन करने का रुझान नही दिखायेंगे।

गांवों के निचले वर्ग के लोग निष्क्रिय है और अपने हितों की रक्षा के लिए उनका कोई संगठन भी नही है। और यह भी आशा नही की जा सकती कि वे इतने समझदार और परिष्कृत बन जायेंगे कि वे भूस्वामियों द्वारा प्रगतिशील तरीकों से खेती करने की बात को अपना सर्वोत्तम हित समझने लगें। यह बात इस दृष्टि से और भी कठिन हो जाती है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि बटाई पर खेती करनेवाले लोग वेतन पर काम करनेवाले नौकर बन जायेंगे, जिसे उनमे से अनेक व्यक्ति अपना सामाजिक पतन समझेंगे।

इस स्थिति मे ये लोग भूमिहीन लोगों को भूमि के पुनर्वितरण के अन्तर्गत छोटे-छोटे खेत देने की बात को बेहतर ढंग से समझ सकेंगे। लेकिन भूमिहीन लोगों को—जो अधिकाश नीची जाति के हैं—व्यक्तिगत भूस्वामित्व के अधीन जमीन का छोटा-सा टुकडा भी देने के प्रति अत्यन्त प्रबल विरोध है और यह बात भारत के बारे मे विशेष रूप से सही है।

आमूल परिवर्तनवादी समानतावादी सिद्धान्त के प्रति—यद्यपि यह अस्पष्ट है और किसी विशेष बात के प्रति कोई प्रतिबद्धता भी नही है—लगाव अभी भी व्यापक रूप से प्रदर्शित होता है, जिनके परिणामस्वरूप भूस्वामियों मे निरुत्साहित करनेवाली प्रतिक्रिया होती है। इसके अलावा कोई व्यावहारिक परिणाम नही निकलता।

इस बीच आबादी का विस्फोट श्रम-शक्ति के कम उपयोग को बढ़ा रहा है और इसके एक कही बडे हिस्से को विपत्तियो मे डूबे निम्न वर्ग का हिस्सा बनाता जा रहा है।

और वस्तुत. यही स्थिति बौद्धिक और राजनीतिक नेतृत्व की जबर्दस्त माँग कर रही है। इस बात को जोर देकर कहने के लिए ही मैंने वस्तुत: ये पिछले पृष्ठ लिखे है।

दूसरा कारण यह रहा कि भूमि-सुधार के इस वैकल्पिक तरीके पर विचार करते समय यह बात बडे प्रभावशाली ढग से स्पष्ट हो जाती है कि अधिक समानता की माँग और ऊँची उत्पादकता की आवश्यकता के बीच किस प्रकार मेल बैठाया जा सकता है। अपने चरम अर्थो में ये दोनो एक-दूसरे की पूरक है और एक-दूसरे पर आश्रित भी।

अपने विशाल आकार के कारण भारत विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। किसी भी अन्य कम-विकसित देश मे अधिक बेहतर ढंग से इसने आयोजन का स्वरूप निर्धारित किया है, चाहे यह 1965 और 1966 की विपत्तियों के दौरान असफल हो गया। इसके अलावा अन्य समस्त कम-विकसित देशों की तुलना मे यहाँ सब सामाजिक प्रश्नों पर कही अधिक स्वतन्त्रता से और कही अधिक गहराई से सार्वजनिक विचार हुआ।

कम-विकसित ससार मे कुछ ऐसे देश भी है, जहाँ इस गैर-परम्परागत *किस्म का भूमि-सुधार सर्वाधिक लाभकारी भी हो सकता है।* लेकिन इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की परिस्थितियों मे विभिन्न कम-विकसित देशों मे बहुत अन्तर हैं।

अत. समस्या पर इस प्रकार विचार नही किया जाना चाहिए कि मानो संसार-भर मे इस समस्या का एक ही हल है। साधारणतया इसे खेती करनेवालों के मध्य कम अथवा अधिक सीमा तक भूमि का पुनर्वितरण मान लिया जाता है, अथवा कभी-कभी इसे किसी प्रकार की सामूहिक खेती के अन्तर्गत आमूल परिवर्तनवादी तरीके से भूमि को केन्द्रित करना समझ लिया जाता है।[67]

इसके विपरीत भूमि सुधार की समस्या पर प्रत्येक देश में अलग-अलग और

कभी-कभी तो एक ही देश के प्रत्येक जिले में अलग-अलग विचार किया जाना चाहिए। विचार-विमर्श विभिन्न देशों और यहाँ तक कि इन देशो के छोटे इलाकों की परम्पराओं और वास्तविक परिस्थितियों के ऊपर आधारित होना चाहिए।

ऐसे देश है जहाँ प्रायः समान आकार के खेतो के रूप मे भूमि के पुनर्वितरण की परम्परागत योजना उपयुक्त भूमि-सुधार सिद्ध होगी। यह बात केवल उन्ही देशो पर लागू नही होती, जहाँ किसान-भूस्वामियों के बीच ज़मीन प्रायः समान रूप से पहले ही बटी हुई है, बल्कि कभी-कभी उस स्थिति में भी हो सकती है, जब बहुत बड़े-बड़े और गांवो से दूर शहरों में रहनेवाले जमीदारों के पास भी प्रायः सारी भूमि का स्वामित्व हो, जैसाकि लैटिन अमरीका में अक्सर होता है।

यदि पहले मामले में भूमिहीन खेत-मजदूरों का एक बहुत बड़ा वर्ग मौजूद है—जैसाकि थाईलेंड में है, जहाँ भूमिहीन खेत-मजदूर कुल ग्रामीण श्रम-शक्ति का सम्भवतः 40 प्रतिशत है—तो इन खेत-मजदूरो को कुछ-न-कुछ ज़मीन देने की अतिरिक्त समस्या मौजूद रहती है, यद्यपि देहाती इलाको में समस्त परिवारों के बीच समान रूप से जमीन का वितरण व्यावहारिक अथवा सम्भव नही हो सकता।

ऐसे दूसरे देश भी हैं, जहाँ सहकारिता के आधार पर कृषि-भूमि का स्वामित्व और प्रबन्ध सर्वाधिक लाभकारी सिद्ध होगा। लेकिन उस स्थिति मे यह सच्चा सहयोग होना चाहिए, झूठा नही, जैसाकि भारत के अधिकांश हिस्से में हुआ, क्योंकि वह एक ऐसा देश है, जिसने सहकारी खेती का प्रयास किया।[65] ऐसे देश अथवा कम-से-कम जिले, मौजूद हैं जहाँ बड़े पैमाने पर नगरपालिका अथवा राज्य द्वारा खेती करने के कारण यह तरीका अपनाने की सिफारिश की जा सकती थी, विशेषकर उस स्थिति में जब नये इलाकों मे खेती की व्यवस्था की जा रही हो।

पर किसी भी भूमि-सुधार में इस आवश्यकता की पूर्ति करना आवश्यक है कि इससे व्यक्ति और भूमि का ऐसा सम्बन्ध स्थापित न हो जाये जो श्रम और निवेश के प्रोत्साहन को ही समाप्त कर दे—यदि अन्य कुछ नही तो कम-से-कम अपने श्रम का निवेश करने का तो प्रोत्साहन बना ही रहना चाहिए। यदि प्रोत्साहनों का लाभ केवल उच्च वर्ग के एक बहुत छोटे हिस्से को ही नही देना है, तो इसके लिए नियमित रूप से अधिक समानता की आवश्यकता होगी।

यदि व्यक्ति और भूमि के बीच एक निश्चित सम्बन्ध कायम नही किया जा सका, तो कृषि टैक्नालॉजी के विकास और उपज बढाने के प्रयासों को विशेष सफलता नही मिलेगी। अधिकांश कम-विकसित देशों में यदि भूस्वामित्व और काश्तकारी के स्वरूप को जैसे का तैसा रहने दिया गया तो इससे खेती की विकसित विधियो को अपनाने के मार्ग में ही बहुत अधिक बाधा नहीं पड़ेगी, बल्कि इससे सम्बन्धित देश में असमानता मे भी वृद्धि होगी।

### ३. विशेष बातें

कम-विकसित देशों मे कृषि नीति का संचालन किस प्रकार होना चाहिए इस सम्बन्ध मे जो विचार, विशेषकर हाल के वर्षो में, हुआ है उससे कुछ असाधारण विशेषताएँ प्रकट हुई हैं। इन विशेषताओ का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योकि इस बात की बहुत सम्भावना है कि ये लोगों को दिग्भ्रान्त कर **विवेक-**

हीन नीति सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए प्रेरित कर सकती है।[69]

एक बात तो यह है कि कृषि में श्रम-शक्ति के बेहद कम उपयोग के महत्त्व को घटाकर दिखाया जाता है। इस श्रम-शक्ति की वृद्धि की ओर कम ध्यान दिया जा रहा है, जबकि अनेक देशों में श्रम-शक्ति दो प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक वार्षिक दर से प्राय इस शताब्दी के अन्त तक बढ़ती रहेगी। जब कभी श्रम-शक्ति के कम उपयोग की बात कही गयी, तो भी इसका उल्लेख नाममात्र के लिए ही हुआ। इस तथ्य की गतिशीलता और लाभदायक पहलू के ऊपर अक्सर जोर नहीं दिया गया और नीति के चुनाव में इस बात को विशेष रूप से सामने रखने का भी प्रयास नहीं किया गया।

इसे केवल 'बेरोजगारी' और 'अर्द्धरोजगारी' के विचार मे ही महत्त्व दिया गया और यह विचार दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप ही हुआ।[70] 'अर्द्ध-रोजगारी' को अलग-थलग करके इसके ऊपर एक स्थिर कारक के रूप में, नीति से असम्बन्धित रूप मे, विचार हुआ—अन्यथा इस शब्द की वह परिभाषा नही दी जा सकती थी जो दी गयी है[71]—और इसके अलावा 'बेरोजगारी' और 'अर्द्ध रोजगारी' दोनों की पूरी तरह अयथार्थवादी और अव्यावहारिक तरीके से एक ऐसी अतिरिक्त श्रम-शक्ति बताकर परिभाषा दी गयी, जिसे 'समाप्त' किया जा सकता था।

भारत मे मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने इस समस्या का सामना किया, लेकिन उन्होंने नैतिकतावादी दृष्टि से इसका समाधान ढूंढने का प्रयास किया। उन्होंने भारत के लोगों के 'परम्परागत आलसीपन' की बात कही और इस बात पर जोर दिया कि किसी भी रूप में आलस्य का औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता।[72]

"यदि आप अपनी अगली छुट्टियां देश के भीतरी हिस्से के किसी दूर के गांव मे बितायें तो आपको मेरे अनुसन्धान की सत्यता पता चल जायेगी। आप देखेंगे कि लोग निरुत्साहित है और भय से ग्रस्त हैं। आपको टूटे-फूटे मकान देखने को मिलेंगे, आपको स्वच्छता अथवा स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों की तलाश में असफलता ही मिलेगी। आपको ढोर बहुत ही बुरी हालत में देखने को मिलेंगे। पर इन सब बातों के बावजूद आप यह देखेंगे कि सर्वत्र आलस्य व्याप्त है।"

यदाकदा नेहरू ने भी, विशेषकर प्रारम्भिक वर्षों में, आलस्य के विरोध मे अपना विचार प्रकट किया और कहा कि एक ऐसी स्थिति मे जबकि देश में बहुत कुछ करना शेष है, आलस्य के लिए कोई स्थान नही है।

लेकिन धीरे-धीरे अन्य देशों की तरह भारत में भी ऐसी शिकायतें समाप्त हो गयी। उपनिवेशों की समाप्ति के बाद, विदेशियों ने ऐसी कोई शिकायत न करने के प्रति बड़ी सतर्कता दिखायी। इस प्रकार विदेशियों ने उस उपनिवेशी सिद्धान्त के विरुद्ध इन देशों के लोगों के विरोध के प्रति मौन सहमति प्रकट की, जिसका हमने अध्याय-1 में उल्लेख किया है।

इस पुस्तक का लेखक नैतिक दृष्टियों से सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का समाधान ढूंढने के प्रयास की निन्दा करने वाला अन्तिम व्यक्ति होगा। लेकिन इस समस्या को यथार्थवादी ढंग से प्रकट करने की आवश्यकता है। व्यापक आलस्य के ऐसे कारण हैं, जो स्वयं व्यक्ति की शक्ति के बाहर हैं। पहली बात यह

है कि स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियाँ बड़ी बुरी हैं, जो अनेक बातों पर निर्भर करती हैं। स्वास्थ्य का सबसे अधिक सम्बन्ध व्यापक जन-समुदाय की गरीबी से है। इसके अलावा यह बात अधिक बुनियादी है कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की ऐसी प्रणाली मौजूद है जिसके कारण वस्तुतः खेती करनेवाले लोगों द्वारा अधिक गहन तरीके से खेती कर उपज बढ़ाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है और जो धनराशि वे जुटा भी सकते हैं अथवा स्वयं अपने श्रम को जमीन को बेहतर बनाने के लिए लगा सकते हैं, उसे भी लगाने को तैयार नहीं होते।

इसके परिणामस्वरूप वह भयावह गरीबी उत्पन्न होती है, जो मस्तिष्क और शरीर को अपने घर के आसपास किये जाने वाले कार्यों के लिए आवश्यक शक्ति से भी वंचित कर देती है, यद्यपि ये कार्य स्वास्थ्य और आराम दोनों दृष्टियों से प्रकट रूप से लाभकारी और महत्वपूर्ण हैं।

इस पृष्ठभूमि में दोष गरीब किसानों के विशाल जन-समुदाय को नहीं दिया जा सकता, बल्कि उस बहुत छोटे उच्च वर्ग को दिया जायेगा, वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत जिसके हाथों में राजनीतिक सत्ता है और जो ऐसे भूमि-सुधार को लागू होने से रोकता है, जो श्रम के अधिक उपयोग को सम्भव और लाभदायक बना सकते हैं।

विभिन्न सीमाओं तक ये बातें कम-विकसित संसार के अधिकांश देशों पर लागू होती हैं।

कृषि में बहुत बड़े पैमाने पर श्रम-शक्ति के कम उपयोग का प्रमुख हल, जैसाकि मैंने इस अध्याय के अनुभाग-2 में दर्शाने का प्रयास किया है, आधुनिक टैक्नालॉजी को व्यापक रूप से अपनाने में निहित है, जो प्रायः बिना किसी अपवाद के अधिक श्रमगहन है। इसके लिए भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार एक अनिवार्य शर्त है क्योंकि इसी सुधार के द्वारा वस्तुतः खेती करनेवालों और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसके आधार पर खेती की विकसित विधियाँ अपनायी जा सकती हैं और जो उन्हें भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए पैसा लगाने और सबसे अधिक स्वयं अपना अधिकतम श्रम लगाने का प्रोत्साहन देता है।

[illegible]

को ऊँचा उठाने जैसे व्यावहारिक प्रश्नों पर विचार होता है, भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार को सामान्यतया बहुत कम महत्त्व दिया जाता है।

कुछ सीमा तक, ऐसे सुधारों के निर्णय लेने और उन्हें लागू करने की असफलताओं के प्रति एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती है, जिसकी चर्चा हमने अनुभाग-2 में की है। इस समस्या से सम्बन्धित राजनीतिक स्थिति पूरी तरह से निराशाजनक दिखायी पड़ सकती है।

इसके अलावा इन सुधारों से केवल लम्बी अवधि मे ही अधिक श्रम के उपयोग और अधिक उपज के रूप मे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं और इनके लिए बडे पैमाने पर पूरक सार्वजनिक निवेश के रूप में कृषि-विस्तार, ऋण और हाट-व्यवस्था सम्बन्धी सुविधाओ में निवेश की आवश्यकता होगी ।[73] पर हाल के वर्षो मे कृषि के क्षेत्र मे जो सकट उत्पन्न हुआ है, वह इन आवश्यकताओं को स्वीकार न करने का एक कारण वन सकता है ।

छोटी अवधि की दृष्टि से, जमीदार और सूदखोर इस कारण से एक उपयोगी कार्य करते हुए दिखायी पड सकते है कि वे आधा पेट भोजन प्राप्त करनेवाले कृषि-सर्वहारा वर्ग से हाट-व्यवस्था के अन्तर्गत अमान्य तरीके से अनाज प्राप्त कर शहरो के बाजारो मे पहुँचाते है । जैसाकि एक भारतीय लेखक ने, काग्रेस पार्टी के मुखपत्र मे प्रकाशित अपने लेख मे, तकनीकी भाषा के छ्म आवरण मे अपने इन विचारो को प्रकट किया है :

"(भूमि के) पुनर्वितरण से हम आबादी के उस हिस्से को जमीन देंगे, जिसकी अनाज की माँग का आय-सम्बन्धी लचकीलापन प्रायः इकाई भर है। ······यह इस दृष्टि मे विनाशकारी हो सकता है कि बाजार मे उपलब्ध अतिरिक्त कृषि-जिन्स की कमी तेजी से उद्योगीकरण के मार्ग मे बाधक बनेगी।"[74]

यद्यपि ऐसी स्पष्ट स्वीकारोक्तियाँ यदा-कदा ही देखने को मिलती है, लेकिन ऐसा क्रूर विचार कम-विकसित देशो के नीति निर्धारण करनेवाले क्षेत्रों मे शायद अपवाद स्वरूप न हो । उच्च वर्ग के लाभ की दृष्टि से अन्य पूरक संस्थागत सुधारों की दिशा में परिवर्तन करने का औचित्य सिद्ध करने के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है और जहाँ तक गाँवों मे गरीब लोगों को ऊपर उठाने का प्रश्न है, ऐसी कोई भी कारंवाई निश्चित रूप से असफल होगी जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं। और अब क्योंकि गरीबो की संख्या इतनी बडी है, अत. ऐसी कोई भी कार्रवाई लम्बी अवधि की दृष्टि से प्रगति और विकास का भी बलिदान दे डालती है ।

वास्तविक स्थिति यही है कि कृषि की समस्याओ पर सार्वजनिक बहस मे भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारो पर अधिकाश कम-विकसित देशों में कोई खास ध्यान नही दिया जाता । हाल के वर्षों मे यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढी है। एक प्रमुख भारतीय अर्थशास्त्री के० एन० राज इस घटना को बडी चिन्ता मे देखते हैं :

"मुझे इस बात की बडी चिन्ता है कि आज भारत मे साधारणतया सरकार के योजनाकारों और नीति-निर्माताओं के मध्य एक ऐसी प्रवृत्ति दिखायी पड रही है, जिसे मैं सब समस्याओ के प्रति अत्यन्त तकनीकी दृष्टिकोण कहूँगा···लेकिन अगर हम उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि चाहते हैं, तो भारत जैसे एक अत्यधिक परम्परागत समाज के संस्थागत ढाँचे को जैसे का तैसा नही छोड़ा जा सकता। यह कहते समय मेरे मन मे भूमि-सुधार जैसे उपायों की बात है, जिनके सम्बन्ध मे अब तक, यह स्थिति रही है कि हमने कम-से-कम यह बात कही कि हम दूरगामी परिवर्तन करना चाहते हैं···लेकिन अब भूमि-सुधार की चर्चा तक समाप्त हो गयी है ।"

आरम्भ मे पश्चिम के विकसित देशो की सरकारों के प्रतिनिधियों ने

संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठनों में कम-विकसित देशों में सामान्य और व्यापक तथा दूरगामी भूमि-सुधार लागू करने के प्रस्तावों पर कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर मतदान करने की इच्छा दिखायी थी।

और राष्ट्रपति जॉन एफ० केनेडी ने प्रगति के लिए सन्धि नामक संगठन के प्रमुख लक्ष्यों में भूमि-सुधार और कर-सम्बन्धी सुधारों को स्थान दिया था। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, लैटिन अमरीका की सरकारों के प्रतिनिधियों ने 1961 में 'पुनता देल एस्त' के घोषणापत्र में बड़ी गम्भीरता से इन लक्ष्यों पर अपनी सहमति प्रकट की थी।

इन अपीलों और वचनों को पूरा न किये जाने के कारण पश्चिम के विकसित देशों की ऐसी सब सिफारिशें अब स्वतः समाप्त होती जा रही है।[15] उनके विशेषज्ञों और अधिकारियों के विचार का केन्द्रबिन्दु अब अधिकाधिक मात्रा में टैक्नालॉजी-सम्बन्धी सुधार और उन्नति होता जा रहा है।

अब यह प्रश्न नहीं पूछा जाता कि भूस्वामित्व और काश्तकारी की वर्तमान प्रणाली टैक्नालॉजी-सम्बन्धी प्रगति के प्रसार में बाधक है अथवा नहीं। इस बात पर तो और भी विचार नहीं होता कि विकसित विधियों के सीमित उपयोग से वस्तुतः कम-विकसित देशों में असमानता बढ़ेगी और असमानता की इस वृद्धि को कैसे रोका जा सकता है।

व्यावहारिक अनुभव और तकनीकी ज्ञान दोनों से सम्पन्न एक अमरीकी विशेषज्ञ डब्ल्यू० ए० लादेजिस्की के इस सुझाव का कि "जब तक उन लोगों का स्वामित्व भूमि पर कायम नहीं होता, जो इसे जोतते-बोते हैं अथवा कम-से-कम काश्तकार के रूप में भूमि के ऊपर उनका सुरक्षित अधिकार कायम नहीं हो जाता, शेष सब बातें हवाई ही रहेंगी", भारत में विरोध ही नहीं हुआ, जहाँ आरम्भ में लादेजिस्की को अपना अध्ययन प्रकाशित करने में कठिनाई हुई, बल्कि संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम के अन्य विकसित देशों में भी उनकी प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी गयी।

इस बीच संयुक्त राज्य अमरीका ने अनाज की सहायता देनेवाले प्रमुख देश के रूप में सहायता प्राप्त करनेवाले देशों पर यह दबाव डाला कि वे अपनी कृषि उपज बढ़ायें। लेकिन अब इस परामर्श में भूमि-सुधार लागू करने की कोई सिफारिश शामिल नहीं की जाती।

अनेक अमरीकी विशेषज्ञ, यद्यपि तकनीकी मामलों में वे उच्च प्रशिक्षण प्राप्त है, कम-विकसित देशों की संस्थागत परिस्थितियों के बारे में प्रायः अनभिज्ञ है। ये लोग कम-विकसित देशों के शासकवर्गों के हितों से भी प्रेरित होते हैं, और जैसाकि हम कह चुके हैं ये शासकवर्ग भूमि सुधारों को लागू करने की प्रत्येक व्यावहारिक बात से निरन्तर दूर हटते गये हैं।

लेकिन यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि इन विशेषज्ञों के दृष्टिकोण पुरानी उपनिवेशी नीतियों से मेल खाते हैं और इस प्रकार वस्तुतः इन्हें नव-उपनिवेशवाद का परिणाम कहा जा सकता है।[76] जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, उपनिवेशी सरकारों ने सदा नियमित रूप से विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों से समर्थन प्राप्त किया। वे भी इन देशों के जीवन और रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे।

श्रम के अधिकतम उपयोग और कुशलता के मार्ग मे जो तत्त्व बाधक थे और जो परम्परागत कृषि व्यवस्था मे निहित थे, उन पर कानून और व्यवस्था तथा तत्कालीन आवश्यकताओं के अलावा इस कारण भी प्रत्यक्ष प्रहार नही किया गया कि साधारण उपनिवेशी नीति मुक्त व्यापार और अप्रत्यक्ष शासन की थी।

उपनिवेशों की समाप्ति के वाद, केवल टैक्नालॉजी सम्बन्धी सुधारों पर निर्भर करने के प्रति जो रुझान वढा, उसे आर्थिक आयोजन सम्बन्धी दूसरे महायुद्ध के वाद के दृष्टिकोण से बल मिला। इस दृष्टिकोण में रहन-सहन के वहुत नीचे स्तर के दृष्टिकोणो, सस्थाओं और उत्पादकता सम्बन्धी परिणामों की समस्याओ पर आँख मूंद ली गयी और इसकी यह राजनीतिक प्रवृत्ति भी थी कि भद्दी समस्याओं मे वचा जाये और आवश्यकता से अधिक आशावादिता प्रकट की जाये (देखिए अध्याय-1)।

कम-विकसित देशों मे खेती की समस्याओं का हल निकालने की प्रवृत्ति का एक वहुत वडा और विचित्र उदाहरण यह है कि इन समस्याओं पर इस प्रकार विचार किया जाता है मानो ये विकसित देशो की कुछ कृषि समस्याओं से भिन्न नही हैं—और यही वात दूसरे महायुद्ध के वाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण का सार है—यही वात खाने की चीजों के दामों और सामान्य दाम नीतियों से भी प्रकट होती है।

विकसित देशों मे, और स्वयं कम-विकसित देशों में भी, अधिकाधिक मात्रा में फिलहाल समस्त विचार-विमर्श अनाज आदि की सप्लाई को वढ़ाने के लिए इनका ऊँचा दाम वनाये रखने के महत्त्व पर जोर देने तक ही सीमित है। वस्तुतः दाम वढते रहे है और केवल उन देशो मे ही नही, जहाँ अनाज आदि की अत्यधिक कमी रही। उन वर्षों मे दाम विशेषरूप से वढे जव अनाज की कमी हुई। यह अन्तर्राष्ट्रीय दाम नीति का उतना प्रभाव नही था, जितना स्वयं कमी का।

पर इसका यह अर्थ नही होता कि नीति सम्बन्धी उपायों से दामों में वृद्धि नही की जा सकती। हम विभिन्न अध्ययनों से यह जानते हैं कि खाने की विभिन्न चीजो के तुलनात्मक दामो मे परिवर्तन से अक्सर इन चीजों के उत्पादन और सप्लाई मे तेजी से तथा पर्याप्त वृद्धि हुई है। खाने की समस्त अथवा अधिकांश चीजो के दामों मे व्यापक वृद्धि का प्रभाव अधिक जटिल मामला है।

यह असम्भव नही है कि अनाज के दामों मे ऐसी किसी व्यापक वृद्धि से कुछ कम-विकसित देशों मे अधिक उत्पादन होगा अथवा, कम-से-कम, वाजार मे अधिक अनाज मिलने लगेगा—यद्यपि यह कार्य यदा-कदा गरीव जन-समुदाय के लिए गम्भीर परिणामों सहित होगा और यह एक ऐसी स्थिति है जिसकी उपेक्षा मौन रहकर नहीं की जानी चाहिए, जैसाकि अक्सर होता है। लेकिन अधिकाश कम-विकसित देशों मे, जिसमे कम-विकसित संसार का भारत और पाकिस्तान जैसा विशाल भाग शामिल है, स्थिति इतनी सरल नही है, जैसाकि हाल तक कुछ योग्य अनुसन्धानकर्ता जोर देकर कहते रहे हैं।[17]

कुछ जटिलताओं को ही व्यक्त करना पर्याप्त होगा: केवल कुछ किसानों के पास ही, भारत मे चार मे से एक किसान के पास, साधारणतया इतना अनाज हो पाता है कि वह इसका कुछ हिस्सा वेच सके। इस तथ्य से वे कठिनाइयाँ प्रकट

हो जाती हैं जो दाम प्रणाली के माध्यम से उत्पादनकर्ता को सन्देश पहुँचाने के समक्ष आयेंगी। बाजार में बिक्री के लिए जो अनाज आता है, वह अधिकाश-तया बटाई पर खेती करनेवाले किसानो की उपज होता है लेकिन यह केवल उन्हीं की उपज नहीं होता। भूस्वामी और सूदखोर भी किसानों से जबर्दस्ती अनाज वसूल करते हैं। अनाज की वसूली का यह काम बाजार की सामान्य शक्तियों के द्वारा संचालित नही होता, बल्कि पहले से चली आ रही व्यवस्था और गाँव मे व्याप्त आर्थिक और सामाजिक सत्ता के द्वारा होता है।

इसके बावजूद, खेती की उपज का एक बहुत बड़ा हिस्सा कभी भी बाजार मे नहीं पहुँच पाता, बल्कि कृषि क्षेत्र के भीतर ही इसकी खपत हो जाती है। भारत मे यह फसल का दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई हिस्सा होता है और पाकिस्तान मे इससे भी कहीं अधिक। अत. अनाज की खपत मे वृद्धि का बाजार मे इसकी सप्लाई पर पूरी तरह अननुपातिक प्रभाव पड़ता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि पश्चिम के उस नमूने के विपरीत, जिसे अपनाया गया है, अनाज के ऊँचे दाम से बाजार में इसकी अधिक सप्लाई के विपरीत कमी आ सकती है।

खेती में लगे विशाल जनसमुदाय को इतना कम पौष्टिक आहार मिलता है कि यदि बुरी फसल के कारण दाम बढ जाते है, तो वे किसान जो यह करने की स्थिति में है, अनाज की बिक्री घटाकर इसे स्वयं खायेंगे। यह एक ऐसी स्थिति है, जिससे दाम और अधिक बढने की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यदि दाम गिर जाते हैं, तो इसके विपरीत उन्हें अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह के लिए बाध्य होकर और अधिक अनाज बेचना पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप दाम और अधिक गिरेंगे।

इसके साथ ही इस तथ्य को जोडा जा सकता है कि अधिकाश कम-विकसित देशों में जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों और खेती करने के घटिया तरीकों के कारण खेती की उपज में अक्सर बहुत घट-बढ होती रहती है। पिछले पैराग्राफ मे जिन तथ्यों का उल्लेख किया गया है, उनके परिणामस्वरूप बाजार मे अनाज की सप्लाई कुल उत्पादन की तुलना में कही अधिक विस्फोटक और अस्थिर रहेगी।

इन तथा अन्य कारणो से पश्चिम के विकसित देशों की तुलना में, कम-विकसित देशों में बाजार मे अधिक सट्टेबाजी की प्रवृत्ति दिखायी देने लगती है। पश्चिम के विकसित देशों मे एक विशेषता यह भी है कि बाजार अधिकांश-तया 'राष्ट्रीयकृत' है और अधिकाशतया सरकार और सहकारी संगठनों के हाथो में है। यह तथ्य कि गरीब किसानो को फसल कटते ही अपनी फसल का कुछ हिस्सा बेचना पड़ता है—जो अक्सर इतना बडा होता है कि उन्हे आगे चलकर स्वयं अनाज खरीदना पड़ता है—अनाज के दाम मे बहुत अधिक उतार-चढ़ाव का कारण बनता है।

परिवहन और गोदामों की अपर्याप्त व्यवस्था और कभी-कभी विभिन्न प्रान्तो की सरकारो की प्रतिद्वन्द्विता के कारण—जैसाकि भारत मे होता है—केन्द्रीय सरकार के देशव्यापी बाजारो की स्थापना तथा पूरे वर्ष भर भावो की दृष्टि से उनकी स्थिरता मे वृद्धि के प्रयास असफल हो जाते है।

लेकिन इस अवसरवादी पूर्वाग्रह से ग्रस्त अतिशय तकनीकी आशावाद के उद्गार मे गलती यह है कि नये बीजो के उपलब्ध होने की बात का इस्तेमाल कर. बड़े पैमाने पर भूस्वामित्व और दस्तकारी की प्रणाली के सुधारों की बात को पीछे डाल दिया गया है, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है।

यह निश्चय है कि वेहतर बीज कृषि सम्बन्धी सुधारों का स्थान नही ले सकते। इसके विपरीत इनके अधिक व्यापक उपयोग तथा उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि की दृष्टि से ऐसे सुधारो को पहले लागू करना और अधिक आवश्यक है। इकाफे की पत्रिका 'इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट' के एक हाल के अक मे एक लेखक महोदय पहले जोर देकर यह बात कहते है कि "खेती की आधुनिक विधियों को अपनाकर, जिसमे नये बीजों और खेती के नये तरीकों की आवश्यकता होती है, एशिया के अनेक देश काफी समय पहले ही अनाज में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर सकते थे।" और इससे आगे कहते हैं, "यह आशा पूरी होगी अथवा नही, यह बात सामाजिक संगठन की कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है, क्योकि यह सामान्य सगठन ही किसानों को आर्थिक सम्भावनाओं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।"[81]

नये बीजो और इसी प्रकार खेती की अन्य विकसित विधियो का उपयोग कृषि सम्बन्धी सुधार के बिना अधिक लाभकारी और दूरगामी नही हो सकता। वस्तुत., इन सुधारो के अभाव मे नये बीज का उपलब्ध होना उन अन्य प्रतिक्रियावादी शक्तियो से गठजोड करेगा, जो इस समय कम-विकसित देशो मे ग्रामीण आबादी मे असमानता बढाने मे सहायक बन रही हैं (देखिए अध्याय—13)।

प्रतिक्रियावादी पूर्वाग्रह के इन आरोपो को प्रमाणित करने के लिए कुछ ठोस उदाहरणो की आवश्यकता है। मैं इस कार्य के लिए संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के दो प्रमुख विशेषज्ञों और अधिकारियों, लेस्टर आर० ब्राउन और लीले शेर्ट्ज के लेखो का हवाला दूंगा।[82] ये दोनों अधिकारी राष्ट्रपति जॉन्सन और राष्ट्रपति निक्सन के प्रशासनों के संक्रमणकाल मे कृषि विभाग की अन्तर्राष्ट्रीय कृषि विकास सेवा में प्रशासकों के पद पर काम कर चुके है।

दोनों लेखकों ने अत्यधिक उत्साहपूर्ण भाषा में अपने विचार प्रकट किये है। ब्राउन के अनुसार हम "कम-विकसित संसार, विशेषकर एशिया में भूखे और घनी आबादी वाले देशो मे कृषि क्रान्ति के द्वार पर आ खड़े हुए है।"

दोनो लेखक वड़ी कर्त्तव्य भावना से बीच-बीच में ये चेतावनियां देते जाते है कि अभी बहुत कुछ करना शेष है। शेर्ट्ज इस सम्बन्ध में अपने विचार बडे प्रभावशाली ढंग से प्रकट करते है . "अन्य अनेक नाटकीय सुधारों की तरह कृषि क्रान्ति भी सर्वत्र नही हुई और न ही इसका स्थायित्व स्वचालित रूप से सम्भव है।" और ब्राउन जोर देकर कहते हैं कि कृषि क्षेत्र की नयी घटनाएँ आबादी सम्बन्धी सक्रिय नीति की आवश्यकता को कम नही करती : इन घटनाओं से केवल "मनुष्यों के साथ चल रही दौड़ में अनाज की सप्लाई को कुछ वर्ष की अग्रगामिता भर प्राप्त हो सकती है।" लेकिन ये चेतावनियाँ उनके उत्साह को गम्भीर रूप से सीमित नहीं बनाती।

ये दोनों लेखक टैक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति और इनके प्रचार के लिए सरकार के प्रयासों पर निर्भर करते हैं। राजनीतिक और संस्थागत सस्थाओं के सम्बन्ध में वे

प्राय: मौन है। वे जो बातें कहते है, वे प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण से मेल खाती है।

ब्राउन ने पर्याप्त सही ढंग से यह प्रेक्षण किया है कि, "किसानो का एक अपेक्षाकृत छोटा समूह अनाज की नयी किस्मों की खेती को तुरन्त स्वीकार कर लेता है—यह समूह उन बड़े और व्यापारिक दृष्टि से बेहतर स्थिति वाले किसानो का है, जिनके पास सिचाई और ऋण की पर्याप्त व्यवस्था है।" इससे पहले के अपने एक अन्य लेख में उन्होंने कहा है कि "भूस्वामियों और भूमिहीन लोगो के बीच सामाजिक और आर्थिक अन्तर बढ़ेगा और स्वयं भूस्वामियो के समूह के भीतर भी उन लोगो के बीच, जिनके पास उपजाऊ, अच्छी सिंचाई-व्यवस्था वाली जमीन है तथा जिनके पास मामूली खेती योग्य जमीन है, यह अन्तर बढ़ेगा।"[83]

लेकिन वे यह प्रश्न नही उठाते कि क्या जन-समुदाय की गरीबी और निष्क्रियता गांवों से दूर रहने वाले भूस्वामियों की व्यवस्था और बटाई पर खेती करने की प्रणाली खेती की नयी विकसित विधियो के और अधिक प्रसार के मार्ग में बाधक बनती है अथवा नहीं। वे इस प्रश्न में भी दिलचस्पी नही रखते कि क्या समृद्ध और प्रगतिशील किसानों के एक छोटे-से समूह द्वारा लाभकारी तरीके से इन विधियों को अपनाने के कारण कृषि सम्बन्धी सुधारों के विरुद्ध प्रतिरोध और अधिक बढ जाता है या नही।[84]

इस सम्बन्ध में शेट्ज़ें ने अधिक साहस से अपने विचार प्रकट किये हैं। नये उन्नत बीजो के उपलब्ध होने के अलावा वे कृषि क्रान्ति के क्षेत्र मे "विकासशील देशो द्वारा अपनी कृषि संस्थाओं को बेहतर बनाने के प्रयासो" को भी प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। वे उन प्रयासो का श्रेय "विकासशील देशो के प्रवुद्ध नेतृत्व" को देते हैं। यद्यपि उनका कथ्य बहुत स्पष्ट नही है, लेकिन लगता है कि वे प्राथमिक तौर पर 'दाम नीतियों' की बात सोचते है—उनका यह विश्वास दिखायी पड़ता है कि दाम नीतियों के कारण ही अनाज के दामों मे निरन्तर वृद्धि हुई है। (देखिए ऊपर)।

इस तथ्य का मुश्किल से ही उल्लेख किया गया है कि "अनेक किसानो की उपेक्षा हुई है अर्थात् उन्हे लाभ नही मिला है" और "अब तक जिन किसानो को सर्वाधिक लाभ मिला है वे ऐसे किसान है जिनके पास पर्याप्त पूंजी और पानी मौजूद है।" उन्होंने यह भी कहा है कि "आय में वृद्धि का लाभ सामान्यतया श्रमिकों को प्राप्त नहीं हुआ है" और यह भी कि "विभिन्न क्षेत्रो के बीच तथा स्वयं इन क्षेत्रों के विभिन्न समूहों के बीच आय के वितरण की समस्याएँ अनिवार्य रूप से अधिक नाज़ुक होती जायेंगी।" वे एक ऐसे इलाके का उदाहरण देते है, जहाँ चावल के उत्पादन मे उल्लेखनीय प्रगति हुई है और जहां "जमींदारो और किसानों के बीच हाल मे गम्भीर वर्ग-संघर्ष शुरू हो गया है।"

लेकिन इन बातों के आधार पर वे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष नही निकालते। इसके विपरीत वे कहते है कि "निम्नतम स्तर पर राजनीति का अच्छा प्रभाव हुआ है :······किसानों ने और अधिक सरकारी सहायता की मांग शुरू कर दी है। उन लोगों ने यह समझ लिया है कि उन्हे उर्वरको, सिंचाई, ऋण और अपनी उपज की बिक्री के लिए बेहतर हाट-व्यवस्था की आवश्यकता है। अब वे यह बात समझ गये है, जैसाकि अमरीका के किसान लम्बे अरसे से जानते है कि राजनीतिक कारंवाई इन परिस्थितियो को प्रभावित कर सकती है।"

यद्यपि उन्होने यह बात नहीं कही है पर निश्चय ही अब उन्हें इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि इस प्रकार की राजनीति का यह अर्थ होता है कि खेती को महायता देने और सरकारी अशदान देने की हर प्रकार की नीतियां अधिकाधिक अपनायी जानी चाहिए, जो भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार के अभाव में गरीब जन-समुदाय को सहायता देने की बड़ी-बड़ी घोपणाओ के बावजूद गांवों के अधिक समृद्ध वर्ग को ही लाभ पहुंचाती है।

भूमि-सुधार का केवल एक बार उल्लेख किया गया है और यह बात भी इस पर्याप्त सही[35] प्रेक्षण के माथ कही गयी है कि कुछ लोगो के लिए कृषि की प्रगति के परिणामस्वरूप जमीन के जो दाम बढते हैं उसके कारण भूस्वामी "भूमि-सुधार को नीची प्राथमिकता देने के लिए सरकार के ऊपर दबाव डाल सकते है।" शेट्र्ज पाठक के मन पर यह प्रभाव छोडते है कि वे इस बात को "अधिक उपज देने वाले बीजों की खेती का आशाप्रद और राजनीतिक प्रभाव समझते हैं", यद्यपि उन्होने यह बात बहुत स्पष्टता से नही कही है।

खैर, पर इस बात का सकेत तक नही है कि कृषि सम्बन्धी सुधार को ताक पर रख देने को रोकने के लिए कुछ न कुछ किया जाना चाहिए अथवा ऐसे मुधारों को लागू करने की बात को 'सस्थागत सुधार' कहा जाना चाहिए, जिसे 'प्रबुद्ध नेतृत्व' की प्रेरणा मिली हो, क्योंकि केवल अनाज के दाम को बढने देना और गांवो के पहले से ही समृद्ध उच्च वर्ग को और सहायता पहुँचाना ठीक नही है।

अव क्योकि सयुक्त राज्य अमरीका की यह प्रमुख सरकारी नीति बन गयी है, अत यह आशा की जा सकती थी कि विश्वविद्यालयो तथा अनुसन्धान सस्थाओं के कृषि विशेपज्ञों की वडी संख्या इसकी आलोचना करेगी, लेकिन बात इसके विपरीत ही हुई। आर्थिक समस्याओ के कुछ गिने-चुने अध्ययनकर्ताओं और मस्थाओं को आज भूमि-सुधार के विस्मृत विपय में दिलचस्पी है, लेकिन उन्हे कोई महत्त्व नही दिया जाता। साधारणतया स्थिति यह है कि विद्वत् समाज सरकारी नीति के पीछे चल रहा है।

मिशिगन राज्य विश्वविद्यालय के एशियन अध्ययन केन्द्र मे हाल मे आयोजित कृषि-विकास सम्बन्धी सम्मेलन में[36] हिस्सा लेने वाले विशेपज्ञों ने कृषि सुधार के प्रश्न की प्रायः पूरी तरह उपेक्षा कर दी। मानो इसका उस 'कृषि क्रान्ति' में बहुत मामूली-सा महत्त्व हो, जो खेती की विकसित विधियां अपनाने के बाद होगी।

खेती न करने वाले और अक्सर दूरवासी 'किसानों' अथवा बटाई पर खेती की व्यवस्था के सम्बन्ध मे एक शब्द भी नही कहा गया। सरकारी विशेपज्ञों की तरह विद्वत् संस्थाओं के विशेपज्ञ भी 'किसानों' के बारे में इस प्रकार की बात करते हैं, मानो इन देशो के किसान डेनमार्क के सामान्य किसानों अथवा कहीं अधिक बेहतर स्थिति वाले अमरीकी किसानों की तरह हो। बटाई पर खेती करने वाले और भयावह गरीबी से ग्रस्त तथा दूसरो पर निर्भर किसान-समूहों को बड़ी शिष्ट शब्दावली मे 'छोटे किमान' अथवा 'लघु कृपक' कह दिया जाता है।.

केवल सम्मेलन मे उपस्थित कुसुम नायर ने ही, जिसे भारत के गांवो की जानकारी होनी चाहिए, इस तथ्य के कारण उत्पन्न ममस्याओं को उठाया कि

'किसानों' के एक बहुत छोटे हिस्से से ही नये बीज बोने की आशा की जा सकती है और इस प्रकार दस प्रतिशत से अधिक कृषि-भूमि मे इन बीजो से खेती नही की जा सकेगी। उन्होंने किसानों की बहुत बड़ी सख्या की स्थिति को तात्कालिक महत्त्व की समस्या समझा।

"जिन किसानों को मुश्किल से अपने निर्वाह के योग्य उपज करने वाला किसान समझा जाता है, उन्हें व्यापारिक दृष्टि से उपज करने वाले किसानो में बदलने का कार्य कुछ वाणिज्यिक दृष्टि से खेती करने वाले किसानों को और अधिक वाणिज्यिक तथा विकसित विधियों को अपनाने के लिए तैयार करने से बहुत अधिक भिन्न होगा। दक्षिण एशिया की कृषि मे परिवर्तन की समस्या का यही स्वरूप है और वस्तुतः इस समस्या का महत्त्वपूर्ण मुद्दा भी। दक्षिण एशिया में किसानों की एक बहुत बडी संख्या बाजार और इसकी सम्भावनाओं का लाभ नही उठा पा रही है और इस कारण से इन किसानो से यह भी आशा नही की जा सकती कि ये तर्कसगत दृष्टि से अथवा किसी और तरीके से बाजार के इन संकेतों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया दिखायेंगे।"[87]

लेकिन अमरीकी वातावरण मे कुसुम नायर ने भी भूस्वामित्व और काश्तकारी तथा मनुष्य और भूमि के सम्बन्ध में परिवर्तन की समस्याओं को नही उठाया, ताकि मनुष्य को अधिक उपज के लिए अवसर और प्रोत्साहन देने का प्रयास किया जा सके। वे 'मूल्यों, आस्थाओं और दृष्टिकोणों' की चर्चा कर राजनीतिक समस्या से सुरक्षित ढंग से दूर ही रहीं। उन्होंने इस सम्बन्ध मे इस बात का उल्लेख नही किया कि इन मूल्यों, आस्थाओं और दृष्टिकोणों को सम्पत्तिगत संस्थाओं मे परिवर्तन के बिना प्रायः नहीं बदला जा सकता।

सन् 1965 में अमरीका के अनेक उदार संसद् सदस्यों ने संयुक्त राज्य विदेश सहायता अधिनियम की नौवीं धारा मे यह व्यवस्था करायी जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय विकास-संस्था को यह निर्देश दिये गये हैं कि वह अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर यह व्यवस्था करे कि "विकासशील देशों के लोग आर्थिक विकास के कार्य मे अधिकतम हिस्सा लें और यह कार्य निजी तथा स्थानीय सरकारी संस्थाओं को प्रोत्साहन देकर निरन्तर और अधिक आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए।"[88]

संसद् में इस धारा-9 पर जो बार-बार बहस हुई उसके तथा अन्य ऐसी ही घोषणाओं के अध्ययन से, तथा धारा-9 सम्बन्धी पर्याप्त साहित्य के अध्ययन से यह बात बडे स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि बडे प्रयास करने के बाद ही भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधारों के बारे में कुछ मामूली-सी बातें कही गयी है। जहाँ तक कृषि का सम्बन्ध है, इसके विपरीत ऋण सहकारियों, सामुदायिक विकास और अन्य ऐसे ही संस्थागत सुधारो पर ध्यान केन्द्रित रखा गया है, जो कृषि-सुधार के अभाव में केवल समृद्ध किसानों के लिए ही सहायक बने है। चाहे इनका उद्देश्य गरीब जन-समुदाय की उन्नति ही क्यों न रहा हो।

सन् 1968 की गर्मियों में एक सम्मेलन हुआ, जिसे धारा-9 को लागू करने सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना था। यह सम्मेलन निरन्तर पांच सप्ताह तक चला और इसमें चालीस विशेषज्ञों और उनके सहकारियो ने काफी बड़ी संख्या में हिस्सा लिया।[89] यहाँ भी भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार के बारे

मे एक शब्द भी नही कहा गया जबकि धारा-9 में इस लक्ष्य को इन शब्दों में व्यक्त किया गया था : "विदेश सहायता कार्यक्रम के दो स्तम्भों के रूप में आर्थिक विकास के साथ-साथ जनता द्वारा इसमे हिस्सा लेने की भी व्यवस्था की जानी चाहिए।"[90]

मेरे मन मे इस सम्बन्ध मे जरा भी सन्देह नही है कि संयुक्त राज्य अमरीका की संसद् मे जिन उदार संसद् सदस्यो ने धारा-9 का प्रस्ताव किया वे अधिकांश कम-विकसित देशो मे कृषि मे व्याप्त अत्यधिक और निरन्तर बढ़ती हुई असमानता के विरुद्ध बडी कड़ाई से अपने विचार प्रकट करेंगे और कृषि-सुधार का समर्थन करेंगे। ये बातें उस स्थिति मे होती, यदि वर्तमान राजनीतिक वातावरण प्रत्येक *व्यक्ति को इस प्रकार पूरी तरह कृषि-सुधार के विषय से विमुख न कर देता।*

मैं इससे पहले भी कुछ स्पष्टीकरण दे चुका हूँ : कम-विकसित देशों मे सत्तारूढ व्यक्तियो से सहयोग करने की आवश्यकता अनुभव करना, जबकि ये सत्ताधारी कृषि-सुधार के प्राय समस्त प्रयासो की असफलता के लिए उत्तरदायी है। इसके अलावा इन देशों की विकास समस्याओं के बारे मे पूर्वाग्रहग्रस्त युद्धोत्तर दृष्टिकोण का सामान्य प्रभाव भी है, जिसने संस्थागत समस्याओं मे दिलचस्पी समाप्त कर दी है।

वाशिंगटन मे जो वर्तमान भ्रामक स्थिति तकनीकी प्रशासको के मध्य मौजूद है और अन्य अनेक अनुसन्धान केन्द्रों मे भी जो स्थिति है, उसका उस बात से निश्चय ही कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, जिसे सम्भवत. पूरक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। अमरीकी विशेषज्ञ, वस्तुत:, इस पुस्तक के लेखक की तरह ही, कम-विकसित देशो को अमरीकी सहायता में कमी होने की प्रबल प्रवृत्ति के प्रति चिन्तित है (अध्याय 11 देखिए)। कठिन समस्याओ से जूझने की अमरीका के लोगों की परम्परागत तत्परता को बनाये रखने के लिए यह एक बड़ा प्रलोभन होगा कि इस कष्ट का सन्तुलन बनाये रखने के लिए एक अन्य दिशा में आवश्यकता मे अधिक आशावादिता प्रकट की जाये। अध्याय-1 मे यह कहा गया है कि इस प्रकार का विधिवत् पूर्वाग्रह अमरीका मे न तो विचित्र और न ही असामान्य प्रतिक्रिया है।

यह भी स्मरणीय है कि कम-विकसित देशो की कृषि समस्याओं के प्रति अधिक प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाना अमरीका के कृषि विशेषज्ञों के लिए अधिक *स्वाभाविक हो सकता है*, जो *एक राष्ट्रीय कृषि समर्थन प्रणाली के अन्तर्गत काम* करते हैं और जिसने किसानो के बड़ समुदाय को गन्दी बस्तियों की परिस्थितियों मे भयानक गरीबी मे डाल दिया है, जबकि थोड़े से किसान भूमि और श्रम की *उत्पादकता को अत्यधिक बढाने और इस प्रकार खेती के क्षेत्र में प्रमुख उत्पादन*-कर्ता बनने के लिए टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति और पूंजी विनियोग का लाभ उठा सकें। अमरीका की कृषि नीति मे सामाजिक उत्तरदायित्व का वह प्रबल प्रभाव मौजूद नही था जो यूरोप और विशेषकर स्कैंडीनेविया मे प्रकट हुआ और जिसके कारण ग्रामीण जन-समुदाय गरीबी से ग्रस्त नही रह सका।

इस प्रकार सयुक्त राज्य अमरीका मे गांवो मे गन्दी बस्तियो की समस्या उत्पन्न हुई। यह समस्या अपने-आपमें बड़ी गम्भीर है और शहरो की गन्दी बस्तियो की इससे भी कही अधिक गम्भीर समस्या के लिए आंशिक रूप से

जिम्मेदार है। लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका मे—जहाँ लम्बे अरसे से देश की कुल आबादी के दस प्रतिशत से कम लोग खेती में लगे है और यह अनुपात भी निरन्तर घटता जा रहा है—यह समस्या, उदाहरण के लिए भारत की समस्या की तुलना में बच्चों-जैसा खेल है; क्योकि भारत मे खेती में लगी आबादी 70 प्रतिशत है और इस बात की कोई आशा नही है कि इनकी संख्या में तेज़ी से कमी होगी अथवा अगले कुछ दशकों मे इस संख्या मे किसी भी प्रकार की कमी होगी।

विकास को स्वयं अपना रास्ता ढूँढ निकालने के लिए छोड़ देने और इसके साथ ही 'कृषि क्रान्ति' के आगमन ने, जो मुख्यतया टेक्नालॉजी की प्रगति के कारण हुई और जिसमें गरीबो को कोई सुरक्षा प्रदान नही की गयी और गरीबों को इसका लाभ पहुँचाने का प्रयास नही किया गया, संयुक्त राज्य अमरीका के लिए ऐसी समस्याओं को जन्म दिया जिनका हल अभी तक नही निकाला जा सका है। भारत और अन्य अनेक कम-विकसित देशों में यही खतरा खेती में लगी विशाल जनसंख्या के अधिकाश भाग के समक्ष मौजूद है, जो लम्बे अरसे से खेती से ही सम्बद्ध है और यह जनसंख्या उन समस्त संकटों और अन्य परिणामों सहित निरन्तर बढ़ती रहेगी जो इस वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते है। मैं अध्याय-13 में इस समस्या पर फिर विचार करूंगा।

इस स्थिति का एक और स्पष्टीकरण यह है कि हाल के वर्षो मे नीति सम्बन्धी प्रश्नो के बारे में अनुकरण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी है और अमरीकी विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान केन्द्रों के विशेषज्ञ अक्सर अमरीका के स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हैं। मैंने उस समय भी यह बात उठायी थी, जब संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन को साझा बाज़ार की सदस्यता दिलाने की नीति पर चल रहा था। प्रोफेसर लोग सरकारी नीति के "स्वर में स्वर मिलाकर गाते हैं" क्योकि अक्सर वे यह अनुभव करते है कि उन्होने इस नीति के निर्धारण में योगदान किया है। इसका परिणाम नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर अनुकरण के रूप मे दिखायी पड़ता है, जिसने सार्वजनिक विचार-विमर्श को समाप्त कर दिया है।[91] इस दिशा में कार्य करने वाली अनेक शक्तियाँ है : शीतयुद्ध की विरासत और जॉन फोस्टर डलेस-जोसेफ मैकार्थी युग मे राष्ट्रीय अनुशासन के दवाव का अनुभव; परामर्श के लिए विश्वविद्यालयों से विशेषज्ञो को वाशिंगटन लाने के तरीके की व्यापकता और विभिन्न अनुसन्धान कार्यो के लिए वाशिंगटन स्थित संस्थाओं द्वारा सरकारी धन देने की व्यवस्था, जिसमे व्यापक दृष्टि से विदेश नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी संस्थाएँ भी शामिल है। केवल एक 'औद्योगिक सैनिक संगठन' के बारे में ही, जिसके सम्बन्ध मे स्वर्गीय राष्ट्रपति आइज़नहावर ने राष्ट्र को चेतावनी दी थी, बात करना सम्भव नही है, बल्कि एक 'सरकारी-विद्वत् संगठन' के बारे मे चर्चा करना भी सम्भव हो गया है।

जब कोई प्रश्न देश के लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और जब यह वस्तुतः एक सच्चा विभाजन करने लगता है, जैसाकि विएतनाम युद्ध के सम्बन्ध मे हुआ, तो अनुकरणवाद समाप्त होने लगता है। लेकिन तब भी यह कार्य विलम्ब से और कम पूर्णता से होता है। हाल के वर्षों में ऐसे संकेत देखने को मिले हैं कि राष्ट्रीय और विदेश नीति सम्बन्धी अनेक प्रश्नों के क्षेत्र में भी ऐसी ही

स्वस्थ प्रक्रिया शुरू हो गयी है और इसके कारण अमरीका के "विचार-विमर्श के द्वारा शासन" के आदर्श को अधिक वास्तविक ढग से पूरा किया जा सकेगा। लेकिन कम-विकसित देशो मे कृषि सम्बन्धी सुधार की समस्या राष्ट्रीय चिन्ता के इस स्तर तक ही नही पहुँच पाती।

जब कम-विकसित देशों मे कृषि-सुधार के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका मे दिलचस्पी के अभाव की सैद्धान्तिक प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया जाता है, तो यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि ऐसी ही प्रवृत्ति स्वयं कम्युनिस्ट देशो की सरकारो के भीतर काम करने वाले लोगो और इन सरकारो से सम्बद्ध लोगो मे ही दिखायी नही पडती, बल्कि पश्चिम के विकसित देशों मे भी दिखायी पडती है। इस प्रश्न पर संयुक्त राज्य अमरीका ने सचमुच 'स्वतन्त्र ससार' का नेतृत्व किया है।

अब क्योंकि सब दिलचस्पी रखने वाली सरकारें इसी तरीके से सोच रही है—कम्युनिस्ट देशो ने तो गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशों में कृषि-सुधार की समस्याओ पर विचार करने की बेहद कम उत्सुकता दिखायी है—अतः इस कारण से अन्तर सरकार संगठनों की कार्यसूची और प्रकाशनों से भूमि-सुधार का प्रश्न अन्तर्धान होता जा रहा है।

खाद्य और कृषि संगठन के प्रकाशन 'दि स्टेट आफ फूड ऐंड एग्रीकल्चर 1968' के पिछले अंक मे इस बात का प्राय कोई उल्लेख नही है। खाद्य और कृषि संगठन के सचिवालय का भूमि-सुधार सम्बन्धी एक छोटा-सा अनुभाग निरन्तर बड़ी लगन और साहस से इस विषय का अनुसन्धान और अध्ययन करता जा रहा है और खेती के विकास मे तथा इसके तात्कालिक महत्त्व की दृष्टि से भूमि-सुधारों के सर्वोपरि महत्त्व पर जोर देता जा रहा है।[92] चाहे इस अनुभाग की गतिविधियो को कम न भी किया जाये, पर सम्भवतः इसे खाद्य और कृषि संगठन की प्रमुख नीति को प्रभावित करने की अनुमति नही दी जायेगी।

ये पंक्तियां लिखते समय खाद्य और कृषि संगठन का वृहद् प्रकाशन 'प्रोविजनल इंडिकेटिव वर्ल्ड प्लान फार एग्रीकल्चरल डेवेलपमेंट'[93] प्रकाशित हुआ है। इसके सम्बन्ध में अनेक बातें कही गयी है, लेकिन इस बात में सन्देह नही है कि तथ्य इकट्ठा करने और उनका विश्लेषण करने सम्बन्धी यह कार्य आगामी वर्षों मे कृषि की समस्याओ पर विचार-विमर्श का बुनियादी स्रोत बना रहेगा। इस रिपोर्ट के लेखकों ने रिपोर्ट के शीर्षक मे 'इंडिकेटिव' शब्द को बड़ा महत्त्व दिया है। यद्यपि इस संसारव्यापी प्रयास में समस्या की व्यापकता और किस प्रकार विभिन्न लक्ष्य मात्रात्मक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, दर्शाने की कोशिश सही दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

इस अध्ययन में श्रम के उपयोग की समस्या को उचित महत्त्व दिया गया है। इसमें 'प्रगति का एक माध्यम भूमि-सुधार' शीर्षक अध्याय शामिल किया गया है और इस अध्याय को 'मानवीय साधनों के उपयोग' सम्बन्धी खण्ड में रखा गया है। इस अध्याय मे कहा गया है कि विभिन्न देशो और यहां तक कि एक ही देश के विभिन्न जिलों मे परिस्थितियां अलग-अलग हैं। और इस बात पर जोर दिया गया है कि भूमि-सुधार की समस्या पर 'यथार्थवादी दृष्टिकोण' से विचार करना होगा।

इसके बावजूद यह आशंका है कि अमूर्त सम्बन्धो और आवादी में वृद्धि तथा ऊँचे प्रतिशत के रूप में उपज बढ़ाने की तकनीकी सम्भावनाओं को अत्यधिक सूक्ष्मता से व्यक्त किया जायेगा। इससे उस तकनीकी भ्रमजाल को समर्थन मिलेगा, जिसका मैं पहले जिक्र कर चुका हूँ।

संयुक्त राष्ट्र की 1965 की विश्व की सामाजिक स्थिति सम्बन्धी रिपोर्ट[94] में, जिसे उन्नत बीजों के इस्तेमाल के फलस्वरूप विचार और नीति पर पड़ने वाले प्रभाव से पहले तैयार किया गया था, एक छोटा-सा अध्याय 'कृषि-सुधारों का प्रोत्साहन सम्बन्धी महत्त्व' शामिल किया गया था।[95] इसका प्रमुख मुद्दा यह था कि "अनुभव से यह प्रकट होता है कि भूमि का पुनर्वितरण सदा सफल सिद्ध नही हुआ।"

इस रिपोर्ट के लेखक आगे यह विचित्र प्रेक्षण करते हैं कि "राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ भूमि के पुनर्वितरण के विरुद्ध अपना प्रभाव डाल सकती हैं और इस कारण से किसी-न-किसी रूप में काश्तकारी की प्रणाली को कायम रखना होगा।" इस प्रश्न पर वे अधिक स्पष्टता से कहते हैं कि काश्तकारों की स्थिति मे सुधार करने के मार्ग में प्रमुख बाधा जमींदारों की राजनीतिक और सामाजिक शक्ति है। इस रिपोर्ट के लेखकों के अनुसार सुधार की आवश्यकता है लेकिन पाठक को इस सम्बन्ध में बिल्कुल अन्धकार में छोड़ दिया जाता है कि आखिर ये लेखक किस रूप में यह सुधार चाहते है।

वर्ष 1967 की रिपोर्ट में,[96] जो सामान्यतया एक अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है, एशिया और लेटिन अमरीका मे भूमि-सुधार के प्रश्न पर पर्याप्त दिलचस्पी दिखायी गयी है। उसमें वर्तमान स्थिति और इसके मूल कारण का स्पष्टता से उल्लेख किया गया है। लेकिन यह पाठक को इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नही देती कि भूमि-सुधार का उत्पादकता से क्या सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए।

इस समस्या सम्बन्धी तथ्यों के उल्लेख और नीति सम्बन्धी प्रश्न उठाने मे लेटिन अमरीका, एशिया और अफ्रीका के क्षेत्रीय आर्थिक आयोगो के सचिवालयों ने बहुत अधिक स्पष्टता और साहस दिखाया है। यूरोपीय आर्थिक आयोग का एक भूतपूर्व अधिकारी होने के नाते और दूसरे आर्थिक आयोगों के सचिवालयों से घनिष्ठ सम्पर्क से काम करने के नाते मुझे कृषि-सुधार और समानता के प्रश्न पर इन आयोगों के हाल के सामान्य निष्कर्षों के उद्धरण देने मे बड़े गर्व और सुख का अनुभव हुआ है।

एक ऐसी घटना सामने आयी है, जो विकसित देशों की सरकारों, अधिकारियों और विशेषज्ञों को कम-विकसित देशों में कृषि सम्बन्धी सुधारों के बारे मे अब और अधिक चिन्ता न करने का कारण प्रस्तुत करेगी। यह है—अधिकांश कम-विकसित देशो का इन सुधारों को लागू करने मे भयंकर रूप से असफल रहना। कम-विकसित देशों में आज राजनीतिक सत्ता का जो स्वरूप है उसके कारण ये लोग भूमि-सुधार को एक ऐसा प्रश्न समझ सकते हैं जो अब बेजान हो चुका है।

ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए, जैसाकि मैं कह चुका हूँ, अधिकाश कम-विकसित देशो मे राजनीतिक सत्ता के वितरण सम्बन्धी कुछ ठोस कारण मौजूद हैं। लेकिन एक ऐसे निराशावादी निष्कर्ष को तार्किकता के द्वारा तकनीकी आशावाद मे बदलना ईमानदारी की बात नही है, क्योकि इस प्रकार उस गम्भीर स्थिति को छिपा लिया जाता है, जो खेती की विकसित विधियों के व्यापक प्रसार मे बाधक बनेगी। और इसी प्रकार कम-विकसित देशों की कृषि मे लगी विशाल आबादी मे निरन्तर बढती असमनता की खाई के इतने ही गम्भीर प्रभाव को छिपाया जाता है।

लम्बी अवधि की दृष्टि से एक और प्रश्न उठाया जा सकता है : इस प्रकार की 'कृषि क्रान्ति' का इन देशो मे राजनीतिक स्थिरता पर क्या प्रभाव पडता है? (इस समस्या पर हम अध्याय-13 मे फिर विचार करेंगे)।

इसके अलावा यह प्रश्न भी उठाया जाना चाहिए कि क्या ऐसी निराशावादिता के लिए सचमुच निर्णायक कारण मौजूद है। यह तथ्य है कि विकसित देश, और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार, कृषि नीतियो के सम्बन्ध मे कम-विकसित देशो की सरकारो पर दबाव डाल रहे है। क्या यह आवश्यक है कि यह दबाव समानता के प्रश्न की इस प्रकार पूरी तरह से उपेक्षा कर दे, जबकि समानता का प्रश्न उत्पादकता की दृष्टि से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है?

इसका एक प्रभाव यह है कि सब उदारतावादी लोग—दूरगामी और आमूल परिवर्तन चाहने वाले लोगो का चाहे हम उल्लेख न करें—कम-विकसित देशों मे अपने इस विश्वास से बडा आश्वासन प्राप्त करते हैं कि विकसित देश, विशेषकर सयुक्त राज्य अमरीका, उनके अपने देशो मे राजनीतिक प्रतिक्रिया का समर्थन कर रहे है।

स्थिति चाहे कुछ भी क्यो न हो पर स्वतन्त्र अध्ययनकर्ताओ को सरकारो की राजनय के अनुरूप आचरण करने का कोई अधिकार नही है। यह उनका स्पष्ट कर्तव्य है कि वे पूरी तरह से अपनी आँखें खोलकर काम करें, पूर्वाग्रह से मुक्त यथार्थ का अन्वेषण करें और जब कभी उनकी अथवा दूसरी सरकारें संकीर्ण दृष्टि वाली अवसरवादिता अपनायें और कम-विकसित देशो मे प्रतिक्रियावादी शक्तियो को मजबूत बनाने का प्रयास करें, तो उनकी आलोचना करें। राजनीतिक पराजय के भाव को, चाहे इसे 'आशावाद' अथवा 'निराशावाद' के रूप में प्रकट किया जाये, निरपेक्ष अनुसन्धान मे स्वीकार नही किया जा सकता। (देखिए अध्याय 1 और 2)।

### 4. निष्कर्ष

यह आशा की जाती है कि इस अध्याय मे अनेक बातो को सिद्ध किया गया है : (1) विभिन्न कम-विकसित देशों मे उनकी परिस्थितियो और सम्भावनाओं के अनुरूप भूमि-सुधार का विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान, जबकि इस सुधार का लक्ष्य मनुष्य और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध कायम करना हो कि खेती करने वाले को अपने श्रम का भरपूर फल प्राप्त करने का अवसर और प्रोत्साहन हो; (2) अन्य सब संस्थागत सुधारो को भी ऐसी ही नयी दिशा देने की आवश्यकता, ताकि इनसे सामान्य जन-समुदाय को लाभ पहुँचे और ये वर्तमान की तरह अमीर और गरीब के बीच का अन्तर न बढाते जायें। ये सस्थागत सुधार है—कृषि

विस्तार कार्यो की व्यवस्था और उनके लिए सरकारी सहायता, हाट-व्यवस्था और उर्वरकों, पानी, बीज, मशीनों और खेती के दूसरे औजारो का उपलब्ध होना और (3) अन्य सुधारों की दिशा के पुनर्निर्धारण को प्रभावशाली बनाने में कृषि-सुधार का महत्त्व।

अधिक समानता की दृष्टि से इन सुधारो की आवश्यकता है, क्योकि इन्ही सुधारो के माध्यम से खेती की विकसित विधियो को व्यापक रूप से अपनाने की व्यवस्था की जा सकती है, श्रम का उपयोग बढाया जा सकता है और कृषि उपज में वृद्धि की जा सकती है।

यहाँ एक बात का और उल्लेख करना महत्त्वपूर्ण होगा कि अधिक समानता स्थापित करने और उपज को अधिक तेजी से बढ़ाने के लिए इन समस्त विशाल सुधारों को स्वय कम-विकसित देशो को लागू करना चाहिए। इन्हे इस सम्बन्ध में कानून बनाने चाहिए, प्रशासन को बेहतर बनाना चाहिए और सुधारो सम्बन्धी इन कानूनों को लागू करना चाहिए।

इन संस्थागत सुधारो के सम्बन्ध मे विकसित देशों का प्रमुख दायित्व यह है कि वे कम-विकसित देशों मे उन शक्तिशाली निहित स्वार्थो को और मजबूत न बनायें जो इन सुधारों को लागू करने में विलम्ब कराते आये हैं, इनकी दिशा बदलकर इन्हें प्रभावहीन बनाते आये है अथवा इन्हे पूरी तरह से रोक देने में सक्रिय रहे हैं। संस्थागत सुधार के प्रश्न पर विचार का प्राय: पूरा निषेध कर हम इधर ठीक यही कार्य करते रहे है।

अब विकसित और कम-विकसित देशों मे भी अध्ययनकर्ता इस निषेध को अधिकाधिक मात्रा मे स्वीकार करते जा रहे है और इस निषेध का पालन कर रहे है। ये मिलकर दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को इस सीमा तक आगे बढाते जा रहे हैं, जहाँ यह कम-विकसित देशों की प्रगति के लिए अधिकाधिक खतरनाक होता जाता है, क्योकि इस प्रकार इन देशों की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को समर्थन मिलता है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, यह नव-उपनिवेशवाद की एक अभिव्यक्ति है।

विकसित देशों को सबसे पहले यह करना चाहिए कि अनुसन्धान कार्यो पर ध्यान केन्द्रित करें। कुछ सीमा तक यह काम शुरू हुआ है, जिसे बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। उष्ण और कम उष्ण क्षेत्रों मे कृषि उपज की भौतिक और जीव-विज्ञान सम्बन्धी परिस्थितियो के बारे मे तीव्र और स्थानीय रूप से अनुसन्धान किये जाने चाहिए। इस अनुसन्धान कार्य के लिए कम-विकसित देशो के पास न तो पर्याप्त वित्तीय साधन हैं और न ही प्रशिक्षित कर्मचारी। अधिक उपज देने वाली अनाज की किस्मों को तैयार करने के बारे में हाल मे जो प्रगति हुई है वह इस बात का एक और तथा शानदार उदाहरण है कि अनुसन्धान के रूप मे विकसित देशों द्वारा सहायता क्या-क्या कर सकती है।

लेकिन इन सफलताओं का बहाना बनाकर आवश्यक संस्थागत सुधारों मे बच निकलने का प्रयास नही किया जाना चाहिए। वास्तविकता यह है कि ये सफलताएँ इन सुधारो को और आवश्यक बना देती हैं।

विकसित देशों को कम-विकसित संसार में भुखमरी की स्थिति को रोकने के लिए आपत्कालीन सहायता देने की अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह जारी रखना

चाहिए। अनाज की सहायता की जिम्मेदारी सब विकसित देशों के ऊपर होनी चाहिए और यह सहायता संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में विश्व खाद्य कार्यक्रम की बहुद्देशीय व्यवस्था के अन्तर्गत दी जानी चाहिए। यह सहायता इस जोखिम-भरी स्थिति मे नही दी जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका के पास अनाज का फालतू भण्डार है और वह इससे छुटकारा पाना चाहता है। और वह 'शान्ति के लिए अनाज' और बाद में 'स्वतन्त्रता के लिए अनाज' जैसे नामों से इसे अपनी विदेश नीति का अंग बना लेता है।

जैसाकि खाद्य और कृषि संगठन के अनेक अध्ययनों से प्रकट होता है, और कुछ सीमा तक व्यवहार में भी जो प्रमाणित हो चुका है, अनाज के रूप में सहायता श्रम के अधिक उपयोग और उत्पादन में वृद्धि का सकारात्मक साधन बन सकती है। पूंजीगत सहायता, पानी, उर्वरकों और हर प्रकार के खेती के औजारों को अधिक मात्रा मे उपलब्ध कराया जा सकता है।

लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन स्वयं कम-विकसित देशो को लाने होंगे और इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सम्बन्ध इन देशों के संस्थागत ढांचे से है : अधिक समानता की स्थापना और इसके साथ ही भूमि और श्रम की ऊँची उत्पादकता कायम करना।

•

अध्याय : 5

# आबादी[1]

## 1. तथ्य

कम-विकसित देशो के यथार्थ की दृष्टि से 'राष्ट्रीय आय' अथवा 'उत्पादन'[2] जैसी आर्थिक शब्दावली अत्यधिक अपर्याप्त है और आर्थिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण मे इनका प्रयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। इसके अलावा 'बचत अनुपात'[3] 'बेरोजगारी' अथवा 'अर्द्ध-रोजगारी'[4] ऐसे आर्थिक शब्द हैं, जिनका इस्तेमाल किया ही नहीं जा सकता। पर मात्रात्मक आबादी की समस्याओं के विश्लेषण के लिए उपलब्ध संकल्पनाओ पर यह बात लागू नही होती क्योकि ये संकल्पनाएँ ऐसी तर्क सम्बन्धी खामियों से ग्रस्त नही है। जन्म, मृत्यु, आबादी का आकार, उम्र और स्त्री-पुरुषो की संख्या और यहाँ तक कि प्रवास भी मनुष्य के जैविक अस्तित्व के अत्यधिक स्पष्ट तथ्य हैं।[5]

इसके अलावा, आबादी सम्बन्धी कारणों की मात्राएँ एक-दूसरे से इतनी सरल और स्पष्ट रूप से संगत प्रक्रिया से सम्बद्ध है कि उपलब्ध आँकड़ों की सत्यता को जाँचा जा सकता है और गलतियों का सुधार किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, आबादी में विभिन्न उम्र-वर्गों की स्थिति को इससे पहले की अवधियो की जन्म और मृत्यु-दर के अनुसार जांचा जा सकता है और इन तीनो कारकों का ध्यान रखते हुए, बेहतर निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

आबादी सम्बन्धी विकास या वृद्धि के हमारे ज्ञान को जो वस्तु स्पष्ट बनाने से रोकती है, वह है मौलिक प्रेक्षणों और उनके आधार पर की गयी गणनाओ की कमी और अविश्वसनीयता। कुछ गिने-चुने कम-विकसित देशो में ही आबादी के आकार के बारे में विश्वास-योग्य आँकड़े उपलब्ध हैं और साधारणतया आबादी सम्बन्धी आँकड़े इस दृष्टि से और अधिक त्रुटिग्रस्त हो जाते हैं कि किसी देश की कुल आबादी की संख्या और विभिन्न जिलो की आबादी की संख्या और देश मे तथा इन जिलों मे किसी विशेष उम्र-वर्ग में पुरुषो और स्त्रियों की संख्या के योग एक-दूसरे से मेल नही खाते।

आबादी की समस्याओं के विश्लेषण की संकल्पना सम्बन्धी व्यवस्था की श्रेष्ठता का सम्बन्ध केवल औपचारिक जनांकिकी (डेमोग्राफी) से ही होता है। हम जैसे ही आबादी सम्बन्धी किसी कारक अथवा तथ्य के विकास के कारणों और प्रभाव का अध्ययन शुरू करते हैं, हमारे सामने तुरन्त ऐसी जटिल सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ आ खड़ी होती हैं, जो गैर-जैविक किस्म की होती हैं। इस स्थिति में भी हमें दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के इस प्रलोभन का सामना करना चाहिए कि विकसित देशो में आबादी सम्बन्धी परिस्थितियों

और विकासों के विश्लेषण के लिए जिन संकल्पनाओं और नमूनो का उपयोग किया गया था, हम उन्हें उसी रूप में उधार न ले ले।

आज जिस बात को सामान्य रूप से आबादी का विस्फोट कहा जाता है, उसके प्रति चेतना हाल में ही जगी है।[6] अधिकाश विकसित देशो मे पन्द्रह अथवा बीस वर्ष पहले तक यह प्रश्न बना हुआ था कि क्या उनके समक्ष वस्तुतः आवश्यकता से अधिक आबादी की समस्या मौजूद है और यदि मौजूद है तो उसका स्वरूप क्या है।

केवल 1960 के आसपास हुई जनगणनाओं से ही यह तथ्य पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि प्रायः सब कम-विकसित देशो की आबादी उससे कही ऊँची वार्षिक दर से बढ रही है, जिस दर का हाल तक अनुमान लगाया गया था। अब प्रायः सब देशों मे आबादी की वार्षिक वृद्धि-दर तीन प्रतिशत के आसपास पहुंच गयी है और कुछ देशो मे तो इसका प्रतिशत इससे भी अधिक ऊँचा है।

उदाहरण के लिए, भारत की पहली पंचवर्षीय योजना (1951-56) में आबादी की वृद्धि को प्रति दशक 12.5 प्रतिशत माना गया था, जिसका अर्थ प्रति वर्ष 1.25 प्रतिशत से भी कम वृद्धि होती है। दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) मे भी इस मान्यता को कायम रखा गया। सन् 1961 मे हुई जनगणना से स्पष्ट हुआ कि 1951-61 के दशक मे आबादी 21.5 प्रतिशत बढी है अर्थात् आबादी मे वृद्धि पाँच वर्ष पहले के अनुमान से 70 प्रतिशत अधिक रही है।

अत *तीसरी पचवर्षीय योजना (1961-66)* के मसौदे में आबादी की वृद्धि को 2 2 प्रतिशत प्रति वर्ष माना गया, लेकिन 1961 तक योजना आयोग यह भविष्यवाणियां करने लगा कि 1976 तक आबादी की वृद्धि 2.4 प्रतिशत से कम नही रहेगी। परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रयासो के द्रुत परिणामो को ध्यान में न रखते हुए, बाद की भविष्यवाणियो मे और भी ऊँची दर से आबादी में वृद्धि की बात कही गयी।[7]

अधिकांश अन्य कम-विकसित देशो मे भी ऐसे ही अनुभव प्राप्त हुए है, यद्यपि इसमें समय का अन्तर है।

आबादी की प्रवृत्ति मे इस नाटकीय परिवर्तन की जनांकिकीय प्रक्रिया बड़ी सीधी-सादी है। मृत्यु-दर इतनी तेजी से घटी है कि इतिहास में इसका कोई पूर्व उदाहरण नही मिलता, जबकि जन्म-दर समग्र दृष्टि मे उतनी ही ऊँची रही, जितनी विश्वसनीय अनुमानों की दृष्टि से किसी भी युग मे थी। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से आबादी में वृद्धि की दर अचानक और तेजी से बढी और इसमें मृत्यु-दर मे कमी की बात पूरी तरह स्पष्ट हो गयी।

इसका स्पष्टीकरण सामान्य जन-समुदाय के रहन-सहन के स्तर मे हुए किसी सुधार मे नही ढूंढा जा सकता, क्योकि रहन-सहन के स्तर में कोई खास परिवर्तन नही हुआ है। इसके साथ ही शिक्षा मे भी कोई खास प्रगति नही हुई है और न ही स्वच्छता के प्रति दृष्टिकोण मे ऐसा कोई खास परिवर्तन हुआ, जिसका रोग और

मृत्यु-दर पर अधिक प्रभाव पडता।

यह बात सामान्यतया स्वीकार की जाती है कि मृत्यु-दर मे कमी का कारण चिकित्सा विज्ञान की महान् प्रगति है जो हाल के वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप हुई। इस नयी 'गैर-परम्परागत' चिकित्सा सम्बन्धी टेक्नालॉजी ने अनेक घातक रोगों का इलाज करने और इनकी रोकथाम के लिए बहुत प्रभावशाली और कम-खर्च साधन उपलब्ध करा दिये है और इनका प्रयोग समस्त कम-विकसित देशों मे बडी तेजी से किया गया।[8] ये औषधियाँ उन अनेक संक्रामक रोगो की रोकथाम और कभी-कभी उनके इलाज मे भी विशेष रूप से प्रभावशाली सिद्ध हुई, जिनके फलस्वरूप कम-विकसित देशो में भारी संख्या में लोगों की मृत्यु होती थी। पर विकसित देशों में पहले की 'परम्परागत' चिकित्सा व्यवस्था के द्वारा ही इन रोगों को प्राय. समाप्त कर दिया गया था।

भविष्य मे और प्रगति की आशा की जा सकती है। कम-विकसित देशों मे मृत्यु-दर के सच्चे स्तर, जो, उदाहरण के लिए, जन्म के समय जीवनकाल में प्रतिबिम्बित होते है, विकसित देशों की तुलना मे अभी भी ऊँचे हैं, यद्यपि अपरिष्कृत जन्म-दर तुलनात्मक स्तरों तक नीचे उतर आयी है, जिसका कारण युवा उम्र-वर्गो में आबादी का अधिक केन्द्रित होना है।[9]

लेकिन मलेरिया को सफलतापूर्वक समाप्त कर देने और अन्य ऐसे ही सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी अभियानों की सफलता के बाद प्रगति धीमी रहेगी। अन्य रोगों के नियन्त्रण के लिए आबादी के कही अधिक सक्रिय रूप से हिस्सा लेने की आवश्यकता होगी। डॉक्टरों, डॉक्टरी साज-सामान, दवाखानो और अस्पतालों की अत्यधिक कमी को दूर करना होगा। ये कार्य व्ययसाध्य और समयसाध्य हैं। इसके अलावा पीने के स्वच्छ पानी की सप्लाई तथा मल और गन्दे पानी की निकासी की व्यवस्था पर भारी पूँजी निवेश करना होगा।

बच्चों की मृत्यु-दर को कम करने के लिए उक्त प्रयास और ऊँचे स्तर की व्यक्तिगत स्वच्छता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। सम्भवतः यह बात ध्यान देने योग्य है कि विकसित देशों मे हाल के वर्षों मे जो विकास हुए हैं, उनकी झूठी तुलना के आधार पर जो बातें मान ली जाती है, उनके विपरीत बच्चों की मृत्यु-दर में कोई खास कमी नही हुई है।[10]

जो विभिन्न कारक जन्म-दर का निर्धारण करते है—जिनमें बच्चो को जन्म देने की क्षमता रखने वाले उम्र-वर्गो की स्त्रियों के स्वास्थ्य की बेहतर स्थिति भी शामिल है—उनसे जन्म-दर में वृद्धि का संकेत मिलता है। यदि बच्चो के जन्म को रोकने के उपकरणों का इस्तेमाल नही किया जाता, तो स्पष्टतया जन्म-दर मे वृद्धि होगी।[11] दक्षिण एशिया के विभिन्न देशों के भीतर और इन देशों के बीच जन्म-दर के अन्तर के अध्ययन से तथा अन्य सूचकों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि संतति-निरोध के स्वयंस्फूर्त प्रसार के फलस्वरूप जन्म-दर मे पर्याप्त कमी की बहुत कम सम्भावना दिखायी पड़ती है।[12]

एक क्षेत्र के अध्ययन के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले गये हैं और सम्भवतया कम-विकसित संसार के अधिकांश देशों के बारे में ये साधारणतया सही प्रमाणित होंगे।

यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मृत्यु-दर में गिरावट अधिकांशतया 'स्वतः हुई है।' इस दृष्टि से इसे स्वतः कहा जा सकता है क्योंकि इसका सम्बन्ध आय अथवा रहन-सहन के स्तर मे अथवा जीवन की अन्य परिस्थितियो में सुधार से नहीं है, केवल चिकित्सा विज्ञान की प्रगति और व्यवहार मे इसके उपयोग से ही इसका सम्बन्ध है। इसी प्रकार ऊँची जन्म-दर भी 'स्वत' हुई है।' जनसामान्य मे सन्तति-निरोध के उपायों को अपनाने के लिए प्रचार करने की कृतसंकल्प नीति के अभाव मे जन्म-दर अपने ऊँचे स्तर पर बनी रहेगी।

इस स्थिति मे हमारे समक्ष जन्म और मृत्यु-दर के विशेषज्ञो की यह अभ्युक्ति आ जाती है कि लम्बी अवधि की दृष्टि से मृत्यु और जन्म-दर एक बार फिर प्राय. सन्तुलित हो जायेंगी। यदि जन्म-दर को मृत्यु-दर के नये और नीचे स्तर के अनुरूप व्यवस्थित नही किया जाता, तो भविष्य मे मृत्यु-दर अनिवार्यत फिर बढने लगेगी। इन विशेषज्ञों के प्रतिपादन को कभी-कभी जन्म और मृत्यु सम्बन्धी आंकड़ो की तार्किकता के सीधे-सादे निष्कर्ष के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।

इससे यह मान्यता प्रकट होती है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे, कि यदि आबादी की वृद्धि की वर्तमान प्रवृत्ति को बदला नही गया तो इससे विकास सम्बन्धी प्रयासों को धक्का पहुँचेगा और वस्तुतः आय और रहन-सहन के स्तर में निरन्तर गिरावट आती जायेगी। एक बिन्दु पर पहुंचकर, मृत्यु-दर रहन-सहन के स्तर के सम्बन्ध मे 'स्वतः सचालित' नही रह जायेगी।

मालथस द्वारा वर्णित नियन्त्रण —और विशेषकर प्रबल भूख और रोग—उस स्थिति मे एक बार फिर क्रमिक रूप से क्रियाशील हो उठेंगे। दूसरे शब्दो मे इसका यह अभिप्राय है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की प्रगति के परिणाम-स्वरूप रहन-सहन का वह स्तर अत्यन्त नीचा हो गया है जिस पर पहुँचकर मालथस द्वारा वर्णित नियन्त्रण फिर अपना सिर उठाने लगते हैं अर्थात् इन नियन्त्रणों को इस समय व्याप्त रहन-सहन और आय के स्तर पर निरर्थक बना दिया गया है और ये नियन्त्रण वर्तमान से कही अधिक नीचे आय और रहन-सहन के स्तरों पर ही सक्रिय हो सकेंगे।[13]

एक ऐसे समाज मे, जिसमें समस्त आर्थिक परिस्थितियो मे छोटी अवधि की दृष्टि से निरन्तर परिवर्तन होता जा रहा हो, यह सम्भव नही है कि विकास का अवरोध और इसके बाद होने वाली गिरावट अचानक स्पष्ट हो जायेगी और इसे किसी खास समय पहचान लिया जायेगा। केवल भविष्य मे ही अतीत पर दृष्टि डालते हुए किसी ऐसी अवधि का उल्लेख करना सम्भव होगा, जिसमे—कुछ निरन्तर जारी उतार-चढावों सहित—आर्थिक विकास के प्रयास पूरी तरह से असफल रहे। वस्तुतः यह असम्भव नही है कि भावी इतिहासकार भारत-जैसे देश मे आज जो घट रहा है, उस पर दृष्टिपात करते हुए इन हाल के वर्षों को और उन वर्षों को भी जो बहुत दूर नही है, एक ऐसी ही अवधि बतायेंगे—यदि जन्म-दर पर्याप्त मात्रा मे और बहुत जल्दी कम नहीं होती।[14]

मृत्यु-दर के वर्तमान स्वचालित स्वरूप का एक परिणाम यह है कि मृत्यु-दर सम्बन्धी आँकडे रुग्णता और किसी देश की स्वास्थ्य की व्यापक स्थिति की अपूर्ण माप बन जाते हैं यद्यपि इस उद्देश्य के लिए उनका अक्सर उपयोग किया जाता है। यदि हम गैर-घातक रोगों और अत्यधिक शारीरिक दुर्बलता की बात

एक नमूना, जिसका व्यापक रूप से वैज्ञानिक[17] और लोकप्रिय साहित्य दोनों में इस्तेमाल किया जाता है, दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण को एकदम प्रत्यक्ष रूप से लागू करने का है। इसमे पूंजी निवेश, उत्पादन, और पूंजी तथा उत्पादन के अनुपात के सन्दर्भ मे तर्क प्रस्तुत किये जाते है और निवेश को केवल भौतिक निवेश ही मान लिया जाता है। यह नमूना बड़े सीधे-सादे ढग से आबादी में वृद्धि के बुरे प्रभाव को प्रकट करने का ही स्वाँग नही करता, बल्कि इसे औसत आय मे कमी की रोकथाम के लिए आवश्यक तथाकथित शुद्ध 'आबादी सम्बन्धी निवेश' के माध्यम से मापने का भी प्रयास करता है।

सख्या सम्बन्धी जिन मूल्यो को चुना जाता है, उनमे कुछ परिवर्तन के साथ इसे इस मानक स्वरूप मे अभिव्यक्त किया जाता है :

यदि आबादी में दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से वृद्धि होती है और यदि सीमान्त पूंजी-उत्पादन अनुपात तीन और एक होता है तो प्रति व्यक्ति आय के वर्तमान स्तर को कायम रखने के लिए राष्ट्रीय आय का छह प्रतिशत प्रति वर्ष बचाना और निवेश करना आवश्यक है। यदि आय को दो प्रतिशत प्रति वर्ष के हिसाब से बढाने की इच्छा है तो आय के और छह प्रतिशत को बचाया और लगाया जाना चाहिए।

इस प्रकार का यान्त्रिक और सूत्रबद्ध विश्लेषण ज्ञान का आभास देता है, जब कि ऐसे किसी ज्ञान का अस्तित्व नही होता और इस ज्ञान के ढोंग में निहित सूक्ष्मता की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। अब क्योकि इस प्रकार की तर्क-प्रक्रिया दूसरे महा-युद्ध के बाद के दृष्टिकोण को अमल में लाने के अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण है, मैं यहाँ एशियन ड्रामा, परिशिष्ट 7, अनुभाग 2 (पृष्ठ 2066) का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा, जहाँ इस दृष्टिकोण और विचार-प्रक्रिया की तर्क-संगत और तथ्यगत गलतियों का उल्लेख किया गया है।

कम-विकसित देशों की आबादी की समस्या पर विचार के समय अक्सर जिस दूसरे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का सामना होता है वह 'अनुकूलतम आबादी', 'आबादी मे अनुकूलतम वृद्धि', 'आवश्यकता से अधिक आबादी' और 'आवश्यकता से कम आबादी' जैसी सकल्पनाओ पर केन्द्रित है। आवश्यकता से अधिक और आवश्यकता से कम आबादी की परिभाषा 'अनुकूलतम आबादी' के सन्दर्भ मे दी जाती है और यह कार्य इन्हे एक निश्चित विषयवस्तु प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है। यह दृष्टिकोण तर्क की दृष्टि से ही असंगत नही है, बल्कि कम-विकसित देशों के यथार्थ के भी एकदम अनुरूप नही है।[18]

'आबादी' के सन्दर्भ में जिन संकल्पनाओं और सिद्धान्तो का अब तक उल्लेख हुआ है वे स्पष्ट रूप से भ्रान्तिकारक भी हैं, क्योकि इनमे आयु के वितरण के परिवर्तनों का ध्यान नही रखा जाता, जो अनिवार्य रूप से उर्वरता की दरो के बुनियादी परिवर्तन के साथ मौजूद रहते है।

आबादी सम्बन्धी प्रवृत्तियों के आर्थिक परिणामों के हमारे विश्लेषण का बुनियादी तथ्य यह है कि जननक्षमता की दर मे कमी से कम-विकसित देशो मे

प्राय: एक पीढी तक श्रम शक्ति के आकार पर कोई ठोस प्रभाव नही पड़ेगा। और इस तथ्य को एन्सले जे० कौल और एडगार एम० हूर के प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में दर्शाया गया है।[19] यद्यपि उपभोक्ताओं की संख्या पर इसका तत्काल प्रभाव होगा।[20]

इस स्थिति मे कम बच्चों का लालन-पालन करना होगा। यदि जन्म-दर को नीचे स्तर पर कायम रखा जा सके तो निर्भरता का यह भार केवल उस समय तक कायम रहेगा, जब तक बच्चे काम करने की आयु प्राप्त नहीं कर लेते। यदि जन्म-दर में कमी को धीरे-धीरे घटाया जाये, तो बच्चों की आबादी में क्रमिक कमी होगी।

लगभग 20 वर्ष बाद, जब ये कम संख्या वाले बच्चे वयस्क हो जायेंगे, तब बच्चों को जन्म देने की क्षमता रखने वाले उम्र-वर्गों में भी लोगो की संख्या मे इसी प्रकार कमी होगी। यदि वर्तमान दर से नीचे स्तर पर जन्म-दर को स्थिर रखा जा सके, तो आगे चलकर विभिन्न आयु-वर्गो में जनसंख्या का वितरण भी अधिक स्थिर हो जायेगा। और इससे आबादी में दूसरों पर निर्भर रहने वालों का अनुपात भी कम हो जायेगा, जबकि आज यह अनुपात बहुत ऊंचा है।

आबादी के विभिन्न आयु-वर्गों में वितरण से इस परिवर्तन का यह बड़ा प्रभाव होता है कि जननक्षमता में कमी से लोगो की गरीबी कम होती है।[21] और प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होती है।

इसके परिणामस्वरूप दूसरा प्रभाव खपत के स्तर में वृद्धि होता है, जिसके कारण श्रम की उत्पादकता बढ़ती है। श्रम की उत्पादकता में वृद्धि श्रम के अधिक उपयोग और श्रम की कार्य-कुशलता में वृद्धि दोनों रूपों मे होती है। यह प्रभाव निर्धनतम देशों में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से देखने को मिलेगा और समस्त कम-विकसित देशों के निर्धनतम वर्गों मे भी यह प्रभाव दिखायी पडेगा, जहाँ पौष्टिक आहार का नीचा स्तर तथा स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का नीचा स्तर अन्य किसी भी स्थान की तुलना मे काम में हिस्सा लेने, काम करने की अवधि और कार्य-कुशलता पर बुरा असर डालता है।

इसके अलावा प्रति व्यक्ति आय में निरन्तर वृद्धि के कारण अधिक धनराशि बचायी जा सकती है और इसका प्रत्यक्ष निवेश किया जा सकता है और सरकार कराधान तथा अन्य उपायों से लोगों को 'और अधिक बचत करने के लिए बाध्य' कर सकती है। कुछ आरम्भिक विलम्ब के बाद दोनों प्रकार की बचतें प्रति व्यक्ति आय मे और अधिक वृद्धि करेंगी और इसका समग्र प्रभाव वैसा ही होगा जैसा नीची जननक्षमता के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति आय मे आरम्भिक वृद्धि का होता है।

इसके अलावा हमे रहन-सहन के ऊँचे उठते हुए स्तरो के कही अधिक अच्छे प्रभावों को भी ध्यान मे रखना होगा। कम-विकसित देशों में जो भयकर गरीबी व्याप्त है, वह कम-से-कम आशिक रूप से, इन देशों के लोगों की भाग्यवादिता, दृष्टिकोणो तथा संस्थाओं में परिवर्तन लाने के प्रयासों, आधुनिक टेक्नालांजी के प्रसार तथा स्वच्छता के स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयासों आदि के प्रति उदासीन बने रहने और कोई प्रतिक्रिया न दिखाने के परिणामस्वरूप है।

आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने के लिए जननक्षमता में कमी के ये प्रभाव

बहुत पर्याप्त और समग्र रूप से प्रभावकारी हैं और समय के साथ-साथ इनकी गति बढ़ती जाती है। ये प्रभाव जनसंख्या के विभिन्न आयु-वर्गों मे विभाजन मे परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते है। इस सम्बन्ध मे इस बात पर जोर देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि ये प्रभाव मनुष्य और भूमि के अनुपात से पूरी तरह स्वतन्त्र है। इन प्रभावो की प्रक्रिया कम आबादी वाले और घने बसे देशों, दोनो मे समान रूप से होती है।[22] पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के नये अध्यक्ष, राबर्ट एस० मैकनमारा ने इस बैंक के सचालन मण्डल के समक्ष अपने पहले भाषण मे यह बात जोर देकर कही कि "यह एक झूठा दावा है कि कुछ देशों को अपनी भूमि के उपयोग के लिए अथवा अपने आर्थिक विकास को तेज करने के लिए और अधिक आबादी की आवश्यकता है।"[23]

*श्रम शक्ति के आकार मे परिवर्तनों के माध्यम से दूसरी प्रक्रिया शुरू होती* है। एक कठोर तथ्य, जिसका हमे सामना करना है और जिसका पहले सकेत दिया जा चुका है, यह है कि आज से 15 या 20 वर्ष बाद जो बच्चे काम करने की उम्र में पहुँच जायेंगे उनका जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही होगा और, जैसाकि यथार्थवादी गणनाओ से प्रकट होता है, इसके बाद जननक्षमता मे कमी से पर्याप्त समय तक श्रम शक्ति के आकार मे कोई खास फर्क नही पड़ेगा। इस शताब्दी के अन्त तक कम-विकसित देशो मे श्रम शक्ति प्रति वर्ष 2 अथवा 3 प्रतिशत की दर से बढती रहेगी, और इससे ऊँची जननक्षमता के वर्तमान और इससे पहले के ऊँचे स्तर प्रतिबिम्बित होते रहेगे।[24]

नीति और आयोजन की दृष्टि से श्रम शक्ति मे वृद्धि, जिसे रोका नही जा सकता, के परिणामो पर ऊपर अध्याय चार मे विचार हुआ है। अधिकाश कम-विकसित देशो मे अगले कई दशको तक, जो यथार्थवादी आयोजन की उचित अवधि हो सकती है, उद्योगो से यह आशा नही की जा सकती कि वे फिलहाल जितने लोगों को रोजगार देने की स्थिति मे हैं, उससे अधिक लोगो को रोजगार नहीं दे सकेंगे।

अब क्योंकि शहरो मे तीसरी श्रेणी के व्यवसायो मे काम कर रहे बहुसख्यक लोगों की सख्या मे वृद्धि करना, जबकि इनकी कार्यक्षमता का पूरा उपयोग न हो रहा हो, वाछित नहीं है और इसके अलावा इस क्षेत्र की रोजगार देने की क्षमता भी सीमित है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि कृषि मे लगी श्रम शक्ति के आकार में वास्तविक कमी की जा सके अथवा इसे अधिक ऊँचे स्तर पर स्थिर रखा जा सके।

इन परिस्थितियो मे कृषि नीति का लक्ष्य, श्रम के उपयोग मे वृद्धि करना होना चाहिए और यह कार्य उस समय भी किया जाना चाहिए जब श्रम शक्ति मे तेजी से वृद्धि हो रही हो। इस दिशा मे आगे बढ़ने के मार्ग मे प्रमुख बाधा सस्थागत परिस्थितियो की है, विशेषकर भूस्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी व्यवस्था की, जिन्हें कम-विकसित देशों की राजनीतिक सत्ता की स्थिति से बल मिलता है। यह भी कहा जा चुका है कि श्रम शक्ति मे वृद्धि अन्य उन सब परिवर्तनों के साथ

सम्मिलित होने की प्रवृत्ति दर्शाती है जो सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण में असमानता की स्थिति को और अधिक बुरा बना रहे है और इन्हें और अधिक कठोर रूप दे रहे हैं।

ऐसे देशों में जहाँ श्रम शक्ति का एक बड़ा हिस्सा पहले ही आधुनिक उद्योगों मे लगा है, जैसाकि लेटिन अमरीका के कुछ देशो में है, और अधिक उद्योगीकरण से उद्योगों में रोजगार की सम्भावना में बहुत वृद्धि की जा सकती है। इस प्रकार कृषि में लगी श्रम शक्ति में कम वृद्धि होगी।

उस स्थिति मे खेती में श्रम के उपयोग में वृद्धि करना आसान होगा यदि और अधिक नयी जमीन में खेती करने की व्यवस्था की जा सके। यह कार्य लेटिन अमरीका और दक्षिण पूर्व एशिया तथा पश्चिम एशिया और अफ्रीका के कुछ देशो मे किया भी जा सकता है। पर नयी जमीन में खेती के लिए सामान्यतया संगठित रूप से लोगों के सम्बन्धित हिस्सों मे जाकर बसने, ज़मीन साफ करने और बस्तियाँ बसाने की आवश्यकता होती है तथा सिचाई अथवा पानी की निकासी जैसे कार्यों पर बड़े पैमाने पर सार्वजनिक धन लगाना पड़ता है और इस सबसे पहले एक कृत-सकल्प और दूरदर्शी सरकार तथा कार्य-कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है।[25]

लगभग एक पीढ़ी तक श्रम शक्ति में वृद्धि के अवनतिकारी प्रभाव अनिवार्य रूप से मौजूद रहेंगे। यद्यपि कृषि नीति मे दूरगामी और प्रभावशाली परिवर्तन से इन प्रभावों का सामना किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जननक्षमता में कमी का तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि आय और रहन-सहन के औसत स्तर में वृद्धि होगी। यह अनेक तरीको से श्रम के उपयोग और उत्पादकता में वृद्धि में भी सहायक होगा।

इस प्रकार यह नीति श्रम शक्ति के आकार में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप श्रम के उपयोग और उत्पादकता पर बुरे प्रभावों को समाप्त कर सकेगी और यदि इस नीति को तेजी से लागू किया जाये तो शायद इसका और अधिक लाभ होगा।[26] इस कारण से यह तात्कालिक महत्त्व की बात है कि संतति-निरोध के लिए यथासम्भव शीघ्रता से और प्रभावशाली ढंग से उपाय किये जायें। दूसरे कारण ये हैं कि अगली पीढ़ी में जननक्षमता और श्रम शक्ति में वृद्धि की वर्तमान दर दोनों में कमी की जा सकती है। यह कार्य जननक्षमता मे तुरन्त कमी के द्वारा किया जा सकता है।

एशियन ड्रामा, जिसमें इन बातों पर अधिक गहराई से विचार हुआ है, का हवाला देते हुए, मैंने यहाँ जननक्षमता में कमी के आर्थिक प्रभावो को संक्षेप में

ऐसे किसी भी नमूने को कम-विकसित देशो के यथार्थ की दृष्टि से पर्याप्त

और तर्कसंगत बनाने के लिए, इसे कहीं अधिक जटिल रूप में प्रस्तुत करना होगा। आज बुनियादी आंकड़ों की जो कमी है, उसे ध्यान मे रखते हुए इस प्रकार के नमूनों का निर्माण करना बहुत अच्छा प्रयास दिखायी नही पड़ता; क्योकि इसमे सफलता की गुजाइश नही है।

लेकिन उन मुद्दों के आधार पर विश्लेषण और विचार-विमर्श से, जो फिल-हाल बहुत सूक्ष्म नही हैं, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आबादी सम्बन्धी भिन्न परिस्थितियों का जो आर्थिक प्रभाव होगा, उसे ध्यान में रखते हुए कम-विकसित देशों की सरकारो को यथाशीघ्र और अधिक से अधिक तत्परता से ऐसी नीतियों को लागू करना चाहिए, जिनके परिणामस्वरूप जनसामान्य परिवार नियोजन के रास्ते पर आगे बढ सकें।

## 2. नीति

इस बात का निर्णय करने में विकसित देशों का अनुभव बहुत लाभकारी नही हो सकता कि जननक्षमता के सम्बन्ध मे क्या किया जा सकता है और आज कम-विकसित संसार में क्या नीतियाँ लागू की जानी चाहिए।

विकसित देशो में संतति-निरोध के उपाय सामान्य लोगो में भी तुरन्त प्रचारित हो जाते हैं। लेकिन यह कार्य उस समय तक नही हुआ, जब तक रहन-सहन, शिक्षा और दृष्टिकोण की तर्कसंगतता के स्तर उससे बहुत ऊँचे नही हुए जैसे आज कम-विकसित देशों मे हैं अथवा निकट भविष्य में होने की आशा की जा सकती है। वस्तुतः संतति-निरोध के उपायों के प्रसार के बिना रहन-सहन के स्तर में वृद्धि नही हो सकेगी और आधुनिकीकरण के अन्य तत्त्वो के प्रसार मे बेहद कमी आयेगी।

समस्त लिखित इतिहास मे हमें कभी भी ऐसा उदाहरण देखने को नही मिला कि अधिकाशतया ग्रामीण, रूढ़िग्रस्त, अनपढ़ और अत्यधिक गरीब आबादी मे व्यापक रूप मे संतति-निरोध अपनाया गया हो। आज कम-विकसित देशो को जो कार्य करने की अत्यन्त आवश्यकता है, उसका उसी प्रकार ऐसा कोई पूर्व उदाहरण नही मिलता, जिस प्रकार तेजी से मृत्यु दर मे कमी और इसके परिणामस्वरूप आबादी मे विस्फोटक वृद्धि का उदाहरण प्राप्त नही होता।

इस कार्य को क्यों असम्भव नही मान लिया जाना चाहिए, इसका कारण कम-विकसित देशो की आरम्भिक स्थिति से प्राप्त उन दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लाभों में निहित है, जो इन्हे संतति-निरोध की समस्या का सामना करने के समय प्राप्त हैं। विकसित देशों मे ऐसा ही आन्दोलन शुरू करने के समय ये लाभ उपलब्ध नहीं थे।[28]

एक बात तो यह है कि आज कम-विकसित देश संतति-निरोध के प्रसार को सार्वजनिक नीति के रूप मे अपना सकते हैं।

विकसित देशों में संतति-निरोध के उपायों का प्रचार 'व्यक्तिगत' प्रयासों के आधार पर कुछ परिवारों में हुआ। आचरण सम्बन्धी इन परिवर्तनों का सार्वजनिक नीति और संगठित समाज की समस्त शक्तियों ने प्रतिरोध किया। यह प्रतिरोध चर्च, प्रशासन, स्कूलों, समाचारपत्रों, डॉक्टरों और कानून के माध्यम से किया गया।[29]

संतति-निरोध के प्रसार के विरुद्ध कृतसंकल्प सार्वजनिक प्रतिरोध की प्रभावशाली शक्तियों की सक्रियता पश्चिम के देशों और विकसित कम्युनिस्ट देशों में सामान्य बातें रहीं। विभिन्न कालों में जब-जब यह कार्य हुआ अर्थात् जब कुछ व्यक्तियों ने सार्वजनिक नीति के विरुद्ध विद्रोह शुरू किया—उसका विभिन्न देशों और एक ही देश के भीतर विभिन्न सामाजिक वर्गों की भिन्न विचारधाराओं और भिन्न धार्मिक मान्यताओं से कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं पड़ता। इसका सम्बन्ध मुख्यतया शिक्षा, दृष्टिकोण की तर्कसंगतता तथा समाज के संस्थागत परिवर्तनों के स्तरों से था और इन सब बातों का सम्बन्ध आर्थिक स्तर से था।

वर्तमान विकसित देशों में एक समय जो कुछ हुआ उसके एकदम विपरीत कम-विकसित देशों को यह राजनीतिक निर्णय लेना होगा कि जन-सामान्य में बड़े सक्रिय रूप से संतति-निरोध का प्रचार किया जायेगा, अन्यथा संतति-निरोध का प्रसार नहीं हो सकेगा।

आज कम-विकसित देशों को दूसरा लाभ यह प्राप्त है कि वे संतति-निरोध के किसी भी कार्यक्रम के आरम्भ में ही गर्भ-निरोध के उपकरणों का वितरण कर सकते हैं।[30]

जब पश्चिम देशों में स्वयंस्फूर्त ढंग से संतति-निरोध का प्रसार हुआ तो मुख्यतया सम्भोग को बीच में ही बन्द करने के तरीके से गर्भाधान को रोकने का तरीका अपनाया गया। और इस बात की पूरी सम्भावना दिखायी पड़ती है कि यूरोप के कम्युनिस्ट देशों में भी यही हुआ। सब पश्चिम के देशों में गर्भ-निरोध के उपकरणों को उपलब्ध कराने और बेचने के खिलाफ कानून बने हुए थे। कुछ देशों में तो आज भी कानून की पुस्तकों में ये कानून मौजूद हैं।[31]

अत्यधिक व्यापक और तेज अनुसंधान के परिणामस्वरूप—जो अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका में अनुसन्धान संस्थान कर रही हैं और ये अधिकांश संस्थाएं आबादी परिषद् के अधीन हैं और यह कार्य उससे बहुत समय पहले ही शुरू हो गया था, जब संयुक्त राज्य सरकार ने कम-विकसित देशों को संतति-निरोध के उपाय अपनाने में सहायता देने का साहस दिखाया—संतति-निरोध के उपायों के सम्बन्ध में बहुत अधिक कार्य हुआ है और सफलता मिली है। इसके परिणामस्वरूप कहीं अधिक स्वीकार-योग्य और प्रभावशाली संतति-निरोध उपकरणों की ईजाद हुई है। यह अनुसन्धान कार्य तेजी से चल रहा है और इसे सरकार की सहायता प्राप्त है।

लूप, गोलियाँ और कुछ अवधि के लिए गर्भाधान रोकने की क्षमता रखने वाले टीके आज आसानी से उपलब्ध हैं। अधिक लम्बी अवधि तक प्रभावशाली

गोलियों और टीकों की निकट भविष्य मे ईजाद की सम्भावना दिखायी पड़ रही है। संतति-निरोध के लिए जो ऑपरेशन कराये जाते हैं, उनके प्रभाव को समाप्त कर देने की जो विधियाँ अब विकसित हुई है, उनके परिणामस्वरूप ये ऑपरेशन कराने की इच्छा मे वृद्धि हुई है।

नि सन्देह गर्भ-निरोध के ये नये उपाय जन-समुदाय में परिवार नियोजन के प्रसार की सार्वजनिक नीति को लागू करने की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध मे एक बात याद दिलाना आवश्यक है। आज जबकि पश्चिम के विभिन्न देश कम-विकसित देशों मे यह नीति अपनाये जाने के जबर्दस्त समर्थकों के रूप में सामने आये है, ऐसी गर्भ-निरोध की विधियो की सिफारिश करना कभी भी सम्भव नही होगा, जिन्हे विकसित देशो मे स्वीकार और इस्तेमाल नही किया जाता।

इस स्थिति में किसी भी कम-विकसित देश में ऐसे राष्ट्रवादी बुद्धिवादी सदा मौजूद रहेंगे, जो अपने देशवासियो का परीक्षणो मे प्रयुक्त होने वाले पशुओ के रूप में इस्तेमाल किये जाने का विरोध करे। उदाहरण के लिए पीने के पानी मे रसायन मिलाकर जननक्षमता को बहुत अधिक घटाने के सपने देखने की बात को पूरी तरह से भ्रान्तिजनक समझकर ही नही त्याग दिया जाना चाहिए, बल्कि यह बात भी ध्यान मे रखी जानी चाहिए कि यह तरीका अमानुषिक और विवेक-हीन है।

हाल के दशकों मे कम-विकसित देशों में आबादी का विस्फोट सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन सिद्ध हुआ है। यह अन्य किसी भी नीति अथवा आयोजन से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। आगामी दशको मे सार्वजनिक नीति के रूप में संतति-निरोध का प्रसार इतना ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो सकता है।

पर इस कार्य में जो बाधाएँ सामने आयेंगी उनके महत्त्व को घटाकर नही देखना चाहिए। कम-विकसित देशों में सरकारों और इससे भी अधिक व्यापक रूप से अपने विचारो को प्रभावशाली ढग से प्रकट करने वाले उच्च वर्ग में सतति-निरोध के प्रसार को सार्वजनिक नीति के रूप मे अंगीकार करने और इस नीति को तत्परता से लागू करने के विरुद्ध निषेध का भाव मौजूद है।

इनमें से कुछ निषेध धार्मिक है।[32] यदि, जैसाकि सामान्यतया कहा जाता है, एशिया के प्रमुख धर्मों—हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और इस्लाम मे सतति-निरोध के बारे मे धर्म ग्रन्थों में कोई स्पष्ट निषेध नही किया गया है, फिर भी धार्मिक नेताओं के मन में एक ऐसी बात के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है जो लोगो को कृत्रिम उपायों से उनकी निश्चित नियति से मुक्ति दिलाने का प्रयास करती हो। वे इस कार्य को पापपूर्ण भी समझ सकते हैं।

अधिकृत रूप से आज भी कैथोलिक चर्च तकनीकी उपायों से संतति-निरोध के विषय मे डटी है और कुछ दशकों पहले तक प्रोटेस्टेंट चर्च इसका कहीं अधिक उग्रता से विरोध करती थी। लेटिन अमरीका के देशों और फिलीपाइन में सरकारों के लिए चर्च की राय का महत्त्व है। कम्युनिस्टों ने भी यही दृष्टि अपनायी है और वे कैथोलिकों से अधिक जोर देकर यह बात कहते हैं कि यदि कृतसंकल्प होकर विकास नीति को लागू किया जाये तो सतति-निरोध की कोई आवश्यकता नहीं है।[33]

हाल के वर्षों में कैथोलिक चर्च और कम्युनिस्टों ने संतति-निरोध के विरुद्ध अपने विरोध में जो तेजी से कमी की है इसका कारण यह तथ्य है कि अधिकृत विरोध के बावजूद विकसित देशों में उनके अनुयायियों में संतति-निरोध का तेजी से प्रसार हो रहा था। लेकिन हाल मे कम-विकसित देशों में आबादी के विस्फोट की स्थिति की जानकारी प्राप्त होने से और इन देशों में निरन्तर आर्थिक विकास को सम्भव बनाने के लिए जन्म-दर घटाने की आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए कम्युनिस्टो और कैथोलिक दोनों के लिए, तथा अन्य धार्मिक समूहों के लिए भी, संतति-निरोध के विरोध की नीति को जारी रख पाना कठिन हो गया।

लेकिन अन्य ऐसे अनेक निषेध हैं, जो सरकारो को संतति-निरोध के प्रसार की सार्वजनिक नीति को प्रभावशाली ढंग से लागू करने से रोकते हैं।[34]

इनमे से कुछ निषेध तथ्यों के बारे मे गलत अथवा बढ़ा-चढाकर प्रकट किये गये विश्वासों पर आधारित हैं। जिन देशों में मनुष्य और भूमि का अनुपात नीचा है, जैसे इन्दोनेशिया और अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के अधिकाश देश, वहाँ निरन्तर यह तर्क दिया जाता है कि उनके सामने आबादी की कोई समस्या नही है। इतना ही नहीं, कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि विकास के लिए इन देशों को ऊँची जन्म-दर की आवश्यकता है।

ये लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि लोगों को बसाने और उन्हें रोजगार देने पर कितनी लागत आती है तथा अक्सर इस काम में कितना लम्बा समय लगता है। और वे यह भी भूल जाते हैं कि कम जन्म-दर का आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने में क्या योगदान होता है। यह लाभ तुरन्त प्राप्त होता है और हमने आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने में संतति-निरोध के प्रसार के महत्त्वपूर्ण योगदान का उल्लेख किया है।

एक विश्वास—जो पूरी तरह से निराधार नही है—यह है कि काम सम्बन्धी आचरण जैसे अत्यन्त निजी मामले में लोगों के आचरण को प्रभावित करना अत्यन्त कठिन और यहाँ तक कि असम्भव भी है, विशेषकर उस स्थिति में जब लोग गरीब, अनपढ और रूढिग्रस्त हों। पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओ में भारत की परिवार नियोजन नीति के जन्म-दर को पर्याप्त प्रभावित करने में असफल रहने के कारण आसानी से यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है।[35]

पूरी तरह निराशा से ग्रस्त न हो जाने की बात को सोचते हुए इस विश्वास के साथ अक्सर यह पूरी तरह भ्रमपूर्ण विचार जोड़ दिया जाता है कि जैसे-जैसे रहन-सहन के स्तर ऊँचे होते जायेंगे, संतति-निरोध का स्वयं प्रसार होने लगेगा।

जब लेटिन अमरीका के देशों में उच्च वर्ग के लोग और परिणामतः उनकी सरकारें संतति-निरोध के सामान्य लोगों मे प्रसार की सार्वजनिक नीति निर्धारित करने से हिचकिचाते रहे, तो सम्भवतः इसका कारण यह झूठे विश्वास अधिक हैं और कैथोलिक चर्च द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण कम।

लेकिन इस बात मे सन्देह नही है कि चर्च सामान्य लोगो को संतति-निरोध के उपाय अपनाने के विरुद्ध राजी करने मे नि.सन्देह अधिक प्रभावशाली ढंग से

बाधा उत्पन्न कर सकती है और इस प्रकार लोगों को ये उपाय अपनाने का प्रोत्साहन देने वाली नीति की प्रभावशालिता को कम करने में सहायक बन सकती है। यह उस स्थिति मे निश्चयपूर्वक होगा यदि सरकार की नीति का निर्धारण करने वाले उच्च वर्ग समूह यह विश्वास करे कि इससे उनके निषेधों को समर्थन प्राप्त होगा।

सदा की तरह, विश्वास अवसरवादी है। वे सामान्यतया पूर्वाग्रहो और तात्कालिक आवश्यकताओ के हित साधन की दृष्टि से तर्कसम्मत बनाये जाने का प्रयास होते है। लेकिन विश्वासों का शुद्धिकरण किया जा सकता है, चाहे इस कार्य के लिए तथ्यो को खुले रूप से प्रकट करने और विश्लेषण करने मे प्रतिरोध का सामना ही क्यो न करना पडे। नीति निर्माताओं के विश्वासों को सही रास्ते पर लाने वाली सबसे प्रभावशाली शक्ति स्वयं आबादी का विस्फोट और आसानी से प्रेक्षण योग्य इसके प्रभाव है।

लेकिन यह जान लेना चाहिए कि अवसरवादी और झूठे विश्वासों का आश्रय लेना बहुत प्रलोभनकारी होगा और यह बात कम-विकसित देशों के लिए विशेष रूप से सही है। इन देशो की सरकारें अनेक प्रकार की तात्कालिक महत्त्व की राजनीतिक चिन्ताओं से ग्रस्त है। ये सरकारें प्रायः निरन्तर कायम रहने वाले सकट के अन्तर्गत काम करती हैं, यह बात प्रायः सब सरकारों के बारे में सही है, यद्यपि कम-विकसित देशों की सरकारों पर यह बात कही अधिक लागू होती है।

भविष्य में बहुत आगे देखने और उचित नीति-निर्धारण की अत्यधिक भारी जिम्मेदारी निभाने का कार्य, जो तात्कालिक महत्त्व की समस्त समस्याओ के अलावा होगा, निश्चय ही स्वागत योग्य नही होगा, विशेषकर इस दृष्टि से क्योकि प्रायः सर्वत्र आबादी का प्रश्न विवादग्रस्त है।[36] जहाँ कही सम्भव हो, विवाद से बचना हर सरकार की स्वाभाविक इच्छा होती है।

यदि यह मान लिया जाये कि किसी कम-विकसित देश की सरकार अपने समस्त निषेधों और संकोचों पर काबू पाकर जन-सामान्य में संतति-निरोध का प्रसार करने की सशक्त और प्रभावशाली नीति अपनाने का निश्चय करेगी, तो भी स्वय जन-सामान्य की ओर से इस नीति को लागू करने के मार्ग मे बहुत बाधाएँ उपस्थित होनी हैं। सरकार को करोड़ों दम्पतियों को अपने एक अत्यधिक निजी आचरण को बदलने के लिए राजी करने का प्रयास करना होगा। बच्चों की पैदाइश के सम्बन्ध मे जन-सामान्य को आवश्यक जानकारी देने का यह कार्य तर्कसंगत दृष्टि से जानबूझकर किया जाना चाहिए और इस सम्बन्ध में बहुत-आमूल परिवर्तन किये जाने चाहिए। यह भी आवश्यक है कि विवाहित स्त्री-पुरुषों को जिस दिशा मे प्रेरित करना है, उनके लिए उनके आचरण को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण करना होगा। यह कार्य किसी एक अवसर के लिए नही, बल्कि निरन्तर योजनाबद्ध तरीके से किया जाना चाहिए।

और यह कार्य उन आबादियों के मध्य किया जाना है, जो अत्यधिक गरीब,

निरक्षर अथवा अर्द्ध-साक्षर है तथा अक्सर जिनका स्वास्थ्य खराब रहता है और उनकी शक्ति क्षीण रहती है तथा जो अधिकाशतया गतिहीन, रूढ़िबद्ध और अवरुद्ध समाजों में रहते हैं तथा जो असमान और कठोर सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे में बंधे हुए हैं। ये सब ऐसी बातें हैं, जो भाग्यवाद और उदासीनता को जन्म देती है। यदि संतति-निरोध की नीति का वांछित प्रभाव प्राप्त करना है, तो इसे जन-सामान्य तक पहुंचाना होगा।

आबादी सम्बन्धी नीति के हिचकिचाहट भरे और प्रयोग के दौर में इस सम्बन्ध मे बड़ी संख्या में अध्ययन किये गये कि आम लोग संतति-निरोध को किस सीमा तक स्वीकार करने को तैयार हैं। यह कार्य कम-विकसित संसार के अनेक भागों, और विशेषकर दक्षिण एशिया में हुआ। अक्सर यह कार्य पश्चिम की संस्थाओं ने किया अथवा उनके सहयोग से यह कार्य किया गया। यद्यपि इन अध्ययनो को पूरी तरह निर्णायक और पूर्ण नही कहा जा सकता।[37]

पर इन अध्ययनो से सामान्य आभास यह मिलता है कि संतति-निरोध के तरीके अपनाने के प्रति आरम्भ में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण साधारणतया दिखायी पड़ता है, जिससे बच्चो के जन्म को सीमित करने की अस्पष्ट इच्छा प्रकट होती है। लेकिन नये गर्भाधान को रोकने और इसी रास्ते पर दृढ़ता से आगे बढ़ने के लिए जिस सकारात्मक और निर्णायक संकल्प की आवश्यकता होती है, वह साामान्यतया दिखायी नही पड़ता।

इस उभयाभाविता में कम-विकसित देशों की वर्तमान और विकसित देशों की उस स्थिति का बुनियादी अन्तर दिखायी पड़ता है, जब वहाँ संतति-निरोध का प्रसार हो रहा था। इस स्थित को नीति द्वारा समाप्त किया जाना चाहिए। वस्तुतः लूप इस कार्य को आसान बना रहा है और इससे भी अधिक गोलियाँ तथा टीके इस कार्य को आसान बनायेंगे, जब ये अधिक लम्बी अवधि के लिए प्रभावशाली हो जायेंगे; क्योंकि उस स्थिति में केवल एक निर्णय पर्याप्त लम्बी अवधि के लिए गर्भाधान रोकने के लिए पर्याप्त होगा।

किसी भी कम-विकसित देश की सरकार को संतति-निरोध की प्रभावशाली नीति के प्रसार के लिए बहुत बडे पैमाने पर कार्य करना होगा।

पहली बात यह है कि किसी भी ऐसी सरकार को विकास आयोजन में जनन-क्षमता में कमी के अत्यधिक महत्त्व को समझना होगा। उसे उन संकोचों और निषेधों पर काबू पाना होगा, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसे सतति-निरोध के प्रसार के लिए एक सशक्त सार्वजनिक नीति अपनाकर कारवाई करने का दृढ़ निश्चय करना होगा।

दक्षिण एशिया के देशों के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने या तो यह निर्णय ले लिया है अथवा यह निर्णय लेने की दिशा मे आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन पश्चिम एशिया, लेटिन अमरीका और अफ्रीका मे बहुत कम देश ही इस स्थिति में हैं, जहाँ उनकी सरकारों ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार निर्धारित कर लिये हैं और एक दृढ़ निर्णय ले लिया है। यद्यपि उन सब देशों मे निजी सगठन

इस दिशा मे सक्रिय हैं और कभी-कभी इस कार्य में उन्हें सरकार की मान्यता और समर्थन भी मिल रहा है।[38]

निर्णय लिये जाने के बाद उसे प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार को दूसरी बात यह करनी होगी कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त प्रशासनिक व्यवस्था करे। राजधानी में स्थित नौकरशाही और गाँवों अथवा शहरो की गन्दी बस्तियो के परिवारों के बीच बडी लम्बी दूरी होती है। यह बात भारत और पाकिस्तान जैसे बडे देशो के बारे मे विशेष रूप से सही है,[39] जिन्हे आबादी के बडे आकार के कारण बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

कम-विकसित देशों में प्रशासन, विशेषकर निचले स्तरों पर, बहुत सशक्त स्थिति मे नही है, क्योकि ये सब देश, 'नरम राज्य' (देखिए अध्याय 7) है। जब जन्म-दर को घटाने के निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं होते, जैसाकि भारत और पाकिस्तान में हुआ तो इसका अक्सर यह कारण होता है कि प्रशासनिक व्यवस्था असफल रही।[40]

इस पर्याप्त और प्रभावशाली प्रशासनिक व्यवस्था करने की दूसरी आवश्यकता में यह तीसरी आवश्यकता भी निहित है कि इस कार्य मे बड़ी संख्या में डॉक्टरों और उनके सहायक कर्मचारियों को लगाया जाये। अनेक कारणो से ये कर्मचारी अक्सर स्त्रियाँ ही होनी चाहिए। इन लोगों को जनता की भाषा मे ही बात करनी चाहिए और यह एक ऐसी बात है जो भारत जैसे देश में, जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती है उन लोगों के चुनाव को बहुत सीमित बना देती है, जिनका उपयोग किया जा सकता है।

इस तीसरी आवश्यकता को पूरा करना विशेष रूप से कठिन होगा, क्योकि कम-विकसित देशो मे ऐसे कर्मचारियों की बेहद कमी है और इनकी अपने नियमित चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए बहुत अधिक ज़रूरत पडती है। अनेक कर्मचारी, विशेषकर डॉक्टर, शहरों में ही जमे रहते है और अक्सर शहरो के उच्च वर्ग की आवश्यकताओं को ही पूरा करते हैं। और इन्हें तथा अन्य कर्मचारियो को गाँवों मे भेज पाना बडा कठिन होता है।[41] डॉक्टरों की कमी उस समय विशेष रूप से बाधक होती है, जब ऑपरेशन के ऊपर ही निर्भर किया जाये और सम्भवत: लूप लगाने में इससे भी अधिक बाधा सामने आये। अनेक कम-विकसित देशों से हाल मे रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं कि लूप उतनी लम्बी अवधि तक प्रभावशाली नही रहा, जितनी आशा की जाती थी। इसका कारण यह है कि इन्हे लगाने की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया और सम्भवत. लगभग चौथाई मामलो मे इसके विपरीत प्रभावों पर तो इतना भी ध्यान नहीं दिया गया। (ये विपरीत प्रभाव रक्तस्राव, ऐंठन अथवा पीठ के दर्द के रूप में प्रकट हुए)।

ऐसे प्रत्येक मामले के साथ यह अफवाह और तेज़ी से फैलती है कि लूप खतरनाक है। इसके परिणामस्वरूप और अधिक स्त्रियाँ इसे निकलवा डालना चाहेंगी, चाहे इसका उनके ऊपर कोई भी बुरा प्रभाव न पडा हो। इस प्रकार लूप को और अधिक व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने के मार्ग मे बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है।

जिन देशो को इन कठिनाइयों का बड़े पैमाने पर सामना करना पड़ा है और

अपने निर्धारित लक्ष्यों से बहुत पीछे रह गये है, उनमें भारत भी है।[42]

अव यहाँ आकर यह जोर देना महत्त्वपूर्ण है कि कम-विकसित देशो की सरकारों को स्वयं यह कार्य करने चाहिए। इस सम्बन्ध में विकसित देश सहायता और तकनीकी सहायता के माध्यम से वस्तुतः बहुत कम कार्य कर सकते है।

हाल के वर्षों मे विकसित देशो मे समाचारपत्रों और लोकप्रिय विचार-विमर्श में जो सामान्य शोरगुल मचाया गया है, और जिस बात को अक्सर अधिकारियो और राजनीतिज्ञों ने बार-बार दोहराया है वह यह है कि सहायता देते समय उन्हें कम-विकसित देशो मे संतति-निरोध के प्रसार को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। वस्तुतः यह एक ऐसी बात है, जिसमे इस कार्य की सच्ची विशालता और जिम्मेदारी का निर्वाह किसे करना चाहिए इस बात की सूझ-बूझ दिखायी नही पड़ती।

सबसे पहले तो किसी कम-विकसित देश की सरकार को स्वयं यह दृढ़ निर्णय लेना होगा कि वह सार्वजनिक नीति के रूप मे संतति-निरोध का प्रसार करेगी। लेकिन इसका निश्चय ही यह भी अर्थ होना चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य विकसित देश, तथा विश्व बैंक और अन्य अन्तर सरकार संगठनों को ऐसी किसी भी नीति के सम्बन्ध मे अब अधिकाधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

*यद्यपि कृषि नीति के सम्बन्ध मे राजनयिक और अन्य कारणों से* उनकी स्थिति कम-विकसित देशो में प्रतिक्रियावादी नीति के अधिकाधिक समर्थन का आधार बन गयी है (देखिए अध्याय 4, अनुभाग 3), पर आवादी सम्बन्धी नीति के बारे में हाल के वर्षों मे इन देशों और संगठनो ने दूरगामी सुधारो के पक्ष मे आवाज उठायी है।

यही कारण है कि आबादी के प्रश्न पर कम-विकसित देशों पर कुछ सीमा तक दवाव डालने की बात को स्वीकार किया जा सकता है। जब विश्व बैंक कम-विकसित संसार सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण में आवादी सम्बन्धी नीति को उच्च प्राथमिकता देता है, तो इसका केवल यह अभिप्राय नही होता कि इस नीति को लागू करने के कार्य को आसान बनाने के लिए वह सहायता देने को तैयार है, पर यह सहायता बहुत अधिक नहीं हो सकती। इसका यह अर्थ भी होता है कि बैंक कम-विकसित देशों से अपने समस्त व्यवहारो में और अपने अधीनस्थ संगठनों के माध्यम से भी निरन्तर दूरगामी आवादी सम्बन्धी नीति को लागू करने के तात्कालिक महत्त्व और आवश्यकता पर निरन्तर जोर देता रहेगा।

पर इस समस्या के बारे मे सही परिप्रेक्ष्य को बनाये रखने के लिए यह स्मरण रखना उपयोगी होगा कि आवादी सम्बन्धी नीति की समस्या के बारे मे अपने वर्तमान दृष्टिकोण को अपनाने मे विकसित देशो ने कितना अधिक विलम्ब

इस दिशा मे सक्रिय है और कभी-कभी इस कार्य मे उन्हें सरकार की मान्यता और समर्थन भी मिल रहा है।[38]

निर्णय लिये जाने के बाद उसे प्रभावशाली बनाने के लिए सरकार को दूसरी बात यह करनी होगी कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त प्रशासनिक व्यवस्था करे। राजधानी में स्थित नौकरशाही और गांवो अथवा शहरों की गन्दी बस्तियो के परिवारो के बीच बडी लम्बी दूरी होती है। यह बात भारत और पाकिस्तान जैसे बड़े देशों के बारे में विशेष रूप से सही है,[39] जिन्हें आबादी के बड़े आकार के कारण बड़ा महत्त्व दिया जाता है।

कम-विकसित देशों में प्रशासन, विशेषकर निचले स्तरों पर, बहुत सशक्त स्थिति मे नही है, क्योकि ये सब देश, 'नरम राज्य' (देखिए अध्याय 7) है। जब जन्म-दर को घटाने के निर्धारित लक्ष्य पूरे नही होते, जैसाकि भारत और पाकिस्तान मे हुआ तो इसका अक्सर यह कारण होता है कि प्रशासनिक व्यवस्था असफल रही।[40]

इस पर्याप्त और प्रभावशाली प्रशासनिक व्यवस्था करने की दूसरी आवश्यकता मे यह तीसरी आवश्यकता भी निहित है कि इस कार्य मे बड़ी सख्या में डॉक्टरो और उनके सहायक कर्मचारियो को लगाया जाये। अनेक कारणों से ये कर्मचारी अक्सर स्त्रियाँ ही होनी चाहिए। इन लोगों को जनता की भाषा मे ही बात करनी चाहिए और यह एक ऐसी बात है जो भारत जैसे देश में, जहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं उन लोगो के चुनाव को बहुत सीमित बना देती है, जिनका उपयोग किया जा सकता है।

इस तीसरी आवश्यकता को पूरा करना विशेष रूप से कठिन होगा, क्योकि कम-विकसित देशों में ऐसे कर्मचारियों की बेहद कमी है और इनकी अपने नियमित चिकित्सा और सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए बहुत अधिक ज़रूरत पडती है। अनेक कर्मचारी, विशेषकर डॉक्टर, शहरो मे ही जमे रहते है और अक्सर शहरों के उच्च वर्ग की आवश्यकताओं को ही पूरा करते हैं। और इन्हे तथा अन्य कर्मचारियों को गाँवो मे भेज पाना बड़ा कठिन होता है।[41] डॉक्टरो की कमी उस समय विशेष रूप से बाधक होती है, जब ऑपरेशन के ऊपर ही निर्भर किया जाये और सम्भवत: लूप लगाने में इससे भी अधिक बाधा सामने आये। अनेक कम-विकसित देशों से हाल में रिपोर्ट प्राप्त हुई है कि लूप उतनी लम्बी अवधि तक प्रभावशाली नही रहा, जितनी आशा की जाती थी। इसका कारण यह है कि इन्हे लगाने की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया और सम्भवत: लगभग चौथाई मामलो मे इसके विपरीत प्रभावो पर तो इतना भी ध्यान नही दिया गया। (ये विपरीत प्रभाव रक्तस्राव, ऐंठन अथवा पीठ के दर्द के रूप में प्रकट हुए)।

ऐसे प्रत्येक मामले के साथ यह अफवाह और तेजी से फैलती है कि लूप खतरनाक है। इसके परिणामस्वरूप और अधिक स्त्रियाँ इसे निकलवा डालना चाहेंगी, चाहे इसका उनके ऊपर कोई भी बुरा प्रभाव न पड़ा हो। इस प्रकार लूप को और अधिक व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने के मार्ग मे बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है।

जिन देशो को इन कठिनाइयो का बड़े पैमाने पर सामना करना पड़ा है और

अपने निर्धारित लक्ष्यों से बहुत पीछे रह गये है, उनमें भारत भी है।[42]

अब यहाँ आकर यह ज़ोर देना महत्त्वपूर्ण है कि कम-विकसित देशो की सरकारों को स्वयं यह कार्य करने चाहिए। इस सम्बन्ध में विकसित देश सहायता और तकनीकी सहायता के माध्यम से वस्तुत: बहुत कम कार्य कर सकते हैं।

हाल के वर्षों मे विकसित देशों मे समाचारपत्रों और लोकप्रिय विचार-विमर्श मे जो सामान्य शोरगुल मचाया गया है, और जिस बात को अक्सर अधिकारियों और राजनीतिज्ञो ने बार-बार दोहराया है वह यह है कि सहायता देते समय उन्हे कम-विकसित देशों मे संतति-निरोध के प्रसार को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। वस्तुत: यह एक ऐसी बात है, जिसमे इस कार्य की सच्ची विशालता और ज़िम्मेदारी का निर्वाह किसे करना चाहिए इस बात की सूझ-बूझ दिखायी नही पड़ती।

सबसे पहले तो किसी कम-विकसित देश की सरकार को स्वयं यह दृढ निर्णय लेना होगा कि वह सार्वजनिक नीति के रूप मे संतति-निरोध का प्रसार करेगी। लेकिन इसका निश्चय ही यह भी अर्थ होना चाहिए कि सयुक्त राज्य अमरीका और अन्य विकसित देश, तथा विश्व बैंक और अन्य अन्तर सरकार संगठनों को ऐसी किसी भी नीति के सम्बन्ध मे अब अधिकाधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

यद्यपि कृषि नीति के सम्बन्ध में राजनयिक और अन्य कारणों से उनकी स्थिति कम-विकसित देशो में प्रतिक्रियावादी नीति के अधिकाधिक समर्थन का आधार बन गयी है (देखिए अध्याय 4, अनुभाग 3), पर आबादी सम्बन्धी नीति के बारे मे हाल के वर्षो मे इन देशों और संगठनों ने दूरगामी सुधारो के पक्ष मे आवाज़ उठायी है।

यही कारण है कि आबादी के प्रश्न पर कम-विकसित देशों पर कुछ सीमा तक दबाव डालने की बात को स्वीकार किया जा सकता है। जब विश्व बैंक कम-विकसित संसार सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण मे आबादी सम्बन्धी नीति को उच्च प्राथमिकता देता है, तो इसका केवल यह अभिप्राय नही होता कि इस नीति को लागू करने के कार्य को आसान बनाने के लिए वह सहायता देने को तैयार है, पर यह सहायता बहुत अधिक नही हो सकती। इसका यह अर्थ भी होता है कि बैंक कम-विकसित देशों से अपने समस्त व्यवहारो में और अपने अधीनस्थ संगठनों के माध्यम से भी निरन्तर दूरगामी आबादी सम्बन्धी नीति को लागू करने के तात्कालिक महत्त्व और आवश्यकता पर निरन्तर जोर देता रहेगा।

पर इस समस्या के बारे मे सही परिप्रेक्ष्य को बनाये रखने के लिए यह स्मरण रखना उपयोगी होगा कि आबादी सम्बन्धी नीति की समस्या के बारे में अपने वर्तमान दृष्टिकोण को अपनाने में विकसित देशों ने कितना अधिक विलम्ब

किया।[43]

संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठनों में कम्युनिस्ट और कैथोलिक देशों— जिनमे लेटिन अमरीका के देश भी शामिल थे— के बीच साँठ-गाँठ ने कम-विकसित देशों मे आवादी की समस्या के प्रति कोई व्यावहारिक और प्रभावशाली दृष्टिकोण अपनाने के मार्ग मे लम्बी अवधि तक बाधा डाली। अभी भी ये संगठन जनसंख्या नीति को लागू करने सम्बन्धी गतिविधियों मे हिस्सा नही ले पाते, उन्हे इस कार्य के लिए रोका जाता है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि ये सगठन अनुसन्धान और आयोजन के अलावा अन्य कुछ नही कर पाते।

ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बहुसंख्यक प्रोटेस्टेंट देश भी अक्सर अपने कथोलिक अल्पसख्यकों के दबाव के समक्ष झुकते रहे। लम्बे अर्से तक लूथेरन समाज और अधिक धर्मनिरपेक्ष नीति अपनाने वाले स्कैंडिनेविया के देशों ने ही कम-विकसित देशों मे सतति-निरोध का समर्थन किया— और स्वयं अपने देशों में भी इस नीति को समर्थन दिया—तथा अपनी तरफ से कुछ सहायता भी दी।

संयुक्त राज्य अमरीका में सन् 1959 तक मे राष्ट्रपति ड्वाइट डी० आइजनहावर का प्रशासन एक समिति की रिपोर्ट मे बड़े सतर्क ढंग से इस सुझाव को स्वीकार करने से पीछे हट गया कि जिन देशो को सैनिक सहायता दी जाती है यदि वे स्वयं अनुरोध करें तो सैनिक सहायता की कुछ राशि का उपयोग परिवार नियोजन के लिए किया जा सकता है।

सन् 1963 मे ही राष्ट्रपति जान एफ० कैनेडी के व्यक्तिगत नेतृत्व के कारण यह नीति अपनायी जा सकी कि कम-विकसित देशो को अमरीकी सरकार आवादी सम्बन्धी नीति के आयोजन और अनुसन्धान के लिए सहायता देगी। केवल राष्ट्रपति जान्सन के कार्य-काल मे ही सयुक्त राज्य अमरीका की नीति इस सम्बन्ध मे समस्त संकोचों और निषेधो से मुक्त हो सकी।

जैसाकि मैने पहले कहा है केवल कम्युनिस्ट ही नही, बल्कि कैथोलिकभी अपने विचारों में परिवर्तन कर रहे हैं। हाल मे पोप ने संतति-निरोध के विरुद्ध जो परिपत्र जारी किया है, सम्भवतः उसके कारण ही कैथोलिक देशों में इस विचार-परिवर्तन मे कुछ विलम्ब हो रहा है। और अब क्योकि कम्युनिस्ट देश भी इसी प्रकार तेजी से बदल रहे हैं,[44] अन्तर सरकार सगठनों को भी कम-विकसित देशो में संतति-निरोध के कार्यक्रम चलाने के लिए स्वतन्त्र कर दिया जाना चाहिए।

लेकिन यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि सब विकसित देशों मे आज कम-विकसित ससार मे संतति-निरोध के प्रसार के लिए जो यह नया उत्साह दिखायी पड़ रहा है, और जो इतने विलम्ब से दिखायी पडा है, उससे निश्चय ही इन देशों में, विशेषकर भारत में व्यंग्यपूर्ण विचारो को जन्म मिलेगा, क्योंकि भारत ने बहुत पहले ही आबादी को सीमित रखने की नीति अपनायी थी।[45] श्री नेहरू ने अक्सर अत्यधिक स्पष्ट शब्दो में इन व्यंग्यपूर्ण विचारो को व्यक्त किया था।

यदाकदा प्रतिक्रिया व्यंग्यपूर्ण विचारो से कही अधिक आलोचनात्मक हो सकती है। अन्य देशो की तरह ही कम-विकसित देशों के बुद्धिवादी 'विशाल' और 'महान्' के बीच अन्तर कर पाने मे कठिनाई का अनुभव करते है और अक्सर

'संख्या की भ्रान्ति' से ग्रस्त रहते है।[46]

इस बात मे सन्देह नही है कि गरीब देशों में आवादी में वृद्धि में कमी करने के बारे मे अमीर देशों में जो दिलचस्पी व्याप्त है, यदाकदा उसका विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है। ये अमीर देश स्वयं अपने देशों में ऐसी कोई नीति दृढ़तापूर्वक न अपना पाने के कारण गरीब देशों म संकोचों और निषेधों को समर्थन प्रदान करते हैं।

उस स्थिति में यह प्रतिक्रिया प्रायः कटु हो उठती है जब हम यह ध्यान देते है कि इसके साथ ही अमीर देश स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अपनी सहायता मे कमी कर देते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता सम्बन्धी गतिविधि में अनेक वर्षों से स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों को चुपचाप नीचे दर्जे पर रख दिया गया है अथवा अत्यधिक घने बसे कम-विकसित देशों मे इस कार्यक्रम को धीरे-धीरे लागू किया जा रहा है, जबकि परिवार नियोजन कार्यक्रम को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। जब सहायता के कुल बजट में निरन्तर कमी की जा रही है (देखिए अध्याय 11) और जबकि परिवार नियोजन के लिए अधिकाधिक धन खर्च किया जा रहा है, तो यह होना प्रायः स्वाभाविक है।

पर चिकित्सा विशेषज्ञ इस प्रवृत्ति और स्थिति के विरुद्ध निरन्तर अपनी आवाज़ उठा रहे हैं।[47] और वे इस तथ्य की ओर संकेत कर सकते है कि बेहतर स्वास्थ्य का श्रम के उपयोग में वृद्धि पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है और यह गरीब लोगो को विकास के प्रयासो के प्रति अधिक सजग बनाता है और विशेष रूप से यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बच्चों की मृत्यु-दर में कमी संतति-निरोध के प्रसार की प्रायः एक शर्त है।

कम-विकसित देशों में चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए अधिक सहायता देने के साथ-साथ इन देशो मे प्रतिक्रिया स्वरूप जो प्रभाव उत्पन्न होते है, उनका मुकाबला तर्क और लेखन मे अधिक राजनयिक रवैया अपनाकर नही किया जाना चाहिए। कम-से-कम उन पुस्तकों और लेखो में, जिनमे विद्वत्तापूर्ण विवेचन का स्वांग रचा जाता है, यह कार्य एकदम नही किया जाना चाहिए। लेकिन मेरा विश्वास है कि यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस विषय के अध्येता और अधिकारी दोनो यह समझें तथा इस बात को व्यक्त भी करें कि संतति-निरोध की नीति के प्रसार के मार्ग मे कम-विकसित देशों को किन विशाल कठिनाइयों का सामना करना पडता है।

सब सम्बन्धित लोगों को यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि कम-विकसित देशो मे संतति-निरोध के कार्यक्रमों को लागू करने मे विकसित देश, स्वयं अपनी ओर से अथवा अन्तर-सरकार सगठनों के माध्यम से जो अंशदान दे सकते है, वे अपेक्षाकृत सीमित है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अनुसन्धान रहा है और रहेगा। विशेषकर संतति-निरोध की वर्तमान विधियो को हर दृष्टि से पूर्ण बनाने के अनुसन्धान। आबादी सम्बन्धी और आर्थिक अनुसन्धान भी महत्त्वपूर्ण हैं, विशेषकर जनता को प्रबुद्ध

बनाने और कम-विकसित देशो की सरकारों के संकोचो और निषेधों को समाप्त करने के लिए इसकी आवश्यकता है। आर्थिक दृष्टि से इन दोनों प्रकार के अनुसन्धानों पर बहुत खर्च बैठता है।

जन-सामान्य मे संतति-निरोध के प्रसार के निर्माण को कार्यरूप देने के लिए उचित प्रशासनिक व्यवस्था का कठिन कार्य स्वयं इन देशो को करना होगा। कुछ ऐसे देश है, जो इस सम्बन्ध में विशेषज्ञो की सलाह का लाभ उठा सकते है।

लेकिन कम-विकसित देशो को इस प्रकार की सलाह के अनेक निरर्थक और यहाँ तक कि दुर्भाग्यपूर्ण परिणामो को देख लेने के बाद, क्योकि यह सलाह इन देशों की विशिष्ट और अत्यधिक भिन्न परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञान के बिना दी जाती है, मैं सरकारो को यह सलाह दूंगा कि वे ऐसी सलाह देने से दूर ही रहे। आर्थिक दृष्टि से ऐसी किसी भी सलाह का कोई विशेष अर्थ नही होता।

डॉक्टरों और उनके सहायक कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए कुछ सहायता दी जा सकती है, लेकिन यह कार्य भी बड़े पैमाने पर नही हो सकता, विशेषकर इस कारण से क्योकि सब विकसित देशो मे भी स्वयं ऐसे कर्मचारियो की कमी है और भाषा सम्बन्धी कठिनाइयो के कारण ये लोग सम्बन्धित देशों के अपने डॉक्टरो और कर्मचारियों का स्थान मुश्किल से ही ले सकते हैं।

विकसित देश अनुदान के रूप मे गर्भ-निरोध के उपकरण दे सकते है। और इस समय यह कार्य पर्याप्त बडे पैमाने पर हो भी रहा है। लेकिन ये उपकरण बडे सस्ते हैं और अनेक कम-विकसित देश इन्हे स्वयं बना सकते है। इस स्थिति मे यदि हम सहायता के सामान के रूप मे जीप, डॉक्टरी के औजार आदि दें तो आवश्यक सामान की सूची पूरी हो जाती है।

विकसित देशों का सच्चा बड़ा योगदान संतति-निरोध के नये उपायो के बारे मे अनुसन्धान है, जो चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा। हमने यह देखा है कि सयुक्त राज्य अमरीका मे यह कार्य सरकार के किसी निर्णय पर पहुँचने से बहुत समय पहले से निजी सस्थाओं की सहायता से चल रहा है।

विकसित देश अपेक्षाकृत कितना कम योगदान कर सकते है—अनुसन्धान, जनता को प्रबुद्ध बनाकर और कम-विकसित देशों की सरकारों पर दबाव डालकर आदि बातों को छोड़कर—इस बात का उल्लेख करने का मेरा यह इरादा नही है कि ये देश जो कुछ कर सकते है, उन्हे वह भी न करने की चेतावनी दी जाये। इसके विपरीत मै यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि कम-विकसित देश स्वयं कितना अधिक कार्य कर सकते है और वे इस कार्य को तेज़ी से तथा दृढता से करे यह बात कितनी महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक महत्त्व की है।

इन्ही कारणो से मैंने इस विषय पर इस पुस्तक के उस भाग मे विचार किया है, जिसमें कम-विकसित देशो मे आमूल परिवर्तनवादी सुधारो की आवश्यकता पर विचार हुआ है।

अध्याय : ६

# शिक्षा

## 1. आरम्भिक प्रेक्षण

*कम-विकसित देशों में शिक्षा की समस्या के अध्ययन का संकल्पना सम्बन्धी* ढांचा उसी प्रकार तर्कसंगत कठिनाइयों से प्रायः मुक्त होना चाहिए, जिस प्रकार आबादी सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण।

कितने लोग साक्षर है और कितने बच्चे स्कूल जाते हैं तथा ये बच्चे कितने वर्षों के लिए स्कूल जाते है, स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से दुविधा-रहित प्रश्न दिखायी पड़ते हैं। *शिक्षा सम्बन्धी* उपलब्ध सुविधाओं—स्कूल की इमारतें, अध्यापन सामग्री और उपकरण, अध्यापक आदि—की मात्रा और यहाँ तक कि उनका गुणात्मक स्तर उस प्रकार की तर्कसंगत आपत्ति को जन्म नही देता, जिससे हमारा 'आर्थिक' समस्याओं पर दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण द्वारा विचार की आलोचना के समय सामना हुआ है।

इसके बावजूद जब शिक्षा सम्बन्धी आँकड़े विकास की कमी और विकास सम्बन्धी प्रायः किसी भी अन्य क्षेत्र के आँकड़ों की तरह और भी कम सन्तोषजनक है, तो इसका स्पष्टीकरण आंशिक रूप से यह है कि स्पष्ट परिभाषाओं को अपनाने मे *आश्चर्यजनक असावधानी बरती गयी है। यद्यपि इन परिभाषाओं का प्रतिपादन* बहुत कठिन नहीं है। आशिक रूप से यह भी कहा जा सकता है कि व्यापक प्रक्षणों और गणनाओं की बेहद कमी है और प्रायः इनका अभाव ही है।

दोनों दृष्टियों से अवसरवादी हितों का सर्वोत्तम हितसाधन होता है, चाहे वास्तविक स्थिति छिपी रहे अथवा इसे ऐसे रूप में प्रकट किया जाये जिससे शिक्षा नीति में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव न हो।

कम-विकसित देशों मे शिक्षा की स्थिति और विकास के बारे में जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें दो संकल्पनाओं को बुनियादी स्थान दिया जाना है—साक्षरता *और शिक्षा संस्थाओं में भरती।*

साक्षरता की परिभाषा देना और अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाओं के लिए इस परिभाषा का मानकीकरण करना अपने-आपमे कठिन नही दिखायी पड़ना चाहिए। जन-*गणना करने वालों द्वारा इस परिभाषा को व्यवहार में लाने और जिन लोगो से* जनगणना सम्बन्धी सवाल पूछे जाते है, उन्हें यह परिभाषा समझाना निश्चय ही बड़े कठिन व्यावहारिक कार्य है। लेकिन साक्षरता के सम्बन्ध में अधिक सार्थक और सही आँकड़े प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[1]

एक ऐसा उदाहरण देने के लिए कि साक्षरता के बारे में किस प्रकार आंकडे पूरी तरह से अविश्वसनीय हो सकते हैं, मैं 1951 और 1961 के दो जनगणना

वर्षों के बीच भारत में 30 वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों के समस्त आयु-समूहो मे साक्षरता मे प्रकट रूप से प्रभावशाली वृद्धि का उल्लेख कर सकता हूँ।[2] प्रत्येक आयु-समूह में जिस वृद्धि को रेकार्ड किया गया, वह समान थी। पर साक्षरता में इस प्रकार की वृद्धि कल्पनातीत है।

यदि वयस्क शिक्षा के लिए व्यापक और कार्य-कुशल प्रयास भी किये जाते—जो वस्तुतः नही हुए—तो भी, अधिक स्थूलों की व्यवस्था की तरह, कुछ खास आयु-समूहों को ही विशेष रूप से प्रभावित करते। यह बात बड़ी स्पष्ट है और इसका आलोचनात्मक मूल्याकन किया जाना चाहिए। यदि यह कार्य स्वयं भारत मे नही होता, तो कम-से-कम यूनेस्को को यह कार्य करना चाहिए, जो इन आँकड़ों को प्रचारित करता है और इन पर अपनी टिप्पणियाँ देता है। पर यह कहना होगा कि भारत के साक्षरता सम्बन्धी आँकड़ों को अन्य अधिकाश कम-विकसित देशों के आँकड़ों से कम सही नही कहा जा सकता।

पर साक्षरता सम्बन्धी आँकड़ों का वे अर्थशास्त्री विशेष रूप से व्यापक पैमाने पर उल्लेख कर रहे हैं, जो शिक्षा के क्षेत्र मे कदम रख रहे हैं। लेकिन इस उल्लेख मे इन आँकडो की सटीकता के बारे में कुछ नही कहा जाता। अनेक वर्षों तक यह माना जाना चाहिए कि कम-विकसित देशो मे साक्षरता सम्बन्धी आँकडे साक्षरता के वास्तविक प्रसार से कहीं अधिक ऊँची स्थिति को व्यक्त करते रहेंगे। लेकिन यूनेस्को के एक लेखक का विपरीत विश्वास है।[3] कही भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय अधिकारियों अथवा व्यक्तिगत अध्येताओ ने किसी सीमित क्षेत्र के लिए भी प्रकाशित आँकड़ो की जाँच नही की यद्यपि यह जाँच करना बहुत आसान होना चाहिए।

कम-विकसित देशो मे शिक्षा पर विचार मे प्रयुक्त दूसरी प्रमुख सकल्पना स्कूलो में बच्चो की भरती की है।[4] सम्बन्धित साहित्य में यह सामान्यतया, अबोध और सूक्ष्मता से जाँच किये बिना ही मान लिया जाता है कि स्कूलो मे बच्चों की भर्ती के प्रकाशित आँकड़े पर्याप्त सही हैं और ये आँकड़े—जिन्हे कभी-कभी कुल आबादी के औसत के रूप मे दिया जाता है और जिसमें कम-विकसित देशो मे आयु के असमान वितरण की उपेक्षा कर दी जाती है—इस बात की माप प्रस्तुत करते हैं कि बच्चे किस सीमा तक स्कूल जाते हैं। किसी कम-विकसित देश मे शिक्षा की स्थिति के बारे में बहुत अधिक आशावादी निर्णय और हाल मे शिक्षा की स्थिति मे सुधार के बारे में निर्णय विद्यार्थियो की भरती के आँकड़ो पर आधारित होते है।

स्कूलों मे विद्यार्थियो की भरती के आँकडे कितने अविश्वसनीय हो सकते है, इस बात को एक और उदाहरण से समझाया जा सकता है : पाकिस्तान की 1961 की जनगणना के अनुसार 5 से 9 वर्ष की उम्र के 15 प्रतिशत से भी कम बच्चे स्कूल जाते थे, जबकि भरती के आँकड़ों के अनुसार एक जरा से भिन्न उम्र-वर्ग 6 से 10 वर्ष के उम्र-वर्ग में 30 प्रतिशत बच्चे स्कूलों मे जाते थे। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि पाकिस्तान मे माध्यमिक स्कूलों से सम्बद्ध प्राइमरी कक्षाओं के विद्यार्थी प्राइमरी स्कूलों की भरती के आँकड़ों में शामिल नही किये जाते, जबकि इनकी संख्या माध्यमिक स्कूलो के सब विद्यार्थियों के 20 प्रतिशत से अधिक होती है।[5]

सम्भवतः आँकड़ा सम्बन्धी यह खामी विशेष रूप से पाकिस्तान में मौजूद है, जो दक्षिण एशिया क्षेत्र में शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्धि और आर्थिक स्तर दोनों दृष्टियों से सबसे नीचे है।[6] एक जाँच से पता चला है कि अक्सर भर्ती के आँकड़ों में स्कूल के वास्तविक कार्य को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है। यदि इसका यह अर्थ समझा जाये कि जिन आँकड़ों का उल्लेख होता है, सचमुच उतने बच्चे वास्तव में स्कूल जाते है, तो यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

यह बात प्राइमरी स्कूलों और इससे भी अधिक लड़कों के स्कूलों की तुलना में लड़कियों के स्कूलो के बारे में दिखायी पड़ती है। अब क्योंकि स्कूलों में भर्ती के आँकड़ों को बढ़ा-चढाकर दिखाने की यह प्रवृत्ति अत्यधिक गरीब देशों में सर्वाधिक दिखायी पड़ती है और इन देशों मे शिक्षा की सबसे कम सन्तोषजनक व्यवस्था है, जैसे पाकिस्तान और भारत मे, प्रकाशित आँकड़े इस क्षेत्र के अत्यधिक गरीब और कम गरीब देशों के बीच वर्तमान अन्तर को कम करके दर्शाने की प्रवृत्ति दिखाते हैं। यही बात इन देशो के भीतर विभिन्न अवकलों के बारे मे भी सही है।

दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि स्कूलो मे लड़कियों, गाँवो मे बच्चों और साधारणतया अधिक गरीब जिलों और देशों में बच्चो के स्कूल जाने की दर उस समय बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखायी जाती है, जब स्कूलों में भर्ती की संख्या के आधार पर इसकी गणना की जाये। यदि हम विभिन्न वर्गों के आधार पर जानकारी एकत्र करते तो यह निश्चय ही स्पष्ट हो जाता कि गरीब परिवारों के बच्चो की संख्या कम रहती है और यह बात भी स्पष्ट हो जाती कि इस कम संख्या को अधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है।

एशियन ड्रामा में मैंने इस महत्त्वपूर्ण पहलू के बारे मे अपने अनुमान लगाये हैं : स्कूल की शिक्षा के किसी विशेष चरण के अन्त मे स्कूलो मे हाज़िरी और विद्यार्थियों के निरन्तर स्कूल आने की स्थिति। भर्ती के आँकड़ो का उपयोग करते हुए, मैंने उस व्यापक जानकारी पर अपने अनुमानों को आधारित किया, जो मुझे इन देशो मे सरकारी और गैर-सरकारी लोगों से बातचीत के दौरान [illegible] त हैं। लेकिन सम्भवतः ये [illegible] इनसे वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित होता है और इस प्रकार ये सरकारी आँकडो मे सुधार के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करते हैं।

मेरी राय में कम-विकसित देशों में शिक्षा-प्रणाली मे दूरगामी सुधार करना विवेकपूर्ण और तर्कसंगत आयोजन के लिए एक बड़ी शर्त है और इस कार्य के लिए बहुत अधिक बेहतर आँकडों की आवश्यकता है, जिनसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नो के बारे मे सही जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए, इस कार्य को जनगणना सम्बन्धी अध्ययनों से कहीं अधिक ऊँची प्राथमिकता दी जानी चाहिए। यही कारण है कि मैंने इस अध्याय का समारम्भ शिक्षा सम्बन्धी आँकडों पर विचार से किया है।

शिक्षा, विकास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस बात को शिक्षा-शास्त्री और इतिहासकार सदा से समझते रहे हैं। प्राचीन लेखकों के समय से ही अर्थशास्त्री भी इस महत्त्व को समझते आ रहे है।[7] लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद

के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुसार अर्थशास्त्रियों ने इस बात को उस समय अधिकांशतः भुला दिया, जब उन्होंने कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं का अध्ययन शुरू किया। यह दृष्टिकोणों, संस्थाओं और रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तर के उत्पादकता पर प्रभाव जैसी बातों के प्रति चिन्ता न दिखाने के सामान्य परिणाम के फलस्वरूप हुआ। रहन-सहन के निचले स्तर से शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ भी सम्बद्ध है।

हाल के वर्षों में अर्थशास्त्रियों के एक समूह ने विकास प्रक्रिया में शिक्षा के महत्त्व का पुनर्अनुसन्धान किया है। यह अपने-आपमे एक प्रशंसनीय कार्य है।

जैसाकि मैने अध्याय-1 मे कहा है कि इस स्थिति में उन लोगों ने अपने सतही विकास नमूनो मे पूँजी निवेश की संकल्पना को केवल कुछ और व्यापक बनाया और इसमे भौतिक निवेश के साथ-साथ 'मनुष्य के लिए निवेश' को भी शामिल कर लिया और मनुष्य की भलाई के लिए निवेश को शिक्षा का ही दूसरा स्वरूप मान लिया गया। पर इसका यह परिणाम निकला कि इस स्थिति में इसे एक ऐसा वित्तीय खर्च समझ लिया गया, जिससे वित्तीय लाभ की अपेक्षा की गयी।[8]

समस्या कुछ विरोधाभासपूर्ण है, यद्यपि कम-विकसित देशों में अधिकांश वास्तविक आयोजन, और अधिकांश आर्थिक साहित्य इस विचार पर ही आधारित चला आ रहा है कि भौतिक निवेश के माध्यम से ही विकास किया जा सकता है। पर आज ऐसे अर्थशास्त्रियों की संख्या में वृद्धि हो रही है जो इस मत की निन्दा करते हैं और कम-विकसित देशों मे विकास को बुनियादी तौर पर एक शिक्षा प्रक्रिया मानते है। लेकिन इसके बाद वे तुरन्त इस प्रक्रिया को वित्तीय मुद्रा सम्बन्धी आयोजन की बेड़ियों मे कसकर दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करने लगते हैं, जिसकी अपर्याप्तता को अध्याय-1 में स्पष्ट किया गया है।

कुछ अत्यधिक विकसित देशो मे शिक्षा पर हुए व्यय के वित्तीय लाभ को मापने में इस दृष्टिकोण का उपयोग किया गया है—और यह तरीका भी सन्देह से ऊपर नही है।[9] किसी भी कम-विकसित देश मे उपलब्ध आँकड़े इस रूप में मौजूद नही है कि इस प्रकार की किसी भी गणना का प्रयास किया जा सके।

अत्यधिक विकसित देशों मे जो अध्ययन हुए, उन्ही को उदाहरण मानकर इस 'सिद्धान्त' को कम-विकसित देशों पर भी लागू करने का प्रयास किया गया, यद्यपि इन देशों की परिस्थितियाँ हर दृष्टि से बेहद भिन्न हैं। अक्सर यह भी ज़ोर देकर कहा जाता है कि इस दृष्टिकोण मे जो विचार निहित है वह कम-विकसित देशो के लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मात्रा के आधार पर निर्धारण की किसी भी सम्भावना के बिना दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण का यह नवीनतम रूप इस प्रकार केवल एक साधारण और अनियत अभ्युक्ति भर रहा है और यह फतवा विकास के लिए शिक्षा के अतिरिक्त महत्त्व के बारे में दिया गया है। अनेक उचित कारणों से इस दृष्टिकोण का किसी भी वास्तविक अनुसन्धान में उपयोग नही किया गया।

यद्यपि इस प्रकार यह हाल का दृष्टिकोण अस्पष्ट सामान्य बातों के क्षेत्र तक ही सीमित रहा, पर इससे कुछ ऐसी अनावश्यक मान्यताएँ स्पष्ट हुई जिनका स्वरूप अनुसन्धान मे अवसरवादिता का समावेश करता है। इस प्रकार शिक्षा को

एक समरूप परिमाण मान लिया जाता है, जिसको वित्तीय व्यय के सन्दर्भ मे लागत की दृष्टि से मापा जा सकता है। लेकिन, जैसाकि एशियन ड्रामा में बड़े विस्तार से दर्शाया गया है, और इस बात का नीचे भी उल्लेख किया गया है, शिक्षा मे जिन प्रमुख सुधारों की आवश्यकता है उनका स्वरूप गुणात्मक है।

सबसे पहली बात यह है कि शिक्षा सम्बन्धी इन सुधारों का सम्बन्ध शिक्षा की मात्रा से नही है और वित्तीय व्यय के रूप मे इसे मापने का तो प्रश्न ही नही उठता। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न ज़िलों, सामाजिक वर्गों और लड़के-लड़कियों में शिक्षा का उचित प्रसार होना चाहिए। इस सम्बन्ध में भी सुधार होने चाहिए कि क्या पढ़ाया जाता है, इस पढ़ाई का क्या उद्देश्य है, इसकी क्या भावना है और इसका क्या प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए, इस सम्बन्ध में शारीरिक श्रम करने की तत्परता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश इन देशों मे अधिकाश शिक्षा अब स्पष्ट रूप से कुशिक्षा बन गयी है और इससे विकास के मार्ग में निश्चित बाधा पड़ेगी।

अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पूंजी और उत्पादन के फारमूले की तरह मनुष्य में निवेश नमूना यह दर्शाता है कि वर्तमान दृष्टिकोण और संस्थाएँ तथा शिक्षा की सुविधाओं के अलावा रहन-सहन के स्तर से सम्बन्धित अन्य विषय इस समस्या के लिए कोई महत्त्व नही रखते और शिक्षा की समस्या के अध्ययन में अन्य समस्त नीति सम्बन्धी उपायो को भुलाया जा सकता है।[10]

अब, क्योंकि ये मान्यताएँ तर्क की दृष्टि से असंगत और यथार्थ की दृष्टि से अपर्याप्त हैं, अतः पूंजी और उत्पादन का यह विस्तारित नमूना यथार्थवादी और तर्कसंगत अनुसन्धान के मार्ग में बाधा डालता है। यद्यपि यह सूत्र अनुभवजन्य ज्ञान से पूरी तरह वंचित है, विशेषकर उत्पादन की दृष्टि से, पर यह पूरी तरह से दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुरूप कार्य करता है और अध्याय-1 मे जिन अनेक अवसरवादी पूर्वाग्रहों के समूह का उल्लेख किया गया है, उनका नमूना प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि यह कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशो में इतना अधिक लोकप्रिय बन गया है।

## 2. विरासत

आर्थिक समस्याओं के बारे मे मैंने जो गहन अध्ययन किया है, उसका सम्बन्ध कम-विकसित संसार के उस विशाल भाग से है, जिसे मैंने दक्षिण एशिया के नाम से पुकारा है। इस अध्ययन के परिणामो को पर्याप्त विस्तार से एशियन ड्रामा के अध्याय-29 और 31-33 मे दिया गया है।[11] आगामी पृष्ठों मे इन समस्याओं का जो संक्षिप्त विवेचन हुआ है, वह भी इसी क्षेत्र के देशो पर केन्द्रित रहेगा और केवल इस अध्याय के अन्त में अन्य क्षेत्रों के कम-विकसित देशो के बारे मे संक्षिप्त टिप्पणी की जायेगी।

उपनिवेशी युग की समाप्ति के समय तक जनसामान्य का किसी भी औपचारिक या विधिवत् शिक्षा से प्राय: कोई सम्पर्क नही हुआ था।[12] यह बात इस क्षेत्र के विशालतम देशों, भारत, पाकिस्तान और इन्दोनेशिया पर लागू होती है। इन देशों ने साक्षरता की बहुत नीची दर के साथ आज़ादी के युग में प्रवेश किया। सम्भवतः उस समय वयस्क आबादी का पाँचवें से भी कम हिस्सा

के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुसार अर्थशास्त्रियों ने इस बात को उस समय अधिकाशतः भुला दिया, जब उन्होंने कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं का अध्ययन शुरू किया। यह दृष्टिकोणों, संस्थाओं और रहन-सहन के अत्यधिक नीचे स्तर के उत्पादकता पर प्रभाव जैसी बातों के प्रति चिन्ता न दिखाने के सामान्य परिणाम के फलस्वरूप हुआ। रहन-सहन के निचले स्तर से शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ भी सम्बद्ध है।

हाल के वर्षो मे अर्थशास्त्रियो के एक समूह ने विकास प्रक्रिया मे शिक्षा के महत्त्व का पुनर्अनुसन्धान किया है। यह अपने-आपमें एक प्रशंसनीय कार्य है।

जैसाकि मैंने अध्याय-1 मे कहा है कि इस स्थिति में उन लोगों ने अपने सतही विकास नमूनों में पूंजी निवेश की सकल्पना को केवल कुछ और व्यापक बनाया और इसमे भौतिक निवेश के साथ-साथ 'मनुष्य के लिए निवेश' को भी शामिल कर लिया और मनुष्य की भलाई के लिए निवेश को शिक्षा का ही दूसरा स्वरूप मान लिया गया। पर इसका यह परिणाम निकला कि इस स्थिति में इसे एक ऐसा वित्तीय खर्च समझ लिया गया, जिससे वित्तीय लाभ की अपेक्षा की गयी।[8]

समस्या कुछ विरोधाभासपूर्ण है, यद्यपि कम-विकसित देशो मे अधिकाश वास्तविक आयोजन, और अधिकाश आर्थिक साहित्य इस विचार पर ही आधारित चला आ रहा है कि भौतिक निवेश के माध्यम से ही विकास किया जा सकता है। पर आज ऐसे अर्थशास्त्रियो की सख्या मे वृद्धि हो रही है जो इस मत की निन्दा करते हैं और कम-विकसित देशो में विकास को बुनियादी तौर पर एक शिक्षा प्रक्रिया मानते है। लेकिन इसके बाद वे तुरन्त इस प्रक्रिया को वित्तीय मुद्रा सम्बन्धी आयोजन की बेड़ियों में कसकर दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करने लगते हैं, जिसकी अपर्याप्तता को अध्याय-1 मे स्पष्ट किया गया है।

कुछ अत्यधिक विकसित देशों मे शिक्षा पर हुए व्यय के वित्तीय लाभ को मापने मे इस दृष्टिकोण का उपयोग किया गया है—और यह तरीका भी सन्देह से ऊपर नही है।[9] किसी भी कम-विकसित देश मे उपलब्ध आँकड़े इस रूप में मौजूद नही है कि इस प्रकार की किसी भी गणना का प्रयास किया जा सके।

अत्यधिक विकसित देशों मे जो अध्ययन हुए, उन्ही को उदाहरण मानकर इस 'सिद्धान्त' को कम-विकसित देशों पर भी लागू करने का प्रयास किया गया, यद्यपि इन देशो की परिस्थितियाँ हर दृष्टि से बेहद भिन्न है। अक्सर यह भी ज़ोर देकर कहा जाता है कि इस दृष्टिकोण मे जो विचार निहित है वह कम-विकसित देशो के लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। मात्रा के आधार पर निर्धारण की किसी भी सम्भावना के बिना दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण का यह नवीनतम रूप इस प्रकार केवल एक साधारण और अनियत अभ्युक्ति भर रहा है और यह फतवा विकास के लिए शिक्षा के अतिरिक्त महत्त्व के बारे मे दिया गया है। अनेक उचित कारणो से इस दृष्टिकोण का किसी भी वास्तविक अनुसन्धान मे उपयोग नही किया गया।

यद्यपि इस प्रकार यह हाल का दृष्टिकोण अस्पष्ट सामान्य बातो के क्षेत्र तक ही सीमित रहा, पर इससे कुछ ऐसी अनावश्यक मान्यताएँ स्पष्ट हुई जिनका स्वरूप अनुसन्धान मे अवसरवादिता का समावेश करता है। इस प्रकार शिक्षा को

एक समरूप परिमाण मान लिया जाता है, जिसको वित्तीय व्यय के सन्दर्भ मे लागत की दृष्टि से मापा जा सकता है। लेकिन, जैसाकि एशियन ड्रामा में वड़े विस्तार से दर्शाया गया है, और इस बात का नीचे भी उल्लेख किया गया है, शिक्षा मे जिन प्रमुख सुधारों की आवश्यकता है उनका स्वरूप गुणात्मक है।

सबसे पहली बात यह है कि शिक्षा सम्बन्धी इन सुधारों का सम्बन्ध शिक्षा की मात्रा से नही है और वित्तीय व्यय के रूप में इसे मापने का तो प्रश्न ही नही उठता। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न ज़िलों, सामाजिक वर्गों और लड़के-लड़कियों में शिक्षा का उचित प्रसार होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे भी सुधार होने चाहिए कि क्या पढ़ाया जाता है, इस पढ़ाई का क्या उद्देश्य है, इसकी क्या भावना है और इसका क्या प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए, इस सम्बन्ध में शारीरिक श्रम करने की तत्परता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश इन देशों मे अधिकाश शिक्षा अव स्पष्ट रूप से कुशिक्षा बन गयी है और इससे विकास के मार्ग मे निश्चित बाधा पड़ेगी।

अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पूंजी और उत्पादन के फारमूले की तरह मनुष्य मे निवेश नमूना यह दर्शाता है कि वर्तमान दृष्टिकोण और संस्थाएं तथा शिक्षा की सुविधाओ के अलावा रहन-सहन के स्तर से सम्बन्धित अन्य विषय इस समस्या के लिए कोई महत्त्व नही रखते और शिक्षा की समस्या के अध्ययन में अन्य समस्त नीति सम्बन्धी उपायों को भुलाया जा सकता है।[10]

अब, क्योंकि ये मान्यताएँ तर्क की दृष्टि से असंगत और यथार्थ की दृष्टि से अपर्याप्त हैं, अतः पूंजी और उत्पादन का यह विस्तारित नमूना यथार्थवादी और तर्कसंगत अनुसन्धान के मार्ग में बाधा डालता है। यद्यपि यह सूत्र अनुभवजन्य ज्ञान से पूरी तरह वंचित है, विशेषकर उत्पादन की दृष्टि से, पर यह पूरी तरह से दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुरूप कार्य करता है और अध्याय-1 मे जिन अनेक अवसरवादी पूर्वाग्रहों के समूह का उल्लेख किया गया है, उनका नमूना प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि यह कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशो में इतना अधिक लोकप्रिय बन गया है।

## 2. विरासत

आर्थिक समस्याओं के बारे मे मैंने जो गहन अध्ययन किया है, उसका सम्बन्ध कम-विकसित संसार के उस विशाल भाग से है, जिसे मैने दक्षिण एशिया के नाम से पुकारा है। इस अध्ययन के परिणामो को पर्याप्त विस्तार से एशियन ड्रामा के अध्याय-29 और 31-33 मे दिया गया है।[11] आगामी पृष्ठों में इन समस्याओं का जो संक्षिप्त विवेचन हुआ है, वह भी इसी क्षेत्र के देशो पर केन्द्रित रहेगा और केवल इस अध्याय के अन्त मे अन्य क्षेत्रो के कम-विकसित देशो के बारे मे संक्षिप्त टिप्पणी की जायेगी।

उपनिवेशी युग की समाप्ति के समय तक जनसामान्य का किसी भी औपचारिक या विधिवत् शिक्षा से प्रायः कोई सम्पर्क नही हुआ था।[12] यह बात इस क्षेत्र के विशालतम देशों, भारत, पाकिस्तान और इन्दोनेशिया पर लागू होती है। इन देशों ने साक्षरता की बहुत नीची दर के साथ आजादी के युग मे प्रवेश किया। सम्भवतः उस समय वयस्क आबादी का पांचवें से भी कम हिस्सा

साक्षर था।

फिलीपाइन में विभिन्न कैथोलिक सम्प्रदायों के स्पेनी पादरियों और सन्तो ने नागरिक अधिकारियों के साथ घनिष्ठ सहयोग से प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में शताब्दियो से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और उच्च शिक्षा का भी प्रसार किया।[13] संयुक्त राज्य अमरीका ने भी फिलीपाइन द्वीपों में एक उपनिवेशी सत्ता के रूप में अपने थोड़े से शासनकाल में अंग्रेज़ों, डचों और फ्रांसीसियो के विपरीत जन-सामान्य की शिक्षा के ऊपर बहुत अधिक ज़ोर दिया।

श्रीलंका और दक्षिण भारत के कुछ हिस्सों ने अपेक्षाकृत कुछ अधिक ऊँची साक्षरता दर के साथ स्वतन्त्रता के युग मे पदार्पण किया और इसका कारण आंशिक रूप से ईसाई पादरियों की गतिविधियाँ था। यहाँ पादरियों ने देशी भाषाओं का उपयोग किया था। यद्यपि श्रीलंका में बौद्ध मठों में स्कूलों के संचालन की परम्परा ने शिक्षा के प्रसार मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बर्मा और थाईलैंड मे बौद्ध मठों मे शिक्षा की व्यवस्था के कारण ही इन देशों मे साक्षरता का ऊँचा स्तर कायम हो सका।

ऊपर जिन विविधताओं का उल्लेख किया गया है, उनके अलावा इन नये राष्ट्रों के समक्ष सर्वाधिक कठोर समस्या यही थी कि उपनिवेशी शासन से मुक्ति के समय जनसामान्य को स्वयं अपनी आबादियों के बारे मे जानकारी नही थी। विभिन्न सीमाओं तक सब उपनिवेशी शक्तियो ने अपने शासित क्षेत्रों मे शिक्षा के प्रसार मे कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान किया। लेकिन उनकी प्रमुख दिलचस्पी का विषय —फिलीपाइन में अमरीकियों को छोड़कर—लोगो को ऐसी शिक्षा देना नही था, जो उनके विकास मे सहायक हो सके। उनका लक्ष्य क्लर्कों, हर प्रकार के छोटे अफसरों और, विशेषकर ब्रिटिश उपनिवेशों में उच्च प्रशासनिक अधिकारियो और कुछ सीमा तक विभिन्न पेशो के लोगों को भी प्रशिक्षण देना था।[14]

इस कार्य के लिए माध्यमिक स्कूल (जिनके साथ सामान्यतया प्राथमिक स्कूल भी सम्बद्ध रहते थे) और माध्यमिक से आगे की शिक्षा देने वाले स्कूल चालू किये गये। यह बात ज़ोर देकर कहना महत्त्वपूर्ण होगा कि इन उपनिवेशों के उच्च वर्गो ने उपनिवेशी शक्तियों के अपने हित साधन के इस रुझान के साथ पूरा सहयोग किया। इन उच्च वर्गों के लोग अपने स्वामियो की सेवा कर अधिकतम लाभ उठाने के लिए बड़े व्यग्र थे।

उच्च वर्ग के बच्चो की शिक्षा के ये स्कूल नियमित रूप से 'साहित्यिक' अथवा 'शास्त्रीय' किस्म के स्कूल थे। और इस क्षेत्र मे इन स्कूलो के लिए 'सामान्य' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। उस जमाने मे उपनिवेशी शक्तियों के स्वयं अपने देशो में जिस प्रकार के स्कूल थे, ये स्कूल उससे भी कही अधिक साहित्यिक थे।[15] विज्ञान की ओर नाममात्र का ध्यान दिया गया और तकनीकी विषयो पर तो इतना भी ध्यान नही दिया गया। जब आगे चलकर चिकित्सा और इंजीनियरी के स्कूल शुरू हुए और अन्य प्रशिक्षण संस्थान खोले गये तो ये भी 'शास्त्रीय' स्वरूप से मामूली से ही भिन्न थे।

विद्यार्थी सामान्यतया यह आशा करते थे—और उनसे यह आशा की भी जाती थी—कि वे दफ्तरों में मेज-कुर्सी पर बैठकर काम करेंगे और मेहनत-मजदूरी के काम में अपने हाथ गन्दे नही करेंगे। यह प्रवृत्ति और समस्त स्कूलो

को साहित्यिक और शास्त्रीय स्वरूप प्रदान करने की स्पष्ट नीति भी उपनिवेशी शक्तियों के अपने शासित प्रदेशों में उद्योग-धन्धे शुरू करने को प्रोत्साहन न देने की नीति के अनुरूप ही थी।[16]

इसके अलावा यह उल्लेखनीय है कि माध्यमिक और माध्यमिकोत्तर शिक्षा की यह दिशा उपनिवेशकाल से पहले की सांस्कृतिक स्वांग करने की प्रवृत्तियों और इन उपनिवेशों के उच्च वर्ग के लोगों के शारीरिक श्रम करने के विरुद्ध गहरे पूर्वाग्रह से, जो आज भी मौजूद है, मेल खाती थी। विद्यार्थियो को अध्यापको का भाषण सुनना, पुस्तक पढ़ना और उन्हें कण्ठ करना ही सिखाया जाता था और उन्हें किसी भी प्रकार आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने और स्कूल से बाहर अपनी पढ़ाई-लिखायी जारी रखने तथा अपना शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने का कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। ये बातें उपनिवेशी युग से पहले की प्रवृत्तियों से विरासत में मिली थी और उपनिवेशी प्रभाव ने उस स्थिति को जारी रखा।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जनसामान्य की शिक्षा की उपेक्षा कर शिक्षित उच्च वर्ग का निर्माण करके उपनिवेशी सरकारों ने निहित स्वार्थों वाले प्रभावशाली उच्च वर्ग और जनसामान्य के बीच की अलंघ्य खाई को और अधिक गहरा बनाने तथा उसे कायम रखने में सहायता दी। आनुवंशिक सामन्ती परिवारों और उच्च वर्ग के लोगों ने ही सामान्यतया अपने बच्चों को माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ने भेजा।

यह तथ्य कि उच्च वर्ग अपने कार्य और अपने सामाजिक जीवन में जिस भाषा का प्रयोग करता था वह विदेशी थी, अतः वर्गों का अलगाव निरन्तर बढ़ता गया। इस सम्बन्ध में फिलीपाइन का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ उपनिवेशी शक्तियों ने—पहले स्पेन और आगे चलकर अमरीका—विदेशी भाषा को समस्त जनता की भाषा बनाने का प्रयास किया।

अध्याय-3 में मैंने उस प्रक्रिया की चर्चा की है, जिसके द्वारा उपनिवेशी शक्ति प्राय. स्वचालित ढंग से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से समर्थन की अपेक्षा करती थी और इस समर्थन को प्राप्त करने के लिए वह नये विशेषाधिकारों तक की सृष्टि करती थी। वस्तुतः उपनिवेशी शक्तियों के दृष्टिकोण से, शिक्षा प्रणाली की ग्राह्यता का एकमात्र पैमाना 'उपयोगिता' थी। यह उच्च वर्गों की दृष्टि से भी 'उपयोगी' थी, क्योंकि ये उच्च वर्ग इस प्रकार उपलब्ध लाभ का फायदा उठा सकते थे।

यहाँ एक और बात जोड़नी आवश्यक है। उपनिवेशी युग में स्कूलों की समस्त प्रणाली कॉलेजों से प्रभावित थी। जिनमें सामान्य, और गैर-पेशेवर तीसरे स्तर की शिक्षा दी जाती थी, जो सार्वजनिक सेवाओं में भर्ती के लिए आवश्यक होती थी।[17] यह जनसामान्य की शिक्षा में दिलचस्पी न रखने का एक पहलू था।

परीक्षा पास करने और समाज में अपना महत्त्व बढ़ाने को ही महत्त्व दिया जाता था और जीवनयापन तथा कार्य के लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण देने की उपेक्षा की जाती थी। सबसे अधिक यह भावना उच्च शिक्षा संस्थाओं में पढ़ायी और अध्यापन में व्याप्त थी। लेकिन यह भावना माध्यमिक स्कूलों में भी संक्रमित होती थी, जहाँ मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को इस दृष्टि से तैयार करना होता था

कि वे कॉलिज में भर्ती की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जायें। इसी प्रकार प्राइमरी स्कूलों में भी इसी आवश्यकता पर ज़ोर दिया जाता था कि विद्यार्थियों को माध्यमिक स्कूलों में भर्ती के लिए तैयार किया जाये। यही कारण है कि शिक्षा हर स्तर पर 'साधारण', 'साहित्यिक' और 'शास्त्रीय' ही बनी रही। यह बात ब्रिटेन के उपनिवेशों की स्कूल प्रणाली पर विशेष रूप से लागू होती है, लेकिन हालैण्ड और फ्रास के उपनिवेशो मे भी इसकी कमी नही थी और यही बात थाईलेंड पर भी लागू होती है।

इसके परिणामस्वरूप शिक्षा ने हर स्तर पर जो रूप धारण किया, वह स्वाधीनता के युग मे भी अधिक नही बदला है और भारत, पाकिस्तान तथा श्रीलंका मे भी इसमें न्यूनतम परिवर्तन हुआ है। जैसाकि भारत की एक माध्यमिक शिक्षा समिति ने स्पष्टीकरण दिया :

"एक ओर विश्वविद्यालय की आवश्यकताओ के अत्यधिक प्रभावशाली प्रभाव और दूसरी ओर सार्वजनिक सेवाओ में भर्ती के वर्तमान तरीको का केवल माध्यमिक शिक्षा के स्वस्थ विकास पर ही बुरा प्रभाव नही पड़ा, बल्कि देश मे समस्त शिक्षा के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ा।"

इस समिति ने कहा कि भारत की शिक्षा-प्रणाली "परीक्षाग्रस्त है और परीक्षा का मृतभार (सर्वोच्च स्तर पर और समस्त स्कूल प्रणाली में भी) अध्यापकों की पहल करने की क्षमता पर अंकुश लगाता है, पाठ्यक्रम को घिसा-पिटा बना डालता है, अध्यापन के यान्त्रिक और प्रभावहीन तरीकों को प्रोत्साहन देता है, प्रयोग करने की समस्त भावना को निरुत्साहित करता है और शिक्षा में गलत अथवा महत्त्वहीन बातों पर ज़ोर देता है।" इस समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत हुए 10 वर्ष का समय बीत गया है और इस अवधि में कोई बड़ा परिवर्तन दिखायी नही पड़ा।

इस प्रकार अनेक तरीकों से शिक्षा का नीचा स्तर शिक्षा-प्रणाली से सम्बन्धित है लेकिन, स्वयं शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के विरासत में प्राप्त वर्गस्वरूप से सम्बन्धित है। विद्यार्थी और माता-पिता, तथा प्रशासकों और अध्यापकों ने भी सब स्तरों पर पाठ्यक्रम मे प्रस्तावित परिवर्तनों का विरोध किया है। और विशेषकर उन प्रस्तावों का विरोध किया है, जिनमे माध्यमिक और कॉलेज के स्तरों पर तकनीकी और व्यवसायोन्मुख प्रशिक्षण पर ज़ोर दिया गया है।

शिक्षा के लिए प्रभावशाली माँग 'शिक्षित' और अपनी आवाज उठाने मे सक्षम उच्च वर्ग से ही उठती है और इसी वर्ग के हाथ मे स्थानीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय सरकारों मे अधिकाश राजनीतिक सत्ता है। 'परीक्षा का पागलपन' केवल छोटे स्कूलों पर कॉलिजो के अनावश्यक प्रभाव को ही प्रतिबिम्बित नही करता, बल्कि प्राथमिक रूप से एक असमानतावादी और आज भी अधिकाशतया गतिहीन समाज में अपनी हैसियत की चिन्ता प्रकट करता है।

दक्षिण एशिया में जहाँ कही अच्छा स्वतन्त्रता आन्दोलन चला वहाँ शिक्षा मे सुधार को स्वतन्त्रता आन्दोलन कार्यक्रम में ऊँचा स्थान दिया गया।[18] भारत

में उपनिवेशी युग के अन्तिम दशकों में शिक्षा मे ऐसे सुधार की दिशा मे प्रयत्न शुरू हुए, जब अंग्रेजों ने प्रान्तीय स्वशासन की पर्याप्त छूट दी। यह छूट शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से दी गयी।

स्वाधीनता की प्राप्ति पर श्री नेहरू ने और अन्य देशों के नेताओं ने इस बात पर जोर दिया कि समस्त शिक्षा-प्रणाली को 'क्रान्तिकारी रूप से बदल डालना चाहिए।'[19] लेकिन वस्तुतः यह कार्य भारत अथवा दक्षिण एशिया के अन्य किसी देश में नही हुआ। बस, श्रीलंका में कुछ सीमा तक यह काम हुआ। उपनिवेशी युग से जिस रूप में शिक्षा-प्रणाली विरासत मे मिली थी, उसमें प्रमुख सुधार करने का कार्य आज भी अधिकाशतया अधूरा पड़ा है।

भारत के एक प्रमुख अर्थशास्त्री, जे० पी० नायक ने, जो आगे चलकर शिक्षा आयोग के सदस्य-सचिव बने, 1965 में इन शब्दों में यह विचार व्यक्त किया : "पिछले 16 वर्षों मे (भारत में) जो कुछ हुआ है, वह पहले की प्रणाली का विस्तार भर है और शिक्षा की विषयवस्तु और शैली मे कुछ मामूली से ही परिवर्तन किये गये हैं।"

वस्तुत. इसका स्पष्टीकरण यह है कि स्वाधीनता ने लोगों अथवा उनकें समाज मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया। शिक्षा व्यवस्था कहीं अधिक विशाल सस्थागत प्रणाली का एक अंग है, जिसने सामाजिक और आर्थिक वर्गीकरण, सम्पत्ति का वितरण और सत्ता का संगठन शामिल है। शिक्षा-प्रणाली मे क्रान्ति का यह अभिप्राय होगा कि इन देशो में एक सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी हो और अक्सर गलत ढंग से यह कहा जाता है कि ये देश इस क्रान्ति से गुजर रहे है (अध्याय-3)।

वस्तुतः स्कूल प्रणाली के बाहरी ढांचे तक को उसी प्रकार सुरक्षित रखा गया है। कॉलिजों की परीक्षा प्रणाली के माध्यम से हर स्तर पर शिक्षा के निरन्तर प्रभावित रहने के कारण, विद्यार्थियो को सार्वजनिक सेवाओ मे भर्ती करने के प्रभाव का उल्लेख किया जा चुका है।

उपनिवेशीयुग की विरासत के एक अग के रूप मे हर स्तर पर अनेक स्कूल, जिनमे कॉलिज भी शामिल है, निजी प्रबन्ध के अधीन काम करते हैं, यद्यपि इन्हें अधिकाश सहायता सार्वजनिक कोष से मिलती है।[20] इसके परिणामस्वरूप निर्देशन, निरीक्षण और नियन्त्रण की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और इनसे स्कूल प्रणाली के सुधारों के मार्ग मे सामान्यतया बाधा पड़ती है।

श्रीलंका को छोड़कर दक्षिण एशिया के किसी भी देश मे इन समस्याओ को सुलझाया नही जा सका है। श्रीलंका ने लगभग 10 साल पहले केवल उन कुछ गिने-चुने निजी स्कूलों को छोड़कर, जिन्होने राज्य से कोई भी सहायता न लेने का निश्चय किया, अन्य सब स्कूलों के सम्बन्ध में राष्ट्रीयकरण करने का निर्णय किया। इसका उद्देश्य "उपलब्ध सुविधाओं के मध्य समन्वय स्थापित करने और अधिक न्यायोचित वितरण करने और देश के समस्त भागो के बच्चो को शिक्षा की समान सुविधाएँ उपलब्ध कराने" की गारण्टी देना था।

जब भारत मे केरल की प्रथम सम्मिलित सरकार ने इसी दिशा मे कार्रवाई करने के लिए कानून बनाने के लिए कदम उठाया तो उसे उग्र-प्रदर्शनों का सामना करना पड़ा और आगे चलकर नयी दिल्ली की केन्द्रीय सरकार ने सरकार को ...

अपदस्थ कर दिया और राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया। केरल सरकार ने अपनी कार्रवाई मे योजना आयोग की उन सामान्य सिफ़ारिशो पर कार्रवाई की थी, जिनका उल्लेख दूसरी पचवर्षीय योजना में किया गया था, लेकिन यह बात केरल की कम्युनिस्ट सरकार के लिए सहायक सिद्ध नही हुई। इस बात से भी सहायक नही वन पाती कि समस्त विकसित देशों में स्कूल प्रणाली के ऊपर राज्य सत्ता का यह प्रभाव कायम है। और अनेक देशों मे तो एक शताब्दी या इससे भी अधिक समय से यह स्थिति है।

उपनिवेशी काल की एक और विरासत सार्वजनिक और निजी, दोनों प्रकार के स्कूलो मे विद्यार्थियो से ली जाने वाली फीस है।[21] यहाँ भी श्रीलंका की स्थिति भिन्न है। इसने समस्त स्कूलो मे, जिनमें उच्च शिक्षा संस्थाएँ अर्थात् कॉलेज भी शामिल है, नि शुल्क शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया है। यह सिद्धान्त केवल उन गिने-चुने निजी स्कूलो पर लागू नही होता, जिन्होंने सरकार से कोई भी सहायता न लेने का निश्चय किया है। अधिक सामान्य दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दक्षिण एशिया के अन्य देशो में भी प्राइमरी शिक्षा नि.शुल्क होती जा रही हैं, क्योकि ये स्कूल सार्वजनिक हैं।

ये बातें और उपनिवेशी युग से विरासत मे प्राप्त स्कूल प्रणाली को सामान्यतया बडी निष्ठा से उसी रूप मे बनाये रखने का प्रयास, संस्थागत ढाँचे के रूप मे इसकी अत्यन्त निष्क्रियता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस प्रणाली मे प्रशासकों, अध्यापको, विद्यार्थियों और सबसे अधिक शक्तिशाली उच्च वर्ग के परिवारों के शक्तिशाली स्वार्थ निहित है, जो यह नही चाहते कि किसी भी रूप मे उनकी प्रभावशाली स्थिति पर आँच आये, जिसे उपनिवेशी युग से विरासत मे मिली इस शिक्षा-प्रणाली से अत्यन्त सहारा मिलता है।

पर एक विचार ऐसा है, जिसे प्रकट रूप से बडे संकल्प के साथ निरन्तर अभिव्यक्त किया जाता है और प्राय. कभी भी इसका विरोध नही होता: लोकप्रिय शिक्षा का विस्तार और निरक्षरता की समाप्ति।

सन् 1960 से आरम्भ दशक के आरम्भिक वर्षो के आँकडो के अनुसार—यही आँकडे अधुनातन है—दक्षिण एशिया में साक्षरता की दर[22] अनेक देशो के आर्थिक स्तरो के साथ-साथ कम और ज्यादा होती जाती है।[23] इस क्षेत्र के सबसे गरीब देश पाकिस्तान में 15 वर्ष से अधिक उम्र के केवल तिहाई पुरुष और केवल 6 प्रतिशत स्त्रियाँ ही साक्षर थी; अथवा इनके साक्षर होने का दावा किया गया। भारत के लिए ये आँकड़े क्रमशः 40 और 13 और इन्दोनेशिया के लिए लगभग 60 और 30 है। वर्मा के सम्बन्ध मे ये आँकडे, जो सम्भवतः सवसे कम सही होंगे, लगभग 80 और 40 है।

ऊपर के आर्थिक स्तरों मे श्रीलका 80 और 60 से ऊपर पहुँच गया है और मलाया[24] भी अधिक पीछे नही होना चाहिए। यद्यपि उपलब्ध आँकड़े 1950 से आरम्भ दशक के अन्तिम वर्षों के ही है। मध्यम आर्थिक स्तर के रूप में थाईलैंड से 80 और 60 के आँकड़े प्राप्त हुए और फिलीपाइन मे स्त्री और पुरुषो, दोनो के लिए 70 का आँकड़ा दिया गया। अधिक गरीब देशो ने, लेकिन सदा सबसे अधिक गरीब देशों ने नही, (और वर्मा ने भी) गाँवो की आवादी के लिए पर्याप्त नीची सख्याएँ दिखायी और शहरी इलाकों के लिए इनसे अधिक ऊँचे आँकड़े दिये

करना ही क्यों न हो। विकास पर इस जोर के बावजूद, यह विचार, और जिसके बारे में पश्चिम के विशेषज्ञों में कुछ सहमति है, बड़ी घनिष्ठता से उस पुरानी उपनिवेशी व्यवस्था का समर्थन करता है, जिसमें उच्च शिक्षा प्राप्त विशिष्ट लोगों की सेवा के लिए सहायकों के रूप मे काम करने वाले निचले स्तर के तकनीकी कर्मचारियो को उपलब्ध कराने की व्यवस्था रहती थी, चाहे जन-सामान्य अज्ञान के गर्त में ही क्यो न पड़ा रहे।

इस प्रकार की तर्क प्रक्रिया के विरुद्ध यह बात कही जा सकती है कि अनुभव यह दर्शाता है कि इस तरीके से पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास नहीं होगा, बल्कि अर्थव्यवस्था के भीतर कुछ हिस्सों का विकास होगा और शेष भाग विकास से वंचित बना रहेगा। जनता के व्यापक सहयोग से एक संगठित राष्ट्र के निर्माण के किसी भी प्रयास में बहुत व्यापक साक्षरता की आवश्यकता होती है। प्रभावशाली राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना के किसी भी प्रयास में इसकी आवश्यकता इसी प्रकार स्पष्ट है।

यदि व्यापक साक्षरता को यथासम्भव पूरा किया जाने वाला लक्ष्य स्वीकार किया जाये, तो हमे यह देखना होगा कि जिन नीतियों को अपनाया जाता है वे किस सीमा तक इस लक्ष्य से मेल खाती हैं।

लम्बे अरसे तक यूनेस्को और अधिकांश कम-विकसित देशों ने, जिनमे दक्षिण एशिया के देश भी शामिल हैं, इस लक्ष्य को "निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के माध्यम से सार्वभौम साक्षरता" बताकर इसकी परिभाषा दी। दूसरे शब्दों मे, उन्होंने इस लक्ष्य को पूरा करने का यह अभिप्राय समझा कि साक्षरता की स्थापना के लिए प्राइमरी स्कूलों मे जाने वाले बच्चो की संख्या मे बहुत अधिक लम्बी अवधि में वृद्धि की जाये।[29]

इस सूत्र का यह अभिप्राय है कि दक्षिण एशिया के देशो ने वयस्क शिक्षा को बहुत नीचा स्थान दिया, विशेषकर साक्षरता कक्षाओं को।[30] मेरी राय में यह एक बहुत गम्भीर गलती है।

स्वयं यूनेस्को ने यह संकेत दिया है कि यदि हर वर्ष पर्याप्त संख्या मे निरक्षर वयस्कों को साक्षरता पाठ्यक्रम के माध्यम से लिखना-पढना सीखने का अवसर दिया जाये तो पर्याप्त कम समय में निरक्षरता को समाप्त करने की अच्छी सम्भावना है। विकसित देशों की तुलना में, जहाँ प्रायः सब लोग साक्षर है, कम-विकसित देशों में वयस्क शिक्षा केवल अधिक महत्त्वपूर्ण ही नही होनी चाहिए, बल्कि इससे बिल्कुल भिन्न समस्याएँ सामने आती हैं।

एक बात यह भी है कि वयस्क शिक्षा, जिसमे साक्षरता पर ज़ोर दिया जाये, बच्चों की स्कूली शिक्षा को और अधिक प्रभावशाली बनायेगी। हमे जो भी जानकारी उपलब्ध है, उससे यह स्पष्ट होता है कि निरक्षर माता-पिता के बच्चे पढाई-लिखाई में पिछड जाते हैं और अक्सर ये स्वयं निरक्षरता के गर्त मे जा गिरते है।

निरक्षर परिवार और गाँव के वातावरण का हानिकारक प्रभाव स्कूल से पहले के वर्षों में शुरू हो जाता है और ये ऐसे वर्ष है, जो बच्चे की अभिरुचि के निर्माण मे सहायक बनते हैं। इन्ही वर्षों में उसके दृष्टिकोणों का निर्माण होता है, जो निरन्तर कायम रहने की प्रवृत्ति दिखाता है। इसके अलावा निरक्षर माता-

पिता अक्सर अपने बच्चों को स्कूलो मे भर्ती कराने और उन्हे निरन्तर स्कूल जाने देने के प्रति कम उत्सुक होते है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे इस बात को समझाया जा सकता है कि प्राइमरी स्कूलों में नाम लिखवाने के बाद बडी संख्या मे बच्चे बाद में स्कूल जाना बन्द कर देते है और अनेक बच्चे बार-बार एक ही कक्षा में पढते हैं। यह स्थिति अधिक गरीब देशों, जिलों और वर्गों में विशेष रूप से विद्यमान है, जहाँ साक्षरता की दर नीची है।[31] हम इस समस्या पर आगे विचार करेंगे।

दक्षिण एशिया के अधिकाश देशों मे ऐसे अनेक सगठन हैं, जो वयस्क शिक्षा के प्रसार में लगे है और अधिकाश योजनाओ मे इस विषय की पूरी उपेक्षा भी नही हुई है। लेकिन इसका विशेष लाभ भी नही मिला है। भारत में जे० पी० नाइक ने 1965 मे इन शब्दो मे स्थिति को व्यक्त किया :

"वयस्क निरक्षरता को समाप्त करना राष्ट्रीय विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है और इस पर कृषि उत्पादन, परिवार नियोजन आदि अनेक कार्यक्रम निर्भर करते हैं। इस क्षेत्र की अपराध की सीमा तक उपेक्षा हुई है और यह अत्यन्त वांछनीय है कि इस क्षेत्र मे बडे पैमाने पर कार्यक्रम चलाया जाये और कुछ ही वर्षो में व्यापक निरक्षरता को समाप्त कर दिया जाये—अधिक से अधिक 5 अथवा 10 वर्षो मे यह काम पूरा किया जाना चाहिए।" आगे चलकर शिक्षा आयोग (1963-66) ने अपने सदस्य-सचिव के इन विचारों का समर्थन किया और बहुत दूरगामी महत्त्व के व्यावहारिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किये और चौथी पचवर्षीय योजना की तैयारी के समय वयस्क शिक्षा के लिए 12 गुनी अधिक राशि निर्धारित करने का प्रस्ताव किया गया। समस्त शिक्षा परिव्यय मे इसके हिस्से को 1.4 प्रतिशत से बढाकर 5.6 प्रतिशत कर दिया गया। पर इन दूरगामी प्रस्तावो को इसके बाद चुपचाप दफना दिया गया।

कुछ सीमा तक इन्दोनेशिया इसका अपवाद है। इन्दोनेशिया ने इस क्षेत्र मे साक्षरता के निम्नतर स्तरो से ऊपर उठने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह कार्य प्रशंसनीय गति से किया गया। फिलीपाइन तक में वयस्क शिक्षा के बारे मे कही अधिक दिलचस्पी दिखायी गयी और यह दिलचस्पी उसी समय से प्रदर्शित की गयी, जब फिलीपाइन अमरीकी उपनिवेश था।

समग्र दृष्टि से यह आलोचना 'स्वतन्त्र संसार' के प्रायः सब कम-विकसित देशो पर लागू होती है। यद्यपि इस पुस्तक में मैंने सामान्यतया कम्युनिस्ट देशों से तुलनाएं नही की हैं, लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि कम्युनिस्ट देशों में इस सम्बन्ध मे बिलकुल भिन्न तरीका अपनाया गया है। जब कभी किसी देश में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना होती है तो सामान्यतया कुछ ही वर्षों में देश के समस्त लोगो को साक्षर बनाने का सघन अभियान छेड दिया जाता [illegible]

इस नीति मे कोई भी बात खास कम्युनिस्ट ढंग की नहीं है। [illegible] जारशाही के अन्तिम दशकों में रूस के विद्रोही विद्यार्थियो के [illegible] है। ये विद्यार्थी गाँवों में जाते थे और किसानों को पढना, लिखना [illegible] करना सिखाते थे। जब कम्युनिस्टों के हाथ में सत्ता आयी तो [illegible] को सरकारी नीति बना दिया। उन्होंने साक्षरता अभियान [illegible] पर उस समय तक रूस में प्रायः सार्वभौम साक्षरता की [illegible]

अधिक गरीब देशों में वह आधार विशेषकर मौजूद नहीं है, जिस पर आगे निर्माण किया जा सके। इन सब देशों को प्राइमरी स्कूलों में बच्चों के बहुत छोटे अनुपात से कार्य आरम्भ करना है। इसके अलावा स्कूल चलाने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, उनकी भी कमी है: स्कूल की इमारतें, अध्यापक, पाठ्यपुस्तकें, लिखने का कागज़ आदि।

लेकिन इससे भी अधिक उचित आलोचना दूसरी हीहै। यद्यपि प्राइमरी शिक्षा को प्राथमिकता देने का घोषित उद्देश्य यह था कि आबादी की साक्षरतादर को ऊँचा उठाया जा सके। लेकिन वास्तव में यह हुआ कि माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की सख्या कहीं तेज रफ्तार से बढ़ी और कॉलिजों में विद्यार्थियों की संख्या तो इससे भी तेजी से बढ़ी।[36]

इस बात की पर्याप्त स्पष्ट प्रवृत्ति मौजूद रहती है कि प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की व्यवस्था के जो लक्ष्य योजनाओं में रख जाते है, वे पूरे नहीं होते। जबकि माध्यमिक और विशेषकर कॉलिज स्तर पर इनकी प्रस्तावित से भी कहीं अधिक वृद्धि होती है। यह कार्य इस तथ्य के बावजूद हुआ कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था से 3 से 5 गुना अधिक व्ययसाध्य होती है और कॉलेज शिक्षा पर माध्यमिक शिक्षा से 5 से 7 गुना अधिक व्यय आता है।[37]

यह तथ्य और भी विलक्षण है कि ये प्रवृत्तियाँ पाकिस्तान, भारत, वर्मा और इन्दोनेशिया जैसे निर्धनतम देशों में अधिक तीव्र दिखायी पड़ती हैं, जिनमें प्राइमरी स्कूलों में जाने वाले बच्चों की सख्या बहुत कम है और जिन्हे इसी कारण से प्राइमरी शिक्षा के कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता देकर लागू करना चाहिए। निर्धनतम देश ही प्राथमिक शिक्षा पर सबसे कम, तुलनात्मक दृष्टि से भी सबसे कम, धन खर्च कर रहे हैं।[38]

ये प्रेक्षण मुख्यतया भर्ती के आँकड़ों पर आधारित है, लेकिन वित्तीय आँकड़ो पर भी इन्हें आधारित किया गया है, पर दुर्भाग्यवश ये आँकड पूरी तरह अनिश्चित हैं। लेकिन जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भर्ती के आँकडों में प्राइमरी स्कूलों के सम्बन्ध में स्कूलों में उपस्थिति को बढा-चढाकर दर्शाया जाता है, यद्यपि यह बात माध्यमिक स्कूलों के बारे में इतनी सही नहीं है। ये आँकड़े निर्धनतम देशों में अधिक बढा-चढाकर दर्शाये गये है, जहाँ सबसे कम विद्यार्थी स्कूलों में भर्ती हुए है।[39] इन दोनों कारणों से अधिक निर्धन देशों में उससे कहीं कम प्राथमिक शिक्षा का प्रचार हुआ है, जितना भर्ती के आँकड़ों से दर्शाया जाता है। अपने लक्ष्यों और घोषित कार्यक्रम की तुलना मे तो वृद्धि और भी कम बैठती है।

जब यह होता है तो इसका यह अभिप्राय निकलता है कि स्कूल प्रणाली को परम्परागत मुक्त व्यापार के तरीके से आगे बढने की छूट दी गयी है और उन पहले से प्रवाहित धाराओं में विद्यार्थियों की सख्या को बिना किसी हस्तक्षेप के निरन्तर बढने दिया गया है। और यदि कहीं कोई प्रयास किया गया तो केवल यह कि जहाँ समाज का अधिकतम दबाव था वहाँ इन धाराओं को और चौडा बना दिया गया।[40] जो लोग दबाव डाल सकते है, वे उच्च वर्ग के विद्यार्थी और माता-पिता हैं। उच्च स्कूल और कॉलेज उच्च वर्ग के लोगों की ही आवश्यकताओं

को पूरा करते है और यह बात निर्धनतम देशो के बारे में विशेष रूप से सही है। यहाँ हम यह देखते है कि किस प्रकार स्कूल प्रणाली का निर्धारण असमान आर्थिक और सामाजिक वर्गीकरण तथा सत्ता के असमान वितरण के द्वारा होता है।

दक्षिण एशिया के अनेक देशों में शिक्षा की प्रगति के तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि लक्ष्यो को पूरा करने मे जो अन्तर है, उनका आर्थिक स्तरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस क्षेत्र के दो छोटे और अपेक्षाकृत सबसे कम गरीब देशों, श्रीलंका और मलाया में, अब यह स्थिति आ गयी है, जब बड़ी संख्या में बच्चे प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में नाम ही नही लिखाते, बल्कि पाठ्यक्रम की समाप्ति तक पढ़ते भी है। वस्तुत., इन देशों मे बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का बड़ी तेजी से वह स्तर कायम होने जा रहा है, जो कुछ पीढ़ी पहले पश्चिम के विकसित देशों में था।[41]

दूसरी ओर भारत और पाकिस्तान मे तथा सामान्य रूप से अधिक गरीब देशों मे प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा मे अपेक्षाकृत कम बच्चे भर्ती होते है। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस बात को बर्बादी और 'गतिहीनता' कहा जाता है, उसकी दर इस क्षेत्र मे बड़ी ऊँची है। जो बच्चे नाम लिखवाते है, वे कुछ समय के बाद स्कूल जाना बन्द कर देते है अथवा नियमित रूप से कक्षाओं में नही आते। यदि वे स्कूल आना बन्द नही करते तो बार-बार एक ही कक्षा में पढते रहते हैं, जो अक्सर स्कूल से हट जाने की भूमिका होती है।[42] सामान्यतया जितने बच्चे आरम्भ मे प्राइमरी स्कूल में अपना नाम लिखाते है, उनमे से आधे से कम ही प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी करते है। अधिकांश अधिक गरीब देशों में प्राइमरी स्कूलों मे पढ़ाई की अवधि भी कम होती है।

जो बच्चे प्राइमरी स्कूलो की शिक्षा पूरी नही कर पाते और वे भी जो पूरी कर लेते हैं, उन्हें अधिक उपयोगी साक्षरता प्राप्त नही होती। एक ऐसे वातावरण में, जहाँ अधिकाश वयस्क निरक्षर है, इस बात का खतरा बना रहता है कि उन्होने जो कुछ साक्षरता प्राप्त की है, वह भी समाप्त हो जाये।[43] भारत के शिक्षा आयोग ने अपनी 1966 की रिपोर्ट मे यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया .

"......[भारत में] प्राइमरी शिक्षा-प्रणाली पहले की तरह ही प्रभावहीन और बर्बादी से भरी हुई है और जो अनेक बच्चे इस प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्त करते है उन्हें या तो उपयोगी साक्षरता प्राप्त नहीं होती अथवा इसके जल्दी बाद ही फिर निरक्षरता की स्थिति मे पहुँच जाते है। यदि हम निरक्षरता की समाप्ति के लिए केवल इसी कार्यक्रम पर अपनी निर्भरता जारी रखेंगे तो हम सन् 2000 ई० तक भी अपना लक्ष्य पूरा नही कर सकेंगे।"

पाकिस्तान मे तो स्थिति इससे भी बहुत बुरी है। जबकि भारत में सम्भवत 3 में से 1 बच्चा ही प्राइमरी स्कूलों में अपना नाम लिखवाता है और प्राइमरी शिक्षा पूरी करता है पर पाकिस्तान मे 6 में से एक बच्चा यह कार्य करता है। बर्मा इन दोनों के बीच कहीं है। फिलीपाइन और थाइलैण्ड में, जहाँ अपेक्षाकृत अधिक बच्चे पहली कक्षा मे नाम लिखाते हैं, बच्चो के बीच में ही स्कूल छोड़ देने का बहुत ऊंचा प्रतिशत कायम है। इन्दोनेशिया की स्थिति कुछ बेहतर है,

लेकिन बहुत बेहतर नही है ।

अनियमित हाजिरी, एक ही कक्षा में बार-बार पढना और बीच में ही स्कूल छोड़ जाना, साधनो की अत्यधिक बर्बादी कराता है। यदि प्राइमरी स्कूलों पर होने वाला व्यय ऐसे प्रति बच्चे पर शिक्षा की लागत के रूप में व्यक्त किया जाये, जो सफलतापूर्वक प्राइमरी स्कूल की शिक्षा को पूरा करता है, तो प्रति विद्यार्थी शिक्षा की लागत उससे कही अधिक ऊँची बैठेगी जितनी सामान्यतया गणना की जाती है। दुर्भाग्यवश इस प्रकार गणना करने पर अधिक गरीब देशो और देहाती इलाको मे प्रति विद्यार्थी शिक्षा की लागत विशेष रूप से ऊँची बैठेगी। उन स्थानो पर बर्बादी सबसे अधिक है, जहाँ इस बर्बादी की सबसे कम गुंजाइश है ।

इस समस्या पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। दक्षिण एशिया के देशों मे अनिवार्य शिक्षा के बारे मे जो कानून बनाये गये है, उन्हे प्रायः कही भी लागू नही किया जाता।[44] अधिक गरीब देशों और अधिक गरीब जिलों मे समस्त स्कूल प्रणाली में विशेष रूप से कार्य-कुशलता का और अनुशासन का व्यापक अभाव दिखायी पडता है।

दक्षिण एशिया के प्राइमरी स्कूलों के शिक्षा के स्तर पर जिन विभिन्न सुविधाओं की उपलब्धि का प्रभाव पडता है उनकी माप के लिए प्रायः कोई आँकडे अथवा विस्तृत अध्ययन मौजूद नही है।[45] सामान्य प्रेक्षणो और सरकारी रिपोर्टों मे छितरी जानकारी से और व्यापक साहित्य में उपलब्ध जानकारी से जो आभास मिलता है, वह यह है कि दक्षिण एशिया मे सर्वत्र स्कूल की इमारतों, पाठ्य-पुस्तकों, लिखने के कागज और बच्चों को पढ़ाने के लिए आवश्यक शिक्षा-उपकरणो की बड़ी कमी है। लेकिन स्थिति निर्धनतम देशों में बहुत बुरी है और समस्त देशों में देहाती इलाको मे स्थिति सबसे खराब है, जहाँ इस क्षेत्र के अधिकांश बच्चों का लालन-पालन होता है।

पर्याप्त प्रशिक्षित और अपने लक्ष्य के प्रति सजग अध्यापको का उपलब्ध होना प्राइमरी स्कूलो में प्रभावशाली पढ़ाई की कही अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है।[46] दक्षिण एशिया के सब देशों मे ऐसे शिक्षकों की संख्या बहुत बड़ी है, जिन्हें 'अप्रशिक्षित' कहा जाता है। अध्यापको के प्रशिक्षण की वर्तमान उपलब्ध सुविधाओ को ध्यान मे रखते हुए, केवल फिलीपाइन और सम्भवतः श्रीलंका और मलाया ही लगभग अगले एक दशक में गैर-प्रशिक्षित अध्यापकों के स्थान पर प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति कर सकेंगे, यदि फिलहाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थाओं की क्षमता मे प्रस्तावित वृद्धि से कही अधिक तेजी से वृद्धि नही की जाती ।

इसके अलावा जिन अध्यापकों को 'प्रशिक्षित' की कोटि मे रखा जाता है, उन पर भी अत्यधिक सन्देह से विचार करना चाहिए। इनमे से अधिकाश, विशेषकर अधिक निर्धन देशो मे, अच्छी तरह से प्रशिक्षित नही होते। प्रशिक्षित अध्यापको का जमाव शहरो और इससे भी अधिक व्यापक रूप से उच्च साक्षरता वाले क्षेत्रों में बना हुआ है ।

भारत और इससे भी अधिक पाकिस्तान में, श्रीलंका, फिलीपाइन, थाईलैण्ड और यहाँ तक कि इन्दोनेशिया से भी भिन्न सीमाओं तक, प्राइमरी स्कूलो के

अध्यापकों के वेतन अत्यधिक कम हैं और इनका सामाजिक दर्जा बेहद नीचा है। इसका अध्यापकों की भर्ती और देहाती इलाकों में जाकर काम करने की इच्छा और उनकी कार्यक्षमता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यहां भी हम विभिन्न देशों और जिलों के पारस्परिक आर्थिक स्तरों और उपनिवेशी युग से विरासत मे मिली स्कूल-प्रणाली के संचालन के बीच व्यापक सम्बन्ध देखते है।

अधिक गरीब देशों में अध्यापकों के प्रशिक्षण कॉलेजों में तत्काल सुधार करने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी जरूरी है कि प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों का आर्थिक और सामाजिक दर्जा ऊँचा उठाया जाये। इससे प्रतिभाशाली युवकों को इस पेशे में आने का प्रोत्साहन मिलेगा और अध्यापकों द्वारा बच्चों और समाज को प्रभावित करने की सम्भावना बढ़ जायेगी।

अध्यापकों के प्रशिक्षण को बेहतर बनाने के लिए ऐसी अनेक चीजों की आवश्यकता होती है, जिन्हें एक गरीब देश मे पूरा करना कठिन होता है : प्रशिक्षण संस्था मे प्रवेश से पहले स्कूल मे बेहतर तैयारी, अक्सर प्रशिक्षण की लम्बी अवधि और सबसे अधिक प्रशिक्षण कार्यक्रम में आमूल और दूरगामी सुधार और वस्तुतः उस समस्त भावना में परिवर्तन जिसके आधार पर इसका संचालन होता है। वेतन वृद्धि गरीब देशों में विशेष कठिनाइयो को जन्म देती है; क्योंकि अध्यापकों का वेतन, यद्यपि यह बेहद कम है, स्कूलों के व्यय की कुल लागत का बहुत बड़ा प्रतिशत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्कूलों के लिए आवश्यक उपकरणों और पढाई मे सहायक अन्य साधनों पर बेहद कम पैसा खर्च किया जाता है।

प्राइमरी स्तर पर भी दक्षिण एशिया के देशों में भाषा सम्बन्धी जटिलता अध्यापन में गम्भीर जटिलताएँ पैदा करती है।[47] यह तथ्य भी मौजूद है कि दो बहुत बड़े देश, भारत और पाकिस्तान, जो सबसे निर्धन देश भी हैं, इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कठिनाइयों का अनुभव करते हैं, क्योंकि इन्हें अनेक भाषाएँ—और *लिपियाँ—पढानी पड़ती हैं और प्राइमरी स्कूलों में अक्सर यह कार्य ऐसे* अध्यापक करते हैं जो इन दोनो दृष्टियों से अधिक कुशल नहीं होते।

स्कूलों मे अनेक अथवा दो भाषाएँ पढ़ाने के राजनीतिक कारण चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों, और इन दो विशाल देशों में राष्ट्रीय एकता और सरकार के संचालन में जनता के हिस्सा लेने की आवश्यकता इस बात की अपेक्षा भी करती है,[48] पर इस स्थिति को उचित रूप से ही 'शिक्षा की प्रगति के मार्ग में बाधा' कहा गया है। "अन्य किसी भी विषय की शिक्षा देने से पहले बच्चे को भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ पढना पड़ता है और उसका पाठ्यक्रम उसके लिए भारी हो जाता है।" इस कारण से—और उपनिवेशी शासन से पहले की और उपनिवेशी काल की बुरी परम्परा और ऐसी ही अन्य परिस्थितियों के कारण—स्कूलो की शिक्षा बहुत अधिक किताबी हो जाती है, यद्यपि बच्चो को बहुत कम पुस्तकें और लिखने का कागज उपलब्ध होता है।

भारत मे गांधीजी का इरादा स्कूलो के पाठ्यक्रम को समाज के जीवन से अधिक सम्बद्ध करने का था और वे इसमे शारीरिक श्रम का भी समावेश करना चाहते थे। लेकिन इस काम में सफलता नहीं मिली। जिस परिवर्तित रूप मे बेसिक स्कूल शुरू भी किये गये उनका उच्च वर्ग के परिवारों ने अधिकांशतया

वहिष्कार किया।[49] गरीब देशो और गरीब जिलों मे, जहाँ दक्षिण एशिया के अधिकाश बच्चों का लालन-पालन होता है, प्राइमरी स्कूलो को अत्यधिक निराशा-जनक कहा जा सकता है।

माध्यमिक स्कूलों मे शिक्षा[50] का कार्य इस गम्भीर खामी के साथ शुरू होता है कि विद्यार्थी की सामान्यतया सन्तोषजनक तैयारी नही हुई। उन देशो में यह खामी और वडी है, जहाँ प्राइमरी स्कूल की अवधि 5 वर्ष या इससे भी कम होती है, जैसाकि पाकिस्तान, भारत के अधिकाश भाग और बर्मा में होता है।

भाषा सम्बन्धी जटिलताओं के कारण प्रभावशाली अध्यापन के मार्ग मे जो वाधा खडी होती है, वह माध्यमिक स्कूलों में और भी जटिल हो जाती है। भाषाओ मे कुशलता, शिक्षा की उपलब्धि का पैमाना बन जाती है। यह एक कारण है कि उपनिवेशी शासन से विरासत में प्राप्त 'साधारण' स्कूलों को अधिक व्यावहारिक किस्म के स्कूलो मे बदलना इतना कठिन क्यो सिद्ध हुआ।

माध्यमिक स्कूलो के लिए आवश्यक उपकरणो और साज-सामान के आँकडे उपलब्ध नही है। इमारतो, पुस्तकालयों, विज्ञान प्रयोगशालाओ और अध्यापन के लिए आवश्यक उपकरणो, विशेषकर पाठ्य-पुस्तकों और लिखने के कागज के बारे में आँकडे उपलब्ध नही हैं। इस सम्वन्ध मे जो सामान्य धारणा है और उपलब्ध साहित्य से जो छिटपुट जानकारी मिलती है, उसके आधार पर यह पता चलता है कि इन स्कूलो को अधिक व्यावहारिक किस्म के स्कूलो मे वदलने मे इतनी अधिक कठिनाई का अनुभव क्यों किया गया।

माध्यमिक स्कूलो को जो भौतिक साधन उपलब्ध है, उनके वारे मे कोई *आँकडे नही मिलते; जैसे इमारतें, पुस्तकालय, विज्ञान प्रयोगशालाएँ और अध्यापन* मे सहायक उपकरण, विशेषकर पाठ्य-पुस्तकें और लिखने का कागज। जो सामान्य वातें मालूम हैं और सम्बन्धित साहित्य में जो छिटपुट जानकारी मिलती है, यह साधन यद्यपि पर्याप्त नही हैं, फिर [illegible]
और गुण दोनों दृष्टियों से वेहतर हैं [illegible]
मे हैं और इनके विद्यार्थी उच्च व[illegible]
व्यापक अर्थ मे किया गया है, जिसकी परिभाषा अध्याय-3 मे दी जा चुकी है।

एक और धारणा यह है कि भौतिक साधनों का स्तर और अध्यापको की *योग्यताएं, यद्यपि साधारणतया नीचे स्तर की हैं, लेकिन यह अधिकतर उन देशों* मे अधिक ऊँचा है जिनका आर्थिक स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा है—विशेषकर मलाया और श्रीलंका—और अधिक निर्धन देशों मे भी उन गैर-सरकारी स्कूलो में यह स्तर अधिक ऊँचा है, जिनमें मुख्यतया उच्च-उच्च वर्ग के विद्यार्थी पढ़ते हैं और जिन स्कूलो को अंग्रेजो की विचित्र परम्परा के अनुसार अक्सर 'पब्लिक स्कूल' कहा जाता है।

औपनिवेशिक युग से प्राप्त हानिप्रद परम्पराओ को ध्यान मे रखते हुए जो बहुत घटिया तरीके से तयार विद्यार्थी माध्यमिक स्कूलों मे प्रवेश करते हैं तथा *अधिकांशतया अयोग्य और निराशाग्रस्त अध्यापको तथा कई भाषाएँ और लिपियाँ* पढ़ाने का असाधारण भार ऐसा है, जिसके फलस्वरूप यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि दक्षिण एशिया मे अधिकाश माध्यमिक स्कूलों में अध्यापन या पढ़ाई ऊँचे स्तर की नहीं है और यह बात अधिक गरीब और अधिक वड़े देशों के

बारे में विशेष रूप से सही है ।

माध्यमिक स्कूलों में पढाई को बेहतर बनाने के प्रयासों में जो एक गतिशील कारक विशेष रूप से बाधक है, वह माध्यमिक स्कूलो मे अकल्पित और अनियोजित रूप से विद्यार्थी की संख्या में बेहद तेजी से वृद्धि है, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। गरीब देशों और गरीब जिलो में स्कूलों की संख्या में वृद्धि ने पहले से ही नीचे अध्यापन के स्तर को और अधिक नीचा कर दिया है ।

महायुद्ध के बाद की अवधि में पढाई को व्यावहारिक जीवन के अनुरूप बनाने, उपयोगी दस्तकारियाँ सिखाने और विशेष रूप से विभिन्न व्यवसायों की ओर तकनीकी शिक्षा देने के समस्त प्रयासों के बावजूद दक्षिण एशिया मे माध्यमिक स्कूलों की बहुत बड़ी संख्या अभी भी 'साधारण' शास्त्रीय और साहित्यिक स्वरूप धारण किये हुए है, जिसकी स्थापना उपनिवेशी युग में उच्च वर्ग की विशिष्ट प्रकार की शिक्षा के रूप में हुई थी ।[51]

इस क्षेत्र के किसी भी देश में ऐसा कोई लक्षण दिखायी नही पड़ता कि आमूल परिवर्तन होने जा रहा है। समग्र संख्या की दृष्टि से विभिन्न व्यवसायो का प्रशिक्षण देने वाले और तकनीकी स्कूलों मे विद्यार्थियों की भर्ती की संख्या—यद्यपि प्रतिशत की दृष्टि से यह अधिकांशत: अधिक है—अपेक्षाकृत छोटी रही है। साधारण माध्यमिक स्कूलो का पाठ्यक्रम, जहाँ अधिकांश विस्तार हुआ है, प्राय: कही भी उल्लेखनीय रूप से आधुनिक नही बनाया गया है ।

यह बात बडी आश्चर्यजनक दिखायी पड सकती है, क्योंकि राजनीतिक नेताओं और विशेषज्ञों के बीच सर्वसम्मति से यह सहमति रही कि इस दृष्टि से आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है—अंग्रेजी शासन के दौर में भी भारत में प्रायः एक शताब्दी तक सरकारी रिपोर्टों में ऐसी माँग उठायी गयी ।[52] इस पुरातनपन्थी आचरण का स्पष्टीकरण अनेक तथ्यों में निहित है ।

इस सम्बन्ध में हम कॉलेजों और शिक्षा-प्रणाली के प्रभावों का पहले ही जिक्र कर चुके हैं और इसके साथ यह प्रश्न भी जुड़ा है कि माध्यमिक स्कूलों में जो विद्यार्थी प्रवेश करते हैं, उन्हें तैयार करने के लिए और अधिक सामान्य शिक्षा की आवश्यकता है। यह आवश्यकता अधिक गरीब देशों में विशेष रूप से मौजूद है, जहाँ प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की अवधि छोटी है और यह शिक्षा प्रभावशाली भी नही है । प्राइमरी स्कूलों की तरह ही भाषा का अध्ययन अन्य विषयों के लिए पाठ्यक्रम में कोई स्थान ही नही छोड़ता और यह बात भी अधिक गरीब देशों पर विशेष रूप से लागू होती है ।

एक और कठिनाई ऐसे व्यक्तियों की कमी है जो तकनीकी विषय पढ़ा सकें, विशेषकर इस दृष्टि से क्योंकि उनकी सरकार और उद्योग में भी आवश्यकता होती है, जहाँ उन्हें अधिक ऊँचा वेतन और सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है। इसके अलावा विज्ञान और तकनीकी तथा व्यावसायिक विषयों की शिक्षा के लिए व्ययसाध्य प्रयोगशालाओं और अन्य तकनीकी उपकरणों की आवश्यकता होती है।

इसके साथ ही उपनिवेशी युग और उससे पहले के युगों की परम्परा का भारी भार भी जुड़ा हुआ है। परम्परा को उन लोगों के निहित स्वार्थ और मजबूत बना देते हैं, जिन्हें वर्तमान स्कूल प्रणाली में रोज़गार मिला है। इनमें से अधिकांश लोगों के पास परिवर्तन का विरोध करने के अच्छे कारण हैं, क्योंकि

इस परिवर्तन से उनका प्रशिक्षण और अध्यापन के तरीके बहुत कम वांछनीय रह जायेंगे।

अधिक बुनियादी बात यह है कि प्रभावशाली उच्च वर्ग, जो 'शिक्षित' और अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखता है, 'शिक्षित' लोगों और सामान्य जन-समुदाय के बीच खाई बनाये रखने में अपना निहित स्वार्थ देखता है। ये तथ्य कि अधिक व्यावहारिक और व्यावसायिक आधार पर *संगठित माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में शारीरिक श्रम की अक्सर आवश्यकता* पड़ती है, और जिससे घृणा की जाती है, और ये स्कूल, यह माना जाता है कि विद्यार्थियों को ऐसे कार्यों के लिए तैयार करते हैं, जिनमें शारीरिक श्रम, नियमित दिनचर्या का एक अंग होता है, ऐसे कारण हैं जो इन स्कूलों को परम्परागत साधारण स्कूलों की तुलना में कम लोकप्रिय बनाने में सहायता देते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक प्रबन्ध के बीच के स्तर पर *प्रशिक्षित कर्मचारियों की निरन्तर कमी बनी रहती है।* माध्यमिक स्कूलों से उत्तीर्ण होने वाले वे विद्यार्थी, जो कालिजों में अपनी शिक्षा जारी नहीं रखते, लेकिन जो उपनिवेशी परम्परा के अनुसार 'क्लर्कों' के रूप में काम तलाश करते हैं, दफ्तरों के काम की आधुनिक आवश्यकताओं तक को पूरा करने के लिए प्रशिक्षित नहीं होते क्योंकि इनमें आशुलिपि, टंकण, फाइलों को व्यवस्थित करने आदि का कोई ज्ञान नहीं होता।

इस स्थिति में अधिकांशतया कोई सुधार नहीं हो रहा है; जैसा कि भारत की हाल की एक रिपोर्ट में बताया गया है :

"शिक्षा-प्रणाली और हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के बीच अन्तर और अधिक बढ़ गया है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ प्रशिक्षित कर्मचारियों की कमी बनी हुई है।"[53]

कॉलिज स्तर पर शिक्षा का प्रसार और अधिक तेज़ हुआ है और यह कार्य अधिक गरीब देशों में भी बहुत अधिक हुआ है।[54] इसके साथ ही कॉलिज शिक्षा को माध्यमिक स्कूलों में अपर्याप्त तैयारी के कारण क्षति पहुँच रही है, विशेषकर अधिक गरीब देशों में, जहाँ माध्यमिक स्कूलों को प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा की छोटी अवधि के कारण अपर्याप्त रूप से तैयार विद्यार्थियों को पढ़ाने में सामने आने वाली कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और माध्यमिक तथा प्राइमरी दोनों प्रकार के स्कूलों में कार्य-कुशलता के नीचे स्तर भी कॉलेज शिक्षा के मार्ग में बाधक बन रहे हैं। कॉलिज स्तर पर भाषा सम्बन्धी बाधाएँ भी बहुत बढ़ जाती हैं, जहाँ एक विदेशी भाषा को पढ़ने और बोलने की पर्याप्त योग्यता—जो सामान्यतया अंग्रेजी होती है—आवश्यक है। यद्यपि यदाकदा ही यह आवश्यकता सन्तोषजनक ढंग से पूरी हो पाती है।

इमारतों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, साज़-सामान और अध्यापन में सहायक उपकरणों में बहुत बड़ी राशि लगाने के बावजूद इन देशों में विद्यार्थियों की संख्या में तेज़ी से वृद्धि के कारण शिक्षा का नीचा स्तर कायम है और वस्तुतः अक्सर यह स्तर और नीचा होता जाता है।[55] अध्यापकों की क्षमता नीचे स्तर की है और इसमें और अधिक ह्रास की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती रहती है।[56]

माध्यमिक स्कूलों की तुलना में कॉलेजों में ऐसे विद्यार्थियों का प्रतिशत बहुत ऊँचा रहता है, जो कॉलेज की शिक्षा पूरी नहीं कर पाते।[57]

माध्यमिक स्तर से भी अधिक कॉलेज स्तर पर शिक्षा संस्थाओं को व्यवसायोन्मुख बनाया जाना चाहिए और ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि ये कॉलेज विद्यार्थियों को खास पेशों के लिए तैयार करें। प्रायः सब विशेषज्ञ यह शिकायत करते हैं, और इनमे दक्षिण एशिया के और विदेशी विशेषज्ञ भी शामिल हैं कि कॉलेज निरन्तर साधारण शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को आवश्यकता से अधिक बड़ी संख्या में तैयार किये जा रहे हैं। इन विद्यार्थियो को साहित्य आदि विषयो, कानून, सामाजिक विज्ञानों और 'शास्त्रीय' विज्ञान का प्रशिक्षण मिलता है और ये लोग कम योग्यता प्राप्त प्रशासको, क्लर्कों और 'शिक्षित बेरोजगारो' की संख्या मे वृद्धि करते जाते हैं।[58] इसके साथ ही हर स्तर पर इंजीनियरों, कृषि तकनीशियनों, डॉक्टरों, दन्त चिकित्सकों, औषधि निर्माताओं और स्वयं अध्यापकों तक की आवश्यकता रहती है। कुछ अपवादों को छोड़कर यह बात दक्षिण एशिया के सब देशो के बारे में सही है।

युद्ध के बाद की अवधि मे स्थिति मे कोई खास सुधार नहीं हुआ है। समस्त उच्च शिक्षा संस्थाओ को अपनी भर्ती की संख्या तेजी से बढ़ाने की छूट रही है। तकनीकी और विभिन्न पेशों की शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक तेजी से अपना विस्तार करने मे सफल हुई है।[59] लेकिन इस क्षेत्र के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्योग, कृषि, की विशेष रूप से उपेक्षा की गयी है।

उच्च शिक्षा के स्वरूप में विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से परिवर्तन करने के मार्ग में जो कठिनाइयां हैं, वे वैसी ही हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है और जो माध्यमिक स्कूलो को व्यावसायिक अथवा कम-से-कम अधिक व्यावहारिक और कम शास्त्रीय बनाने के प्रयासों के मार्ग मे बाधा डालती हैं : इमारतों और साज-सामान की ऊँची लागत तथा सरकार और उद्योग की होड़ मे अध्यापकों की भर्ती की कठिनाई। कॉलेजों का कला और कानून जैसे विषयों में, जहाँ प्रति विद्यार्थी सीमान्त लागत कम होती है, अधिक विद्यार्थियों को भरती करना वित्तीय दृष्टि से आकर्षक होता है, क्योंकि ये कॉलेज विद्यार्थियो से ऊँची फीस लेते हैं। इन समस्त कठिनाइयो के साथ ये परम्परागत विचार भी जुड़े हैं कि उच्च वर्ग के विशिष्ट लोगो की शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए और ये विचार उपनिवेशी युग से विरासत मे प्राप्त हुए हैं।

## 4. सुधार कार्यक्रम

दक्षिण एशिया की शिक्षा सम्बन्धी स्थिति का जो विवरण अब तक प्रस्तुत किया गया है, उसमे एक बात निरन्तर स्पष्ट रही है कि किसी देश के आर्थिक स्तर और शिक्षा के क्षेत्र में इसकी उपलब्धियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दो कम गरीब देश, श्रीलंका और मलाया, अपने समस्त बच्चो को छह वर्ष की प्राइमरी शिक्षा देने की प्रायः स्थिति मे आ गये है। श्रीलंका मे उन विद्यार्थियों की संख्या मे भी वृद्धि हो रही है, जो प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं। अपेक्षाकृत ऊँची साक्षरता दरों से आरम्भ कर अब वे युवा पीढियो में व्यापक साक्षरता की स्थिति मे आ रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप समानता और विकास के मार्ग मे बाधक उस गम्भीर बाधा को समाप्त

करना अधिक सम्भव होगा जो 'शिक्षित' लोगों को शारीरिक श्रम से घृणा करने का आधार है। जब शिक्षित होना एक छोटे से उच्च वर्ग का ही एकाधिकार नही रह जायेगा तो वर्ग सम्बन्धी यह बाधा धीरे-धीरे समाप्त करना अधिक आसान हो जायेगा कि कौन व्यक्ति शारीरिक श्रम करता है और कौन व्यक्ति अपने हाथ गन्दे करने को तैयार नही है।

युद्ध के बाद श्रीलंका और मलाया मे मात्रा की दृष्टि से कॉलिज शिक्षा की कम-विकसित प्रणाली मौजूद थी और हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों का एक छोटा प्रतिशत ही कॉलेजो में पढने जाता था और इन कॉलेजों का स्तर अक्सर ऊंचा होता था। ये देश कॉलेज शिक्षा के लिए अपने विद्यार्थियों को विदेशों मे भेजने पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर करते रहे। अब ये दोनों देश अपनी कॉलिज-प्रणाली का तेज़ी से निर्माण कर रहे है और इनका ऊँचा स्तर बनाये हुए हैं। अब क्योकि अधिक बच्चे माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, अतः उच्च वर्ग के उच्च शिक्षा पर एकाधिकार के समाप्त होने की स्थिति आ गयी है। श्रीलंका ने शिक्षा को लोकतन्त्री बनाने की दिशा मे यह निर्णय लेकर कि हर स्तर पर शिक्षा निःशुल्क होगी, महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है।

लेकिन समग्र दृष्टि से ये दोनों देश अधिक निर्धन देशों की तुलना में कॉलेज शिक्षा मे परिवर्तन लाने मे सफल नही हुए है और माध्यमिक स्कूलों को साधारण स्कूलों से बदलकर व्यावहारिक और व्यवसायोन्मुख स्कूल बना देने मे भी उन्हे इतनी सफलता नही मिली है।[60] इतना ही नही, प्राइमरी शिक्षा का पाठ्यक्रम भी अनावश्यक रूप से 'शास्त्रीय' है। इस बात में सन्देह नही है कि तीनों स्तरो पर शिक्षा की परम्परागत और सामान्य प्रणाली में परिवर्तन के द्वारा शारीरिक श्रम के विरुद्ध पूर्वाग्रह को तेजी से समाप्त किया जा सकता है, लेकिन यह कार्य तभी हो सकता है जब यह परिवर्तन साहसपूर्वक लागू किया जाये।

इन दो छोटे और कम गरीब देशो के बच्चों को छोडकर दक्षिण एशिया के बच्चों का विशाल बहुमत या तो किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नही कर पाता अथवा स्थायी और उपयोगी साक्षरता प्राप्त करने से पहले ही उनकी पढ़ाई बन्द हो जाती है। पर फिलीपाइन और थाईलैण्ड, श्रीलंका और मलाया का अनुकरण कर सकते है, यदि वे बीच में ही पढाई छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की तेजी से बढती हुई सख्या मे कमी कर सकें। इन्दोनेशिया यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक गरीब है, प्राइमरी शिक्षा की दृष्टि से बेहतर स्थिति में है, क्योकि यह एक ऐसा देश है, जहाँ आयोजन और सामान्य नीति के अत्यधिक नीचे स्तरों के बावजूद, शिक्षा मे सुधार करने के प्रति कही अधिक और व्यापक उत्साह रहा है।[61]

फिलीपाइन अपने युवक-युवतियों के एक बहुत बड़े हिस्से को माध्यमिक और कॉलिज शिक्षा देने की दृष्टि से विशेष रूप से बेहतर स्थिति मे है। यद्यपि यह शिक्षा सदा उच्च स्तर की नही होती, लेकिन अपेक्षाकृत उच्च 'शिक्षित' लोगों के श्रम बाजार में अधिक बडी संख्या में पहुँचने से कालान्तर में उनकी शारीरिक श्रम करने की अनिच्छा समाप्त हो जायेगी। संयुक्त राज्य अमरीका के अधीन औपनिवेशिक युग से ही फिलीपाइन ने अपने समाज मे अध्यापको और स्कूलों को अधिक ऊँचा स्थान दिया है और अध्यापन को आधुनिक और बेहतर बनाने के प्रयासों मे अधिक दिलचस्पी दिखायी है। यह दिलचस्पी प्राथमिक स्तर

पर विशेष रूप से दिखायी गयी है और इन्दोनेशिया को छोड़कर, इस क्षेत्र के अन्य समस्त देशों की तुलना में वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ अधिक प्रगति की है।[62]

यद्यपि यहाँ जिन देशों का उल्लेख किया गया है, उनके समक्ष शिक्षा सम्बन्धी नीति की समस्याएँ मौजूद है, लेकिन इस क्षेत्र के निर्धनतम देशों, पाकिस्तान, भारत और बर्मा में ये समस्याएँ अधिक जटिल और अधिक बडी है। इन देशों मे ही इस क्षेत्र की अधिकांश आबादी रहती है। नीति सम्बन्धी निष्कर्षों पर विचार के समय मैं इस क्षेत्र के विशाल और अधिक गरीब हिस्से को मुख्यतया अपने सामने रखूँगा, लेकिन अन्य अनेक प्रश्नों की दृष्टि से यह निष्कर्ष अन्य देशो पर भी लागू होंगे जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

अधिक गरीब देशों में शिक्षा की जो दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है उसका आंशिक स्पष्टीकरण स्पष्ट रूप से और प्रत्यक्ष रूप से उनकी गरीबी मे निहित है। शिक्षा नीति को लागू करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नही हैं, लेकिन समस्या इससे कही अधिक जटिल है। इन देशों मे असमानता भी कही अधिक है और एक शिक्षित उच्च वर्ग और सामान्य जन-समुदायके बीच कही गहरी खाइयाँ मौजूद हैं।

अध्याय-3 मे मैंने गरीबी और समानता के सामान्य सम्बन्ध का उल्लेख किया था। शिक्षा पर एकाधिकार—और इसके साथ ही भूमि स्वामित्व पर एकाधिकार—असमानता का सर्वाधिक बुनियादी आधार है और इसका शिकंजा अधिक गरीब देशों में कहीं अधिक कडाई से कसा हुआ है। जब लोकप्रिय शिक्षा उपलब्ध कराने का अधिक व्यापक प्रयास किया जाता है तब भी यह स्थिति मौजूद रहती है।[63] जो विद्यार्थी शिक्षा पूरी नही कर पाते, उनमें भी वर्ग सम्बन्धी पूर्वाग्रह दिखायी पडता है अर्थात् ये विद्यार्थी छोटे वर्गो से सम्बन्धित होते है और अधिक गरीब देशों में यह स्थिति और अधिक स्पष्ट और व्यापक [illegible] है। ये विद्यार्थी बीच में ही पढाई छोड देते हैं, एक ही कक्षा मे [illegible] पढ़ते हैं, अथवा परीक्षाओं मे असफल हो जाते हैं।

कम गरीब देशों मे जो अपेक्षाकृत कम बच्चे प्राइमरी स्कूल की पहली कक्षा में नाम लिखाते हैं, उनमें लड़कियों, देहाती इलाको के बच्चों और [illegible] निर्धनतम परिवारों के बच्चों की संख्या कम होती है। इन [illegible] के बच्चों की अनियमित उपस्थिति रहती है। वे एक ही कक्षा में [illegible] रहते है और बीच मे ही पढाई बन्द कर देते हैं। सब बच्चों का एक छोटा [illegible] ही प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी कर पाता है और अधिक गरीब [illegible] प्राइमरी स्कूल गरीब जिलो मे प्राइमरी स्कूलों की शिक्षा की [illegible] स्तर भी नीचा होता है।

इस प्रकार शिक्षा के आरम्भिक [illegible] चालू रहती है और इस प्रकार कम [illegible] रह जाते है। इस तथ्य से यह स्पष्टीकरण [illegible] प्राइमरी स्कूल की शिक्षा पूरी करते हैं, [illegible] स्कूलों में क्यो भरती होता है। [illegible] और आगे चलकर मैट्रिक की [illegible] कम और आगे बढता है। [illegible] उत्तीर्ण करते है उनका [illegible]

इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। कॉलेजों में निम्न सामाजिक और आर्थिक स्तर के जो अपेक्षाकृत कम विद्यार्थी भरती होते हैं उनमें से ही अधिकांशतया विद्यार्थी पढाई पूरी नही कर पाते अथवा परीक्षाओं मे असफल हो जाते हैं।[64]

चुनाव की इस प्रक्रिया मे अनेक आर्थिक और सामाजिक कारक क्रियाशील रहते है, जिनमें घर का वातावरण भी शामिल होता है।[65] कुछ गिने-चुने समृद्ध और 'शिक्षित' परिवारो और कही अधिक बहुसंख्यक छोटे वर्ग के परिवारों के घरेलू वातावरण के बीच बेहद अन्तर है। यह अन्तर विकसित देशों के इन वर्गों के अन्तरो से कही अधिक बडा है। यदि स्कूल बहुत अच्छे भी हो जायें तो भी गरीब परिवारो के बच्चों के समक्ष इन स्कूलो में भरती होने, इनमे अपनी पढाई जारी रखने और परीक्षाओं में सफल होने के मार्ग में गम्भीर समस्याएँ बनी रहेंगी।

इसका परिणाम उच्च वर्ग के अत्यधिक पक्ष में मौजूद पूर्वाग्रह है और यह पूर्वाग्रह शिक्षा पर इस वर्ग के एकाधिकार को और अधिक मजबूत बना देता है। भारत मे उच्च शिक्षा पर विशेष रूप से विचार करते हुए, लेकिन इस बात के प्रति भी सजग रहते हुए कि यह पूर्वाग्रह प्राइमरी स्तर से ही शुरू हो जाता है, पी० सी० महालनबीस लिखते है :

"सामान्यतया केवल अमीर लोगों को ही यह अवसर प्राप्त है कि वे अपने बच्चों को उस प्रकार की शिक्षा दे सकें जो देश मे प्रभावशाली और उत्तरदायी पदो के लिए आवश्यक होती है।"

वे आगे लिखते हैं :

"······सर्वोच्च स्तर पर बैठे लोगों के एक छोटे-से समूह की सत्ता और विशेषाधिकार केवल कायम रहने की ही प्रवृत्ति नही दर्शाता, बल्कि यह और अधिक मजबूत होते जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है······इस प्रकार प्रभावशाली लोगो का एक समूह बन गया है, जो, जैसाकि स्वाभाविक है, अपनी विशेषाधिकार की स्थिति और सत्ता को बनाये रखना चाहता है।"

जे० पी० नाइक एक विशेष अध्ययन का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकालते है :

"······हमारी शिक्षा-प्रणाली का सर्वाधिक लाभ लड़कों, शहरी इलाको के लोगों तथा मध्यम और उच्च वर्ग को ही मिल रहा है।"

और एक अन्य सन्दर्भ में वे लिखते हैं :

"शिक्षा का विकास· 'सम्पन्न' लोगों को 'निर्धन' लोगों की तुलना मे अधिक लाभ पहुँचा रहा है। यह सामाजिक न्याय और 'योजनाबद्ध विकास की प्रक्रिया' का नकार है।"

और 1966 की शिक्षा आयोग की रिपोर्ट मे यह जोर देकर कहा गया है :

"अमीर और गरीब देशों के बीच की सामाजिक दूरी तथा शिक्षितों और अशिक्षितो के बीच की सामाजिक दूरी बहुत बडी है और यह निरन्तर बढ रही है····· स्वयं शिक्षा ही सामाजिक अलगाव को बढाने और वर्ग भेदभाव की खाई को और चौडा बनाने की प्रवृत्ति दिखा रही है··· इससे भी बुरी बात यह है कि यह अलगाव····· सम्पन्न वर्गों और जन-सामान्य के बीच की खाई को बढा रहा है।"

पाकिस्तान में स्थिति भिन्न नही है, बल्कि और बुरी है। यद्यपि इस समस्या पर वहाँ इतना परिष्कृत विचार-विमर्श नही होता। इन दोनो देशो में एक छोटा उच्च शिक्षा प्राप्त विशिष्ट उच्च वर्ग है। इसके साथ ही इन देशो के जन-सामान्य को बहुत कम अथवा कोई शिक्षा प्राप्त नही है। जन-समुदाय का अज्ञान इन देशों के आर्थिक विकास के मार्ग मे गम्भीर निषेधो और बाधाओ के रूप में खड़ा है और इसके फलस्वरूप ये देश गरीबी के गर्त में पड़े हुए हैं। इसके साथ ही इन देशों में विद्यमान कठोर असमानता—जो विभिन्न स्तरो मे विभाजित है और शिक्षा पर उच्च वर्ग के प्राय: एकाधिकार के कारण निरन्तर मजबूत होती जा रही है—शिक्षा को लोकतन्त्री बनाने के उद्देश्य से किये जाने वाले सुधारों को प्रभावहीन बना देती है।

पिछले पृष्ठों मे हमने उच्च वर्ग की सत्ता की इस प्रक्रिया को कार्यरूप मे देखा है : घोषित लक्ष्यों के विपरीत वयस्क शिक्षा के महत्त्व को घटा दिया गया है; प्राइमरी शिक्षा की तुलना मे अधिक व्ययसाध्य माध्यमिक और विशेष रूप से कॉलेज शिक्षा को कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ने की इजाजत दी गयी है; सब स्तरो पर स्कूलो को कम 'सामान्य' और माध्यमिक तथा कॉलेज स्तर पर अधिक व्यावहारिक, तकनीकी और व्यवसायोन्मुख बनाने के प्रयासों को निष्फल कर दिया गया है, आदि। नीति सम्बन्धी प्रमुख निष्कर्षों का उल्लेख करने से पहले, जिनका पूर्वाभास शिक्षा सम्बन्धी खामियों के वक्तव्यों मे मिल चुका है, मैंने एक असमानतावादी समाज में, जहाँ जन-समुदाय अत्यन्त निर्धन है, उच्च वर्ग की सत्ता की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करना आवश्यक समझा।

इन्ही देशों में शिक्षा सम्बन्धी सुधारों की सबसे अधिक आवश्यकता है और यहीं इन्हे सबसे अधिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। निर्धनता से ग्रस्त जन-समुदाय के हाथ में प्राय. कोई सत्ता नही है। ये जनसमुदाय अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त नही कर पाते और निष्क्रिय बने रहते है। न तो व्यक्तिगत रूप से और न ही सामूहिक रूप से ये लोग शिक्षा के सुधार की आवश्यकता के प्रति सजग है 'बढ़ती हुई आकांक्षाओं की क्रान्ति' के विचार की तरह ही उनकी 'शिक्षा के लिए भूख' का विचार अधिकाशतया मिथ्या कल्पना है और इस बात को प्रतिबिम्बित करता है कि पश्चिम और दक्षिण एशिया के समृद्ध लोग किस प्रकार यह सोचते है कि यदि स्वयं उनको इन भयंकर कष्टपूर्ण स्थितियों मे रहना पड़ता तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती।[66]

मैंने इस अध्याय का समारम्भ अधिक विश्वसनीय आँकड़ो की आवश्यकता पर जोर देने के साथ किया था और ये आँकड़े ऐसे होने चाहिए जिनसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बारे मे आवश्यक जानकारी मिलती हो। लेकिन ऐसी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध है—जिसे ऊपर आंशिक रूप से संक्षेप में बता दिया गया है और जिसे एशियन ड्रामा में अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है—जिसके आधार पर नीति सम्बन्धी प्रमुख निर्णयो को मोटी रूपरेखा के रूप में प्रस्तुत किया जा सके।[67]

अपने निष्कर्षों के समर्थन में मैं 1966 की भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट का विशेष रूप से हवाला दूंगा। यह रिपोर्ट इस बात का एक सर्वाधिक विशिष्ट उदाहरण है कि आजादी के युग में भी ब्रिटिश भारत के जमाने की निष्ठापूर्ण, व्यापक और गहराई से की जाने वाली सार्वजनिक जाँचों की महान् परम्परा जारी है। यह रिपोर्ट इतने विलम्ब से उपलब्ध हुई कि एशियन ड्रामा में मैं केवल पाद-टिप्पणियों में हवाला देने के लिए ही इसका उपयोग कर सका। लेकिन इसने उन निष्कर्षों पर मेरी निर्भरता को और अधिक मजबूत बना दिया, जिन पर मैं अपने स्वतन्त्र अनुसन्धान के द्वारा पहुँचा था।

एक बड़ा निष्कर्ष समस्त शिक्षा-प्रणाली में आमूल और दूरगामी परिवर्तन करने की आवश्यकता का है।[68] जैसाकि इस रिपोर्ट में जोर देकर कहा गया है।

"भारतीय शिक्षा के व्यापक पुनर्गठन की आवश्यकता है, प्रायः एक क्रान्ति की आवश्यकता है······इसके लिए कृतसंकल्प और बड़े पैमाने पर कार्रवाई की आवश्यकता है। वर्तमान स्थिति में मामूली-सा फेर-बदल और अनिश्चय की स्थिति में आगे बढ़ना और प्रस्तावित सुधारों के प्रति विश्वास की कमी स्थिति को पहले से और बिगाड़ सकती है।"

यह बात भारत की तरह ही पाकिस्तान और बर्मा के बारे में सच है और इसी प्रकार, यद्यपि कम ज़ोरदार तरीके से, थाईलैण्ड, इन्दोनेशिया और फिलीपाइन के मध्यम समूह पर भी लागू होती है।

शिक्षा नीति को योजनाओं से सम्बद्ध करने का वर्तमान प्रयास अधिकांशतया निरर्थक रहा है।[69] इसने विकास सम्बन्धी इस प्रमुख बात की ओर से भी ध्यान हटाने की प्रवृत्ति दिखायी है कि समस्त आबादी का साक्षरता का स्तर ऊँचा करना आर्थिक विकास के लिए लाभकारी है। तुरन्त आवश्यकता इस बात की है कि समस्त शिक्षा के सुधार के लिए आयोजन किया जाये।[70] पहली आवश्यकता शिक्षा के स्तर को कायम रखने और ऊँचा उठाने की है। और कम-से-कम शिक्षा के ऐसे विस्तार को अनुमति न दी जाये जो वास्तविक न हो अथवा जो शिक्षा के स्तर के लिए हानिप्रद हो, जैसाकि स्वाधीनता के समस्त युग में नियमतः हुआ है।[71] जैसाकि चौथी पंचवर्षीय योजना के मसौदे (1966) में कहा गया है :

"संख्या की दृष्टि से विस्तार······के साथ-साथ गुण की दृष्टि से ह्रास हुआ है······यह स्पष्ट है कि निकट भविष्य में शिक्षा की स्थिति को दृढ बनाने, स्तर ऊँचा उठाने, विविध बनाने और शिक्षा की समाप्ति के प्रभाव और शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाने के लिए उससे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से ध्यान देना होगा जितना अब तक दिया गया है।"

दूसरी आवश्यकता, जो पहली आवश्यकता के साथ ही उत्पन्न होती है, शिक्षा के तीनों स्तरों के बीच सन्तुलन बनाये रखने की है। इसके अलावा कार्यक्रमों के बारे में जो घोषणाएँ की गयी है, उनमें प्राइमरी शिक्षा को जो प्राथमिकता दी है उसे वास्तविकता बनाया जाये। इसके लिए यह आवश्यक है कि माध्यमिक स्कूलों और कॉलिजों में भरती में तेजी से वृद्धि को रोका जाये अथवा भरती में कमी तक की जाये।[72]

दक्षिण एशिया के माध्यमिक स्कूल और कॉलेज बहुत बड़ी संख्या में 'सामान्य शिक्षा प्राप्त' लोग तैयार करते हैं। अतः ऐसा कोई कारण नहीं है कि

तकनीकी, व्यावसायिक और विभिन्न पेशों सम्बन्धी प्रशिक्षण को पर्याप्त मात्रा में वर्तमान अथवा इससे भी छोटी माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत न बढाया जा सके। इस प्रकार अधिक अध्यापकों, कृषि विस्तार कर्मचारियों और डॉक्टरों आदि की अधिक व्यवस्था की जा सकती है। ये कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें अधिक प्रशिक्षित युवक-युवतियो की तत्काल आवश्यकता है।

माध्यमिक स्कूलो और कॉलेजो मे अपेक्षाकृत कम विद्यार्थियों की भर्ती का यह असर भी होना चाहिए कि इन स्कूलो और कॉलेजों मे भरती हुए विद्यार्थियो की तैयारी और योग्यता के ऊँचे स्तर कायम रहें। और इस प्रकार एक ही कक्षा मे दूसरी या तीसरी बार पढने, बीच मे ही पढाई छोड देने और परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाने में कमी की जा सके। इस प्रकार इन स्कूलो और कॉलेजों में शिक्षा का उच्च स्तर कायम किया जा सकता है।

इस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए और अधिक साधन उपलब्ध किये जा सकेंगे। लेकिन इस स्थिति मे भी, और अच्छी तरह प्रशिक्षित अध्यापको की वर्तमान कमी को ध्यान मे रखते हुए, इस बात पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए कि कुछ समय के लिए पहली कक्षा में भरती होने वाले बच्चो की संख्या मे कमी की जाये।[73]

इसके बाद दो परस्पर सम्बन्धित उद्देश्यों को पूरा करना आसान होगा; एक, प्राइमरी स्कूलो मे समस्त भौतिक सुविधाओं के अत्यन्त नीचे स्तर तो ऊँचा उठाना, और, दो, बीच मे ही पढाई बन्द कर देने वाले और एक ही कक्षा मे बार-बार पढने वाले विद्यार्थियो के रूप मे भयंकर बर्बादी को कम करने के लिए भरपूर प्रयास करना। जैसाकि भारत के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट मे जोर देकर कहा गया है :

"......आगामी वर्षो में प्राथमिक स्तर पर जिस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य-क्रम को लागू किया जाना चाहिए, वह शिक्षा के स्तर और गुण मे सुधार करना तथा बर्बादी को न्यूनतम करना है।"

प्राइमरी स्कूलों में भरती मे वृद्धि मे कुछ कमी केवल अस्थायी ही होनी चाहिए और इसका उपयोग नये विस्तार के लिए किया जाना चाहिए। जैसे ही माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा के विस्तार में कुछ कमी और दिशा परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के लिए अधिक साधन उपलब्ध होते है, और ये साधन अधिक बेहतर योग्यता वाले अध्यापको की अधिक बडी संख्या के रूप मे भी उपलब्ध होगे, और जैसे ही प्राथमिक शिक्षा-प्रणाली मे बीच मे ही पढाई छोड देने वाले और बार-बार एक ही कक्षा में पढने वाले विद्यार्थियो के रूप मे होने वाली बर्बादी को कम कर दिया जाता है, प्राइमरी शिक्षा में नया विस्तार किया जाना चाहिए। यदि इस प्रक्रिया को लम्बा किया गया, तो अनेक गरीब जिलो के लोगो को अधिक समय तक अपने बच्चों को प्राइमरी स्कूलो मे भेजने के अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी।

पूरे दक्षिण एशिया में, और केवल इस क्षेत्र के उस विशाल भाग मे ही नही, जो अत्यधिक गरीब है और प्राइमरी शिक्षा की दृष्टि से कम-से-कम उन्नत है, प्रौढ शिक्षा के लिए प्रभावशाली प्रयास करने की आवश्यकता है।[74] यह कार्य साक्षरता बढाने तथा इनके बच्चों को प्राइमरी स्कूलों मे बनाये रखने और उन्हें

फिर निरक्षरता के गर्त में गिरने से रोकने के लिए आवश्यक है। ये प्रयास वस्तुतः स्कूलों की गतिविधियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने चाहिए और इन्हें स्कूलों की गतिविधि के एक अतिरिक्त अंग के रूप में किया जाना चाहिए।

स्कूल प्रणाली के सुधार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशिक्षित .अध्यापकों की संख्या और योग्यता मे वृद्धि करना है।[75] शिक्षा आयोग ने निरन्तर इस बात पर जोर दिया है कि शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य बच्चों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना और अन्त मे देश के समस्त लोगों के दृष्टिकोण में, 'समस्त जनता के मानव मूल्यों मे' परिवर्तन करना है। आयोग 'सामाजिक और सास्कृतिक क्रान्ति' की आवश्यकता को स्वीकार करता है, जो आधुनिकीकरण के आदर्शों की ओर उन्मुख होनी चाहिए। यह कार्य उन अध्यापकों के अभाव में सम्भव नही है जो केवल अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितियों से ही सन्तुष्ट न हों और जिन्हे अपने समुदाय का बौद्धिक और नैतिक नेता समझा जाये। बल्कि जो निष्ठावान्, उत्साही तथा उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान के प्रसार की भावना से ओतप्रोत हो तथा जिन्होंने आगे बढ़ने का दृढसंकल्प ले लिया हो।

इस दृष्टिकोण से शिक्षक, शिक्षण संस्थाओं का शिक्षा सम्बन्धी सुधार मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये संस्थाएँ ऐसे 'बिजलीघर' होनी चाहिए, जिनसे लोगों को विकास के लिए तैयार करने के वास्ते अपने विद्यार्थियों में नैतिक और बौद्धिक शक्ति उत्पन्न की जा सके।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए जिन सुधारों की योजना बनायी जाये और जिन्हें लागू किया जाये, उनके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा संस्थाओं पर सरकार का अधिक कड़ा नियन्त्रण हो और बेहतर प्रशासन की व्यवस्था की जाये।[76] इस क्षेत्र में केवल श्रीलंका ही इस समस्या को सुलझाने की दिशा में आगे बढ रहा है।

इन तरीकों से शिक्षा-सुधार के लिए धन की आवश्यकता होगी।[77] यह सच है कि सुधार कार्यक्रम का एक आवश्यक तत्त्व उस बर्बादी से बचना होना चाहिए, जो आज हो रही है। केवल मात्रा की दृष्टि से विस्तार में कमी से ही साधनों की बचत होगी और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने और अधिक विद्यार्थियों को स्कूलों में बने रहकर अपनी शिक्षा पूरी करने तथा परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होगी वे इस प्रकार स्वयं उपलब्ध हो जायेंगे। लेकिन, सुधारों को वस्तुतः प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षा के लिए सचमुच राष्ट्र के साधनों का एक बड़ा भाग निर्धारित करना होगा।

यदि यह विश्वास करने के कारण भी मौजूद हों कि विकास को निश्चित बनाने और उसकी गति को तीव्र करने के लिए शिक्षा की स्थिति में सुधार करना महत्त्वपूर्ण है, तो भी पर्याप्त समय के बाद ही इसके प्रभाव महत्त्वपूर्ण रूप से सामने आ सकते हैं। और विलम्ब से प्राप्त होने वाले इन प्रभावों की वित्तीय 'लाभ' के रूप मे गणना करना वस्तुत. सम्भव नही है। अतः शिक्षा के लिए अधिक धन की माँग को अन्य माँगों के साथ प्राथमिकता प्राप्त करने की दृष्टि से होड़ करनी होगी, विशेषकर ऐसी माँगों से जिनका सम्बन्ध ऐसे भौतिक विनियोगों से है, जिनके लाभ की गणना की जा सकती है और जो लाभ अपेक्षाकृत कम छोटी अवधि में प्राप्त होते हुए दिखायी पड़ते है।

इन समस्याओं पर विचार के समय हमारे मन में अत्यधिक गरीब और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की ही बात है, जिनमे प्रभावशाली उच्च वर्ग पहले ही 'शिक्षित' है और अपने बच्चों को 'शिक्षित' बनाता है। उसे इन सुधारों को लागू करने की तात्कालिक आवश्यकता अनुभव ही नहीं होती।

यद्यपि ऊपर जिस कार्यक्रम का विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके प्रत्येक मुद्दे पर सामान्य रूप से सहमति पर पहुँचना सम्भव होगा। लेकिन इन देशों में आज सत्ता का जो गठन है, उसमें इन सुधारों के प्रति प्रतिरोध विद्यमान है। इस अध्याय के पिछले पृष्ठ, जिनमें शिक्षा की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों की समीक्षा की गयी है, इस मान्यता के प्रति चेतावनी समझे जाने चाहिए कि आवश्यक सुधारों पर आसानी से निर्णय लिया जा सकता है और इन्हें लागू किया जा सकता है।

भारत का शिक्षा आयोग 'शिक्षा मे क्रान्ति' की माँग करता है और यह विश्वास करता है, जो मेरे विचार से बिलकुल सही है, कि यह क्रान्ति यदि इसे सचमुच लागू किया जाये, 'तो इसके परिणामस्वरूप अत्यन्त वांछित सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति का समारम्भ हो जायेगा।'[78] लेकिन 'सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति' का आरम्भिक अभाव स्वयं अपने-आपमें 'शिक्षा में क्रान्ति' को प्रोत्साहन देने के मार्ग में एक विराट् निषेध प्रस्तुत करता है। यह दुविधा उन समस्याओं में भी निहित है, जिन पर हम विकास की राजनीति सम्बन्धी चौथे खण्ड मे आगे विचार करेंगे।

भारत के शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में निम्नलिखित तरीके से आमूल और दूरगामी सुधारों के लिए अनुरोध किया गया है :

"हमें प्राइमरी शिक्षा की प्रभावशालिता में बहुत अधिक सुधार करना है; सामान्य शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में कार्य सम्बन्धी अनुभव की व्यवस्था करनी है; माध्यमिक शिक्षा को व्यवसायोन्मुख बनाना है; सब स्तरों पर अध्यापकों के स्तर में सुधार करना है और पर्याप्त संख्या में शिक्षक उपलब्ध कराने हैं; निरक्षरता समाप्त करनी है; उच्च अध्ययन के केन्द्रों को मजबूत बनाना है और कम-से-कम अपने विश्वविद्यालयों मे अधिक ऊँचे अन्तर्राष्ट्रीय मानक कायम करने का प्रयास करना है; कृषि और सम्बन्धित विज्ञानों मे अध्यापन और अनुसन्धान मे समन्वय के ऊपर विशेष रूप से जोर देना है। इन सब कार्यों के लिए कृतसंकल्प और बड़े पैमाने पर कारवाई की आवश्यकता है।"

अपनी रिपोर्ट के अन्त में, जिसमें आयोग ने बड़े विस्तार से यह बताया है कि उसके सुझावों का क्या अभिप्राय है, यह भी कहा गया है कि यह रिपोर्ट 'कारवाई का स्थान नहीं ले सकती।'

जहाँ तक शिक्षा सुधार के समयबद्ध कार्यक्रम का प्रश्न था, रिपोर्ट मे यह निष्कर्ष निकाला गया "......देश का भविष्य अधिकांशतया इस बात पर निर्भर करता है कि अगले दस वर्षों अथवा लगभग इतने ही समय में शिक्षा के सम्बन्ध मे क्या किया जाता है।" रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद चार वर्ष का जो समय गुजर गया है, उसमें भारत के आयोजन और राजनीति मे इस दिशा मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। दक्षिण एशिया के अन्य अत्यन्त गरीब देशों मे भी कोई इससे अधिक भिन्न बात नही हुई है।

कम-विकसित संसार के अन्य भागों के बारे में मैं फिलहाल इतने सटीक ढंग से बातें कहने की स्थिति में नहीं हूँ जिस प्रकार दक्षिण एशिया के बारे में हूँ। पर सम्बन्धित साहित्य के सरसरी तौर पर अध्ययन से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है कि प्राय. सर्वत्र मोटे तौर पर ऐसी ही समस्याएँ मौजूद हैं। यद्यपि दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में हमने जिस प्रकार की समस्याओं को देखा है, ये उससे बेहद भिन्न हैं, विशेषकर कम गरीब और बहुत अधिक गरीब देशों के बीच के अन्तर के सम्बन्ध मे।

प्रायः सर्वत्र इस बात पर सामान्य सहमति है कि यथासम्भव कम समय में सार्वभौम साक्षरता का लक्ष्य पूरा करने को उच्च राष्ट्रीय प्राथमिकता दी जानी चाहिए। गैर-कम्युनिस्ट देशों में इसके बावजूद वयस्क शिक्षा को इतना अधिक महत्त्व नही दिया जा रहा है। प्राइमरी शिक्षा का विस्तार हो रहा है, लेकिन अक्सर यह काम बहुत नीचे स्तर के स्कूलों की स्थापना के द्वारा किया जा रहा है। बीच मे ही पढ़ाई छोड़ देने और एक ही कक्षा मे बार-बार पढने के रूप में जो बर्बादी होती है, विशेषकर अधिक गरीब देशों और अधिक गरीब जिलों में, वह बहुत सामान्य बात बन गयी है और इसमें वृद्धि के भी लक्षण दिखायी पड रहे हैं।

माध्यमिक शिक्षा और विशेष रूप से कॉलेज शिक्षा को कही अधिक तेजी से बढने दिया गया है, लेकिन इसके साथ ही शिक्षा के स्तर का बलिदान दे दिया गया है और उन विद्यार्थियो की संख्या मे वृद्धि हुई है जो परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। प्राय. सर्वत्र स्कूलो को कम 'साधारण' बनाने और माध्यमिक तथा कालिज शिक्षा को अधिक व्यावहारिक और विभिन्न पेशों से सम्बन्धित बनाने के प्रयास पूरी तरह सफल नही हुए है।

सामान्यतया जिन लक्ष्यो की घोषणा की जाती है, उनके अनुरूप शिक्षा मे सुधार के प्रयास न हो पाना प्रायः सर्वत्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरीकरण के ऊपर आधारित है, जिससे एक छोटे से उच्च वर्ग को बड़ी प्रभावशाली स्थिति प्राप्त हो गयी है। हैसियत और डिग्रियों को अनावश्यक महत्त्व दिया जाता है, जिससे एक विशिष्ट लोगों से प्रभावित समाज में विविधतापूर्ण प्रणाली का दर्शन होता है।

लेटिन अमरीका, पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका मे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अन्य अनेक प्रभावित करने वाले कारक बहुत भिन्न है और इस कारण से शिक्षा की स्थिति में पर्याप्त समानताएँ आश्चर्यजनक दिखायी पड़ती हैं। सर्वत्र एक यह समानता दिखायी पड़ती है कि एक छोटे-से उच्च वर्ग का राजनीतिक प्रभुत्व कायम है। सहारा के दक्षिण मे स्थित अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देश अभी भी 'जन्म लेने की प्रक्रिया' से गुजर रहे है, लेकिन फिर भी इनमे से अनेक देशों में एक विशिष्ट वर्ग के गठन के अपवादजनक लक्षण दिखायी पड रहे हैं।

कम-विकसित देशों में शिक्षा सम्बन्धी जिन सुधारो की आवश्यकता है, उनके लिए स्वयं इन देशो के भीतर ही सघर्ष करना होगा, योजनाएँ बनानी होगी और इन पर अमल करना होगा।

आबादी सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध मे, और स्वास्थ्य नीति के बारे मे भी, मैंने अध्याय-5 में यह कहा है कि विकसित देश और विशेषकर संयुक्त राज्य

अमरीका सन्तति-निरोध के उपायों में वस्तुतः प्रभावशाली परिवर्तन लाकर कम-विकसित संसार की ठोस सहायता करने की स्थिति मे थे। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी किसी सहायता की बहुत कम गुजाइश है।[79]

स्वास्थ्य, सेक्स और सन्तति-निरोध का सम्बन्ध सीधी-सादी जैविक प्रक्रियाओं से है। इन प्रक्रियाओं के बारे में निश्चित वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध है, जो नये अनुसन्धान के द्वारा निरन्तर दृढ होती जा रही है और इसके आधार पर कही अधिक चिकित्सा टेक्नालॉजी का विकास हो रहा है, जिसे सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इसके विपरीत शिक्षा की समस्याओं का सम्बन्ध लोगों के मन-मस्तिष्क से होता है, केवल उनके शरीरो से नही।

और उनका मन-मस्तिष्क एक बहुत भिन्न संस्कृति से प्रभावित है और इस संस्कृति को समाप्त नही किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए। परम्परागत सस्कृति को इस प्रकार प्रभावित करना एक वड़ी जटिल समस्या है कि इसमें आधुनिकीकरण के लिए स्थान बन जाये। इसके लिए शिक्षा के नये परिष्कृत तरीकों की आवश्यकता होती है और पश्चिमी ससार मे प्रचलित तरीकों को जैसे का तैसा नही अपनाया जा सकता।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे सन्तति-निरोध के उपायो जैसा कोई विकल्प मौजूद नही है, जिसके सम्बन्ध में विकसित देशो के अनुसन्धानकर्ता प्रयोग कर सकें और इसके वाद कम-विकसित देशो को उनके उपयोग के लिए इन प्रयोगों के परिणामों को प्रस्तुत कर सकें। इन देशों में परिस्थितियाँ और इसके परिणाम-स्वरूप लोग इतने भिन्न है कि पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के तरीको के वारे में मुश्किल से ही कोई योगदान कर सकते है।

उदाहरण के लिए कम-विकसित देशों मे वयस्क शिक्षा की केवल अधिक आवश्यकता ही नही है, बल्कि एक भिन्न प्रकार की वयस्क शिक्षा की जरूरत है। साधारणतया, बच्चो और वयस्क लोगों को पढ़ाने के तरीके भिन्न होंगे और अक्सर नये तरीकों की कल्पना करनी होगी। अन्य क्षेत्रों की तुलना मे पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के क्षेत्र में इन देशों मे पूरी तरह से अनुपयुक्त हैं। यद्यपि इतने भयंकर रूप से नही, जैसे जॉन कैनेथ गालब्रैथ के उपन्यास 'दि ट्रायम्फ' में दर्शाया गया है। अब यह उपन्यास लेटिन अमरीका में सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों की कोटि मे पहुँच गया है और इसे पढ़कर लोग खूब हँसते है।

इसके महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है, विशेषकर उस स्थिति मे जब टेक्नालॉजी को वित्तीय सहायता से जोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रव्य और दृश्य उपकरण अध्यापक की कार्य-कुशलता में वृद्धि कर सकते है, चाहे उसे कुछ भी क्यों न पढाना हो और उसका पढाने का तरीका चाहे कैसा भी क्यो न हो। पढाई के लिए अन्य अनेक प्रकार के भौतिक उपकरण भी आवश्यक होते है, जिनमे पुस्तकें और कागज भी शामिल है और यदि मुफ्त अथवा रियायती दरो पर ये वस्तुएँ कम-विकसित देशों को दी जायें तो वहुत सहायता पहुँच सकती है। यदा-कदा स्वप इन देशो मे इन वस्तुओं को तैयार करने के लिए वित्तीय सहायता देना विकास के कही अधिक अनुरूप होगा।

शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में सुधार करने के लिए भी आर्थिक सहायता महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ऐसे सुधारो के लिए, जैसे अध्यापकों को अधिक वेतन,

कम-विकसित संसार के अन्य भागों के बारे में मैं फिलहाल इतने सटीक ढंग से बातें कहने की स्थिति में नही हूँ जिस प्रकार दक्षिण एशिया के बारे मे हूँ। पर सम्बन्धित साहित्य के सरसरी तौर पर अध्ययन से इस धारणा की पुष्टि हो जाती है कि प्राय. सर्वत्र मोटे तौर पर ऐसी ही समस्याएँ मौजूद हैं। यद्यपि दक्षिण एशिया के सम्बन्ध मे हमने जिस प्रकार की समस्याओं को देखा है, ये उससे बेहद भिन्न हैं, विशेषकर कम गरीब और बहुत अधिक गरीब देशों के बीच के अन्तर के सम्बन्ध मे।

प्रायः सर्वत्र इस बात पर सामान्य सहमति है कि यथासम्भव कम समय में सार्वभौम साक्षरता का लक्ष्य पूरा करने को उच्च राष्ट्रीय प्राथमिकता दी जानी चाहिए। गैर-कम्युनिस्ट देशों में इसके बावजूद वयस्क शिक्षा को इतना अधिक महत्त्व नही दिया जा रहा है। प्राइमरी शिक्षा का विस्तार हो रहा है, लेकिन अक्सर यह काम बहुत नीचे स्तर के स्कूलों की स्थापना के द्वारा किया जा रहा है। बीच मे ही पढ़ाई छोड देने और एक ही कक्षा मे बार-बार पढने के रूप में जो बर्बादी होती है, विशेषकर अधिक गरीब देशो और अधिक गरीब जिलों में, वह बहुत सामान्य बात बन गयी है और इसमें वृद्धि के भी लक्षण दिखायी पड़ रहे हैं।

माध्यमिक शिक्षा और विशेष रूप से कॉलेज शिक्षा को कही अधिक तेजी से बढने दिया गया है, लेकिन इसके साथ ही शिक्षा के स्तर का बलिदान दे दिया गया है और उन विद्यार्थियों की सख्या मे वृद्धि हुई है जो परीक्षाओ में अनुत्तीर्ण हो जाते है। प्रायः सर्वत्र स्कूलो को कम 'साधारण' बनाने और माध्यमिक तथा कॉलेज शिक्षा को अधिक व्यावहारिक और विभिन्न पेशों से सम्बन्धित बनाने के प्रयास पूरी तरह सफल नही हुए है।

सामान्यतया जिन लक्ष्यों की घोषणा की जाती है, उनके अनुरूप शिक्षा में सुधार के प्रयास न हो पाना प्राय. सर्वत्र सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरीकरण के ऊपर आधारित है, जिससे एक छोटे से उच्च वर्ग को बड़ी प्रभावशाली स्थिति प्राप्त हो गयी है। हैसियत और डिग्रियों को अनावश्यक महत्त्व दिया जाता है, जिससे एक विशिष्ट लोगों से प्रभावित समाज में विविधतापूर्ण प्रणाली का दर्शन होता है।

लेटिन अमरीका, पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका मे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अन्य अनेक प्रभावित करने वाले कारक बहुत भिन्न है और इस कारण से शिक्षा की स्थिति में पर्याप्त समानताएँ आश्चर्यजनक दिखायी पडती है। सर्वत्र एक यह समानता दिखायी पडती है कि एक छोटे-से उच्च वर्ग का राजनीतिक प्रभुत्व कायम है। सहारा के दक्षिण मे स्थित अफ्रीका के नव-स्वतन्त्र देश अभी भी 'जन्म लेने की प्रक्रिया' मे गुजर रहे है, लेकिन फिर भी इनमे से अनेक देशों में एक विशिष्ट वर्ग के गठन के अपवादजनक लक्षण दिखायी पड रहे हैं।

कम-विकसित देशो में शिक्षा सम्बन्धी जिन सुधारो की आवश्यकता है, उनके लिए स्वयं इन देशो के भीतर ही सघर्ष करना होगा, योजनाएँ बनानी होंगी और इन पर अमल करना होगा।

आबादी सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में, और स्वास्थ्य नीति के बारे में भी, मैंने अध्याय-5 में यह कहा है कि विकसित देश और विशेषकर सयुक्त राज्य

अमरीका सन्तति-निरोध के उपायो में वस्तुत: प्रभावशाली परिवर्तन लाकर कम-विकसित संसार की ठोस सहायता करने की स्थिति में थे। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी किसी सहायता की बहुत कम गुंजाइश है।[79]

स्वास्थ्य, सेक्स और सन्तति-निरोध का सम्बन्ध सीधी-सादी जैविक प्रक्रियाओं से है। इन प्रक्रियाओं के बारे में निश्चित वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध है, जो नये अनुसन्धान के द्वारा निरन्तर दृढ होती जा रही है और इसके आधार पर कही अधिक चिकित्सा टेक्नालॉजी का विकास हो रहा है, जिसे सर्वत्र लागू किया जा सकता है। इसके विपरीत शिक्षा की समस्याओं का सम्बन्ध लोगों के मन-मस्तिष्क से होता है, केवल उनके शरीरों से नहीं।

और उनका मन-मस्तिष्क एक बहुत भिन्न संस्कृति से प्रभावित है और इस संस्कृति को समाप्त नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए। परम्परागत संस्कृति को इस प्रकार प्रभावित करना एक बडी जटिल समस्या है कि इसमें आधुनिकीकरण के लिए स्थान बन जाये। इसके लिए शिक्षा के नये परिष्कृत तरीकों की आवश्यकता होती है और पश्चिमी समाज मे प्रचलित तरीकों को जैसे का तैसा नहीं अपनाया जा सकता।

इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में सन्तति-निरोध के उपायों जैसा कोई विकल्प मौजूद नहीं है, जिसके सम्बन्ध में विकसित देशों के अनुसन्धानकर्ता प्रयोग कर सकें और इसके बाद कम-विकसित देशों को उनके उपयोग के लिए इन प्रयोगों के परिणामों को प्रस्तुत कर सकें। इन देशों में परिस्थितियाँ और इसके परिणाम-स्वरूप लोग इतने भिन्न हैं कि पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के तरीकों के बारे में मुश्किल से ही कोई योगदान कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए कम-विकसित देशों में वयस्क शिक्षा की केवल अधिक आवश्यकता ही नहीं है, बल्कि एक भिन्न प्रकार की वयस्क शिक्षा की जरूरत है। साधारणतया, बच्चों और वयस्क लोगों को पढाने के तरीके भिन्न होंगे और अक्सर नये तरीकों की कल्पना करनी होगी। अन्य क्षेत्रों की तुलना में पश्चिम के शिक्षा विशेषज्ञ शिक्षा के क्षेत्र में इन देशों में पूरी तरह से अनुपयुक्त हैं। यद्यपि इतने भयंकर रूप से नहीं, जैसे जॉन कैनेथ गालब्रेथ के उपन्यास 'दि ट्रायम्फ' में दर्शाया गया है। अब यह उपन्यास लैटिन अमरीका में सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों की कोटि में पहुँच गया है और इसे पढकर लोग खूब हँसते हैं।

इसके महत्त्वपूर्ण अपवाद भी हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब टेक्नालॉजी को वित्तीय सहायता से जोडा जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रव्य और दृश्य उपकरण अध्यापक की कार्य-कुशलता में वृद्धि कर सकते हैं, चाहे उसे कुछ भी क्यों न पढाना हो और उसका पढाने का तरीका चाहे कैसा भी क्यों न हो। पढ़ाई के लिए अन्य अनेक प्रकार के भौतिक उपकरण भी आवश्यक होते हैं, जिनमें पुस्तकें और कागज भी शामिल हैं और यदि मुफ्त अथवा रियायती दरों पर ये वस्तुएँ कम-विकसित देशों को दी जायें तो बहुत सहायता पहुँच सकती है। परन्तु स्वयं इन देशों में इन वस्तुओं को तैयार करने के लिए विशेष सहायता देना विकास के कहीं अधिक अनुरूप होगा।

शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में सुधार करने के लिए भी अधिक सहायता महत्त्वपूर्ण हो सकती है। ऐसे सुधारों के लिए, जैसे अध्यापकों को अधिक वेतन

सामान्यतया विदेशी मुद्रा की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः यह कहा जा सकता है कि उन्हें विदेशी सहायता की विशेष आवश्यकता नही है, बल्कि जैसाकि अन्य अनेक सुधार सम्बन्धी नीतियों के बारे में होता है, ऐसी धनराशि की आवश्यकता है, जो विदेशों से किसी खास कार्य के लिए प्राप्त न हो।

लेकिन इस बात में सन्देह नहीं कि शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के लिए विशेष रूप से दी गयी और केवल इसी कार्य के लिए निर्धारित विदेशी सहायता देने वाले संगठनो अथवा देशो के लिए यह सम्भव बना सकती है कि वे कम-विकसित देशों पर यह दबाव डालें कि वे शिक्षा के क्षेत्र में अधिक साहस से आगे बढ़ें, बशर्ते सहायता देने वाले देश इतने अधिक प्रबुद्ध हों कि वे केवल उसी दिशा में प्रभाव डालेंगे, जो सही है।

विकसित देशों ने कम-विकसित देशों के विद्यार्थियों को अपने विश्वविद्यालयों में अध्ययन की सुविधा देकर महान् उदारता दिखायी है। इस प्रकार की विदेशी सहायता के पीछे निःसन्देह कम भाग्यशाली युवक-युवतियो को सहायता पहुँचाने की सद्भावना का शानदार उद्देश्य रहता है। अक्सर यह भी आशा की जाती है कि इस तरीके से उन्हे उन राजनीतिक विचारो का समर्थक बनाया जा सकता है, जो सहायता देने वाले देशों में मान्य हैं। लेकिन, यह एक ऐसी आशा है जो सदा पूरी नही होती। फिर महान् उदार परम्परा के अनुरूप कोई भी अनुभवी प्रोफेसर संसार के किसी भी भाग के विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालयों के दरवाजे बन्द कर देने की बात नही कहेगा।

लेकिन, प्रश्न यह उठता है कि इस कार्य के लिए पर्याप्त सहायता देना क्या सचमुच व्यावहारिक और लाभकारी है। अनेक क्षेत्रों मे···विशेषकर सामाजिक विज्ञानों में और उदाहरण के तौर पर कृषि के क्षेत्र में भी···कम-विकसित देशों के विद्यार्थियों को ऐसा प्रशिक्षण देना जो उनके देशों की आवश्यकताओ के अनुरूप न हो, निरर्थक है। अक्सर इसका अभिप्राय कुशिक्षा ही होता है। यदि ये विद्यार्थी, जैसाकि अक्सर होता भी है, उच्च वर्ग के हैं और इनके 'अच्छे सम्बन्ध' हैं, तो इन्हें अपने देश में ऐसे पद मिल सकते हैं, जिनके लिए इन्हें सर्वोत्तम प्रशिक्षण प्राप्त नही हुआ। अथवा ये विद्यार्थी स्वदेश नही लौटना चाहेगे और विदेशों मे ही कार्य करना पसन्द करेंगे। इसके परिणामस्वरूप उनके देश उनकी सेवाओं से वंचित हो जायेंगे। इसके अलावा विदेशी विशेषज्ञों द्वारा तकनीकी सहायता, सर्वोत्तम मामले में, शिक्षा के लिए सहायता कही जा सकती है।

पर इस सम्बन्ध में इस मुद्दे पर जोर दिया जाना चाहिए कि शिक्षा के क्षेत्र मे विदेशी सहायता का केवल बहुत मामूली महत्त्व ही हो सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कम-विकसित देश स्वयं क्या निर्णय लेते हैं और शिक्षा सम्बन्धी सुधारों के इन निर्णयों को किस सीमा तक लागू करने में सफल होते हैं। आवश्यकता इस बात की नही है कि वे आज अपने देशवासियों को जो शिक्षा दे रहे हैं केवल उसे और अधिक बढा दें, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि अपनी शिक्षा-प्रणाली के स्वरूप, दिशा और विषयवस्तु में बुनियादी परिवर्तन करें।

अध्याय : 7

# नरम राज्य

## 1. एक व्यापक तथ्य

विभिन्न सीमाओं तक सब कम-विकसित देश 'नरम राज्य' हैं। यह बात उन अन्य अनेक परिस्थितियों के साथ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के रूप में मौजूद रहती है, जो एक साथ मिलकर किसी देश को कम-विकसित बनाती हैं। यह स्पष्ट है कि और अधिक सामाजिक अनुशासन के बिना विकास के मार्ग में बहुत बड़ी कठि-ाइयाँ आयेंगी और कम-से-कम हर स्थिति में विकास में विलम्ब तो अवश्य ही ोगा।[1]

'नरम राज्य' का अभिप्राय विभिन्न प्रकार की उस सामाजिक अनुशासन-हीनता से है, जो इन रूपों में प्रकट होती है: कानून की खामियाँ और विशेषकर कानून के पालन और उसे लागू करने की खामी; विभिन्न स्तरों पर सरकारी अफसरों द्वारा उन नियमों और निर्देशों की व्यापक अवहेलना जो उन्हें दिये जाते हैं, और अक्सर उनकी ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों से साँठ-गाँठ, जिनके आचरण को नियमित बनाने की जिम्मेदारी इन अफसरों पर होती है। 'नरम राज्य' की संकल्पना के अन्तर्गत भ्रष्टाचार भी आता है, जिस पर इस अध्याय के दूसरे अनुभाग में विचार किया जायेगा। आचरण के ये विभिन्न स्वरूप इस दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं कि ये एक-दूसरे को समग्र प्रभाव उत्पन्न करने वाले चक्रीय कार्य-कारण की अनुमति ही नहीं देते, बल्कि उसके लिए एक-दूसरे को प्रेरित तक करते हैं।[2]

किसी भी ऐसे राष्ट्रीय समुदाय में, जिसे नरम राज्य कहा जा सके, ढील और मनमाना आचरण उन लोगों के लिए शोषण का साधन बनता है जिनके हाथों में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सत्ता है। यद्यपि नरम राज्यों में बड़े पैमाने पर शोषण की जो सम्भावनाएँ मौजूद रहती हैं, उनका लाभ केवल उच्च वर्ग ही उठा पाता है, लेकिन समाज में बहुत नीचे दर्जे के लोगों को भी छोटे-मोटे लाभ उठाने का मौका मिल जाता है। पर इन व्यक्तिगत स्वार्थों के अलावा एक नरम राज्य में प्रत्येक स्तर पर लोगों के भीतर सार्वजनिक नियन्त्रण और उसे लागू करने के प्रति व्यापक प्रतिरोध का भाव रहता है। इस अत्यधिक जटिल स्थिति पर सामान्य विचार का केन्द्रबिन्दु भी दक्षिण एशिया के देश ही रहेंगे, जिनकी परिस्थितियों का मैंने अधिक गहराई से अध्ययन किया है। नरम राज्य कम विकास की समस्त समस्याओं का एक पहलू है और इस अध्याय में एशियन ड्रामा के पर्याप्त सन्दर्भ देना विशेष रूप से कठिन होगा। कम-विकसित संसार के दूसरे भागों के बारे में केवल कुछ संक्षिप्त टिप्पणियाँ ही की जायेंगी।

किसी कम-विकसित देश की इस विशेषता का अर्थात् उसके नरम राज्य होने का प्रकट रूप से प्रायः इस बात से कोई सम्बन्ध नही होता कि वहाँ किस प्रकार की सरकार है। थाईलैंड अथवा इंदोनेशिया जैसे निरंकुश शासन के अधीन देश, 1966 की वसंत ऋतु से पहले की और इसके बाद की हिंसापूर्ण घटनाओ के बावजूद, उसी प्रकार नरम हो सकते हैं, जिस प्रकार हमारी परिभाषा के अनुसार भारत अथवा श्रीलंका, जहाँ संसदीय सरकारें हैं और नियमित चुनाव कराये जाते हैं। ये राज्य और भी नरम हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, यह सच है कि सन् 1958 मे पाकिस्तान में सेना ने जब सत्ता हथियाई तो सार्वजनिक मामलों में व्यापक अनैतिकता आ चुकी थी और लोगों का हौसला टूट चुका था। यह कार्य इससे पहले के 'लोकतन्त्री' शासन के दौरान हुआ था और सेना द्वारा सत्ता हथियाने को व्यवस्था और आत्मविश्वास कायम रखने के लिए आवश्यक बताया गया।[3] इसके अलावा साधारणतया सैनिक शासन इस दिशा में तुरन्त कुछ कामयाबी दिखा सकता है, जिस प्रकार पाकिस्तान में अयूब खान की सरकार ने और बर्मा में 1958 में पहली सैनिक सरकार ने प्रदर्शित किया।[4]

लेकिन, जैसाकि इन देशों में प्रकट हुआ, यह कामयाबी स्थायी नही होती अथवा नही हो सकती। यह बात इस तथ्य से असम्बन्धित नही है, और जिस पर मैंने अध्याय-3 मे विचार किया है, कि सरकार में परिवर्तन अथवा सरकार के प्रकार में परिवर्तन, जन-सामान्य के सिर के ऊपर होता है, उससे कोई सलाह नही ली जाती और मुख्यतया इसका यह अर्थ होता है कि जिस उच्च वर्ग का सत्ता पर अधिकार है, उसके एक समूह के स्थान पर दूसरे समूह ने सत्ता पर कब्जा कर लिया है।[5]

आगे बढ़ने से पहले मैं आरम्भिक अध्यायों से भी कही अधिक इस बात को महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि इस तथ्य का जोर देकर उल्लेख करूँ कि नरम राज्य के विश्लेषण के निम्न प्रयास को नैतिकतावादी उपदेश के रूप मे नहीं लिया जाना चाहिए। अन्य बातो की तरह सामाजिक अनुशासन के बारे में भी कम-विकसित देश अपनी वर्तमान हालत में इस कारण से नही है कि इन देशो के लोगों के चरित्र में कुछ विशेष बुराइयाँ पैठी हुई हैं, बल्कि यह एक लम्बे इतिहास का परिणाम है, जो पश्चिम के विकसित अथवा कम्युनिस्ट देशो से बहुत भिन्न है, जिसकी अवधि में एक विशेष प्रकार का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सत्ता का ढाँचा विकसित हुआ।[6]

मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के दृष्टिकोण से कार्य-कारण का जो पारस्परिक सम्बन्ध है अथवा इनकी जो प्रक्रिया प्रकट होती है, सामाजिक अनुसन्धान का कार्य उसे पूरी तरह प्रकट करना है न कि आरोप लगाना अथवा क्षमा कर देना। प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि अनुसन्धान किसी भी प्रकार का समझौता किये बिना यथार्थवादी हो, राजनयिक दृष्टिकोण अथवा आवश्यकताओं से प्रेरित नहीं। जब विकास सम्बन्धी लेखन मे इस विषय को भद्दा और उलझन-भरा मानकर सामान्यतया छोड़ दिया जाता है, तो इससे दूसरे महायुद्ध के बाद के आर्थिक अनुसन्धान में निहित पूर्वाग्रहों का एक और बड़ा उदाहरण प्रकट होता है, जिस पर अध्याय-1 में विचार किया गया है और इन पूर्वाग्रहों के

कारण इस आर्थिक अनुसन्धान के परिणाम अत्यधिक दोषपूर्ण और सतही सिद्ध हुए हैं।

उपनिवेशी युग से पहले दक्षिण एशिया के ग्रामीण इलाकों में नि.सन्देह एक प्रकार की 'एकता' थी, जैसी यूरोप मे मध्य युग से पहले और मध्य युग के दौरान थी। पर्याप्त सीमा तक 'स्वशासन' था और यह स्वशासन अपने किस्म का था। आधुनिक युग में प्रशासन का जो अर्थ समझा जाता है वैसा नहीं था। पर सत्ता का आधार और वितरण और एक अधिक केन्द्रीय सत्ता से इसके सम्बन्ध चाहे कैसे भी क्यों न रहे हों, इस प्रणाली ने एक गतिहीन और अधिकाशतया आत्मनिर्भर समुदाय में सामाजिक और आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने का काम किया।[7]

इसका सार अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वों में निहित था। सबसे पहले इसे खेती करने के अधिकार को नियमित बनाना पड़ता था और इसके साथ ही सड़कों, नहरों, तालाबों और ऐसी अन्य सुविधाओं को अच्छी स्थिति में रखना था, जिनका मिलजुलकर उपयोग किया जाता है। ऐसे देशों में—जैसे बर्मा और श्याम—जहाँ अधिक समानतावादी ढाँचा मौजूद था, श्रम में एक-दूसरे की सहायता करने के परम्परागत नियम थे। यह एक प्रकार की 'सहकारिता' थी, लेकिन यह सहकारिता आधुनिक युग की इस सहकारिता से भिन्न थी, जिसका आज दक्षिण एशिया में विकास के लिए उपयोग करने का प्रयास किया जा रहा है। यह उत्तरदायित्व अधिकांशतया व्यक्तियों, परिवारों अथवा समूहों के बीच थे, जिनकी सामाजिक हैसियत भिन्न होती थी। ये उत्तरदायित्व पूरे समाज के सामूहिक हितों को ध्यान में रखते हुए नहीं निभाये जाते थे।

इन परम्परागत विचारों और दायित्वों के संरक्षण तथा इनके उल्लंघन के लिए दण्ड देने और सुधार करने के लिए व्यवस्था थी। यूरोप की तरह दक्षिण एशिया में उत्तरदायित्व आबादी के गरीब वर्ग पर सर्वाधिक भारी रूप से डाले जाते थे। यद्यपि विभिन्न देशों और विभिन्न युगों मे सदा बड़ा अन्तर रहा। पर ऐसा लगता है कि उत्तरदायित्वों के निर्वाह मे पर्याप्त ढील बरती जाती थी, विशेषकर उन देशों में जहाँ आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ सबसे अधिक हैं—जैसे *उस उपमहाद्वीप में जो आज भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजित हो गया है।* निचले वर्ग के लोगों के प्रति क्रूरता के साथ-साथ इन वर्गों के लोगों द्वारा मामूली ढंग से बाधाएँ डालने और अनुशासनहीनता की स्थिति मौजूद थी तथा दूसरी ओर विशेषाधिकार प्राप्त समूह इन लोगो की नीचे दर्जे की कार्य-क्षमता, कार्यकुशलता और समय की पाबन्दी के प्रति कृपा भाव दर्शाते थे।

यूरोप और दक्षिण एशिया का वर्तमान अन्तर धीरे-धीरे अस्तित्व मे आया। पश्चिम यूरोप में, ह्रास के युगों के बावजूद, विरासत में प्राप्त अधिकारों और उत्तरदायित्वों की प्रणालियों को पूर्ण बनाने और व्यक्ति, पारिवारिक अथवा समूह के सम्बन्धों पर आधारित उत्तरदायित्वों को पूरे समुदाय के उत्तरदायित्वो में बदलने का लम्बी अवधि का प्रयास किया गया। यह सामाजिक और सांस्कृतिक

क्रम-विकास का एक पहलू था, जो व्यापार-व्यवस्था और उदारतावाद, उद्योगीकरण और शहरीकरण के माध्यम से प्रकट हुआ और जिसे, समष्टिभाव समाजशास्त्रियों ने 'हैसियत' से 'ठेके', 'यन्त्रवत' से 'संगठित' एकता, 'जेमीनशाफ्ट' से 'जेसेलशाफ्ट' मे परिवर्तन बताया है।

अमरीका में आरम्भ से ही, सीमा की बस्तियों तक मे, इस आधुनिक सामुदायिक व्यवस्था की स्थापना हुई। राजनीतिक लोकतन्त्र पर आधारित हितकारी राज्य की ओर पश्चिम के देशों का हाल में आगे बढने का यह अभिप्राय है कि अधिकारो और उत्तरदायित्वों की आरम्भिक प्रणालियों की अधिक सटीक परिभाषा देने की दिशा में आमूल और दूरगामी कार्रवाई हुई है, ढील और मनमाने आचरण में अत्यधिक कमी आयी है तथा भार का अधिक समानतावादी वितरण हुआ है। आज कोई भी व्यक्ति चाहे उसकी सामाजिक हैसियत कुछ भी क्यों न हो, समाज के इन मजबूत नियन्त्रणों की प्रणाली से बच नही सकता।

दक्षिण एशिया में आदिम और गतिहीन ग्राम संगठन से इस प्रकार क्रम-विकास नहीं हुआ। इसके विपरीत उपनिवेशवाद ने साधारणतया प्राचीन ग्राम संगठन का ह्रास कर दिया, लेकिन इसके स्थान पर किसी भी उचित संगठन की व्यवस्था नही की। अप्रत्यक्ष शासन ने साधारणतया प्रत्यक्ष शासन की तुलना में परम्परागत व्यवस्थाओं को अधिक सुरक्षित रखा। उपनिवेशी नीति के दो प्रकारों के भिन्न प्रभावों के अतिवादी उदाहरणों के रूप में क्रमशः इंदोनेशिया और बर्मा का उल्लेख किया जा सकता है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि पश्चिम के नमूने पर भूस्वामित्व लागू करने का दबाव, कुछ आर्थिक सम्बन्धों का आंशिक रूप से मुद्रीकरण, इन दो परिवर्तनों के परिणामस्वरूप रुपया कर्ज देने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना, आन्तरिक प्रवास, कुछ देशों मे 'पूर्व के देशो के लोगो' का आगमन, और उपनिवेशी शासन का थोपा जाना, जिसका लक्ष्य मुख्यतया कर वसूलना और शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना था, इन देशो मे अधिकारों और उत्तरदायित्वों, कानूनो और कानून प्रक्रियाओं को कमजोर बना डालने का आधार बना और कुछ क्षेत्रो में तो ये व्यवस्थाएं पूरी तरह समाप्त हो गयी। पश्चिम के नमूने पर स्थानीय स्वशासन की स्थापना के अनेक प्रयास, जो उपनिवेशी युग के बाद के दशको मे विशेष रूप से किये गये, प्रायः सर्वत्र असफल रहे।

उपनिवेशी युग से पहले की निरंकुश परम्परा—जो सामाजिक स्तरीकरण में असमानता की सीमा के अनुसार सशक्त अथवा कमजोर होती थी लेकिन जो सदा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी—उपनिवेशी शासन से और मजबूत हुई तथा इसने अवांछित हस्तक्षेप का रूप धारण कर लिया। ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत लोग हुक्म मानने के आदी हो गये, लेकिन इसके साथ ही वे अपने फायदे के लिए जो कुछ कर सकते थे वह करने से भी नहीं चूके। जनता के जीवन और कार्य मे उपनिवेशी सरकार का हस्तक्षप अबन्ध-नीति सम्बन्धी इस धारणा से प्रभावित था कि उपनिवेशी सरकारो को सामाजिक और धार्मिक मामलों में अधिक हस्तक्षेप नही करना चाहिए—लोकप्रिय स्तर पर धर्म, सामाजिक सम्बन्धों मे यथास्थिति बनाये रखने की प्रमुख शक्ति था।

इस सीमा के भीतर और उपलब्ध कर्मचारियों और धन की सीमाओं के भीतर उपनिवेशी अफसरों की यह स्वाभाविक भूमिका थी कि वे अपने-अपने तरीकों से हस्तक्षेप करें और लोगों के हित के प्रति आवश्यकता से अधिक हस्त-क्षेप का रवैया अपनायें। इन अफसरों के हाथ में प्रशासनिक नियन्त्रण थे, जिनमें स्वयं अपने विवेक से कार्य करने की बहुत अधिक छूट दी गयी थी। ये अफसर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की सहायता से काम करते थे, जिसका निचले स्तरों पर निरन्तर विस्तार होता जाता था। इन कर्मचारियों में सम्बन्धित देशों के लोग भी शामिल थे और यह कार्य उपनिवेशी सरकार के विश्वासप्राप्त सामन्ती तत्त्वों की सहायता से भी किया जाता था। इन्दोनेशिया को छोड़कर भ्रष्टाचार व्यापक रूप से फैला हुआ था, विशेषकर निचले स्तरो पर। इससे भी इस शासन प्रणाली में मनमाने आचरण को सहायता मिली।

उपनिवेशी शासन के अन्तिम दशकों में, विदेशी शासन से मुक्ति के आन्दोलन, जैसे अंग्रेजों के शासन के अधीन भारत में (जिसमें वर्तमान पाकिस्तान भी शामिल है), इन्दोनेशिया और इससे भी अधिक लम्बी अवधि तक फ्रांसीसी हिन्द-चीन में, विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाये रहे। सत्ता की अवज्ञा उनका स्वाभाविक हथियार था।

भारत में मोहनदास गांधी ने असहयोग के राजनीतिक हथियार के दर्शन और सिद्धान्त का विकास किया। दक्षिण एशिया के ऐसे देशों में जहाँ कोई गाधी नही था अथवा स्वतन्त्रता आन्दोलन भी नाममात्र को ही चल रहा था, इसके बावजूद अवज्ञा और असहयोग शक्तिशाली-उपनिवेशी ढाँचे के विरुद्ध विरोध प्रकट करने का और अपनी रक्षा का स्वाभाविक तरीका था। ये बातें व्यापक जनसमुदाय मे अधिक प्रभावशाली ढंग से इसलिए फैल सकती थी क्योंकि ये बातें परम्परागत निरकुशतावाद में निहित सामान्य उदासीनता और उपेक्षा के अनुरूप थी। इसके परिणामस्वरूप अधिक अराजकतावादी दृष्टिकोणों की एक विरासत कायम हो गयी, जो आज स्वयं स्वदेशी सरकारो के आड़े आ रही है।[8]

पर ये सरकारें विकास करना चाहती हैं और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए योजनाएं बनाती है। चाहे ये सरकारें अपनी सत्ता स्वतन्त्र चुनावो के माध्यम से प्राप्त करती हों, जैसाकि भारत और श्रीलंका में होता है अथवा ये किसी भी प्रकार की तानाशाही सरकारें हों, जैसाकि पाकिस्तान और बर्मा में है, ये सरकारें विकास का प्रयास करती हैं और अपने इस प्रयास को 'लोकतन्त्री आयोजन', 'विकेन्द्रीकरण', अथवा 'बुनियादी लोकतन्त्र' जैसे नामों से पुकारती हैं।[9] इस बात के अच्छे और स्पष्ट कारण मौजूद हैं कि ये सरकारें जनसामान्य का सहयोग और समर्थन क्यो चाहती है, क्योंकि यह जनसमुदाय निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा, जिसका उसे अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त है, विकास के प्रयासों को निष्फल बना सकता है। मैंने जिस विरासत के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है उसके कारण (और भ्रष्टाचार से ग्रस्त अपने कमजोर प्रशासनों के कारण), यह बात समझी जा सकती है कि ये सरकारें सामुदायिक उत्तरदायित्वों की किसी प्रणाली का निर्माण करने और उसे मज़बूत बनाने के प्रयासों से बचती हैं, यद्यपि अब आधुनिकीकरण के दृष्टिकोण से ये उत्तरदायित्व इन सब देशों के लिए स्पष्ट रूप से आवश्यक दिखायी पड़ते हैं।

भारत जैसे देश तक में, जहाँ हाल तक आयोजन को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा और जहाँ एक के बाद एक योजना में अत्यधिक विविध विषयों पर ध्यान दिया गया, यह देखने के लिए कि क्या कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ की गयी हैं, जिनके द्वारा गाँव वालों पर उत्तरदायित्व डाला गया हो, बड़ी गहरायी से योजनाओं का अध्ययन करना होगा। पहली दोनों योजनाओं मे इस वांछनीयता का उल्लेख किया गया है कि राज्य, जिनके ऊपर कृषि नीतियाँ निर्धारित करने का उत्तरदायित्व है, भू-प्रबन्ध सम्बन्धी ऐसे कानून बनाये, जिससे भूमि को क्षति से बचाया जा सके। लेकिन यह सिफारिश, जिसे बिना किसी विश्वास और संकल्प के पेश किया गया था, लागू नही की गयी। केवल कुछ राज्यों में अस्थायी तौर पर इस बारे में कानून बनाये गये और वहाँ भी इन कानूनों को लागू नहीं किया गया।

समग्र दृष्टि से सार्वजनिक विचार विनिमय में अधिक अनुशासन की आवश्यकता पर विचार करने से विधिवत् बचा जाता है—भारत में आज वस्तुतः यह बात गांधी के युग से कही अधिक हो रही है। इसके स्थान पर अनेक प्रकार के प्रलोभनों का सहारा लिया जाता है · उपदेश, शिक्षा, प्रशिक्षण और उपदान। श्रम, पूंजी और उत्पादन की दृष्टि से बाजारों के अभाव अथवा इनके अत्यधिक अपूर्ण होने के कारण सामान्य और मनमाने हस्तक्षेप से मुक्त दाम प्रक्रिया के माध्यम से सरकारी उपदान शायद ही कभी दिये जा सकते हैं।[10]

अन्य व्यक्तिगत प्रलोभनो सहित सरकारी उपदान का वितरण उन नियन्त्रणों के माध्यम से किया जाता है, जिन्हे मैं अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर नियन्त्रण कहता हूँ और यह वितरण सामुदायिक विकास, सहकारिता और स्थानीय स्वायत्त शासन के नये संगठनों के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार भारत में लाखों प्रकार के उपदान वितरित किये जाते है। ये नीतियाँ कमजोर प्रशासन पर आवश्यकता से अधिक भार डाल रही है और भ्रष्टाचार के विशाल और नये-नये रास्ते खोल रही हैं।

इनका उद्देश्य गरीब वर्गों को सहायता देना रहा है, लेकिन असमान सामाजिक वर्गीकरण और सत्ता के स्वरूप के कारण इन देशो में इसका लाभ अपेक्षाकृत समृद्ध लोगों को मिला है,[11] जैसाकि अध्याय-4 मे स्पष्ट किया गया है। आंशिक रूप से इस कारण से ग्रामोत्थान के कार्यक्रम में शिक्षा के जो प्रलोभन शामिल किये गये हैं, उनका निराशाजनक परिणाम निकला है।[12] इस प्रभावहीनता का एक सामान्य कारण यह भी रहा है कि इनके पूरक के रूप में सामुदायिक उत्तरदायित्वों की प्रणाली का निर्माण करने का प्रयास नही किया गया। सिद्धान्त की दृष्टि से दक्षिण एशिया के अन्य देशों में नीतियाँ भिन्न नही रही हैं।

जन-समुदाय को केवल प्रलोभन देने और उसके ऊपर कड़ाई न बरतने की यह नीति अपनाने की बात को उपनिवेशी युग की विरासत और उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समझाया जा सकता है, जिनमे इन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। सम्भवतः यह भी समझा जा सकता है कि इन देशो ने उस बात को एक अच्छाई बना दिया, जिसे कुछ सीमा तक एक आवश्यकता समझा गया था। इन सरकारों के नीति सम्बन्धी पूर्वाग्रह को बड़े गर्व से यह कहकर समझाया जाता है कि नई

उच्च वर्ग से मिलता है। लेकिन सामान्य जन-समुदाय के कुछ हिस्सों से भी यह समर्थन प्राप्त होता है।

दक्षिण एशिया में अपने देशवासियों को राज्य द्वारा निर्धारित खास और कठोर उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत रखने, इन देशों की बाध्य करने वाले नियमों के प्रति घोषित घृणा, और प्रलोभन के ऊपर इनकी निर्भरता के विपरीत यह विचित्र तथ्य मौजूद है कि दक्षिण एशिया के सब देशों में विभिन्न सीमाओं तक सामान्य ढंग के ऐसे व्यापक कानून तैयार करने और उन्हें स्वीकार करने की महत्वाकाक्षा रही है, जिनका उद्देश्य अपने समाजों को आधुनिक बनाना और विशेषकर निरंकुश शासन, अनावश्यक हस्तक्षेप, अपने स्वार्थों को विशेष महत्त्व देने और अराजकतावाद की विरासत का प्रतिरोध करना है, जिसका मैंने ऊपर संकेत किया है।

इन समस्त देशों ने ऐसे संविधान बनाये हैं अथवा बनाने को तैयार हैं, जिनमें व्यापक वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गयी है और नागरिक स्वतन्त्रताओ की गारण्टी दी गयी है। दक्षिण एशिया के अनेक देशों मे आधुनिक परिवार सम्बन्धी प्रायः पूर्ण कानून तैयार किया गया और बनाया गया। अधिकाश मामलों में इस कानून का उद्देश्य स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा देना था। भारत में संविधान की व्यवस्था के द्वारा जाति को समाप्त कर दिया गया और एक विशेष कानून के द्वारा जाति के आधार पर भेदभाव करने की प्रथाओ को समाप्त कर दिया गया। समस्त देशों ने स्वयं को भूमि-सुधार के पक्ष में घोषित किया और धीरे-धीरे इस भूमि-सुधार को लागू करने के कानून भी बनाये गये।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सुधार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जो उक्त कानून बनाये गये, उनका उद्देश्य विशेषाधिकारो से वंचित जन-समुदाय के हितों की रक्षा करना था। लेकिन इनके परिणामस्वरूप उससे कही कम सामाजिक परिवर्तन हुआ, जितना परिवर्तन लाने का उनमे लक्ष्य रखा गया था अथवा जिन परिवर्तनों के पूरा हो जाने का स्वांग रचा गया।

जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, उच्च वर्ग के लोगों ने ही आधुनिकीकरण के आदर्शों और विशेषकर समानतावादी आदर्श का प्रसार किया। स्वाधीनता के आरम्भिक दौर मे सत्तारूढ़ राजनीतिक दृष्टि से विशिष्ट लोगों ने ये नये कानूनी अधिकार लोगों को दिये। लेकिन ये लोग इन अधिकारों को वास्तविकता के आधार पर स्थापित करने के लिए इतने उत्सुक नही थे। इस काम से बच निकलना आसान भी था, क्योंकि नीचे से कोई दबाव नही था।

पश्चिम यूरोप के अधिकांश देशों में व्यापक वयस्क मताधिकार, इस अधिकार से वंचित लोगो के कई दशकों के संगठित संघर्षों के बाद प्राप्त हुआ। अधिकाशतया पहले महायुद्ध के बाद तक पूरी तरह इन्हे अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। नागरिक कानून सम्बन्धी मामलो में इसी प्रकार, स्त्रियों को अधिक समानता इससे भी कही अधिक लम्बी अवधि तक संघर्ष के बाद प्राप्त हुई।

इसका यह अभिप्राय था कि अन्ततः जब ये अधिकार प्राप्त हुए तो संगठित नागरिकों के ऐसे समूह मौजूद थे जो इन अधिकारों का पूर्ण उपभोग करने के लिए तैयार और उत्सुक थे।

दक्षिण एशिया के देशों में यह नहीं हुआ। इनमें से अनेक देशों मे लोकतन्त्र के स्थान पर कहीं अधिक निरंकुश शासन की स्थापना हुई। इस निरंकुश शासन के अनेक रूप थे। इन देशों में विशिष्ट वर्ग के लोगों ने व्यापक वयस्क मताधिकार की बात उठायी, लेकिन सामान्य जन-समुदाय ने यह अधिकार नही माँगा अथवा उन्होने इस अधिकार के बारे में सोचा तक नही।

साधारणतया यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि चाहे राजनीतिक शासनों मे कैसे भी परिवर्तन क्यों न हुए हों, ये सब परिवर्तन समाज के सर्वोच्च वर्ग के लोगों के बीच आपसी झगड़े के परिणामस्वरूप हुए, जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है। कही भी गरीब जन-समुदाय द्वारा अपने उत्पीडन के विरुद्ध विद्रोह के परिणामस्वरूप ये परिवर्तन नही आये। केवल विएतनाम मे ही 25 वर्ष के सशस्त्र विद्रोह के बाद ये परिवर्तन आये। विएतनामियों ने पहले फ्रांसीसियों के खिलाफ और इसके बाद अमरीकियों के विरुद्ध यह संघर्ष किया और ये दोनो देश इस संघर्ष में विएतनाम के उच्च वर्ग के विशेषाधिकार प्राप्त समूहों के समर्थन पर निर्भर रहे। भारत में, जहाँ व्यापक वयस्क मताधिकार पर आधारित संसदीय प्रणाली अभी भी सुरक्षित है, मतदाताओं के विशाल भाग को अपने हितों की रक्षा में आवाज उठाने के लिए संगठित नही किया जा सका है। भारत मे जिस रूप में संसदीय लोकतन्त्र चलता आ रहा है, वह सामाजिक और आर्थिक यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में एक शक्ति सिद्ध हुआ है।

इसी प्रकार जाति पर आधारित भेदभाव की समाप्ति के लिए जो कानून बनाया गया, वह अस्पृश्य लोगों द्वारा संचालित किसी संगठित आन्दोलन के आधार पर नही हुआ। इनमे से अधिकाश आज भी यह मानते चले आ रहे हैं कि उनकी वर्तमान नीची और बुरी स्थिति का विधान ईश्वर और उनके कर्मों ने किया है। निराशापूर्ण और निरुद्दश्य असन्तोष एक प्रभावशाली सामाजिक और आर्थिक शक्ति का स्थान नहीं ले सकता। अब, क्योंकि जनगणना मे जाति के बारे में पूछताछ नही की जाती, अतः इस कानून का एक प्रमुख परिणाम यह हुआ है कि भारतीय बुद्धिवादी, विशेषकर विदेशों में, इस बात का दावा कर सकते हैं कि जाति समाप्त हो गयी है। लेकिन, वास्तविकता यह है कि जाति प्रथा पहले से भी कहीं अधिक प्रभावशाली हो गयी है, विशेषकर गाँवों मे।[15] चुनावों में मतदान और अन्य अनेक परिवर्तनों ने जाति को अपना प्रभाव दिखाने का एक नया क्षेत्र उपलब्ध कराया है।

इसी प्रकार स्त्रियों के लिए समान अधिकार के कानून के परिणामस्वरूप गाँवों अथवा शहरों में जन-समुदाय के बीच प्रायः कोई परिवर्तन नही हुआ। नीचे वर्गों की कुछ स्त्रियों को ही शायद यह आभास हो कि ये अधिकार मौजूद हैं अथवा ये अधिकार क्या है।

एक दृष्टि से भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी कानूनों की भी यही स्थिति है। शायद ही किसी क्षेत्र के बारे में यह कहा जा सकता हो कि भूमिहीन लोगों के प्रभावशाली आन्दोलन के फलस्वरूप ये कानून बनाये गये।[16] इन कानूनों

के बारे में बौद्धिक और राजनीतिक विशिष्ट वर्ग के अधिक आमूल और दूरगामी परिवर्तन चाहने वाले लोगों ने प्रचार किया। एक आरम्भिक युग में इस विचार को इतना अधिक सम्मान प्राप्त हुआ और इसे इतना अधिक विवेकसम्मत और न्यायोचित माना गया कि भविष्य में इसे कार्यरूप देने के लिए इसकी आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया। उदाहरण के लिए, भारत में यह सिद्धान्त कि जमीन पर जोतने वाले का स्वामित्व होना चाहिए, आजादी से बहुत पहले कांग्रेस के कार्यक्रम मे शामिल था और कभी इस सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया।

पर यह अन्तर मौजूद है कि यदि इन सुधारों को वस्तुतः लागू किया जाता तो ये बहुत आमूल और दूरगामी तरीके से सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण मे प्रभावशाली परिवर्तन लाते। इन्हें, जाति पर आधारित भेदभाव की समाप्ति अथवा स्त्रियो के समान अधिकारों सम्बन्धी कानूनों की तरह, केवल सजावट के लिए बिना किसी अधिक व्यावहारिक महत्त्व और उपयोग के नहीं रखा जा सकता था।

इससे इन प्रस्तावों की भिन्न स्थिति और नियति स्पष्ट हो जाती है।[17] भूमि-सुधार सम्बन्धी कानून बनाने में विलम्ब किया गया, उदाहरण के लिए, इन्दोनेशिया मे, अथवा भूमि की अधिकतम सीमा बहुत ऊँची रखकर उसे बहुत सीमित उपयोग का बना दिया गया, जैसे पश्चिम पाकिस्तान में हुआ। अथवा, जैसाकि सर्वत्र हुआ, विविध प्रकार की ऐसी व्यवस्थाएँ भी इस कानून मे की गयी, जिनका सहारा लेकर इस कानून के बाध्यकारी प्रभावों से बचा जा सकता था। अथवा, इस कानून को बस लागू ही नहीं किया गया, और यह कार्य भी प्रायः सर्वत्र हुआ। अधिकारियों और जमीदारो के बीच साँठगाँठ के कारण साधारणतया इस कानून को लागू नही किया गया। जैसाकि अध्याय-4 में कहा गया है, अधिकाश कम-विकसित देशो में भूस्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार केवल नाटक भर रहे। केवल तभी अन्तर हुआ जब इन कानूनो को किसी प्रकार की क्रान्तिकारी स्थिति में बनाया गया। कुछ सीमा तक यह पूर्व-पाकिस्तान मे हुआ, जहाँ जमीदारों में बडी संख्या हिन्दुओं की थी और विभाजन के बाद जिन्हें वहाँ से खदेड़ दिया गया था।

आय और सम्पत्ति पर कर सम्बन्धी जो कानून बनाये गये हैं, उन पर भी भूस्वामित्व और काश्तकारी मे सुधार सम्बन्धी कानूनों जैसी बातें लागू होती हैं: यदि इन कानूनों को कड़ाई से बनाया जाता और प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाता, तो इनका सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण पर निश्चित प्रभाव पडता। लेकिन, केवल इसी कारण से बहुत बड़े पैमाने पर निहित स्वार्थों ने [illegible] बना दिया।[18]

[illegible] अक्सर इन कानूनों में ऐसी व्यवस्थाएँ [illegible] च निकलते हैं, जिन पर इनका विपरीत प्रभाव पडता है अथवा इन कानूनों में ऐसे अपवाद जोड़ दिये जाते है जो इनकी प्रभावशालिता को समाप्त कर देते हैं। अक्सर जानबूझकर इन कानूनो को ऐसी अस्पष्ट शब्दावली में प्रकट किया जाता है कि करो से बच निकलने में आसानी हो जाती है। इसके बाद कर से बच निकलने और निर्धारित कर न चुकाने की बारी आती है। करों से बच निकलने के इन तरीको को आश्चर्यजनक रूप

से उदार दण्ड के कारण प्रोत्साहन मिलता है। और कर की राशि का निर्धारण करने और कर वसूल करने के लिए जो प्रशासनिक व्यवस्था है, वह पर्याप्त नही है और आवश्यकता के अनुरूप इसमे कार्यकुशलता भी नही है। अधिकारियों के कम वेतन रिश्वत की सम्भावना को बढा देते है।

वस्तुत: विकसित देशों में भी कर से बचने और पूरा कर न देने के उदाहरण मौजूद हैं। लेकिन दक्षिण एशिया में और सामान्यतया सब कम-विकसित देशों में यह तरीका बहुत अधिक व्यापक हो गया है। चाहे हिसाब-किताब रखने की राष्ट्रीय व्यवस्था कितनी भी कमजोर क्यों न हों, आंकड़ों के माध्यम से इस बात को दर्शाया जा सकता है; वैसे इस सम्बन्ध मे अनिश्चितता के लिए पर्याप्त स्थान रखना होगा। इन देशों के शिक्षित और प्रभावशाली लोगों को इस स्थिति की पूरी जानकारी है। समाचारपत्र, जब ये भारत और फिलीपाइन की तरह स्वतन्त्र हों, निरन्तर इस बात पर जोर देते हैं और इसे एक राष्ट्रीय बुराई के रूप में पेश करते हैं। लेकिन, इसके बावजूद इस स्थिति को सुधारने के लिए कोई भी कार्रवाई विधिवत् नहीं की जाती।

जब कभी निचले वर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार के लिए नीति सम्बन्धी उपाय किये जाते हैं तो यह होता है कि या तो इन्हें लागू ही नही किया जाता अथवा इनके स्वरूप को इस प्रकार विकृत कर दिया जाता है कि इनका लाभ कम गरीब लोगों को मिलता है और इनसे जनसमुदाय को लाभ नही पहुंचता।[17] अध्याय-4 में हमने विशाल कृषि क्षेत्र के सम्बन्ध मे इस स्थिति पर विचार किया है। यही बात कृषि क्षेत्र के बाहर अनेक सहायता कार्यक्रमो के बारे मे भी मोटे तौर पर सच है।

समृद्ध लोगो के बजाय गरीब लोगों को सहायता पहुंचाने के किसी कानून की पहले से स्पष्ट कठिनाइयां अथवा इन कानूनों को लागू करने की असम्भवता, इन कानूनों को विधान सभाओं में वस्तुत: पारित कराने को सचमुच आसान बना देती है; क्योकि वे लोग भी, जिन्हें इन कानूनों के बन जाने के परिणामस्वरूप बलिदान करना चाहिए, इस बात से आश्वस्त रहते हैं कि कोई खास परिवर्तन नही होगा। इस प्रकार भारत के किसी राज्य की विधानसभा न्यूनतम कृषि मजदूरी अथवा फसल में जमीदार के अधिकतम हिस्से अथवा सूदखोर के अधिकतम ब्याज की सीमा बांधकर भूमिहीन और गरीब किसानों के प्रति अपनी उदारता प्रदर्शित कर सकती है। और इसमें इस बात की कोई जोखिम नही रहेगी कि इन कानूनों को सच्चे अर्थों मे कभी लागू किया जायेगा कि नही। जहां तक इनके व्यावहारिक प्रभावों का सम्बन्ध है, समस्त राजनीतिक, कानूनी और प्रशासनिक प्रणाली इस प्रकार विधिवत् और बड़े प्रभावशाली ढंग से गरीब लोगो के व्यापक जनसमुदाय के विरुद्ध दिखायी पडती है। यह स्थिति कानूनो को लागू न करने और नीति सम्बन्धी उपायों को विकृत बनाने के कारण उत्पन्न होती है।

कानून और नीति सम्बन्धी उपाय समानता के आदर्श को पूरा करने के विचार से प्रेरित होते हैं और अधिक सामान्य रूप से उन्हें आधुनिकीकरण के आदर्शों से प्रेरणा मिलती है, जिन्हें शिक्षित उच्च वर्ग ने सामान्यतया स्वीकार कर लिया है और इसी उच्च वर्ग के बुद्धिवादी और राजनीतिक दृष्टि से विशिष्ट लोगों ने ही इन आदर्शों का प्रचार-प्रसार किया है। लेकिन जब बात वस्तुत.

इन कानूनों को बनाने तथा नीति को कार्यरूप देने और इससे भी अधिक जब इन कानूनों को वास्तविक रूप में लागू करने की बात आती है तो ये लोग सामान्यतया अपने संकीर्ण निहित स्वार्थों की रक्षा करते हैं।

जनसमुदाय में निराशापूर्ण असन्तोष हो सकता है।[20] लेकिन, इनमें अपनी माँगों को प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने की क्षमता नहीं है, ये निष्क्रिय और असंगठित हैं। इस प्रकार नीचे से दबाव की कमी समानतावादी स्वाँग और भयंकर तथा निरन्तर बढ़ती हुई असमानताओं के बीच विचित्र विरोधाभास प्रस्तुत कर देती है, जिस पर हमने अध्याय-3 में टिप्पणी की है।

जब निचले वर्गों, जिनमें अत्यधिक निर्धन लोग भी शामिल हैं, के उपर राज्य की सत्ता द्वारा निर्धारित निश्चित उत्तरदायित्वों को डालने से राज्य बचता है और प्रलोभनों तथा स्वेच्छा से किये जाने वाले कार्यों पर ही निर्भर रहता है, तो इससे उच्च वर्ग के लोगों को अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने का इस दृष्टि से एक बहाना मिल जाता है कि गरीब वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए जो कानून और नीतियाँ बनायी गयी हैं, यदि उन्हे लागू नहीं किया जाता तो विशेष बुरी बात नहीं होगी, क्योंकि इन लोगों के ऊपर उत्तरदायित्व भी नहीं डाले गये हैं। यह तथ्य कि अधिकारों से वंचित लोगो के हितों के लिए जिन सुधारों के बारे में कानून बनाये जाते हैं, उन्हे कानून बनाने और लागू करने के दोनों स्तरों पर प्रभावहीन बना दिया जाता है, सरकार और बुद्धिवादी विशिष्ट-वर्ग के उन सदस्यों को जो समानतावादी आदर्श के प्रति सर्वाधिक निष्ठा रखते है, ऐसे उपायों के प्रति उदासीन बना देता है, जिनमें गरीब जनसमुदाय से कुछ काम करने और उपलब्धियाँ दिखाने की अपेक्षा की जाती है।

यद्यपि इन तथा अन्य कारणों से मामला बड़ा जटिल हो गया है, लेकिन बुनियादी तौर पर नरम राज्य का स्पष्टीकरण यह है कि समस्त सत्ता उच्च वर्ग के हाथों में है, जो समानतावादी कानून और नीति सम्बन्धी उपाय कर सकते हैं, लेकिन उनकी ऐसी स्थिति है कि वे इन्हें लागू होने से पूरी तरह रोक सकते हैं और उनकी इस सर्वोपरि सत्ता को कोई चुनौती भी नहीं दिखायी पड़ती। इस राजनीतिक प्रक्रिया, इसके कारणो और इसके विकास सम्बन्धी प्रभावो के प्रेक्षण और विश्लेषण से विधिवत् बचे रहने का प्रयास महायुद्ध के बाद के अवसरवादी दृष्टिकोण के पूर्वाग्रहो का एक बड़ा परिणाम है, जिस पर मैंने अध्याय-1 में विचार किया है।

शहरी समुदायों में ऐसे औद्योगिक प्रतिष्ठान हैं, जिन्हें अर्थव्यवस्था का 'संगठित' और 'आधुनिक', अथवा 'आधुनिकीकृत' क्षेत्र बताया जाता है।[21] जब हम इसमे केवल आधुनिक निजी और सरकारी उद्योगों को ही नहीं, जो बड़े पैमाने पर विनिर्माण, खनन, निर्माण, यातायात, वाणिज्य और वित्त जैसे कार्यों में लगे हैं, बल्कि बागानों[22] को भी जोड देते हैं, तो भी यह क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा ही रहता है, विशेषकर उस श्रम शक्ति की दृष्टि से जो इसमे लगी है।

यद्यपि दक्षिण एशिया के सब देशों में परम्परागत क्षेत्र—जिसमें विनिर्माण करने वाले क्षेत्र भी शामिल हैं[23]—बहुत विशाल हैं पर आयोजन की दृष्टि से संगठित क्षेत्र विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, इसी प्रकार इस क्षेत्र का विस्तार करना और, अन्ततः, परम्परागत क्षेत्रों को इसके अधिक तर्कसम्मत आर्थिक व्यवहार को आयोजन के प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा देना भी महत्त्वपूर्ण है। योजनाओं में निजी अर्थव्यवस्था पर संचालन सम्बन्धी नियन्त्रणों[24] के बारे में जो थोड़ा बहुत विचार-विमर्श हुआ है वह प्रायः पूरी तरह से संगठित क्षेत्र से सम्बन्धित है, यद्यपि अवसर यह बात स्पष्ट रूप से नहीं कही जाती है।[25]

पर 'संगठित' अथवा 'आधुनिकीकृत' जैसे शब्द इस क्षेत्र के उद्यमों की पश्चिम के ऐसे ही उद्योगों से समानता को बढा-चढाकर प्रदर्शित करने का प्रयास हैं। निजी उद्योगों में मालिकों और निजी तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के उद्योगों में प्रबन्धक पूंजीवाद से पहले के अनावश्यक हस्तक्षेप और भाई-भतीजावाद के लक्षण प्रदर्शित करते हैं। जाति, परिवार और अपने सम्बन्धियों के प्रति वफादारी पर्याप्त भूमिका निभाती है। 'सम्बन्ध या परिचय' भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। विदेशी स्वामित्व के अधीन बागानों, खानों और अन्य औद्योगिक तथा वाणिज्यिक संस्थानों में भी अर्द्ध-सामन्ती बातें दिखायी पडती हैं।

अतः कुछ शर्तों के साथ ही यह जोर देकर कहा जा सकता है कि संगठित क्षेत्रों के उद्योगों का सचालन दाम सम्बन्धी उत्प्रेरणा के तर्कसंगत विचार के अनुसार किया जाता है, क्योंकि यह लागत और लाभ को प्रभावित करता है। इसके अलावा ये उद्यम उस कहीं अधिक विशाल 'असंगठित' अर्थव्यवस्था से पूरी तरह अलग-अलग नहीं हैं और इस असंगठित अर्थव्यवस्था के बीच टापुओं की तरह विद्यमान हैं। इनकी श्रम और मैनेजरों तथा टेक्नीशियनो के लिए माँग उस प्रकार संचालित नही होती, जिससे पश्चिम के विकसित देशों से उनकी घनिष्ठ समानता प्रकट होती हो। और यही बात विभिन्न वस्तुओ की माँग पर भी लागू होती है। सामान के उत्पादन की दृष्टि से भी बाजार अक्सर विभिन्न तरीकों से और विभिन्न सीमाओं तक अपूर्ण होते हैं।

इन शर्तों के साथ संगठित क्षेत्र मे दाम सम्बन्धी नीतियां[26] और अधिकारियो द्वारा अपने विवेक के अनुसार कार्रवाई सम्बन्धी सामान्य नियन्त्रणो से मुक्त उपाय सर्वाधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। लेकिन हम यह देखते हैं कि सरकारें इन उद्यमों को नियन्त्रित करने का प्रयास कर रही हैं—ये सरकारें इन उद्योगो को प्रोत्साहन देने, विशेष दिशाओं मे संचालित करने और अपने अंकुश में रखने का भी प्रयास कर रही हैं—और इसके साथ ही बड़ी संख्या में अधिकारियो के प्रशासनिक निर्णयों पर आधारित नियन्त्रणो (जिन्हें अधिकांशतया 'प्रत्यक्ष' अथवा 'भौतिक' नियन्त्रण कहा जाता है) की भरमार है, जिसके परिणामस्वरूप कोई भी बड़ा निर्णय, यहाँ तक कि कोई मामूली व्यापार सम्बन्धी निर्णय भी प्रशासनिक अधिकारियों की पूर्व-अनुमति के बिना नहीं लिया जा सकता अथवा यदि कोई निर्णय लिया जाता है तो बाद में इसके अस्वीकार हो जाने की जोखिम बनी रहती है। इस कारण से आधुनिकीकृत क्षेत्र में भी, दक्षिण एशिया मे व्यापार उससे बिल्कुल भिन्न है, जैसा सामान्यतया पश्चिम के देशो में होता है।

इस विशेष स्थिति को मोटे तौर पर स्पष्ट करने वाली प्रक्रिया इस प्रकार

है।[27] उद्यम और विनियोग का बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रकार के सकारात्मक प्रलोभन दिये जाते हैं: सस्ती दर पर विदेशी मुद्रा और आयात सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी कम्पनियों की होड़ से संरक्षण, ब्याज की नीची दर, सार्वजनिक क्षेत्र से उपलब्ध सेवाओं और सामान का कम दाम, एक निर्धारित अवधि के लिए कर से मुक्ति और लाभ पर सामान्य या कम प्रभावशाली दर से कराधान।

ये प्रलोभन इतनी उदारता से दिये जाते हैं कि सामान्य नियमों के अनुसार इन्हें नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में प्रशासनिक निर्णय का सहारा लेना होगा कि किसे विदेशी मुद्रा दी जायेगी और किसे ऋण मिलेगा—अक्सर यह ऋण रियायती दरों पर दिया जाता है—और किसे सार्वजनिक क्षेत्र से कम लागत पर सेवाएँ उपलब्ध होंगी। अब क्योंकि अक्सर यह भी पर्याप्त नहीं होता, अतः अनेक प्रकार के नकारात्मक नियन्त्रणों का सहारा लेना पड़ता है ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि किसको विनियोग करने और उत्पादन करने की अनुमति दी जायेगी, क्या और कहाँ उत्पादन करना होगा, और वह किस देश से पूँजीगत माल तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य साज-सामान का आयात करेगा।

इस प्रकार एक विचित्र स्थिति का निर्माण हो जाता है। जबकि प्रत्येक व्यक्ति उद्यम को प्रोत्साहन देने की चर्चा करता है, और जबकि इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए अनेक प्रकार के प्रलोभनो की व्यवस्था की जाती है, अधिकाश अफसरों को अपना अधिकाश समय और शक्ति उद्यमो को सीमित रखने अथवा रोकने में लगानी पड़ती है। यह एक ऐसी कार चलाने जैसी बात है, जिसका एक्सिलिरेटर पूरी तरह से दबा देने के साथ-साथ ब्रेक भी लगा दिये गये हो।

इस सम्बन्ध मे इस बात पर जोर देना महत्त्वपूर्ण है कि व्यावहारिक सीमाओं से आगे उद्यम को प्रोत्साहन देने के लिए उद्यम को नियन्त्रण में रखने के वास्ते एक विशाल प्रशासनिक निर्णयो पर आधारित नियन्त्रणो की नौकरशाही प्रणाली की आवश्यकता होती है। कुछ प्रलोभनों को समाप्त कर अथवा उनमें ढील देकर, इनमे कटौती की सम्भावना को घटाया जा सकता है और दाम सम्बन्धी नीतियों और अन्य नियन्त्रण के द्वारा प्रलोभनों और कटौतियों दोनों की व्यवस्था की जा सकती है।

परस्पर विरोधी नियन्त्रणो का व्यापक अस्तित्व यह प्रकट करता है कि अधिक नियन्त्रणों की आवश्यकता है और इनमें से अधिकांश नियन्त्रण ऐसे होंगे जो अधिकारियों के विवेक पर और उनके निर्णयो पर आधारित होंगे। भिन्न स्थिति मे इनकी आवश्यकता नही होगी। यह बात विकास की दृष्टि से विशेष रूप से दुर्भाग्यपूर्ण है कि दक्षिण एशिया के देशो मे योग्य और ईमानदार प्रशासकों की कमी के रूप में सर्वाधिक गम्भीर अवरोध उत्पन्न हो गया है।

जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनके बारे में एक महत्त्वपूर्ण शर्त का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा। इसमें सन्देह नही कि विकसित देशों से अधिक दक्षिण एशिया के देशों को विवेक पर आधारित नियन्त्रणो और यदा-कदा ऐसे नियन्त्रणो की आवश्यकता होती है जो परस्पर विरोधी होते हैं—इसी प्रकार विकसित देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था पर युद्ध के प्रभाव के परिणामस्वरूप ऐसे ही

प्रभाव का अनुभव किया था।[28] बुनियादी कारण उनकी गरीबी और विकास की कमी है, जो अपूर्ण बाजारों में प्रतिबिम्बित होती है, जहाँ अवरोध और फालतू माल, माँग और पूर्ति के बीच सन्तुलन से अधिक सामान्य बात होते है।[29]

लेकिन यह बात भी इसी प्रकार निश्चित है कि विवेक पर आधारित इन नियन्त्रणों पर यह निर्भरता उस सीमा तक आवश्यक नही होगी जिस सीमा तक आज इसका सहारा लिया जा रहा है। यद्यपि योजनाओं में परिचालन सम्बन्धी नियन्त्रणों की साधारणतया उपेक्षा कर दी जाती है[30]—जो इस बात का प्रमुख कारण है कि योजनाओं को परिचालन के अन्तर्गत वर्गीकृत नही किया जा सकता— पर यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में प्रशासनिक विवेक पर आधारित नियन्त्रणों के इस अनावश्यक विकास को साधारणतया आयोजन का सार समझ लिया जाता है। भारत में और उन अन्य देशों में भी जो 'समाजवादी समाज' की स्थापना के प्रति वचनबद्ध हैं, किसी सरकार द्वारा विवेक पर आधारित नियन्त्रणो के प्रयोग को विशेष रूप से 'समाजवादी' लक्षण समझा जाता है। यह एक ऐसी भ्रान्ति है, जिससे पश्चिम के वे लेखक अक्सर सहमत रहते हैं, जो स्वयं को इस बात से आश्वस्त करने में सफल हो जाते है कि इन नियन्त्रणों का मूल 'मार्क्सवाद' में है।

विदेशी मुद्रा की कमी साधारणतया सबसे बडा अवरोध होती है। अतः हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि अधिकाशतया अधिकारियो के विवेक पर आधारित परस्पर विरोधी नियन्त्रणों सहित नौकरशाही का विस्तार सबसे अधिक भारत, पाकिस्तान, बर्मा और इन्दोनेशिया में हुआ है। मलाया, फिलीपाइन और थाईलैण्ड में विवेक पर आधारित निर्णय के रूप मे ऐसी व्यवस्था नहीं है, लेकिन ये देश जो प्रलोभन देते हैं, उदाहरण के लिए, नये कल-कारखानों के लिए करों से छूट, वे असाधारण रूप से राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय पर आधारित होते हैं।

निजी व्यापार पर इस प्रकार व्यक्तिगत, प्रशासनिक, विवेक पर आधारित नियन्त्रण, निरंकुश शासन और अनावश्यक हस्तक्षेप की उस विरासत के रूप में मौजूद है, जो उपनिवेशी युग से पहले के युगो और उपनिवेशी युग से विरासत में मिली है। लेकिन जहाँ तक सम्भव हो, सामान्य तथा अधिकारियो के निर्णय से मुक्त नियन्त्रणों का उपयोग न करना एक ऐसी बात है जिसके लिए इतिहास का यह हवाला पर्याप्त नही होगा और इससे अधिक स्पष्टीकरण की जरूरत होगी।

निजी व्यापार के आधुनिकीकृत क्षेत्र के ऊपर सरकारी नियन्त्रणों के एक विश्लेषण का यह खाका उस समय तक अत्यधिक अपूर्ण रहेगा, जब तक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाने से हम बचते रहेंगे : किसका लाभ? निजी व्यापार पर सार्वजनिक नियन्त्रण की इस व्यवस्था का लाभ किसे मिल रहा है?[31]

इसके बाद हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अन्य देशों की तरह ही दक्षिण एशिया के देशो के व्यापारी भी सरकारी हस्तक्षप और नौकरशाही

हम लोग इस बारे में सब कुछ जानते हैं।" यह निश्चय ही एक वैज्ञानिक के लिए बड़ा विचित्र दृष्टिकोण है।

कम-विकसित संसार मे सिंगापुर उन गिने-चुने स्थानो मे है, जहाँ भ्रष्टाचार से मुक्त सरकार ने प्रकट सफलता के साथ उस भ्रष्टाचार का मुकाबला किया, जो अन्य देशों की तरह ही सामान्य बात थी और जिसके बढ़ने के भी पूरे आसार थे। एशिया के सार्वजनिक कर्मचारियों के मजदूर संघो के नेताओं की एक बैठक मे सिंगापुर के विदेश और श्रम मन्त्री एस० राजरत्नम् ने बड़े साहसपूर्वक अपने भाषण का शीर्षक : 'ब्यूरोक्रैसी वर्सेस क्लिपटोक्रैसी'[37] अर्थात् 'नौकरशाही बनाम चोरशाही' बताया। भ्रष्टाचार पर विचार न करने का अधिकांश अर्थशास्त्रियो ने जो निषध कर रखा है, उसकी उन्होंने आलोचना की।

*"यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि एशिया और अफ्रीका के विकास की* समस्याओ के बारे मे अन्यथा अत्यधिक अच्छे अध्ययनों में भ्रष्टाचार के तथ्य के गम्भीरतापूर्वक उल्लेख से बचा गया है। यह बात नही है कि लेखकगण भ्रष्टाचार के अस्तित्व से परिचित न हो। लेकिन ऐसा लगता है कि भ्रष्टाचार के राजनीतिक स्थिरता और तेजी से आर्थिक विकास के प्रयत्न से सम्बद्ध होने की बात को पूरी तरह नही समझा गया है। यह भी हो सकता है कि इस विषय के गम्भीर अध्ययन से इसलिए बचा गया कि कही इससे एशिया के लोगो की भावनाओ को चोट न पहुँचे।"

इसके बाद राजरत्नम ने उन *अपवादजनक लेखको का उल्लेख किया,* जिन्होने भ्रष्टाचार के विषय पर विचार किया था और यह कहा था कि यह विश्वास करना कि भ्रष्टाचार हानिकारक है, गर-वैज्ञानिक 'नतिकतावाद' है।

"इन लोगों का तर्क है कि नौकरशाहों को रिश्वत देना विकासशील देशो मे नौकरशाही कुशलता, नवीकरण की प्रवृत्ति और तेजी से आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने मे सहायक हो सकता है······(जिसके सम्बन्ध में राजरत्नम ने कहा) मुझे अभी तक इस बात का कोई आश्वासनदायक प्रमाण देखना शेष है कि भ्रष्टाचार आर्थिक विकास मे सहायक होता है अथवा राजनीतिक स्थिरता को मजबूत बनाता है।"

उन्होंने एक अन्य लेखक का उद्धरण देते हुए कहा :

"····भ्रष्टाचार असंगत बातों का समूह नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक प्रणाली है, जिसे सत्तारूढ़ व्यक्ति सह्य सूक्ष्मता से संचालित कर सकते हैं।"

,राजरत्नम ने इसका यह उत्तर दिया :

'यह कहना कि 'इसका संचालन सह्य सूक्ष्मता' से किया जा सकता है, उन तथ्यो के विपरीत बात है जो हम एशिया के बारे में जानते है। एक चोरशाही अधिकाधिक भ्रष्टाचार मे प्रवृत्त होगी, चाहे सत्तारूढ व्यक्ति इसे चाहें *अथवा नही, और अन्ततः इसका परिणाम आर्थिक और राजनीतिक अव्यवस्था* होगा। पिछले 20 वर्षों में एशिया के समाजो का यही जीवन-चक्र रहा है।"

अर्थशास्त्रियो का भारी बहुमत भ्रष्टाचार के तथ्यो के प्रति जो उदासीनता दिखाता है, उसके एक विचित्र विरोधाभास के रूप मे दक्षिण एशिया के देशों के साधारण शिक्षित लोग अत्यधिक दिलचस्पी दिखाते है।[38] शायद ही कुछ अन्य मामले इस मामले की तरह समस्त 'शिक्षित' लोगों के मन-मस्तिष्क में

गहराई से पैठे हुए हों और यह बात उन लोगों के बारे में भी सही है, जो अन्य दृष्टियों से नाममात्र को सतर्क हैं। शायद ही कुछ अन्य मामलो पर इस प्रकार उत्तेजनापूर्वक बहस होती हो। जहाँ कहीं विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, जैसे भारत और फिलीपाइन में, समाचारपत्र भ्रष्टाचार के कथित मामलो के विस्तृत समाचार देते हैं। कुछ लोकप्रिय पत्रिकाएँ तो ये समाचार देने में बड़ी विशेषज्ञता प्राप्त कर चुकी हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि इन देशों में भ्रष्टाचार ने वही स्थान बना लिया है, जो समकालीन अमरीकी सभ्यता में सैक्स और जाति का है।

जहाँ कहीं राजनीतिक विधानसभाएँ है, वहाँ इस मामले पर बहुत अधिक समय खर्च किया जाता है और दिलचस्पी दिखायी जाती है। कभी-कभी भ्रष्टाचार विरोधी अभियान भी छेड़े जाते है। कानून बनाये जाते हैं, सतर्कता संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं, दुराचरण के मामलों की जाँच के लिए विशेष पुलिस-दल गठित किये जाते है। कभी-कभी अफसरो पर, जो अधिकाशतः निचले वर्गों के होते हैं, मुकदमा चलाया जाता है और उन्हे सजाएँ दी जाती है। और यदा-कदा किसी मन्त्री को इस्तीफा देना पडता है तथा यह सुझाव देने के लिए कि भ्रष्टाचार का मुकाबला किस प्रकार किया जा सकता है, समितियाँ *बनायी जाती हैं।*

इन समस्त देशों में अपने विचार प्रकट करने की क्षमता रखने वाले लोग इस बात में विश्वास करते हैं कि भ्रष्टाचार व्यापक रूप से फैला हुआ है, कि यह बढ रहा है, विशेषकर उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों मे, जिनमें विधानसभाओ और संसद के सदस्य तथा मन्त्री शामिल है। भ्रष्टाचार को रोकने के दिखावटी प्रयास और इस बात का जोर देकर उल्लेख कि भ्रष्ट लोगों के साथ वही व्यवहार किया जा रहा है, जो उनके साथ किया जाना चाहिए, लोगों के मन में उपेक्षापूर्ण उदासीनता के भाव को जन्म देता है। विशेषकर, इस दृष्टि से कि आखिर भ्रष्टाचार समाप्त करने के इन प्रयासों का बड़े लोगों पर क्या असर पड़ रहा है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सिंगापुर का छोटा-सा द्वीप (राज्य) एक अपवाद है और इस क्षेत्र मे भ्रष्टाचार से मुक्त यही एक देश है। यह बात भी स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार से मुक्ति के कारण वहाँ की सरकार मजबूत बनी है।

भ्रष्टाचार के बारे में लोगों के विश्वास और इन विश्वासों से सम्बन्धित भावनाएँ अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य है। इनके अपने कारण और अपने प्रभाव भी हैं और ऐसा कोई कारण नही है कि इन्हें *गहन अनुसन्धान का विषय* न बनाया जाये। यही बात सार्वजनिक नीति सम्बन्धी उपायो पर भी लागू होती है: यह राजनीतिक, वैधानिक, प्रशासनिक और न्यायिक कार्रवाइयों पर लागू होती है। दोनों प्रकार के सामाजिक तथ्यों की पुष्टि और विश्लेषण करना पर्याप्त आसान होना चाहिए, क्योंकि ये सामाजिक यथार्थ की सतह पर मौजूद हैं।

अनुसन्धान का यह पहला कार्य होना चाहिए। दक्षिण एशिया के देशों में इस सम्बन्ध में सार्वजनिक बहस पूरी तरह प्रकट और स्पष्ट होने के कारण तथा इन सबमे अफवाहों का बड़ा स्थान होने के कारण भ्रष्ट आचरण के विभिन्न मामलों के तथ्यों का पता लगाना कठिन नहीं होना चाहिए। पर अधिक व्यापक अनुसन्धान कार्य का लक्ष्य सम्बन्धित देश में भ्रष्टाचार के स्वरूप और व्यापकता

का पता लगाना और यह निर्धारित करना होना चाहिए कि आर्थिक जीवन के विभिन्न स्तरों और शाखाओं में यह किस सीमा तक घुस गया है। इसके अलावा प्रकट प्रवृत्तियों पर भी ध्यान देना चाहिए।

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जिस बुनियादी अनुसन्धान को आधार बनना है, वह अभी प्रायः हुआ ही नहीं है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अध्येताओं ने इस निषेध को एक सीमा तक अंगीकार किया है। एशियन ड्रामा में भ्रष्टाचार के तथ्यों[39] के बारे में जो कुछ कहा गया है, और इस संक्षेप में मैंने जिसका उल्लेख भी किया है, वह संसद की कार्रवाई, समितियों की रिपोर्टों, समाचारपत्रों के व्यापक अध्ययन तथा इससे भी अधिक दक्षिण एशिया के जानकार लोगों से बातचीत, जिनमें पश्चिम के व्यापारी भी शामिल हैं, तथा कुछ सीमा तक प्रत्यक्ष व्यक्तिगत प्रेक्षण पर आधारित है।

दक्षिण एशिया के कुछ देशों में भ्रष्टाचार के आपेक्षिक स्तर का किसी निश्चितता के साथ मूल्यांकन करना फिलहाल सम्भव नहीं है। पर सब देशों में भ्रष्टाचार का स्तर बहुत ऊँचा है और पश्चिम के विकसित देशों और कम्युनिस्ट देशों की तुलना में इसका स्तर कहीं अधिक निर्विवाद रूप से ऊँचा है। पश्चिम के देशों में संयुक्त राज्य अमरीका को भी शामिल किया गया है। स्वाधीनता के बाद दक्षिण एशिया के देशों में भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई, विशेषकर उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों में। लगता है कि प्रवृत्ति निरन्तर भ्रष्टाचार में वृद्धि की ओर ही है।

जहाँ तक दक्षिण एशिया की सरकारों के प्रशासन की विभिन्न शाखाओं का सम्बन्ध है, यह बात साधारणतया स्वीकार की जाती है कि दक्षिण एशिया के सब देशों में सार्वजनिक निर्माण विभाग और खरीद करने वाले सरकारी संगठन विशेष रूप से भ्रष्ट हैं और इस प्रकार रेल विभाग, आयात लाइसेंस तथा अन्य परमिट जारी करने वाले दफ्तर और कर तथा सीमाशुल्क का मूल्यांकन और वसूली करने वाले विभाग भी इसी प्रकार भ्रष्ट हैं। भ्रष्टाचार न्यायालयों और विश्वविद्यालयों में भी फैल गया है।

सामान्य लोगों के मध्य कार्यकारण के रूप में भ्रष्टाचार के फलस्वरूप अवांछित कार्यों ने जन्म लिया है। व्यापारी लोग राजनीतिज्ञों और उच्चाधिकारियों में भ्रष्टाचार फैलाने में विशेष रूप से सक्रिय हैं। सरकारी रिपोर्टें और सार्वजनिक बहस जिस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के बारे में मौन है, वह दक्षिण एशिया के देशों में बाजारों के लिए प्रतियोगिता करने वाले पश्चिम के व्यापारियों की भ्रष्टाचार फैलाने में भूमिका से सम्बन्धित है। पश्चिम के ये व्यापारी इन देशों के उद्योगों में स्वतन्त्र रूप से अथवा स्थानीय कम्पनियों या सरकारों के साथ मिलकर पूंजी विनियोग भी करते हैं।

पश्चिम के व्यापार प्रतिनिधि कभी भी सार्वजनिक रूप से इस बात का उल्लेख नहीं करते, लेकिन मैं व्यक्तिगत रूप से यह कह सकता हूँ कि निजी बातचीत में वे इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि कुछ व्यापारिक सौदों को स्वीकार कराने के लिए उच्चाधिकारियों और राजनीतिज्ञों को रिश्वत देना जरूरी होता है तथा अपने उद्योगों को बहुत अधिक बाधाओं और कठिनाइयों के बिना चलाने के लिए बड़े और छोटे अफसरों को रिश्वत देनी पड़ती है।

ये लोग स्वयं अपने और दूसरी कम्पनियो के अनुभवों के बारे में स्पष्ट रूप से बातें करते है। इन लोगों का कहना है कि दक्षिण एशिया के देशों में व्यापार करने पर जो कुल लागत आती है, उसमें रिश्वत का कोई मामूली हिस्सा नही होता। यद्यपि शायद ही कोई विदेशी कम्पनी इस बात का दृढ नियम बना सके कि वह रिश्वत नही देगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि रिश्वत देने की इच्छा की दृष्टि से केवल विभिन्न कम्पनियों के बीच ही नहीं बल्कि विभिन्न देशों के बीच भी बडा अन्तर है।

पश्चिम के देशों में फ्रांस, अमरीका और विशेषकर पश्चिम जर्मनी की कम्पनियों के बारे में अक्सर यह कहा जाता है कि व्यापारी सौदे करने के लिए उन्हे रिश्वत देने मे कोई हिचकिचाहट नही होती। कहते हैं कि जापानी कम्पनियां रिश्वत देने के लिए इनसे भी अधिक तत्पर रहती हैं। दूसरी ओर मैंने यह कभी नहीं सुना कि कम्युनिस्ट देशो के वाणिज्य संगठनों ने किसी व्यक्ति को रिश्वत देने का प्रस्ताव किया अथवा रिश्वत दी। यह व्यापक राय दक्षिण एशिया की सामाजिक भावभूमि का अंग बन गयी है। यह उसी प्रकार भावभूमि का अंग बन गयी है, जिस प्रकार भ्रष्टाचार सम्बन्धी चर्चा की अन्य बातें। अनुसन्धान के द्वारा ही इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि किस सीमा तक ये बातें वास्तविक वाणिज्य सम्बन्धी व्यवहार को प्रकट करती हैं।

पश्चिम की सरकारो और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने जो अनुदान दिये है, वे अक्सर व्यापक भ्रष्टाचार के कारण बर्बाद हो गये हैं। यह बात लाओस, दक्षिण विएतनाम, थाईलैण्ड और यहां तक कि फिलीपाइन पर भी लागू होती है। यह बात सब लोग जानते हैं और अमरीका की स्पष्ट परम्परा के अनुसार इस आशय के समाचार केवल अखबारो में ही नही छपे, बल्कि संसद द्वारा की गयी जांच में भी इनका उल्लेख हुआ।

प्रकट रूप से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और संयुक्त राष्ट्र के अन्य संगठन समग्र दृष्टि से भ्रष्ट लोगों के हाथों में खेलने से बचे रहे है। लेकिन जब जिन्स के रूप में सहायता दी गयी तो यदा-कदा यह भी देखा गया कि यह जिन्स अपने गन्तव्य पर पहुंचने के बजाय काले बाजार मे पहुंच गयी। विशेष रूप से विश्व बैंक ने इस ओर अपने प्रभाव का अधिकाधिक इस्तेमाल किया है कि उसके ऋणो का उपयोग माल की सप्लाई करने वालों के मध्य उचित प्रतियोगिता बनाये रखने के लिए किया जाये।

•

भ्रष्टाचार के किस्सों, राजनीतिक, प्रशासनिक और न्यायिक दृष्टि से लोकप्रिय विश्वासों और भावनाओ की गूंज, अनेक देशो में भ्रष्टाचार की वास्तविक व्याप्ति और वर्तमान प्रवृत्तियाँ ऐसे सामाजिक तथ्य है, जिनका स्पष्टीकरण दक्षिण एशिया की अन्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में सामान्य रूप मे दिया जाना चाहिए।[40]

भ्रष्टाचार बुनियादी तौर पर नरम राज्य की एक विशेष अभिव्यक्ति के

अलावा अन्य कुछ नहीं है, जिसकी ऊपर परिभाषा दी गयी है और जिसकी सामान्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी मैंने प्रस्तुत किया है। नरम राज्य की साधारण परिस्थितियाँ भ्रष्टाचार को सम्भव बनाती है, जबकि चक्राकार कार्य-कारण सम्बन्धों का समग्र प्रभावों सहित यह असर होता है कि ये समस्त देश नरम राज्य ही बने रहते हैं।

इस संक्षिप्त विवरण मे केवल एक ही मुद्दे पर जोर दिया जायेगा। इन देशो में जीवन के एक स्वरूप के रूप मे भ्रष्टाचार से लोकाचार का यह अन्तर प्रकट होता है कि कहाँ, कब और कैसे व्यक्तिगत लाभ उठाया जा सकता है। जब एक ओर कम-विकसित देशो में उचित लाभ के उद्देश्य और बाजार के आचरण को जीवन के उस क्षेत्र में—अर्थात् व्यापार के क्षेत्र में—मूर्त करना कठिन हुआ है, जिसमे इसका संचालन विकसित देशो में होता है, तो दूसरी ओर उस क्षेत्र में जहाँ विकसित देशों में व्यक्तिगत लाभ की इच्छा को समाप्त कर दिया गया है, इसे समाप्त करना उसी प्रकार कठिन साबित हुआ है। यह दूसरा क्षेत्र सार्वजनिक जिम्मेदारी और सत्ता का है।

दोनों अन्तर एक-दूसरे के पूरक हैं तथा कुछ सीमा तक इनसे एक-दूसरे को सहायता मिलती है। वस्तुतः ये पूंजीवाद से पहले के परम्परागत समाज के अवशेष है। जहां कहीं बाजार नहीं है और जहां कही ये अत्यधिक अपूर्ण रूप से मौजूद है, वहाँ व्यापकतम अर्थों मे 'ताल्लुकात' के स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था करनी होगी। 'एकाधिक जाति वाले समाजों मे' इसका अभिप्राय वफादारी का विभाजन होता है और, विशेषकर, पूरे समाज के प्रति, चाहे यह स्थानीय स्तर पर हो चाहे राष्ट्रीय स्तर पर, वफादारी नही रह जाती।

व्यक्तिगत, पारिवारिक अथवा 'समुदाय' के (इस शब्द का प्रयोग दक्षिण एशिया मे प्रचलित अर्थो में किया गया है) लाभ के लिए किसी मन्त्री, ससद सदस्य, विधानसभा सदस्य अथवा किसी उच्चाधिकारी की सत्ता कही अधिक उपयोगी हो सकती है क्योंकि कोई लाइसेंस प्राप्त करने अथवा व्यापारिक सौदा करने के लिए उनकी सहमति अथवा सहयोग की आवश्यकता होती है। अथवा यह सहयोग किसी ऐसे मामूली से क्लर्क का भी हो सकता है, जो किसी अर्जी पर कार्रवाई में विलम्ब कर सकता है अथवा इसे रोक सकता है। यह बात रेल यात्रा के लिए टिकट देने अथवा रेल पटरी पर बने फाटक को तत्परता से खोलने के ऊपर भी लागू होती है।

दक्षिण एशिया में भ्रष्टाचार की मौजूदगी का स्पष्टीकरण देते समय परम्परागत समाज की विरासत को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। लेकिन एक सिद्धान्त के रूप मे यह सामाजिक साख्यिकी के क्षेत्र तक ही सीमित है। भ्रष्टाचार मे निरन्तर वृद्धि का, जिसके बारे में अक्सर समाचार दिये जाते है, गतिशील अर्थो मे स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए। भ्रष्टाचार मे वृद्धि ने इन्दोनेशिया को भ्रष्टाचार से अधिकाशतया मुक्त देश से बदलकर, जो यह उपनिवेशी काल में था,[41] हाल के वर्षों मे पूरी तरह भ्रष्ट बना दिया है। स्वाधीनता के युग में प्रायः जो कुछ हुआ है, उसने भ्रष्टाचार को अधिक प्रोत्साहन और कहीं अधिक अवसर दिया है। यह बात राजनीतिज्ञों और बड़े अधिकारियो के बीच व्याप्त बड़े पैमाने पर रिश्वतखोरी पर लागू होती है और यह रिश्वत-

खोरी निचले स्तरों पर मामूली रिश्वत का रूप धारण किये हुए है।

दक्षिण एशिया के अधिकांश देशों में स्वाधीनता प्राप्ति और उपनिवेशी शासन से स्वशासन में संक्रमण से पहले बड़े पैमाने पर उथल-पुथल हुई। इसके साथ ही सर्वप्रथम राजनीतिज्ञ अपनी सत्ता के कारण महत्त्वपूर्ण बने। स्वाधीनता के बाद उपनिवेशी देशों के अफसरों के बड़ी संख्या मे अपने देश वापस लौट जाने से दक्षिण एशिया के नव-स्वतन्त्र देशों में ऐसे गिने-चुने योग्य प्रशासक ही रह गये, जिन्हें पश्चिम के कड़े मानदण्डों के अनुसार कार्यकुशल कहा जा सकता है। यह कमी फिलीपाइन, भारत और श्रीलंका की तुलना मे इन्दोनेशिया, बर्मा और यहाँ तक कि पाकिस्तान मे भी अधिक व्यापक और अधिक हानिकारक सिद्ध हुई। वास्तविक आय की दृष्टि से अधिकारियों के वेतनों मे निरन्तर गिरावट की प्रवृत्ति, और यह गिरावट निचले और मध्यम दर्जे के कर्मचारियो के वेतन मे भी आयी, एक दूसरा निर्णायक परिवर्तन सिद्ध हुई।

इसके साथ ही बड़े पमाने पर प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को अपनाने के कारण, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके है, प्रशासन से बहुत अधिक अपेक्षाएँ की जाने लगी। ये नियन्त्रण भ्रष्टाचार को स्वतः जन्म देते हैं। भ्रष्टाचार का प्रसार भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और बेईमान अधिकारियो तथा उनके ग्राहकों, विशेषकर व्यापारियो, के मध्य इन नियन्त्रणों को कायम रखने और बढाने के लिए निहित स्वार्थ का निर्माण करता है।

इसके साथ ही पश्चिम के निजी कोषों का धन भी कम-विकसित देशों मे लगता है और उनका व्यापार भी यहाँ होता है, पर जिस पर अब पश्चिम के सम्बन्धित देशों के अधिकारियो का नियन्त्रण नही होता। ब्रिटेन और हालैण्ड के उपनिवेशों मे अधिकाशतया ये अधिकारी भ्रष्ट नही थे और पश्चिम के व्यापारियों के ऊपर कुछ सीमा तक इनका अंकुश रहता था। लेकिन अब नियन्त्रण स्थानीय राजनीतिज्ञों और अधिकारियों के हाथो मे है, जिन्होंने ऐसी ईमानदारी का प्रदर्शन नही किया है।

इसी प्रकार साधारणतया चक्राकार कार्यकारण सम्बन्ध मौजूद रहता है, जिसका भ्रष्टाचार के ऊपर सामूहिक प्रभाव पड़ता है। 'परिष्कृत' लोगो के लिए यह स्थिति इस विचार के अनुसार तर्कसम्मत बन सकती है कि किसी भी 'विकासशील देश' में भ्रष्टाचार से बचा नही जा सकता। इसके परिणामस्वरूप दूसरे लोगो की कठिनाइयों के प्रति उदासीनता का भाव फैलता है और रिश्वत देने और लेने के प्रति प्रतिरोध कम हो जाता है।

*व्यापक भ्रष्टाचार की जानकारी और ऊपर वर्णित इस भावना का,* कि अपराधियो को दण्ड देने के लिए प्रभावशाली कार्रवाई नही की जाती, विशेषकर उन लोगों के विरुद्ध यह कार्रवाई नही की जाती जो सर्वोच्च पदों पर आसीन है, एक प्रभाव, यद्यपि एकमात्र प्रभाव नही, यह हुआ कि दूसरे के कष्टों के प्रति उदासीनता को विशेष रूप से सहारा मिला।[12] यह स्थिति एक ऐसे राष्ट्रीय नेता को भी इस सीमा तक हतोत्साहित कर सकती थी, जो स्वयं भ्रष्ट न हो और जो भ्रष्टाचार की व्यापकता को जानता हो, कि वह सरकार तथा प्रशासन मे व्याप्त भ्रष्टाचार को अधिक साहसपूर्वक और विधिवत् समाप्त कर डालने के प्रयासो का प्रतिरोध करने लगे। ऐसा लगता है कि जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध

में ऐसा ही हुआ।

"चिल्ला-चिल्लाकर केवल यह कहना कि हर व्यक्ति भ्रष्ट है, भ्रष्टाचार के वातावरण का निर्माण करता है। लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि वे भ्रष्टाचार के वातावरण में रह रहे हैं और इस कारण वे स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं। एक सामान्य व्यक्ति अपने-आपसे कहता है: 'ठीक है अगर हर आदमी भ्रष्ट दिखायी पडता है, तो मैं भी भ्रष्ट क्यो न बनूं।' यही वातावरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है और यह नही होने देना चाहिए।"

भ्रष्टाचार के बारे मे जो किस्से प्रचारित होते हैं उनके तात्कालिक प्रभाव का यह विश्लेषण सम्भवतः सही है। लेकिन नेहरू का यह व्यावहारिक निष्कर्ष कि उन्हें उच्च स्तरो पर भ्रष्टाचार के विरुद्ध अपनी जबर्दस्त व्यक्तिगत सत्ता का इस्तेमाल नही करना चाहिए और इस भ्रष्टाचार के विरुद्ध दूरगामी कार्रवाई करने की जो आवाज उठायी जा रही है उसे स्वीकार कर कार्रवाई नही करनी चाहिए, सम्भवत उनकी एक गम्भीर गलती थी और उनके अनेक मित्रों ने यह बात उनसे कही भी।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भ्रष्टाचार की समस्या के बारे में यह कहकर कि यह महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है, तत्सम्बन्धी अनुसन्धान की उपेक्षा करने के अवसरवादी प्रयास और दक्षिण एशिया की वर्तमान परिस्थितियों में विकास के लिए भ्रष्टाचार की तथाकथित उपयोगिता गलत धारणाएँ हैं। मेरा विश्वास है कि यह विचार—जिसके समर्थन में कार्यकारण सम्बन्धों के रूप में कोई भी मान्य विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया गया है—पूरी तरह से गलत है और यह बात स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार विकास के लिए अत्यधिक हानिकारक है।[13]

कम-विकसित देशो में जो साधारण परिस्थितियाँ हैं और जो इन्हें नरम राज्य बनाती हैं, भ्रष्टाचार उसका एक अनिवार्य अंग है। यह एक बड़ा निषेध है और सामाजिक अनुशासन को बढ़ाने के समस्त प्रयासों के मार्ग में गम्भीर बाधाएँ प्रस्तुत करता है। भ्रष्टाचार से केवल राजनीतिज्ञ और अधिकारी ही नही, बल्कि व्यापारी भी और वस्तुत. समस्त आबादी प्रभावित है।

भ्रष्टाचार समस्त आयोजन और योजनाओं के लक्ष्यो को पूरा करने में तर्कहीनता के तत्त्व का समावेश कर देता है, क्योंकि भ्रष्टाचार विकास प्रक्रिया को अथवा इसके वास्तविक मार्ग को इस प्रकार प्रभावित करता है कि यह अपने मार्ग से विचलित हो जाता है। यदि ऐसे किसी प्रभाव की पूर्व-कल्पना की जाती है तो उससे योजना की व्यापकता सीमित हो जाती है।

सार्वजनिक जिम्मेदारी के पद का अनुचित लाभ उठाने का एक सामान्य तरीका बाधा डालना और विलम्ब करना है। इस प्रकार भ्रष्टाचार निर्णय लेने और इसे हर स्तर पर लागू करने की प्रक्रियाओ के मार्ग मे बाधा डालता है। इसके कारण बेईमान अफसरो को नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता बढ़ती है और ईमानदार अधिकारी निर्णय लेने से हिचकिचाता है। दोनों स्थितियो मे प्रशासन बाधाजनक और धीमा हो जाता है।

प्रशासन की प्रक्रिया को धीमा बनाने और सत्ता के तर्कसंगत वितरण के मार्ग मे बाधा डालने में भ्रष्टाचार दक्षिण एशिया में विशेष रूप से सहायक बना है जहाँ एक ओर कुशल प्रशासकों की कमी है और उसके साथ ही, दूसरी ओर, [illegible] करने की प्रवृत्ति है, जो [illegible] की आवश्यकता को बढा देते हैं।

जब इन देशों में 'आवश्यकता से अधिक व्यापक नौकरशाही व्यवस्था' को उपनिवेशी युग की देन कहा जाता है, तो यह केवल आंशिक सच्चाई ही होती है। भ्रष्टाचार बढ़ाने की प्रवृत्ति को ही इसका अधिकांश दोष दिया जाना चाहिए। जब पश्चिम के अत्यधिक कुशल प्रशासनिक विशेषज्ञ भी इस सम्बन्ध का उल्लेख नही करते,[41] तो यह उस अवैज्ञानिक राजनय का एक अंग होता है, जिसकी मैंने इस पूरी पुस्तक मे आलोचना की है।

पर भ्रष्टाचार का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव सरकार की स्थिरता को खतरा पहुँचाना है। नई सरकारों को ऐसा परम्परागत समाज विरासत में मिला, जिसमे वफादारियाँ विभाजित थी। इन सरकारों के विकास के प्रयासों मे इस विभाजन को समाप्त करने के लिए लोगों के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने का प्रयास भी शामिल होना चाहिए। लेकिन भ्रष्टाचार, और व्यापक भ्रष्टाचार की जानकारी, राष्ट्रीय सुदृढता के प्रयासों मे बाधक बनते है और, विशेषरूप से, सरकार के प्रति सम्मान और निष्ठा में कमी आती है।

दक्षिण एशिया की कोई भी सरकार तब तक अपना दृढ़ नियन्त्रण कायम नही रख सकती जब तक वह अपनी आवाज़ उठाने की क्षमता रखने वाले वर्गों को इस बात से आश्वस्त न कर दे कि सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार को समाप्त करने की प्रभावशाली कार्रवाई की जा रही है। यह एक तथ्य है कि एशिया में —उदाहरण के लिए, पाकिस्तान और बर्मा मे तथा दक्षिण एशिया के बाहर चीन मे—जहाँ कही किसी शासन की समाप्ति हुई, राजनीतिज्ञों और प्रशासको की भ्रष्टता और उसके परिणामस्वरूप व्यापारियो और जन-सामान्य मे व्यापक रूप से गैर-कानूनी तरीकों से काम करने की प्रवृत्ति एक बडा और अक्सर निर्णायक कारण रही।[45] आज दक्षिण एशिया की प्रत्येक सरकार के लिए भ्रष्टाचार के विरुद्ध प्रभावशाली कदम उठाना शब्दशः आत्मरक्षा का एक प्रश्न है।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं वे दक्षिण एशिया के विशाल कम-विकसित संसार सम्बन्धी मेरे प्रेक्षणों पर आधारित हैं। लेटिन अमरीका के देशों में अतीत की विरासत ने भिन्न रूप धारण किया है।

फिर भी, और यद्यपि कोई विस्तृत सर्वेक्षण उपलब्ध नही है, मैंने इन देशों में जो कुछ देखा है और जो कुछ पढा है, उससे मुझे यही आभास मिलता है कि कुछ अतिरेकों को छोड़कर, अन्तिम परिणाम लेटिन अमरीका में भी दक्षिण एशिया जैसा ही रहा: व्यापक और समग्र दृष्टि से निरन्तर बढता हुआ भ्रष्टाचार। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—एक नरम राज्य रही और आज भी है।

दक्षिण एशिया की तुलना में लेटिन अमरीका में विदेशी शासन कहीं लम्बे अरसे तक और अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। और यहाँ शासन करने वाले यूरोप के देशों की असैनिक सेवाओं का इसके ऊपर किसी उल्लेखनीय सीमा तक बाधाजनक प्रभाव नही पड़ा।

भ्रष्टाचार के बारे में सामान्यतया जिन बातों पर विश्वास किया जाता है और जिनके बारे मे बहुत से किस्से प्रचारित हैं, वे समान रूप से प्रभावशाली हैं। यहाँ स्थिति और अधिक उत्तेजनापूर्ण है, क्योंकि यहाँ भ्रष्टाचार का विदेश के प्रभावो से कही अधिक सम्बन्ध है और इसका सबसे अधिक सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमरीका के प्रभाव से है। भ्रष्टाचार के प्रभावों के सम्बन्ध में इसके कारणों की तुलना में *कही अधिक समानताएँ हैं।*

साथ ही, अनेक व्यक्तिगत कोटियों और अन्तरों सहित, अनेक बातें ऐसी हैं जो संसार के सब कम-विकसित देशों के बारे में सच्ची दिखायी पड़ती हैं। अफ्रीका के अधिकांश नव-स्वतन्त्र देश बड़ी तेजी से व्यापक भ्रष्टाचार के गर्त में गिर गये, क्योकि शिक्षित लोगों के नये उच्च वर्ग समूहों के लिए आजादी के युग में अपनी सत्ता का अनुचित लाभ उठाने का प्रलोभन त्याग देना सम्भव न हो सका।

नरम राज्य और भ्रष्टाचार की सच्चाई जानने के लिए व्यापक और गहन अनुसन्धान के निषेध को समाप्त करने की मेरी माँग कम-विकसित संसार के इन हिस्सो के बारे में भी उसी प्रकार मौजूद है। जब तक हम अर्थशास्त्रियों को *यह पता नही चलेगा कि जीवन के इन तथ्यों की क्या सच्चाई है* तो हम इन देशो की परिस्थितियों को सही ढंग से नही समझ सकेंगे और इनके लिए तर्कसंगत विकास सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित नही कर सकेंगे। इस जानकारी के अभाव में हम पहले की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुसार इन देशों की विकास की समस्याओं पर विचार करते रहेंगे। दूसरे महायुद्ध के *बाद के दृष्टिकोण की सिद्धान्त के आधार पर आलोचना अध्याय-1 मे प्रस्तुत की* गयी है।

इस अध्याय मे अब तक कही बातों और पूरी पुस्तक में जो स्थापना करने का प्रयास किया गया है और जिसे एशियन ड्रामा में अधिक विस्तार से प्रमाणित और विकसित किया गया है, उसका उद्देश्य तथ्यों और तथ्यगत सम्बन्धों को आधुनिकीकरण के आदर्शों पर विचार की दृष्टि से स्थापित करना है। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के रूप मे इनके उपयोग की दृष्टि से इन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है और इनके लक्ष्यों को भी व्यक्त किया गया है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके आधार पर तर्कसम्मत नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और ये निष्कर्ष निकालने मे भी तथ्यों के बारे में उपलब्ध ज्ञान सहित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को सामने रखा जाता है। जो व्यक्ति यथार्थ को भिन्न तरीके से देखता है उसे अपने इस भिन्न दृष्टिकोण और अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख करना होगा और किन कारणों से प्रेरित होकर उसने इन दृष्टिकोणों और मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ को अपनाया,

यह स्पष्ट करना होगा। 'दिलचस्पीरहित' अथवा 'तटस्थ' दृष्टिकोण तर्कसम्मत कारणों से सम्भव नही है।[46]

यह एक तथ्य है कि पश्चिम के विकसित देशों में कम-विकसित देशो की तुलना में आधुनिकीकरण के आदर्शों को कहीं अधिक व्यापकता से साकार कर लिया गया है। एक 'कठोर' और 'सशक्त' राज्य के भीतर, जहाँ भ्रष्टाचार के महत्त्व को बहुत अधिक कम कर दिया जाता है, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास होता है। यह बात स्कैंडिनेविया के छोटे प्रोटेस्टेंट देशों के बारे मे विशेष रूप से सही है और यह बात ब्रिटेन और हालैण्ड पर भी लागू होती है।

एक दृष्टि से यह कहना सच है कि हमने अपने विश्लेषण के लिए जो दृष्टिकोण चुना है वह पश्चिमी दृष्टिकोण है। यदाकदा इस बात को आलोचना के रूप मे भी प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह आलोचना न तो सही है और न ही उचित। मूल्य *सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में आधुनिकीकरण के जिन आदर्शों को चुना गया है*, वे कही अधिक बुनियादी दृष्टि से स्पष्ट रूप से तर्कसंगत है, यदि हमारा लक्ष्य विकास करना है। इन्हे पश्चिम के देशों मे अधिक सीमा तक व्यवहार में लाया जा चुका है, इस बात को भी प्रकट करता है कि ये देश अधिक विकसित भी है। जब कम-विकसित देशों ने वस्तुतः अपने लिए विकास के लक्ष्यों के रूप में इन आदर्शों को चुना, तो इसका *कारण यही था कि उन्होंने इन आदर्शों को विकास के लिए तर्कसम्मत समझा*। इनका चुनाव इस कारण नही किया गया कि ये पश्चिम के हैं।

अपने आकार और पश्चिम के विकसित संसार तथा कम-विकसित संसार के समस्त सम्बन्धों के व्यावहारिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, यह बात कही जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका कानून प्रणाली, कानून के पालन और कानून को लागू करने के सम्बन्ध में ऐसे लक्षण प्रदर्शित करता है, जो इसे कुछ दृष्टियों से कम-विकसित देशों की स्थिति के अधिक निकट ले जाते है। इस प्रकार अमरीका उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशो की तुलना में कम-विकसित देशो के कही अधिक समीप पहुँच जाता है; यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों की स्थिति से बहुत दूर है और उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और विचारधारा सम्बन्धी पृष्ठभूमि बहुत भिन्न है। 25 वर्ष से भी अधिक समय पहले 'एन अमेरिकन डीलेमा' के लेखन के समय और अमरीकी आदर्शो सम्बन्धी इस पुस्तक के पहले अध्याय की रूपरेखा तैयार करते समय, मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की विचित्र कानूनी परम्परा पर अनेक अनुभागों में सामान्य दृष्टिकोणों से विचार किया।[47] अपनी इस आरम्भिक पुस्तक का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूँ क्योकि प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को इस प्रकार विकसित और प्रतिपादित नही किया जा सकता।

अमरीका के लोग, कम-विकसित देशों के लोगो की तरह लेकिन उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों के लोगों के विपरीत, अपने कानूनो मे ऐसे आदर्शों को स्थान देते है, जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका में कभी भी प्रभावशाली ढंग से लागू नही किया गया। और यह कार्य अक्सर होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रशासन कभी भी बहुत अधिक प्रभावशाली नही रहा। इसके बावजूद अथवा इन बातो के रहते इस देश ने बड़ी तेज गति से आर्थिक उन्नति की। यह उन अनेक

दक्षिण एशिया की तुलना मे लेटिन अमरीका में विदेशी शासन कही लम्बे अरसे तक और अधिक महत्वपूर्ण रहा। और यहाँ शासन करने वाले यूरोप के देशों की असैनिक सेवाओं का इसके ऊपर किसी उल्लेखनीय सीमा तक बाधाजनक प्रभाव नही पड़ा।

भ्रष्टाचार के बारे मे सामान्यतया जिन बातों पर विश्वास किया जाता है और जिनके बारे मे बहुत से किस्से प्रचारित हैं, वे समान रूप से प्रभावशाली हैं। यहाँ स्थिति और अधिक उत्तेजनापूर्ण है, क्योंकि यहाँ भ्रष्टाचार का विदेश के प्रभावो से कहीं अधिक सम्बन्ध है और इसका सबसे अधिक सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमरीका के प्रभाव से है। भ्रष्टाचार के प्रभावों के सम्बन्ध में इसके कारणों की तुलना में कहीं अधिक समानताएँ हैं।

साथ ही, अनेक व्यक्तिगत कोटियों और अन्तरो सहित, अनेक बातें ऐसी हैं जो ससार के सब कम-विकसित देशों के बारे में सच्ची दिखायी पड़ती हैं। अफ्रीका के अधिकाश नव-स्वतन्त्र देश बडी तेज़ी से व्यापक भ्रष्टाचार के गर्त में गिर गये, क्योंकि शिक्षित लोगो के नये उच्च वर्ग समूहों के लिए आजादी के युग मे अपनी सत्ता का अनुचित लाभ उठाने का प्रलोभन त्याग देना सम्भव न हो सका।

नरम राज्य और भ्रष्टाचार की सच्चाई जानने के लिए व्यापक और गहन अनुसन्धान के निषेध को समाप्त करने की मेरी माँग कम-विकसित संसार के इन हिस्सों के बारे में भी उसी प्रकार मौजूद है। जब तक हम अर्थशास्त्रियों को यह पता नहीं चलेगा कि जीवन के इन तथ्यों की क्या सच्चाई है तो हम इन देशों की परिस्थितियों को सही ढंग से नही समझ सकेंगे और इनके लिए तर्कसंगत विकास सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित नहीं कर सकेंगे। इस जानकारी के अभाव में हम पहले की तरह ही पूर्वाग्रहग्रस्त दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के अनुसार इन देशों की विकास की समस्याओं पर विचार करते रहेंगे। दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण की सिद्धान्त के आधार पर आलोचना अध्याय-1 मे प्रस्तुत की गयी है।

इस अध्याय मे अब तक कही बातों और पूरी पुस्तक मे जो स्थापना करने का प्रयास किया गया है और जिसे एशियन ड्रामा मे अधिक विस्तार से प्रमाणित और विकसित किया गया है, उसका उद्देश्य तथ्यों और तथ्यगत सम्बन्धों को आधुनिकीकरण के आदर्शो पर विचार की दृष्टि से स्थापित करना है। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में इनके उपयोग की दृष्टि से इन्हें स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है और इनके लक्ष्यों को भी व्यक्त किया गया है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके आधार पर तर्कसम्मत नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं और ये निष्कर्ष निकालने में भी तथ्यों के बारे में उपलब्ध ज्ञान सहित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को सामने रखा जाता है। जो व्यक्ति यथार्थ को भिन्न तरीके से देखता है उसे अपने इस भिन्न दृष्टिकोण और अपनी मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख करना होगा और किन कारणों से प्रेरित होकर उसने इन दृष्टिकोणों और मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं को अपनाया,

यह स्पष्ट करना होगा। 'दिलचस्पीरहित' अथवा 'तटस्थ' दृष्टिकोण तर्कसम्मत कारणों से सम्भव नही है।[46]

यह एक तथ्य है कि पश्चिम के विकसित देशों मे कम-विकसित देशो की तुलना मे आधुनिकीकरण के आदर्शों को कहीं अधिक व्यापकता से साकार कर लिया गया है। एक 'कठोर' और 'सशक्त' राज्य के भीतर, जहां भ्रष्टाचार के महत्त्व को बहुत अधिक कम कर दिया जाता है, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास होता है। यह बात स्कैंडिनेविया के छोटे प्रोटेस्टेंट देशों के बारे मे विशेष रूप से सही है और यह बात ब्रिटेन और हालैण्ड पर भी लागू होती है।

एक दृष्टि से यह कहना सच है कि हमने अपने विश्लेषण के लिए जो दृष्टिकोण चुना है वह पश्चिमी दृष्टिकोण है। यदाकदा इस बात को आलोचना के रूप मे भी प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह आलोचना न तो सही है और न ही उचित। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के रूप में आधुनिकीकरण के जिन आदर्शों को चुना गया है, वे कहीं अधिक बुनियादी दृष्टि से स्पष्ट रूप से तर्कसंगत हैं, यदि हमारा लक्ष्य विकास करना है। इन्हें पश्चिम के देशों मे अधिक सीमा तक व्यवहार में लाया जा चुका है, इस बात को भी प्रकट करता है कि ये देश अधिक विकसित भी हैं। जब कम-विकसित देशों ने वस्तुतः अपने लिए विकास के लक्ष्यों के रूप में इन आदर्शों को चुना, तो इसका कारण यही था कि उन्होंने इन आदर्शों को विकास के लिए तर्कसम्मत समझा। इनका चुनाव इस कारण नहीं किया गया कि ये पश्चिम के हैं।

अपने आकार और पश्चिम के विकसित संसार तथा कम-विकसित संसार के समस्त सम्बन्धों के व्यावहारिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, यह बात कही जानी चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका कानून प्रणाली, कानून के पालन और कानून को लागू करने के सम्बन्ध में ऐसे लक्षण प्रदर्शित करता है, जो इसे कुछ दृष्टियों से कम-विकसित देशों की स्थिति के अधिक निकट ले जाते हैं। इस प्रकार अमरीका उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों की तुलना में कम-विकसित देशों के कहीं अधिक समीप पहुंच जाता है; यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों की स्थिति से बहुत दूर है और उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और विचारधारा सम्बन्धी पृष्ठभूमि बहुत भिन्न है। 25 वर्ष से भी अधिक समय पहले 'एन अमेरिकन डीलेमा' के लेखन के समय और अमरीकी आदर्शो सम्बन्धी इस पुस्तक के पहले अध्याय की रूपरेखा तैयार करते समय, मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की विचित्र कानूनी परम्परा पर अनेक अनुभागों में सामान्य दृष्टिकोणों से विचार किया।[47] अपनी इस आरम्भिक पुस्तक का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहता हूं क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को इस प्रकार विकसित और प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

अमरीका के लोग, कम-विकसित देशों के लोगों की तरह लेकिन उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों के लोगों के विपरीत, अपने कानूनों मे ऐसे आदर्शों को स्थान देते हैं, जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका में कभी भी प्रभावशाली ढंग से लागू नही किया गया। और यह कार्य अक्सर होता है। संयुक्त राज्य अमरीका मे प्रशासन कभी भी बहुत अधिक प्रभावशाली नही रहा। इसके बावजूद अथवा इन बातों के रहते इस देश ने बड़ी तेज गति से आर्थिक उन्नति की। यह उन अनेक

चुका है, अधिकारियों के विवेक पर आधारित अत्यधिक नियन्त्रण की वर्तमान प्रणाली वस्तुतः मुट्ठी भर जमे-जमाये और बड़े व्यापारियों को अधिक शक्ति प्रदान करती है तथा इन्हें परमिटों का लाभ भी प्राप्त होता है, जो आयोजन की दृष्टि से 'बेहद ऊँचा' होता है।

सब कम-विकसित देशों में योग्य और ईमानदार प्रशासकों की कमी है, यद्यपि यह कमी कुछ देशों में दूसरे देशो की तुलना में अधिक है। जहाँ तक सम्भव हो, किसी व्यक्ति के निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों के स्थान पर सामान्य और अनिवार्य नियन्त्रणों को लागू करने से ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी, जिसमें कुशल और ईमानदार प्रशासकों-रूपी अल्पसाधन की माँग में कमी हो जायेगी और इन व्यक्तियों को ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगाया जा सकेगा जो अभी तक नहीं किये जा सके हैं। प्रशासन प्रणाली मे अधिक कार्य-कुशलता की आवश्यकता पूरी करने के लिए कम जटिल नौकरशाही तरीकों का उपयोग और नीचे के स्तर के अधिकारियों को अधिक अधिकार देना भी अधिक सम्भव हो सकेगा।

जिस एक अन्य प्रशासनिक सुधार की तुरन्त आवश्यकता है वह कर्मचारियों की छटनी से सम्बन्धित है। निःसन्देह किसी भी कम-विकसित देश में योग्य और ईमानदार प्रशासक अधिक संख्या में नहीं हैं। लेकिन प्रशासन को अधिकारियों के विवेक पर आधारित अनावश्यक नियन्त्रणों के भार से लादने और अकार्यकुशल कार्य-विधि तथा नीचे के दर्जे के अधिकारियों को अधिक अधिकार न देना, जो आंशिक रूप से परम्परागत है और आंशिक रूप से उक्त नियन्त्रणों की भरमार के कारण होता है, ऐसी स्थिति है, जिसने कम योग्यता वाले और कम ईमानदार लोगों की नियुक्ति से अधिकारी वर्ग को कमजोर बना दिया है।

सर्वत्र प्रशासन के निचले स्तरो पर सार्वजनिक कर्मचारियों की संख्या में बेहद वृद्धि हुई है। दक्षिण एशिया में यह अत्यधिक व्यापक हो गया है।[60] लेटिन अमरीका तक में और कम-विकसित संसार के अन्य हिस्सों में भी यही प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। यह राजनीतिक दबाव के कारण हुआ है। सामान्य कर्मचारियों के रूप में सार्वजनिक कार्यालयो में नियुक्ति को शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में कमी करने का साधन बनाया गया है। समाज की आवश्यकताओं की उपेक्षा करने वाली स्कूल प्रणाली के कारण इन शिक्षित बेरोजगारो की संख्या में वृद्धि हुई है, जैसाकि अध्याय-6 में विचार किया गया है।

जब मैंने इस समस्या के बारे में भारत के एक महत्त्वपूर्ण मन्त्री से बातचीत की तो उन्होने मुझे बताया कि सर्वोच्च स्तर से नीचे का उनका समस्त कर्मचारी-वृन्द प्रायः किसी उपयोग का नही है। आधे अथवा यहाँ तक कि तिहाई कर्मचारियों से उनका मन्त्रालय कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से काम कर सकता है, लेकिन राजनीतिक दृष्टि से इन कर्मचारियों को बर्खास्त करना और अपने कर्मचारी-वृन्द में कमी करना सम्भव नहीं था। यद्यपि यह कमी व्यावहारिक होती और इससे खर्च में भी कमी आती।

निचले स्तरों पर बहुत बडी संख्या मे सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति की इस प्रणाली का सम्बन्ध इन कर्मचारियों के अत्यधिक नीचे वेतन से भी है। यह कम वेतन उन्हें रिश्वत लेने के लिए और अधिक प्रेरित करता है। इन लोगों की संख्या में पर्याप्त छटनी के साथ वेतनों में भी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है और

इसके साथ ही भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए भी प्रभावशाली कार्रवाई की जानी चाहिए।

साधारणतया भ्रष्टाचार प्रशासनिक कार्यकुशलता को नीचे स्तर पर बनाये रखने में निर्णायक भूमिका निभाता है और अधिकारियों के उच्च स्तर पर भी यही स्थिति है। बेईमान अफसर का यह निहित स्वार्थ होता है कि वह निजी व्यापार के ऊपर प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को बनाये रखे। अब क्योंकि समग्र दृष्टि से ये नियन्त्रण जमे-जमाये और बड़े व्यापारियों के हित में होते हैं, अतः प्रमुख व्यापारियों द्वारा इसका प्रायः कोई विरोध नहीं किया जाता।

बेईमान अफसर का सामान्यतया यह भी निहित स्वार्थ होता है कि ऐसी जटिल प्रशासनिक कार्यविधि कायम रहे, जिससे विलम्ब करने की अधिक सम्भावनाएँ रहें। दुर्भाग्यवश, ईमानदार अफसर भी इस निहित स्वार्थ में हिस्सा बँटाता है। यदि वह किसी ऐसे प्रशासन में कार्य करता है, जिस पर भ्रष्ट होने का व्यापक सन्देह किया जाता है तो वह 'सुरक्षा' की दृष्टि से काम करेगा और स्वयं व्यक्तिगत जिम्मेदारियाँ लेने से बचेगा।[51]

प्रशासन को मजबूत और बेहतर बनाने के सब प्रयासों में और अन्य सब ऐसे प्रयासों मे जिनका उद्देश्य राज्य को कम नरम बनाना हो, भ्रष्टाचार की समाप्ति का निर्णायक और महत्वपूर्ण स्थान होगा।

उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों मे दो सौ वर्ष पहले राज्य उससे कम नरम था, जितना आज कम-विकसित देशों में है। लेकिन उत्तर-पश्चिम यूरोप के देशों में, जहाँ आज भ्रष्टाचार सीमित है, उस आरम्भिक युग में काफी भ्रष्टाचार था। इससे कुछ समय बाद भी यही स्थिति थी। वस्तुतः वाणिज्यवाद, जिसमें सामन्तवाद के अनेक अवशेष निहित थे, और आधुनिक हितकारी राज्य के मध्य उदार दृष्टिकोण अपनाने तक यह स्थिति बनी हुई थी। बीच के उदारतावादी दौर में सशक्त और कठोर राज्य अस्तित्व में आया। उदार राज्य की एक विशेषता राजनीतिक और प्रशासन की एक ऐसी प्रणाली का निर्माण थी, जो उच्च व्यक्तिगत ईमानदारी और कुशलता पर आधारित थी।

यद्यपि उत्पादन और व्यापार को उदार बनाने तथा विशेष रूप से दस्तकारों के संघों की प्रणाली की समाप्ति और पिछले युग से विरासत में प्राप्त शहरों के उद्योग-वाणिज्य को संरक्षण देने की व्यवस्थाओं का इतिहासकारों ने गहराई से अध्ययन किया है, पर उन्होंने इस बात में बड़ी कम दिलचस्पी दिखायी है कि किस प्रकार भ्रष्ट राज्य एक सशक्त और भ्रष्टाचार से मुक्त उदार राज्य में बदल गया। सम्भवतः यह कार्य उच्च स्तरों पर नैतिकता में दृढता, तथा कड़ी कानूनी व्यवस्था, निचले स्तर के कर्मचारियो के वेतन मे सुधार के द्वारा हुआ। निचले स्तर के कर्मचारियो के वेतन मे सुधार का कार्य अक्सर परम्परागत रिश्वत को कानूनी फीस में बदलकर किया गया।

निःसन्देह, कम-विकसित देशों को उन बातों से सबक मिल सकता है, जो

सौ वर्ष से कुछ अधिक समय पहले पश्चिम के इन देशों में हुई। लेकिन आरम्भिक परिस्थितियों मे एक बुनियादी अन्तर है। राजनीति और प्रशासन में ईमानदारी का अपेक्षाकृत ऊँचा स्तर उस समय कायम हो गया था, जब राज्य की गतिविधि को न्यूनतम कर दिया गया था। जब फिर राज्य ने बड़े पैमाने पर अर्थव्यवस्था मे हस्तक्षेप किया तो वहां ऐसी राजनीतिक और प्रशासनिक प्रणाली मोजूद थी, जिसके उच्च गुण को सुरक्षित और संरक्षित रखने की आवश्यकता थी।

इसके विपरीत आज कम-विकसित देशों को अपने इतिहास के एक ऐसे दौर में व्यापक भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष करना है, जहाँ प्रायः हर बात भ्रष्टाचार को और अधिक बढाने की प्रवृत्ति दर्शाती है और जब विशेष रूप से राज्य की गतिविधियां निरन्तर अधिक व्यापक होती जा रही हैं। और जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, अधिकारियों के निर्णय पर आधारित नियन्त्रणों को आवश्यकता से अधिक तरजीह दी जा रही है।

लेकिन कम-विकसित देशो के समक्ष अधिक से अधिक प्रयास करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नही है। उन्हें सब कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए इस प्रवृत्ति को बदलना होगा और भ्रष्टाचार को घटाना होगा। अधिक व्यापक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उन्हें अपने राज्य को शक्तिशाली और कठोर बनाने के लिए, अपने कानून को अधिक प्रभावशाली और अपने प्रशासन को अधिक कार्यकुशल तथा विशेष रूप से कम भ्रष्ट बनाने का प्रयास करना होगा।

इन अनेक बातों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है, क्योंकि एक दिशा में सफलता दूसरी दिशा में सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। लेकिन यह निश्चय है कि भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए, क्योंकि भ्रष्टाचार फैलने से चारो ओर निषेधों का निर्माण होता है। इस दृष्टि से इस बात को निर्णायक और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए क्या किया जाना चाहिए इस सम्बन्ध में सुझावों की कमी नही है। अनेक कम-विकसित देशों मे इस कार्य के लिए नियुक्त समितियों ने जो रिपोर्ट दी हैं, उनमे विस्तार से उपायो का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए, भारत की भ्रष्टाचार निरोध समिति की रिपोर्ट (1964) का उल्लेख किया जा सकता है। यह रिपोर्ट उच्च कोटि की है। इसमें जो सुझाव दिये गये हैं, वे राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णयों के लिए अधिक सरल और अधिक सूक्ष्म नियमों, प्रशासनिक निर्णय पर आधारित नियन्त्रणो की व्यवस्था में कमी, प्रशासनिक निर्णयों के बारे में अधिक व्यापक प्रचार, जिसमें आयकर का निर्धारण भी शामिल है, के बारे मे हैं। विभिन्न बदनामी फैलाने वाली घटनाओं की तरह सुधार के प्रस्ताव भी उस समय बहुत उत्तेजना उत्पन्न करते हैं, जब उन्हें पेश किया जाता है। लेकिन जब कोई ठोस कार्रवाई नही होती तो यह उत्साह समाप्त हो जाता है।

एक मुद्दे पर प्रायः पूरी सहमति है। सबसे पहले उच्च स्तर के लोगों के भ्रष्टाचार को दण्डित किया जाना चाहिए। इन उच्च लोगो में मन्त्री और

बड़े अफसर आते हैं। इसके साथ ही व्यापारियों में जो लोग बड़े पैमाने पर रिश्वत देते हैं, उन पर भी अदालतों में मुकदमे चलाये जाने चाहिए। इस स्तर पर इस दोष पर प्रहार नहीं किया गया तो नीचे के समस्त स्तरों पर भ्रष्टाचार को संरक्षण मिलता रहेगा।

वस्तुतः सार्वजनिक प्रशासन की कुछ शाखाओं में विभिन्न स्तरों के सब अधिकारी रिश्वत में अपना-अपना हिस्सा बटाते है। जब रिश्वत की राशि को इस प्रकार नहीं बांटा जाता, तब प्रत्येक अपने लाभ की रक्षा करता है और इन लोगों के बीच एक मौन सांठ-गांठ कायम हो जाती है। सार्वजनिक विचार-विमर्श में जो निष्कर्ष व्यापक रूप से निकाला जाता है, वह यह है कि यदि राजनीतिज्ञों और उच्चाधिकारियों को ऊँचे दर्जे की व्यक्तिगत ईमानदारी प्रदर्शित करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, तो भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष निरर्थक है।

लेकिन, ये लोग और व्यापारी तथा वे व्यक्ति जिन्होंने इनसे सांठ-गांठ कर रखी है, इन देशों में उस विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं जिसके हाथ में सत्ता है। साधारणतया ये लोग स्वयं अपनी रक्षा करने की क्षमता रखते हैं और अपने अधीन काम करने वाले सब छोटे-मोटे लोगों को भी बचाने की ताकत रखते हैं और इस प्रकार ये लोग अपने विरुद्ध कानूनी कार्रवाई से बच जाते है। यदा-कदा कोई बदनामी फैलाने वाली घटना सामने आती है और इनमे से कोई व्यक्ति इस्तीफा दे देता है। अधिक गम्भीर दृष्टि से, व्यापक भ्रष्टाचार ऐसी स्थिति के निर्माण में भी सहायक होता है, जिसमें सरकार का तख्ता उलटना सम्भव हो जाता है और शासन में परिवर्तन होता है, यह शासन अधिकांशतया किसी-न-किसी प्रकार की तानाशाही होता है। यदि अन्य कुछ नहीं बदलता, तो नया शासन भी कुछ ही समय में उतना ही भ्रष्ट होता है जितना वह शासन था, जिसे इसने समाप्त किया।

जिस समय उस स्तर पर भ्रष्टाचार पर प्रहार करना असम्भव हो जाता है, जिस स्तर पर भ्रष्टाचार विरोधी अभियान को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रहार करना आवश्यक है, तो फिर हमारे समक्ष कम-विकसित देशो का असमानतावादी सत्ता संगठन आ जाता है। यदि राजनीतिज्ञों और अधिकारियों तथा व्यापारियों और अन्य लोगों का बड़ा हिस्सा भ्रष्टाचार से कम अवधि में लाभ प्राप्त करने पर उतारू हो, तो भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता, चाहे शिक्षित और अपनी मांगों को उठाने की क्षमता रखने वाले अपेक्षाकृत नीचे स्तर के लोग कितने ही क्रोध से अपना विरोध प्रदर्शित क्यों न करें। जब तक क्रम-विकास अथवा क्रान्ति के द्वारा सत्ता के ढांचे मे परिवर्तन नहीं होता, भ्रष्टाचार को कम करना अथवा यहां तक कि इसकी निरन्तर वृद्धि के मार्ग मे बाधा डालना कठिन होगा।

इस सम्बन्ध में एक बात याद दिलाना उचित होगा। यह साधारणतया कहा जाता है कि किसी भी कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद भ्रष्टाचार को प्रभावशाली ढंग से समाप्त कर दिया जाता है—यद्यपि अक्सर इसके साथ ही भ्रष्ट लोगों को भी समाप्त कर दिया जाता है।[52] पर अक्सर एक नयी नौकरशाही व्यवस्था और एक नये उच्च वर्ग के विकास में अधिक समय नहीं

लगता और इसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद और छोटा-मोटा भ्रष्टाचार फिर शुरू हो जाता है, जैसाकि हमने सोवियत संघ और पूर्व यूरोप के अन्य कम्युनिस्ट देशो के सम्बन्ध मे देखा है। सम्भवतः जनता द्वारा कम्युनिस्ट क्रान्ति को आरम्भ मे स्वीकार करने का आंशिक कारण इस तथ्य में निहित होता है कि इससे लोगो को पहली बार भ्रष्टाचार से मुक्त शासन प्राप्त होता है।

जैसाकि वयस्क शिक्षा अभियान के मामले में होता है, जो कम्युनिस्ट *क्रान्ति के बाद चलाया जाता है*, इसे *अपने-आपमें कोई भयावह घटना नही* समझा जाना चाहिए, बल्कि एक सुधार-कार्य माना जाना चाहिए। और इसका गैर-कम्युनिस्ट कम-विकसित देशो को अनुसरण करना चाहिए, यद्यपि यह कार्य भिन्न साधनों से किया जाना चाहिए; क्योंकि हमें यह विचार स्वीकार नही करना चाहिए कि केवल साम्यवाद ही हमें भ्रष्टाचार से बचा सकता है।

किसी कम-विकसित देश मे सामाजिक अनुशासन को दृढ़ बनाने और नरम राज्य होने के कारण इनके मार्ग में जो निषेध और बाधाएं आती हैं, उन्हें समाप्त करने के लिए स्वयं सम्बन्धित देश को ही कार्रवाई करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे विदेशी सहायता की प्रायः कोई गुंजाइश नही है। यदा-कदा कानूनी और प्रशासनिक सुधार की विभिन्न समस्याओं के बारे मे विशेषज्ञों की सलाह अपनी भूमिका निभा सकती है। पर इस स्थिति में विकसित देशो से विशषज्ञों का चुनाव अत्यधिक सावधानी से किया जाना चाहिए। ये लोग केवल बहुत अच्छे वकील और उच्च कोटि के प्रशासन विशेषज्ञ ही नहीं होने चाहिए, बल्कि इन लोगों में सम्बन्धित कम-विकसित देश की अत्यधिक भिन्न परिस्थितियो को पूरी तरह समझ लेने की क्षमता भी होनी चाहिए। इन लोगों को इस देश की अपनी विशेष परम्पराओं, जो आरम्भ में अधिक भ्रष्टाचार के गर्त में पड़ गयी थी; राष्ट्रीय समुदाय के प्रति निष्ठा की व्यापक कमी, जो इसके उच्च वर्ग, जिसमे उच्च अधिकारी और व्यापारी शामिल हैं, के अधिकाश भाग मे भी मौजूद है और अन्ततः इस देश की अत्यधिक गरीबी और सामान्य जन-समुदाय मे उपयोगी साक्षरता की कमी की समस्याओं को भी समझ लेना चाहिए। किसी कम-विकसित देश को कम योग्यता वाले विशेषज्ञों को उपलब्ध कराना केवल बहुत कम उपयोग का ही नही होता, बल्कि यह इन देशो के लिए हानिकारक भी होता है और जैसाकि, दुर्भाग्यवश, अनेक उदाहरणो से स्पष्ट भी है।

आर्थिक दृष्टि से ऐसी तकनीकी सहायता पर अधिक लागत नही आती। कुछ अपवादस्वरूप मामलों मे जहां ऐसी योग्यताओ वाले विशेषज्ञ मौजूद हो, निर्धनतम देश भी स्वयं अपने साधनों से उनका वेतन चुकाने की क्षमता रखते हैं।

नि.सन्देह यह भी महत्त्वपूर्ण होगा कि विकसित देश कम-विकसित देशों को अधिक सामाजिक अनुशासन कायम करने, विशेषकर, भ्रष्टाचार के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली कदम उठाने की दिशा मे प्रेरित करने के लिए अपने

प्रभाव का इस्तेमाल करें। विश्व बैंक ने शुरू से ही इस दिशा मे अपने प्रभाव का इस्तेमाल किया है। और इस प्रभाव को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

पश्चिम के विभिन्न विकसित देशों की इस महत्त्वपूर्ण मामले में कोई सम्मानजनक स्थिति नही है, क्योंकि दुर्भाग्यवश कम-विकसित देशों में स्वयं अपने नागरिकों की गतिविधि के कारण उनकी प्रतिष्ठा पर धब्बा लगा है। जैसाकि मैं कह चुका हूँ, पश्चिम की निजी व्यापारी कम्पनियाँ सामान्यतया समस्त कम-विकसित देशो में राजनीतिज्ञों और अधिकारियो को भ्रष्ट करने के काम में व्यापक रूप से लगी हुई हैं।

यह गतिविधि, नि:सन्देह, लम्बी अवधि की दृष्टि से पश्चिम के व्यापार और पश्चिम के देशों के हितों के लिए हानिकारक है। पहले ही इन देशों के प्रति कम-विकसित देशों के अनेक बुद्धिवादियों की यह धारणा है कि ये देश शोषण, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रतीक हैं। उच्च वर्ग के एक बडे हिस्से में यह दृष्टिकोण मौजूद रहने के कारण ऐसी संरक्षणवादी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं कि स्वदेशी विशेषज्ञों और व्यापारियों को विदेशियों से प्रतियोगिता में हानि पहुँच रही है।

रोष प्रदर्शन के इन स्रोतों के साथ यह तथ्य जुडा हुआ है कि इन बुद्धि-वादियों की नजर मे, विदेशी व्यापारी कम्पनियाँ उनके राजनीतिज्ञों और उच्च प्रशासनिक अधिकारियों की ईमानदारी को समाप्त करने के लिए षड्यन्त्र रचने में लगी हैं। वस्तुतः उस समय इस धारणा के क्षति पहुँचाने वाले प्रभाव और मजबूत हो जाते है, जब पश्चिम से मिलने वाली एकतरफा सार्वजनिक सहायता को इस दृष्टि से देखा जाने लगता है, जो, जैसाकि मैंने कहा है, कभी-कभी आवश्यक होती है।

इसके साथ ही एक और प्रभाव उत्पन्न होता है, जो पश्चिम के लिए हानि-कारक है। पश्चिम की ऐसी कोई कम्पनी जो व्यापार के उच्च मानक कायम रखना चाहती है, स्वयं को अनुचित प्रतियोगिता में फँसा हुआ पाती है और इसकी यह प्रतियोगिता उन दूसरी कम्पनियों से होती है जो बड़े पैमाने पर रिश्वत देने का सहारा लेती है। जहाँ तक राष्ट्रीय समस्या का सम्बन्ध है, धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अनुचित प्रतियोगिता को बर्दाश्त करना व्यापारिक समुदाय के हित में नही है। पश्चिम के सब देशों में रिश्वत विरोधी कानून को साधारणतया व्यापार संगठनों का पूरा समर्थन प्राप्त होता है।

यदि कोई बात निश्चित है तो यह कि पश्चिम के व्यापार को सामूहिक दृष्टि से इस प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता समाप्त कर दिये जाने से बहुत लाभ मिलेगा। मैने इस समस्या पर पश्चिम के प्रबुद्ध व्यापारियों से विचार किया है और वे सिद्धान्त रूप में इस बात मे सहमत है।

यह एक ऐसी समस्या है, जिसके सम्बन्ध मे स्वयं इन व्यापारियो के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ शामिल है, कोई कारंवाई कर सकते हैं। कुछ वर्ष पहले जब एक छोटे देश का एक राष्ट्रीय प्रतिनिधि मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ से भेंट के लिए आया तो मैंने प्रतिनिधिमण्डल के अध्यक्ष को इस वाणिज्य संघ से अनौपचारिक रूप से इस समस्या पर विचार करने को कहा और उन्होने यह विचार किया भी। इस देश के व्यापारियो ने

अपने देश और विदेश मे उच्च नैतिक आदर्शों का पालन करने में असामान्य दिलचस्पी दिखायी थी। इसके परिणामस्वरूप उनके व्यापार को अनुचित प्रतियोगिता से सर्वाधिक क्षति उठानी पड़ी, क्योंकि वे उच्च नैतिक आदर्शों का पालन कर रहे थे।

पर इस प्रतिनिधिमण्डल के अध्यक्ष ने मुझे बड़े दुख से बताया कि इस समस्या के बारे मे वे कोई बात सुनने को भी तैयार नही थे और बैठक में सार्वजनिक रूप से इस पर विचार करने की सम्भावना का तो उन्होंने और भी उग्र विरोध किया। संयुक्त राज्य अमरीका का प्रतिनिधिमण्डल इस मामले को इसी प्रकार दबा रहने देने के लिए सबसे अधिक व्यग्र था। यह व्यापारियों और उनके सगठनो की स्वयं अपने हितों को तोलने की दृष्टि से अदूरदर्शिता का एक और उदाहरण है।

एक और उदाहरण दक्षिण अफ्रीका के प्रति इनका दृष्टिकोण है। दक्षिण अफ्रीका से व्यापार और इस देश में पूंजी विनियोग अमरीकी पूँजीवाद के लिए अत्यन्त मामूली बात है। लेकिन वे दक्षिण अफ्रीका के व्यापार में वृद्धि को शक्तिशाली प्रोत्साहन प्रदान करते हैं और अमरीकी सरकार को उस नीति का पालन करने से रोकते हैं जो अमरीका ने अन्य देशों के साथ मिलकर घोषित की है। और ये व्यापारी संयुक्त राज्य अमरीका और अमरीकी पूंजीवाद के नाम पर—एक मजदूर पार्टी की सरकार के ही शासनकाल में ब्रिटेन की तरह—संसार भर मे बट्टा लगाते हैं। यह बात उस देश के सच्चे हित में नही हो सकती जो संसार के नेतृत्व की महत्त्वाकाक्षा रखता हो। लेटिन अमरीका के अनेक देशों मे अमरीका की व्यापार कम्पनियो के तौर-तरीके और सरकारी नीति के तत्सम्बन्धी परिणाम ऐसी ही अदूरदर्शिता, असंगत और स्वयं को प्रभावहीन बना डालने वाले दृष्टिकोणो के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस स्थिति में, उन देशों को, जिनमें अधिक प्रबुद्ध व्यापारी और अधिक कठोर सरकारी नेतृत्व है, विदेशों मे अपने नागरिकों द्वारा भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए कार्रवाई करने में पहल करनी चाहिए। इन देशों को अपने नागरिकों द्वारा भ्रष्टाचार पर वही कानूनी प्रतिबन्ध लगाने चाहिए जो स्वदेश में लगाये जाते हैं। जब इन देशों में अधिकारियों को रिश्वत देना एक गम्भीर अपराध समझा जाता है, तो कोई कारण नही कि विदेशी अधिकारियों को रिश्वत देने के कार्य पर दण्ड न मिले। कही भी कम्पनियों के कर का निर्धारण करने में अपने देश में दी गयी रिश्वतों की राशि पर छूट नहीं दी जाती। तो इस बात का कोई कारण नही हो सकता कि कम-विकसित देशो में राजनीतिज्ञों और प्रशासकों को दी गयी रिश्वत की राशि को 'व्यापारिक खर्च' बताकर कर-योग्य राशि में से घटा दिया जाये।

अन्ततः यह किसी भी देश के नागरिकों की नैतिकता का प्रश्न होता है और यह बात उठती है कि देश किस सीमा तक विदेशों में अपने नागरिको को भ्रष्ट तरीके अपनाने की अनुमति दे सकता है। पश्चिम की सभ्यता में अधिक शुद्ध अन्त.करण की प्राप्ति के लिए कुछ घाटा उठाना भी उचित होगा। नि.सन्देह जिस देश में विदेशों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए कड़े नियम बनाये जायेंगे, आरम्भ मे उसकी कम्पनियों को कुछ व्यापार से हाथ धोना पड़ेगा। पर

इस बात में भी सन्देह नहीं है कि कम-विकसित देशों में ईमानदार लोगों के बीच उन्हें सद्भावना के रूप में बहुत लाभ मिलेगा। इससे जल्दी ही खोये हुए अवसर पुनः प्राप्त करने में या पहले से भी अधिक अवसर प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

इसके साथ ही इस कार्रवाई से वे देश अपराधियों के रूप में संसार के समक्ष प्रकट हो जायेंगे जो व्यापार के भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। कम-विकसित देशों में राजनीतिज्ञों और अफसरों को बड़े पैमाने पर रिश्वत देने की समस्या को खुले रूप से सबके सामने रखने के अलावा दूसरा रास्ता नहीं है। उस स्थिति में, उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य संघ इस विषय को अपने विचाराधीन विषयों में रखने से नहीं बच सकेगा।

यहाँ इस समस्या पर पश्चिम के हितों की दृष्टि से विचार किया गया है। यह स्वयं प्रकट है कि पश्चिम की व्यापारिक कम्पनियों द्वारा कम-विकसित देशों के आर्थिक जीवन में रिश्वत देकर प्रवेश करने का तरीका न अपनाना इन देशों को नरम राज्य की खामियों को समाप्त करने के प्रयासों में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। यह सहायता देने पर विकसित देशों को कुछ भी खर्च नहीं करना होगा और वस्तुतः यह बात स्वयं उनके लम्बी अवधि के हित में होगी।

यह बात भी स्वयं उद्घाटित है कि इससे कम-विकसित देशों में नरम राज्य होने की पूरी समस्या के वैज्ञानिक अध्ययन के वर्तमान निषेधों को भी समाप्त करने में सहायता मिलेगी।

•

अध्याय : 8

# अन्यत्र स्थिति की दलील नहीं बल्कि एक चुनौती

इस पुस्तक मे एशियन ड्रामा के जो अनेक सन्दर्भ दिये गये है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्ड दो मे अब तक कम-विकसित देशों मे दूरगामी सुधारों की आवश्यकता के बारे में जो कुछ कहा गया है—तर्कसंगत तथ्यों और इन तथ्यों के आधार पर तथा मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं से जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उन दोनों के सम्बन्ध में भी—उस पर एशियन ड्रामा में कही अधिक निर्णायक ढंग से और विस्तार से तथा सम्बन्धित सामग्री के उचित सन्दर्भों का उल्लेख करते हुए विचार हुआ है। उस मूल ग्रन्थ के विशाल आकार के कारण नीति सम्बन्धी प्रमुख निष्कर्षों को संक्षेप मे एक अन्तिम भाग मे प्रस्तुत करने की आवश्यकता थी।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन अलग से हो रहा है, पर इसे यही कमी पूरी करने के उद्देश्य से लिखा गया है। कुछ सीमा तक यह पुस्तक चुनीदा रही है। उदाहरण के लिए, मैंने स्वास्थ्य-समस्या पर इसमें विचार नहीं किया।[1] उद्योगीकरण की समस्याओं तथा दस्तकारी और 'छोटे उद्योगों'[2] के बारे में कृषि सम्बन्धी अध्याय-4 में संक्षेप मे बात कही गयी है।

कम-विकसित देशों की परिस्थितियों का यथार्थवादी आधार पर अनुशीलन करने के मेरे प्रयास से ऐसी बातें स्पष्ट हुईं, जिनसे विकास के दृष्टिकोण से गम्भीर खामियां प्रकट होती हैं। यही कारण है कि आमूल और दूरगामी सुधारों की आवश्यकता है। मेरे अनुभव के अनुसार जब कभी इन कमियों और दूरगामी सुधार की आवश्यकता का उल्लेख हुआ, पश्चिम के विकसित देशों मे कम-विकसित देशो की घटनाओ में दिलचस्पी न लेने के औचित्य के रूप में इनका इस्तेमाल किया गया। विशेषकर, इस बात की आड़ लेकर विकास के लिए दी जाने वाली सहायता में वृद्धि के स्थान पर उसमें कमी कर दी गयी।

प्रतिक्रियावादियो द्वारा निकाले गये इस निष्कर्ष ने अधिक उदार विचार वाले लोगों को स्पष्टतया चिन्तित किया है। इस कोटि में विकास की समस्याओं के पेशेवर अध्ययनकर्त्ताओं की बडी संख्या आती है। वस्तुतः ऐसे किसी निष्कर्ष की आशंका ने निरन्तर विधिवत् उनकी विचारधारा को प्रभावित किया है। विकास सम्बन्धी समस्त साहित्य में आशावादी रुझान, जिसकी मैं आलोचना करता हूं, वस्तुतः इस कारण से अधिक शक्तिशाली बना है, क्योंकि इसके लेखकों को यह भय है कि यदि कम-विकसित देशो की परिस्थितियों का अधिक यथार्थवादी विश्लेषण किया गया, तो इससे विकसित देशों के लोग इन्हें सहायता देने से

निरुत्साहित हो सकते हैं।

मेरी राय में ये दोनों दृष्टिकोण असंगत हैं। इस तथ्य को स्वीकार करना कि कम-विकसित देशों में स्थिति उससे कही अधिक गम्भीर है, जितनी इन देशों की समस्याओं के अध्ययनकर्त्ता सामान्यतया समझते हैं, विकसित देशो से इन्हे अधिक सहायता की आवश्यकता पर जोर पडता है। इससे इस सहायता के लिए अधिक सावधानी से आयोजन करने को भी प्रेरणा मिलेगी, ताकि इस सहायता से विकास को सर्वाधिक प्रेरित किया जा सके। यथार्थवादी दृष्टिकोण विकसित देशों के समक्ष अन्यत्र स्थिति की दलील या बहाना प्रस्तुत नही करता, बल्कि चुनौती प्रस्तुत करता है।

यह सच है, जैसाकि मैंने पिछले भाग में निरन्तर जोर देकर कहा है कि जिन दूरगामी सुधारों की आवश्यकता है, उन्हें स्वयं कम-विकसित देशो को लागू करना चाहिए। उन्हें विशेषकर, विभिन्न क्षेत्रों में अपनी समस्त नीतियों को इस प्रकार संचालित करना होगा, ताकि उन आर्थिक और सामाजिक असमानताओं का मुकाबला कर सकें जो आज प्रायः सर्वत्र बढ रही हैं। इसकी केवल सामाजिक न्याय के लिए ही आवश्यकता नहीं है, बल्कि विकास के मार्ग में जो निषेध और बाधाएँ हैं, उन्हे समाप्त करने के लिए भी आवश्यकता है (देखिए अध्याय-3)।

इसके बाद इन देशों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपने गरीब देशवासियो की सहायता के लिए जो अनेक प्रयास किये जाते है, उन्हें कही इस प्रकार विकृत तो नही बना दिया जाता, जिससे समृद्ध लोगों को लाभ पहुँचने लगे। इस प्रकार की विकृति, जो आज कम-विकसित देशों में प्राय एक नियम बन गयी है, उस प्रक्रिया का अंग बन गयी है, जो असमानता को बढाने में कारक बनती है।

कृषि में उन देशों को मनुष्य और भूमि के बीच के सम्बन्ध को बुनियादी रूप से बदलना होगा, ताकि मनुष्य को भरपूर प्रयास करने और जो कुछ पूंजी वह जुटा सकता है, उसे लगाने के लिए प्रोत्साहन मिल सके। सबसे पहले उसे स्वयं अपना श्रम लगाना चाहिए। भूस्वामित्व और काश्तकारी की व्यवस्था में सुधार के बिना, खेती में टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति से सामाजिक और आर्थिक खाइयो में और अधिक बढोतरी होगी, जो आज भी खेती मे लगे लोगो की निरन्तर तेज़ी से बढती हुई जनसंख्या के बीच मौजूद है (देखिए अध्याय-4)।

इन्हें सामान्य जन-समुदाय मे सन्तति-निरोध का प्रचार-प्रसार करना चाहिए, जो कम-विकसित संसार के अधिकाश भाग मे इससे कही अधिक कठिन कार्य है जितना साधारणतया विकसित देशों में समझा जाता है (देखिए अध्याय-5)।

इन देशों को अपनी आबादी से निरक्षरता को मिटा देने की महत्त्वाकांक्षा जगानी चाहिए और यह कार्य वयस्क शिक्षा की व्यवस्था कर कुछ ही वर्षों में पूरा किया जाना चाहिए। इन लोगों को अपने स्कूलों मे भी इसी प्रकार दूरगामी तरीके से परिवर्तन और सुधार करना चाहिए (देखिए अध्याय-6)।

इन्हें अपने कानून बनाने के तरीकों और उन्हे लागू करने के तरीको मे भी सुधार करना चाहिए। इन्हें अपने राज्य को एकीकृत और सुदृढ बनाना चाहिए। इन्हें भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए संघर्ष छेड़ना चाहिए क्योंकि भ्रष्टाचार में वृद्धि हो रही है (देखिए अध्याय-7)।

इन देशों की स्थिति की गम्भीरता—और इस कारण से अनेक कार्य करने की आवश्यकता का औचित्य—इस तथ्य से महत्त्वपूर्ण तरीके से स्पष्ट हो जाती है कि सुधार राष्ट्रीय एकता और निरन्तर विकास की एक शर्त है और यह तथ्य भी मौजूद है, जैसाकि हम देख चुके हैं, कि समस्त सुधारों को प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है, अधिकांशतया उच्च वर्ग के निहित स्वार्थों के कारण, जिसके हाथ मे राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों स्तरों पर राजनीति का नियमित रूप से नियन्त्रण रहता है।

ये कठिनाइयाँ निर्धनतम देशो में अधिकतम हैं, जिन्हें सबसे अधिक विकास की आवश्यकता है। दूसरी ओर, क्योंकि विकास से सुधारों की सम्भावना में साधारणतया और वृद्धि होगी, इसका यह अर्थ होता है कि सुधार, एक बार चालू हो जाने पर, एक ऐसी समग्र प्रक्रिया को जन्म दे सकते हैं, जिसके चक्राकार प्रभाव के द्वारा विकास और सुधार का क्रम शुरू हो सकता है। हमने यह देखा है कि विकसित देश सुधारों की दृष्टि से केवल एक तरीके से ही कम-विकसित देशो की प्रत्यक्ष रूप से सहायता कर सकते है : ये देश अपने व्यापारियों को इन देशो के अधिकारियो और राजनीतिज्ञों को भ्रष्ट बनाने से रोक कर यह सहायता दे सकते हैं। इस प्रकार भ्रष्टाचार में वृद्धि की वर्तमान प्रवृत्ति के एक प्रभावशाली कारण को समाप्त किया जा सकेगा। इस 'सहायता' पर विकसित देशों को कुछ भी खर्च नही करना पड़ेगा और वस्तुतः इससे स्वयं उनके हितों को बहुत लाभ पहुँचेगा (देखिए अध्याय-7)।

विकास के लिए आन्तरिक सुधारों का महत्त्व समझ लेने के साथ यह प्रश्न उठता है : क्या विकसित देश ऐसा कुछ कर सकते हैं कि कम-विकसित देश सुधारों की आवश्यकता समझने लगें और उन्हें इन सुधारो को लागू करने की प्रेरणा मिले ?

मैं सबसे पहले वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा मे परिवर्तन का उल्लेख करने के लिए क्षमा चाहता हूँ। इस समय यह कार्य जिस रूप मे हो रहा है, साधारणतया उसमें कम-विकसित देशो की उन परिस्थितियों को छिपाने का प्रयास किया जाता है, जो आमूल और दूरगामी सुधारों की आवश्यकता को सबसे अधिक प्रमाणित करती हैं। कठिन और उलझन में डालने वाले तथ्यों पर ध्यान न देना और उनका विश्लेषण न करना कम-विकसित देशों के उच्च वर्ग के उन अप्रबुद्ध लोगों के हाथों में खेलना है, जो सुधारो का प्रतिरोध करते हैं और जो सुधार के समस्त प्रयासो को विकृत बनाते हैं, ताकि ये प्रयास उनके अदूरदर्शिता पर आधारित हितों के अनुरूप हो जायें। ये सुधार लम्बी अवधि की दृष्टि से स्वयं इन लोगों के हित में भी हैं। इस बात पर अध्याय-14 में आगे विस्तार से विचार होगा। ईमानदारी से किया गया गहन अनुसन्धान सुधारों को लागू करने की जो चुनौती प्रस्तुत करता है, उसे उभरने नही दिया गया है।

जैसाकि हम देख चुके हैं, दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण ने, जो आर्थिक अनुसन्धान के ऊपर छाया हुआ है, नरम राज्य और भ्रष्टाचार की

'तटस्थ' दृष्टिकोण अपनाना सही विकल्प नही है। हम तटस्थ नही हैं और न ही तटस्थ हो सकते है। यदि इन देशों की सहायता देने की कोई नीति न भी हो तब भी यही होगा। वस्तुतः सहायता सम्बन्धी नीति के मौजूद रहने के कारण यह और आवश्यक हो जाता है कि हम कम-विकसित देशों की आन्तरिक समस्याओ मे और अधिक दिलचस्पी लें। सब विकसित देशों में इस बात को अच्छी तरह समझा जाता है कि सहायता सम्बन्धी नीतियाँ किसी देश की सामान्य विदेश नीति का एक हिस्सा होती हैं—यद्यपि अक्सर संयुक्त राज्य अमरीका में संसद की विभिन्न कार्रवाइयों और प्रकाशनों में इसे बेहद कम निषेधों के साथ व्यक्त किया जाता है।

इसके बाद दूसरा प्रश्न यह उठता है : कम-विकसित देशों की नीतियो पर विकसित देश किस प्रकार प्रभाव डालें और इस प्रभाव की दिशा क्या होनी चाहिए ?

मान लीजिए—जैसाकि मैं मानता हूँ—कि विकसित देशो के लोग यह चाहते हैं कि ससार-भर मे कम-विकसित देशों का यथासम्भव तेज़ी से विकास हो और इसके साथ ही, यह विकास इस प्रकार 'सन्तुलित' हो ताकि आर्थिक खाइयों का निर्माण न हो जो कालान्तर में केवल विकास के मार्ग मे ही बाधक नही बनेंगी, बल्कि राष्ट्रीय एकता और आन्तरिक शान्ति तक को खतरे मे डाल देंगी। इन मान्यताओं के बाद कम-विकसित देशों की आन्तरिक परिस्थितियों के बारे मे बेहतर जानकारी से विकसित देश तर्कसंगत रूप से वे कार्य करने के लिए प्रेरित होने चाहिए, जिनसे कम-विकसित देशों में उन शक्तियों के हाथ मज़बूत हों जो सुधारों की माँग करते हैं।

सहायता सम्बन्धी नीतियो से उस प्रभाव मे वृद्धि होती है जो विकसित देश इस चुनाव के द्वारा कम-विकसित देशों पर डाल सकते हैं कि सहायता के लिए किन देशो का चुनाव किया जाना चाहिए और इस सहायता का क्या उद्देश्य होना चाहिए। यदि सहायता की राशि को बहुत बढ़ा दिया जाता है, जिसका मैं अध्याय-11 मे प्रस्ताव करूँगा, तो यह प्रभाव और अधिक बढ़ सकता है।

विश्व बैंक समूह कम-विकसित देशों को पूँजी देने वाला प्रमुख स्रोत है और इसकी वर्तमान नीति बहुत छोटी अवधि मे अपने ऋणों की राशि को तेज़ी से कई गुना बढा देने की है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बैंक के अध्यक्ष अब आबादी के नियन्त्रण की आवश्यकता पर जोर दे रहे हैं। यदि, जैसाकि मैंने अध्याय-5 मे दर्शाया है, इस क्षेत्र में अधिक वित्तीय सहायता की गुंजाइश नही है—सन्तति-निरोध की बेहतर विधियों के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान को जारी रखने के लिए आवश्यक धनराशि को छोड़कर—और चाहे स्वयं कम-विकसित देशों की सरकारों पर अधिकाश जिम्मेदारी आती हो, फिर भी सही दिशा मे दबाव डालने की बहुत गुंजाइश है।

सहायता के आवेदनो पर विचार करते समय, अब भविष्य में बैंक से यह आशा की जा सकती है कि बैंक इस बात पर विचार करेगा कि सहायता माँगने वाले देश की आबादी सम्बन्धी कोई नीति है अथवा नही और यदि कोई नीति है तो उसे लागू करने के लिए किस सीमा तक प्रभावशाली उपाय किये जा रहे है। यह बात बैंक के सीमित दृष्टिकोण से भी पर्याप्त तर्कसंगत है क्योकि किसी देश

सामने एक कठिन वित्तीय समस्या आ जाती है जो अनिवार्यतया भूमि-सुधार को रोक देगी अथवा इसकी गति को धीमा बना देगी। अपने कर सम्बन्धी कानून (और उसे लागू करने में) कुछ परिवर्तनों की शर्त लगाकर दिया गया बैंक का ऋण भूमि-सुधार को अधिक सम्भव बना सकता है और इससे कोई सुधार न होने अथवा सुधार का नाटक होने और एक प्रभावशाली सुधार के बीच का स्पष्ट अन्तर सामने आयेगा।

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि बैंक ने दिलचस्पी दिखायी है और अपनी गतिविधि के सीमित क्षेत्र में यह भ्रष्टाचार का मुकाबला करने और उचित प्रतियोगिता को बनाये रखने में सफल हुआ है (देखिए अध्याय-7)। अब बैंक के लिए अगला कदम यह होगा कि अपने सर्वेक्षणों और साधारणतया कम-विकसित देशों से अपने सम्पर्कों में इस बात पर जोर दे कि ये देश कानून बनाने और प्रशासन को बेहतर बनाने के लिए क्या कर रहे हैं, अथवा क्या नहीं कर रहे है ताकि राज्य को कठोर और शक्तिशाली बनाया जा सके, विशेषकर भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और हर प्रकार केपक्षपात को समाप्त किया जा सके।

इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि बैंक की घोषित नीति को, इन और अन्य क्षेत्रों मे प्रभावशाली रूप से लागू करने की बात को केवल मामूली-सी शिक्षा सम्बन्धी सलाह तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, चाहे यह कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यो न हो। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि बैंक की नीति इस बात का चुनाव करने में प्रतिविम्बत हो कि किन देशो को ऋण देने के लिए चुना जाता है, उन्हें कितनी राशि ऋण मे दी जाती है और यह ऋण किन कार्यों के लिए दिये जाते है।

मैंने इस समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण और विकास बैंक की गतिविधि के सम्बन्ध में विचार किया है। वस्तुतः ये सब बातें विभिन्न विकसित देशो को उनकी अपनी सार्वजनिक सहायता नीतियों में मार्गदर्शन दे सकती है। ये तरीके अपनाने से एक बात पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी कि भविष्य मे पश्चिम के विकसित देशों और कम-विकसित देशों की प्रगतिशील शक्तियों के बीच घनिष्ठ सहयोग होगा। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह सहयोग इन दोनों प्रकार के देशों के लम्बी अवधि के हित मे है।

लेकिन, यथार्थ में हमने अब तक जो कुछ देखा है, वह भविष्य की इस कल्पना से बहुत दूर की बात है। जैसाकि बार-बार कहा जा चुका है, अधिकाश कम-विकसित देशों मे सत्ता पर कुछ विशिष्ट राजनीतिक समूहो का एकाधिकार है और यह विशिष्ट समूह एक छोटे से उच्च वर्ग का अंग हैं, जिसके छोटे अवधि के हित ईमानदारी से और प्रभावशाली ढंग से प्रगतिशील सुधारों को लागू करने

सामने एक कठिन वित्तीय समस्या आ जाती है जो अनिवार्यतया भूमि-सुधार को रोक देगी अथवा इसकी गति को धीमा बना देगी। अपने कर सम्बन्धी कानून (और उसे लागू करने में) कुछ परिवर्तनों की शर्त लगाकर दिया गया बैंक का ऋण भूमि-सुधार को अधिक सम्भव बना सकता है और इससे कोई सुधार न होने अथवा सुधार का नाटक होने और एक प्रभावशाली सुधार के बीच का स्पष्ट अन्तर सामने आयेगा।

इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि बैंक ने दिलचस्पी दिखायी है और अपनी गतिविधि के सीमित क्षेत्र में यह भ्रष्टाचार का मुकाबला करने और उचित प्रतियोगिता को बनाये रखने में सफल हुआ है (देखिए अध्याय-7)। अब बैंक के लिए अगला कदम यह होगा कि अपने सर्वेक्षणों और साधारणतया कम-विकसित देशो से अपने सम्पर्कों मे इस बात पर जोर दे कि ये देश कानून बनाने और प्रशासन को बेहतर बनाने के लिए क्या कर रहे हैं, अथवा क्या नहीं कर रहे हैं ताकि राज्य को कठोर और शक्तिशाली बनाया जा सके, विशेषकर भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और हर प्रकार के पक्षपात को समाप्त किया जा सके।

इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि बैंक की घोषित नीति को, इन और अन्य क्षेत्रों में प्रभावशाली रूप से लागू करने की बात को केवल मामूली-सी शिक्षा सम्बन्धी सलाह तक ही सीमित नहीं किया जा सकता, चाहे यह कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि बैंक की नीति इस बात का चुनाव करने में प्रतिबिम्बित हो कि किन देशो को ऋण देने के लिए चुना जाता है, उन्हें कितनी राशि ऋण मे दी जाती है और यह ऋण किन कार्यों के लिए दिये जाते हैं।

मैंने इस समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की गतिविधि के सम्बन्ध में विचार किया है। वस्तुतः ये सब बातें विभिन्न विकसित देशो को उनकी अपनी सार्वजनिक सहायता नीतियों मे मार्गदर्शन दे सकती है। ये तरीके अपनाने से एक बात पूरी तरह स्पष्ट हो जायेगी कि भविष्य मे पश्चिम के विकसित देशों और कम-विकसित देशों की प्रगतिशील शक्तियों के बीच घनिष्ठ सहयोग होगा। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह सहयोग इन दोनों प्रकार के देशों के लम्बी अवधि के हित में है।

लेकिन, यथार्थ मे हमने अब तक जो कुछ देखा है, वह भविष्य की इस कल्पना से बहुत दूर की बात है। जैसाकि बार-बार कहा जा चुका है, अधिकांश कम-विकसित देशों मे सत्ता पर कुछ विशिष्ट राजनीतिक समूहों का एकाधिकार है और यह विशिष्ट समूह एक छोटे मे उच्च वर्ग का अंग हैं, जिसके छोटे अवधि के हित ईमानदारी से और प्रभावशाली ढंग से प्रगतिशील सुधारों को लागू करने के अनुरूप नहीं हैं। अतः इन सुधारों को लागू नहीं किया जा रहा है। जब दिखाने के लिए इन सुधारों के सम्बन्ध में कानून बनाये जाते हैं तो इन कानूनों में सुविधाजनक खामियाँ छोड़ दी जाती हैं अथवा इन कानूनो को लागू ही नहीं किया जाता। इन्हें लागू करने की प्रक्रिया में अक्सर इन्हें इस प्रकार विकृत बना

यह स्थिति विदेशी उद्यमों के लिए आरामदेह नही होती कि वे सत्तारूढ समूह से घनिष्ठ गठजोड़ की स्थिति में हो और उन्हें इस गठजोड का लाभ मिला हो। यदि पश्चिम के प्रबुद्ध व्यापारी केवल अपने यहाँ नियुक्त कर्मचारियो के वेतन और हित को आगे बढाने और उन्हें संगठित बनाने का ही प्रयास न करें—जैसाकि वे अक्सर करते है—और अपने तथा सत्तारूढ समूह के बीच कुछ अधिक दूरी बनाये रखने का भी प्रयास करें तो यह बात बेहतर होगी और इसे समझा जा सकेगा।

फिलहाल यह अधिकाशतया एक अच्छा सपना-भर है। अपने व्यापार को उचित काय-कुशलता से चलाने के लिए ये लोग अक्सर सत्तारूढ़ समूहों से घनिष्ठ सहयोग करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अक्सर यह एक उचित नीति दिखायी पड़ सकती है—चाहे अन्ततः इसके परिणामस्वरूप कठिनाइयाँ भी क्यों न उत्पन्न हों। लेकिन, यह नीति उस समय कम उचित हो जाती है, जब राजनीतिज्ञों और अधिकारियों से अपने सहयोग को रिश्वत के आधार पर मजबूत बनाया जाता है। लम्बी अवधि की दृष्टि से रिश्वत देना पश्चिम के व्यापार के लिए हानिप्रद ही है, जैसाकि अध्याय-7 में जोर देकर कहा गया है।

इसके अलावा इस बात को बडी आसानी से देखा जा सकता है कि पश्चिम के व्यापारी अपने देशो में चाहे कितने भी उदार क्यो न हों, जब वे किसी कम-विकसित देश में काम करते हैं तो सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रिया-वादी बन जाते है। इनमें से अधिकांश लोगों को एक तानाशाही उच्च वर्ग का शासन, जो समस्त विरोध को कुचलता हो, अधिक अच्छा दिखायी पड़ता है, चाहे यह लोगों का अत्यधिक शोषण क्यों न करता हो। ऐसे शासन से मिलकर काम करना व्यापार मे सहायक होता है, और सब कम-विकसित देशो मे व्यापार काफी कठिन काम है। चाहे लम्बी अवधि की दृष्टि से यह तरीका और दृष्टि-कोण, स्वयं अपने व्यापारिक हितों की दृष्टि से भी, विनाशकारी ही सिद्ध क्यो न हो, पर इस दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

अधिकाश व्यापारिक कम्पनियों के नाम के साथ विवेकहीन शोषण, भ्रष्टा-चार और पहले के जमाने की स्पष्ट जालसाजी का ऐतिहासिक भार भी जुड़ा होता है। जब आरम्भ में इन व्यापारों को शुरू किया गया तो सम्पत्ति और रियायतें प्राप्त करने के लिए ये तरीके अपनाये गये। यह ऐतिहासिक भार यदा-कदा फट पड़ता है, जैसाकि फिलहाल पीरु में अमरीका की तेल कम्पनियो के हितों के प्रति राजनीतिक प्रतिक्रिया के रूप में हो रहा है। लेकिन इसके अलावा अनेक ऐसी ही प्रवादजनक बातें हैं, जिन्हें विस्फोट से बचाने के लिए सत्तारूढ समूहों से घनिष्ठ सम्पर्क से काम किया जाता है और उन्हे अक्सर रिश्वत भी दी जाती है। लेटिन अमरीका में अक्सर यही स्थिति दिखायी पडती है, जहां कभी भी ऐसा उपनिवेशी शासन नही रहा, जो इन भयंकरतम बुराइयों को कुछ सीमा तक रोकता।

दिया जाता है कि इनका बिल्कुल उलटा प्रभाव होता है।

स्वदेश में यह सत्तारूढ़ समूह अक्सर अर्थशास्त्रियों और साधारणतया उन विचारकों और लेखकों का मुँह बन्द करने अथवा उनका समर्थन तक प्राप्त करने में सफल हुए हैं, जो 'जनमत' का निर्माण करते हैं। अधिकांश कम-विकसित देशों में यह अधिकाशतया उच्च वर्ग का ही मामला होता है। मैंने इस सम्बन्ध में कृषि नीति सम्बन्धी हाल के विचार-विमर्श का उदाहरण देकर बात को समझाने का प्रयास किया है, जहाँ भूमि-सुधार का प्रश्न अक्सर किसी-न-किसी बहाने से असफल बना दिया गया है (देखिए अध्याय-4)। जैसाकि हम देख चुके हैं, यही बात उन अधिकाश सुधारो पर लागू होती है, जिनकी तत्काल आवश्यकता है, उदाहरण के लिए, शिक्षा सम्बन्धी सुधार (देखिए अध्याय-6)। भ्रष्टाचार पर विकास सम्बन्धी विचार-विमर्श मे निरन्तर बहुत कम विचार किया जा रहा है, जबकि सावजनिक जीवन के अपेक्षाकृत कुछ नीचे स्तर पर इस विषय पर बड़ी जबर्दस्त बहस जारी है (देखिए अध्याय-7)।

विकसित देशों में स्पष्टतया यह अनुभव किया जाता है कि सत्तारूढ़ लोगों के प्रति राजनयिक दृष्टिकोण अपनाना बुद्धिमत्तापूर्ण नीति है और किसी भी स्थिति मे उन लोगो को सुधार लागू करने के लिए बाध्य नही किया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण विकसित देशों के इतिहास और वर्तमान विचारधारा के बिलकुल विपरीत है। यह वस्तुतः असमान पैमाने से माप लेने का प्रयास है। वस्तुत, यह अत्यधिक गम्भीर प्रकार का भेदभाव है, जिसका यह अभिप्राय होता है कि ऐसे प्रयास जो स्वयं विकसित देशों के लिए लाभकारी सिद्ध हो चुके हैं, और जिन्होने वस्तुत. उनके समाजो को नया स्वरूप प्रदान किया है, कम-विकसित देशों के लिए ग्राह्य नहीं समझे जाते।

अध्याय-3 में मैंने स्पष्ट किया है कि जन-समुदाय की प्रायः यन्त्रवत् निष्क्रियता और कम-विकसित देशो में सुधारो के प्रयास का अभाव पश्चिम के उन व्यापारिक हितों को अच्छा लगता है, जो कम-विकसित देशों में अपनी पूँजी लगाना और अपने उद्योग चालू करना चाहते हैं। सत्तारूढ़ समूह इन कम्पनियों के स्वाभाविक सहयोगी होते है। यह उपनिवेशी नीति को उसी रूप में जारी रखने का प्रमाण है और इससे उस आरोप का औचित्य सिद्ध होता है, जो पश्चिम के व्यापारियों पर उन्हें 'नव-पूँजीवादी' कहकर लगाया जाता है।

उपनिवेशो मे इसी प्रक्रिया के द्वारा उपनिवेशी शक्तियो ने सदा उन विशेषाधिकार प्राप्त समूहो का समर्थन प्राप्त किया, जो 'कानून और व्यवस्था बनाये रखने' में उनकी तरह ही दिलचस्पी रखते थे, जिसका अभिप्राय सदा यथा-स्थिति को बनाये रखना ही होता था। अबन्ध व्यापार की नीतियों का समानता-वादी सुधारों मे कोई दिलचस्पी न लेना इस बात का आधार बना कि उपनिवेशो के लोगों के रीति-रिवाजों में, जिनमें धार्मिक क्रियाओ का समावश होता था, हस्तक्षेप करना उचित न होगा।

राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र कम-विकसित देशो से आज पश्चिम का पूँजी-वाद जिस प्रकार व्यवहार कर रहा है, उसमें उपनिवेशवाद से विरासत में प्राप्त उस प्रक्रिया की तार्किकता स्वतः प्रकट नहीं है। जब कभी किसी प्रतिक्रियावादी सत्तारूढ समूह के विरुद्ध विरोध प्रबल हो उठता है, चाहे यह उग्र हो या नहीं, तो

यह स्थिति विदेशी उद्यमों के लिए आरामदेह नही होती कि वे सत्तारूढ़ समूह से घनिष्ठ गठजोड़ की स्थिति में हों और उन्हें इस गठजोड़ का लाभ मिला हो। यदि पश्चिम के प्रबुद्ध व्यापारी केवल अपने यहाँ नियुक्त कर्मचारियो के वेतन और हित को आगे बढाने और उन्हे संगठित बनाने का ही प्रयास न करें—जैसाकि वे अक्सर करते हैं—और अपने तथा सत्तारूढ समूह के बीच कुछ अधिक दूरी बनाये रखने का भी प्रयास करें तो यह बात बेहतर होगी और इसे समझा जा सकेगा।

फिलहाल यह अधिकाशतया एक अच्छा सपना-भर है। अपने व्यापार को उचित काय-कुशलता से चलाने के लिए ये लोग अक्सर सत्तारूढ़ समूहों से घनिष्ठ सहयोग करने की आवश्यकता का अनुभव करते है। अक्सर यह एक उचित नीति दिखायी पड सकती है—चाहे अन्तत. इसके परिणामस्वरूप कठिनाइयाँ भी क्यों न उत्पन्न हों। लेकिन, यह नीति उस समय कम उचित हो जाती है, जब राजनीतिज्ञों और अधिकारियो से अपने सहयोग को रिश्वत के आधार पर मजबूत बनाया जाता है। लम्बी अवधि की दृष्टि से रिश्वत देना पश्चिम के व्यापार के लिए हानिप्रद ही है, जैसाकि अध्याय-7 में जोर देकर कहा गया है।

इसके अलावा इस बात को बडी आसानी से देखा जा सकता है कि पश्चिम के व्यापारी अपने देशो में चाहे कितने भी उदार क्यों न हों, जब वे किसी कम-विकसित देश में काम करते है तो सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रिया-वादी बन जाते है। इनमे से अधिकाश लोगों को एक तानाशाही उच्च वर्ग का शासन, जो समस्त विरोध को कुचलता हो, अधिक अच्छा दिखायी पड़ता है, चाहे यह लोगों का अत्यधिक शोषण क्यों न करता हो। ऐसे शासन से मिलकर काम करना व्यापार मे सहायक होता है, और सब कम-विकसित देशों मे व्यापार काफी कठिन काम है। चाहे लम्बी अवधि की दृष्टि से यह तरीका और दृष्टि-कोण, स्वयं अपने व्यापारिक हितों की दृष्टि से भी, विनाशकारी ही सिद्ध क्यो न हो, पर इस दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

अधिकाश व्यापारिक कम्पनियो के नाम के साथ विवेकहीन शोषण, भ्रष्टा-चार और पहले के जमाने की स्पष्ट जालसाजी का ऐतिहासिक भार भी जुडा होता है। जब आरम्भ मे इन व्यापारो को शुरू किया गया तो सम्पत्ति और रियायतें प्राप्त करने के लिए ये तरीके अपनाये गये। यह ऐतिहासिक भार यदा-कदा फट पड़ता है, जैसाकि फिलहाल पीरु में अमरीका की तेल कम्पनियो के हितों के प्रति राजनीतिक प्रतिक्रिया के रूप में हो रहा है। लेकिन इसके अलावा अनेक ऐसी ही प्रवादजनक बातें हैं, जिन्हें विस्फोट से बचाने के लिए सत्तारूढ समूहों से घनिष्ठ सम्पर्क से काम किया जाता है और उन्हे अक्सर रिश्वत भी दी जाती है। लेटिन अमरीका मे अक्सर यही स्थिति दिखायी पडती है, जहाँ कभी भी ऐसा उपनिवेशी शासन नही रहा, जो इन भयकरतम बुराइयो को कुछ सीमा तक रोकता।

यह उल्लेखनीय है कि व्यापारियों की वर्तमान पीढ़ी स्वयं व्यक्तिगत रूप से अपने-आपको निर्दोष समझ सकती है। सम्भवतः वे स्वयं व्यापार के वे तरीके अब अपनाना नहीं चाहेंगे, जिन्हें अपने उद्यमों की नीव रखते समय उनकी कम्पनियों ने अपनाया था। लेकिन अपने इस दायित्व को चुकाना और अनुचित रूप से प्राप्त अधिकारों और सम्पत्तियों को त्याग देना आसान निर्णय नहीं है।

व्यापारी वर्ग अपने देशों की सरकारों के राजनयिक दबाव पर भी नियमित रूप से निर्भर कर सकता है और इस प्रकार वे अधिक ईमानदारी से काम करने का निर्णय ले सकते हैं। लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका ने सैनिक हस्तक्षेप की धमकी अथवा वास्तव में सैनिक हस्तक्षेप द्वारा यह दबाव डालने की पुरानी परम्परा निभायी है। इधर सैनिक कार्रवाई का स्थान सेण्ट्रल इण्टेलिजेंस एजेंसी (सी० आई० ए०) की तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों ने ले लिया है अथवा सी० आई० ए० इन कार्यों में मदद देती है।

संयुक्त राज्य अमरीका के लिए शीतयुद्ध और इसके परिणामस्वरूप संसार को साम्यवाद से बचाने की चिन्ता कम-विकसित देशों पर प्रायः हर प्रकार का दबाव डालने का सबसे महत्त्वपूर्ण बहाना बन गयी है। इससे विचारधारा सम्बन्धी एक ऐसी प्रवृत्ति सामने आयी है, जो संयुक्त राज्य अमरीका और स्वयं कम-विकसित देशों को समानतावादी सुधारों अथवा किसी भी प्रकार के सुधार से विमुख करती है।

दूसरे महायुद्ध के बाद की अवधि में अमरीकी सरकार कम-विकसित देश की एक ऐसी प्रतिक्रियावादी सरकार को भी अपने साथी के रूप में स्वीकार करने को तैयार थी, जो साम्यवाद के खिलाफ कड़ा रुख अपनाये। ऐसे किसी भी शासन से समानतावादी सुधारों अथवा भ्रष्टाचार की समाप्ति के सम्बन्ध में बहुत कम अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका ने पूरे संसार की आँखों में यह स्वरूप धारण कर लिया, और विशेषकर कम-विकसित देशों में, कि यह देश संसार-भर में प्रतिक्रियावाद का हामी है।

हम सब अब यह आशा कर सकते हैं कि शीतयुद्ध में कमी आयेगी। विशेषकर हम यह आशा कर सकते हैं कि मैकार्थी-डलेस युग में संयुक्त राज्य अमरीका की भूमिका के बारे में अमरीकियों ने जो व्याख्या अपनायी थी, उसमें परिवर्तन होगा। इसके बाद हमें यह अपेक्षा करने का अधिकार होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका में उदारतावादियों को विदेश नीति में, और विशेषकर, विदेशों में पूँजी विनियोग सम्बन्धी नीति के बारे में अपना प्रभाव डालने का अवसर मिलेगा।

मैंने जिस बात को एक सपना कहा है वह पूरा हो सकता है अर्थात् विकसित देश कम-विकसित देशों में प्रगतिशील शक्तियों को मजबूत बनाने में अपने पर्याप्त प्रभाव का प्रयोग करें। खैर, वस्तुस्थिति यह है कि हमें इस दिशा में प्रयास करना चाहिए।

नीति में यह परिवर्तन वांछित आदर्शों के अनुरूप होगा और उन बातों के अनुरूप भी जो पश्चिम के विकसित देशों ने स्वयं अपने देशों में की हैं। मैं यह आशा नहीं करता कि प्रबुद्ध व्यापारी जो भविष्य की आवश्यकताओं को समझने की क्षमता रखते हैं, ऐसे किसी परिवर्तन के प्रति निश्चय ही उदासीन होंगे। यद्यपि इसका अर्थ उन विशेषाधिकारों और सम्पत्तियों का त्याग होगा, जिन्हें

शोषण के द्वारा और यदा-कदा धांधली से प्राप्त किया गया है, विशेषकर लेटिन अमरीका में।

और यह भी निश्चय है कि इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास का सिद्धान्त कुछ ऐसे प्रभावो से मुक्त हो जायेगा, जिसने इसके भीतर पूर्वाग्रहग्रस्त सीमाओ का प्रवेश किया है। इस सिद्धान्त में प्रगतिशील सुधारों का समावेश करने की दृष्टि से इसे संस्थागत बनना होगा।

कम-विकसित देशों को सहायता के इस विचार मे इनके विकास के लिए और अधिक साधन उपलब्ध कराने पर जोर दिया गया है। इसके साथ कोई इरादा नही जुड़ा है। इसके विपरीत प्रायः प्रत्येक अन्य अर्थशास्त्री के साथ मिलकर मैं यह तर्क देना चाहता हूँ कि आज इन देशों को जो साधन उपलब्ध कराये जा रहे हैं, उनमे वृद्धि होनी चाहिए। इस पुस्तक के अगले भाग मे सहायता, व्यापार और पूंजी के प्रवाह पर विचार से पहले मैं उन बातो की आलोचना करना चाहता हूँ जिन्हें मैं उस तरीके की गम्भीर खामियाँ समझता हूँ, जिस तरीके से आर्थिक विकास की परिभाषा दी जाती है और उसे मापा जाता है।

विकास को आर्थिक विकास के सीधे-सादे अर्थो मे ही साधारणतया समझा जाता है—इसे उत्पादन के कुल राष्ट्रीय योग अथवा आय के कुल योग के रूप मे ही देखा जाता है। आगे बढने से पहले मैं पाठक को यह स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि अर्थशास्त्रियों ने सदा, और जान स्टूआर्ट मिल के समय से कहीं अधिक विधिवत्, सम्पत्ति और आय के वितरण के बारे मे महत्त्वपूर्ण शर्त लगायी है। इधर यह महत्त्वपूर्ण शर्त कम-विकसित देशो के आर्थिक विकास के विश्लेषण मे अन्तर्धान होती हुई दिखायी पड़ी है।

लेकिन विकास के दूसरे आयाम भी होते हैं, जो उस समय निकाल दिये जाते हैं जब आर्थिक विकास को केवल उत्पादन अथवा आय में वृद्धि के समक्ष मान लिया जाता है। सामाजिक प्रणाली जटिल है, और इसमें सामान्य रूप से परस्पर सम्बन्धित अनेक परिस्थितियां मौजूद रहती है।[3] समस्त सूचक अंकों मे जो सामान्य मनमानापन होता है, उसके अनुसार एक दूसरे पर निर्भर परिस्थितियो की सामाजिक प्रणाली का प्रवाह, सिद्धान्त रूप में, एक सूचक अंक द्वारा दर्शाया जा सकता है।

समस्त परिस्थितियों में परिवर्तन के आंकडे इकट्ठा करना और महत्त्वपूर्ण मूल्यांकनो की दृष्टि से इन्हें तोलना वस्तुतः वर्तमान सम्भावनाओं से बहुत परे है। लेकिन हमें इस महत्त्वपूर्ण धारणा को कायम रखना चाहिए कि—जैसाकि हम उन निष्कर्षों की जांच से आसानी से पता लगा सकते हैं जो निष्कर्ष हम निकालते हैं —विकास से हम सब लोगों का अभिप्राय समस्त सामाजिक प्रणाली के ऊपर उठने से होता है।

इस परिस्थिति में विकास के किसी आभास की ओर रुझान समर्थन योग्य हो सकता है, क्योंकि इसे किसी आदर्श सूचक अंक की तुलना में अधिक आसानी से जांचा और मापा जा सकता है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय

की वृद्धि-दर इसके बाद स्वाभाविक पसन्द हो जाती है।[4] लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इस स्थिति में हम समस्त सामाजिक प्रणाली में कहीं अधिक जटिल परिवर्तन के रूप में एक मोटा और तयार सूचक इस्तेमाल में ला रहे हैं और इसका उपयोग उस जटिल परिवर्तन को मापने के लिए किया जा रहा है, जिसे हम मापना चाहते हैं। पर इस शर्त को नहीं समझा जाता अथवा विकास की सामान्यतया प्रयुक्त 'परिभाषाओं' में इसका ध्यान नहीं रखा जाता।

लेकिन इससे भी कहीं अधिक चिन्ता का विषय योजनाओं और साहित्य में इस परिभाषा का उपयोग है। विचार-विमर्श नियमित रूप से राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय में वृद्धि के आंकड़ों पर आधारित होता है, जिसका कोई पर्याप्त बुनियादी आधार नहीं होता। आर्थिक विकास सम्बन्धी ये आंकड़े 1 दशमलव अथवा 2 दशमलव तक दिये जाते हैं, जिसका अभिप्राय एक प्रतिशत का सौवां भाग है।

इतना ही नहीं, विभिन्न देशों के बीच अमरीकी डालर की सरकारी विनिमय दर के आधार पर साधारणतया तुलना की जाती है। अधिकांश कम-विकसित देशों में मुद्रा विनिमय और आयात के जो अनेक नियन्त्रण लागू हैं और अन्य सम्बन्धित परिस्थितियों में जो अनेक अन्तर हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए यह करना उचित नहीं है। इस समस्या के महत्व का उल्लेख तक साधारणतया नहीं किया जाता।

एशियन ड्रामा में मैंने उस तरीके का समालोचनात्मक विवेचन किया है, जिस तरीके से दक्षिण एशिया के देशों में राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय की गणना की जाती है।[5] इस गणना में जिन संकल्पनाओं का उपयोग किया जाता है, उनमें स्पष्टता की कमी और बुनियादी सामग्री की जबर्दस्त खामियों के कारण मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा : "यह बात सन्देहास्पद है कि इन आंकड़ों का कोई सही और सूक्ष्म अर्थ है; किस सीमा तक गलती हुई है, इस बात का मोटे तौर पर अनुमान लगाने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती।"

*मैंने समग्र आंकड़ों के विभिन्न अंगों का जो अध्ययन किया*—यद्यपि केवल कृषि और गैर-कृषि वर्गों में ही इसे विभाजित किया गया था—उससे इन आंकड़ों की भयंकर खामियों का प्रमाण सामने आया।[6] बचत-अनुपात के बारे में सामान्य रूप से जिन आंकड़ों का उल्लेख किया जाता था, वे एकदम निरर्थक दिखायी पड़े।[7] राष्ट्रीय उत्पादन और आय की दृष्टि से दक्षिण एशिया के अनेक देशों के बीच सामान्यतया प्रयुक्त तुलनाओं को सही करने का जो प्रयास किया गया, उससे अमरीकी डालर की सरकारी विनिमय दर के आधार पर दाम के स्तरों सम्बन्धी आंकड़ों को घटाकर जो आंकड़े पेश किये गये, उनसे यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के सब आंकड़े कितने अधिक अपरिष्कृत होते हैं।[8] एशियन ड्रामा के समस्त अध्यायों में मैंने जान-बूझकर विकास की दरों और उन अन्य अनेक वस्तुओं के बारे में उन अधिकांश आंकड़ों का उपयोग नहीं किया है जो बहुत आसानी से उपलब्ध हैं और जिनका उपयोग मेरे सहयोगी

अत्यधिक सूक्ष्म अर्थों में निष्कर्ष निकालने के लिए सामान्यतया करते हैं। इसका कारण निश्चय ही मेरी आंकड़ों के आधार पर विवेचन के प्रति उदासीनता नहीं थी।[9] इसके विपरीत मैं यह समझता हूँ कि हमारे विषय का भावी विकास अधिकाशतया हमारी इस सफलता पर निर्भर करता है कि हम अपनी वर्तमान यथार्थ सम्बन्धी आवश्यकता से अधिक अस्पष्ट संकल्पनाओं को किस सीमा तक ठोस आंकडों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।

परम्परागत आर्थिक अनुसन्धान के विरुद्ध मेरा आरोप यह है कि इसमें उपलब्ध आंकड़ों की गहराई से आलोचनात्मक जाँच का अत्यन्त अभाव है। उत्पादन और आय के क्षेत्र में इस आलोचनारहित दृष्टिकोण ने विभिन्न कम-विकसित देशों की विकास की दर को एक प्रतिशत के छोटे-से-छोटे हिस्से तक लगातार एक के बाद एक वर्ष 'मापने' और तुलना करने को सम्भव बना दिया है। यह स्पष्ट रूप से मूर्खता है अथवा, यदि अधिक नम्र शब्दावली में कहा जाये तो अनावश्यक सूक्ष्मता है। यह बात उस समय कम नहीं हो जाती, जब इन आंकड़ों को प्रभावशाली दिखायी पड़ने वाले अर्थमितीय नमूनों के रूप मे सजा-सँवारकर पेश किया जाता है। ये नमूने बहुत कमजोर और अस्पष्ट विचार-प्रक्रिया को प्रकट करते हैं, जबकि इन्हें विशेष रूप से गहन विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

कम-विकसित देशों के अन्य समस्त क्षेत्रों में समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने का अभाव भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है। यह बात साक्षरता और स्कूलों में भर्ती की संख्या सम्बन्धी आंकड़ों के बचकाने प्रयोग से बड़ी स्पष्ट हो जाती है (देखिए अध्याय-6)। वस्तुतः यह निष्कर्ष निकालने से बचना बड़ा कठिन है कि अर्थशास्त्रियों की पिछली पीढ़ी ने, गहन अध्ययन और सूक्ष्मता की समस्त बातों के बावजूद, ठीक इन्ही दृष्टियों से वैज्ञानिक मानक को नीचे गिरा दिया है।

जनसंख्याविदों की तुलना में हम अर्थशास्त्रियों की स्थिति बड़ी बुरी है। इस तथ्य के बावजूद कि उनकी संकल्पनाएं अधिक सरल हैं और उनके पास आन्तरिक तर्कसंगतता की दृष्टि से अपने आंकड़ों की सत्यता का पता लगाने के प्रभावशाली माध्यम उपलब्ध हैं[10], जबकि हमारे पास ऐसा कोई साधन नही है, जनसंख्याविदों ने अपने इस पुराने वैज्ञानिक अनुशासन को कायम रखा है और अपने आंकड़ों और निष्कर्षों की अनिश्चितता के बारे मे विचार प्रकट किये है।

जो हजारों अर्थशास्त्री आज कम-विकसित देशों के बारे में अनुसन्धान में प्रवृत्त हैं, उनके लिए एक पुस्तक का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। यह पुस्तक है ओस्कार मोर्गेनस्टर्न का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अध्ययन 'आन दि एकुरेसी ऑफ इकानामिक आब्जरवेशन'।[11] संयुक्त राज्य अमरीका के अपेक्षाकृत अत्यधिक परिष्कृत आंकडों की जाँच के समय भी उन्होंने इस बात का कारण देखा कि यह चेतावनी दें कि छोटी अवधियों के बारे मे विकास के आंकड़ों को बिल्कुल ठीक नही मान लेना चाहिए। इन आंकड़ों को अनिश्चितता और गलती की बड़ी गुंजाइश रखते हुए स्वीकार किया जाना चाहिए। जिन

आँकड़ों में अन्तर्राष्ट्रीय तुलना की जाती है, उनके बारे में मोर्गेनस्टर्न का कहना है कि

"आज जनता के समक्ष प्रस्तुत आँकड़ों में ये सर्वाधिक अनिश्चित और अविश्वसनीय आँकड़े हैं···यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ राजनीति सर्वोपरि है और जहाँ समालोचनात्मक मूल्यांकन की कमी विशेष रूप से हानिप्रद सिद्ध हुई है।"[13]

अब क्योंकि मोर्गेनस्टर्न "जहाँ तक विकास दरों के वैज्ञानिक उपयोग का सम्बन्ध है, कोई रियायत" देने को तैयार नहीं हैं, जो मेरी राय में बिल्कुल उचित ही है, अतः वे यह निष्कर्ष निकालते हैं :

"आज जिस रूप में ये आँकड़े उपलब्ध हैं और आज इनका जिस प्रकार अत्यधिक सूक्ष्म उपयोग किया जाता है, उसकी दृष्टि से ये आँकड़े निरर्थक हैं···'विकास दरों' के सूक्ष्म उपयोग की किसी भी तरह अनुमति नहीं दी जा सकती, चाहे इनका उपयोग विभिन्न देशों की तुलना में अथवा एक ही देश के भीतर कम अवधियों के विकास के मूल्यांकन के लिए क्यों न किया जाये।"[13]

लेकिन जैसाकि मोर्गेनस्टर्न ने जोर देकर कहा है—इन आँकड़ों का साधारणतया इन्हीं कार्यों मे उपयोग किया जाता है।

मोर्गेनस्टर्न की तरह ही, डोनाल्ड वी० मैकग्रेनाहन भी, जो उस समय संयुक्त राष्ट्र के सामाजिक मामलों के कार्यालय में थे और अब जिनीवा स्थित संयुक्त राष्ट्र संघ की सामाजिक विकास अनुसन्धान संस्था के निदेशक हैं, उस विश्वासपूर्ण तरीके की शिकायत करते हैं, जिसको आधार बनाकर विद्वत्तापूर्ण प्रकाशनों में अविश्वसनीय आँकड़ों का इस्तेमाल किया जाता है और "अत्यधिक भंगुर आँकड़ों के आधार पर व्यापक ढाँचे और शानदार तुलनाएँ की जाती हैं··· जबकि अपेक्षाकृत बेहतर आँकड़ों के मामले में भी···ये संख्याएँ उस सूक्ष्मता की भ्रांति उत्पन्न करती हैं, जो मौजूद नहीं होतीं।"[14]

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे कई निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक निष्कर्ष यह है कि हमें दूसरे अर्थशास्त्रियों की अनिश्चितता में हिस्सा नहीं बटाना चाहिए जो उत्पादन और आय में वृद्धि के उपलब्ध आँकड़ों के आलोचनारहित प्रयोग पर आधारित है। ये आँकड़े यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि विभिन्न कम-विकसित देश अथवा प्रायः सब कम-विकसित देश किस दर से प्रगति करते रहे हैं, अब प्रगति कर रहे हैं, अथवा भविष्य में प्रगति करते रहेंगे।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि कम-विकसित देशों में आँकड़ों के संकलन करने में सुधार की ओर बड़ा कम ध्यान दिया गया है। इस कार्य का लक्ष्य प्राथमिक तौर पर प्रयुक्त संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण देना और सांख्यिकी के आधार 'प्रेक्षणों' को अधिक सही बनाना होना चाहिए।

समालोचनात्मक और विवेचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वाले किसी भी व्यक्ति के समक्ष जो तीसरा निष्कर्ष आता है, वह यह है कि अत्यधिक बुरे आँकड़ों के सूक्ष्मतारहित और अधिकांशतया मनमाने प्रयोग ने अर्थशास्त्रियों के लिए यह और अधिक सम्भव बना दिया है कि वे विकास की समस्याओं सम्बन्धी दूसरे महायुद्ध के बाद के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण से चिपके रहें और अपने अनुभवजन्य विचारक्रम में सुधार न करें।

# भाग तीन

## विकसित देशों का दायित्व

अध्याय : 9

# व्यापार और पूँजी का प्रवाह

## 1. औपनिवेशिक युगों में और अब

यह विचार कि विकसित देशों को कम-विकसित देशों से अपने समस्त व्यवहार में उनके हित और आर्थिक विकास के लिए विशेष रुझान दिखाना चाहिए और उन्हें सहायता देने की सामूहिक जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिए, दूसरे महायुद्ध के बाद की एक पूरी तरह से नयी संकल्पना है।

उपनिवेशी शक्तियों की प्रणाली की समाप्ति और उन देशों में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा के उत्पन्न होने का, जो औपचारिक रूप से स्वतन्त्र थे, लेकिन यथार्थ में स्वतन्त्र नही थे, विशेषकर लेटिन अमरीका मे, यह परिणाम हुआ कि अब अचानक पश्चिम के विकसित संसार के समक्ष बहुत बडी संख्या में नये स्वतन्त्र देश आ खड़े हुए। ये सब देश अत्यधिक निर्धन थे और स्पष्टतया इनके सामने वह विकास करने के लिए बहुत बड़ी कठिनाइयाँ मौजूद थी, जो विकास इनके नेता चाहते थे।

पश्चिम के विकसित संसार के अन्तःकरण की एक सुरक्षात्मक ढाल के रूप में उपनिवेशी प्रणाली उस समय तक काम करती रही थी। यद्यपि उपनिवेशी शासन के अन्तर्गत रहने वाले लोग इतने ही गरीब थे और उन्हें इसी प्रकार विकास की भी आवश्यकता थी, पर वहाँ जो कुछ होता था उसका दायित्व उन गिने-चुने देशों, अधिकांशतया यूरोपीय देशों पर ही होता था, जिनका इन लोगो पर शासन था।

यदि अन्य देश उपनिवेशों पर उक्त देशों के शासन के सम्बन्ध में कोई हस्त-क्षेप करते या करना चाहते तो निश्चय ही उपनिवेशी देश इस पर रोष प्रकट करते—जैसाकि उन्होंने वस्तुतः उस समय किया भी, जब उन्हे लगा कि बाहर के लोग हस्तक्षेप करना चाहते है; यद्यपि पश्चिम के अन्य विकसित देशो की सरकारों द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप प्रायः कभी नहीं हुआ। कुछ मामलों में और कुछ दृष्टियों से यूरोप के शासक देशों ने अपने किसी उपनिवेश को विभिन्न तरीकों से सहायता भी पहुँचाई, यद्यपि यह तस्वीर बडी मिश्रित और अस्पष्ट है। लेकिन अधिकांशतया यह एकतरफा—और कुछ सीमा तक द्विदेशीय—[illegible]चाई होनी थी और यह बात प्रेरणा की दृष्टि से भी सही कही जा सकती है।

वस्तुतः किसी भी सीमा तक सामूहिक जिम्मेदारी अनुभव करने [illegible] राजनीतिक आधार विकसित देशों को दिखायी नही पड़ता था। इस अध्या[illegible] और इसके बाद के दो दूसरे अध्यायों में जब मैं इस बात की आलोचना करत[illegible] कि ये देश क्या कर रहे हैं और क्या नही कर रहे हैं और उन्हें कम-विकसित [illegible]

की सहायता के लिए क्या करना चाहिए, हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि सहायता का विचार ही कितना नया है। दूसरे महायुद्ध से पहले शायद ही कोई इस सामान्य जिम्मेदारी के बारे मे सोचता हो कि समस्त विकसित देशों को कम-विकसित देशों को सहायता देनी चाहिए।

अब इस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया जा रहा है और यह कार्य एक छोटी-सी अवधि में हुआ है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है। सम्भवतः इस कारण से हमे उन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति निरुत्साहित नहीं होना चाहिए।

कम-विकसित देशों की ओर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा विशेष रूप से क्यों ध्यान दिया जाना चाहिए, इसका कारण यह है कि ये देश कम-विकसित हैं, अत्यधिक निर्धन हैं, और विकास करने के उनके प्रयासों के समक्ष बहुत अधिक कठिनाइयां आती हैं। इस अध्याय मे मैं इस बात का विश्लेषण प्रस्तुत करूंगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी का प्रवाह इन देशों के विकास में इससे अधिक सहायक सिद्ध क्यों नही हुआ है, जितना वास्तव में हो सका।

## 2. एक पूर्वाग्रहग्रस्त सैद्धान्तिक दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को विकास की कमी के यथार्थ और विकास की आवश्यकता को स्पष्ट करने के लिए तैयार नहीं किया गया था। इसके विपरीत कोई यह कह सकता है कि अमूर्त तार्किकता के इस प्रभावशाली ढांचे का प्रायः विपरीत उद्देश्य था—अन्तर्राष्ट्रीय समानता की समस्या को टाल जाना।[1]

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अन्तर्निहित समालोचना की जाती है, तो इसका पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अव्यावहारिक स्थिर सन्तुलन की धारणा के रूप में प्रकट हो जाता है —और इसी प्रकार इस धारणा से सम्बन्धित अन्य अनेक धारणाएँ भी प्रकट हो जाती हैं। बाद के लेखन में भी इसे आर्थिक सिद्धान्त के अन्य भागों की तुलना में कहीं अधिक कड़ाई से कायम रखा गया। एक और अव्यावहारिक धारणा इस विचार में निहित है कि सामाजिक यथार्थ के कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हे 'आर्थिक कारण' कहा जा सकता है और यह भी कि अन्य सब कारणों को निकालकर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विश्लेषण करना सम्भव है।

इन धारणाओं ने विचारधारा सम्बन्धी उन प्रवृत्तियों का मार्ग प्रशस्त किया, जो पुराने जमाने से ही समस्त आर्थिक सिद्धान्त में गहराई से पैठी हुई हैं और जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त में अपने लिए विशेष रूप से स्थान बनाया है। ये इच्छित प्रवृत्तियां—*हितों की समानता, अबन्ध व्यापार और स्वतन्त्र व्यापार*[2]—वर्तमान लेखन में उनके दृष्टिकोण का निर्धारण करती हैं और यह कार्य उससे कहीं अधिक सीमा तक होता है, जितना अर्थशास्त्री सामान्यतया अनुभव कर[illegible]।

[illegible]कार पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त ने [illegible]चार को विकसित किया कि व्यापार कारक दामों और आयों, और सबसे [illegible] श्रमिकों की मजदूरी के समानीकरण की दिशा में कार्य करता है।[3] व्यापार [illegible]भिन्न देशों और विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक गतिविधि को स्वयं को प्राकृ[illegible] आबादी सम्बन्धी साधनों के अनुरूप ढालने के लिए प्रेरित करेगा और [illegible]

आय को सर्वत्र समान बनाने पर असर पड़ेगा।

मेरे दो प्रमुख देशवासियों, स्वर्गीय प्रोफेसर इली एफ० हेक्सचेर और प्रोफेसर बेरटिल ओहलिन ने दूसरे महायुद्ध से बहुत पहले ही इस पुराने सिद्धान्त को उत्पादन के श्रमेतर कारकों की दृष्टि से तर्क देकर पूर्ण बनाया था। इन लोगो ने यह बड़ा निष्कर्ष और अधिक स्पष्ट रूप से निकाला था कि समानता कायम करने पर व्यापार का प्रभाव होता है। इनके बाद अर्थमिति विशेषज्ञों ने, विशपकर संयुक्त राज्य अमरीका में, हाल के दशकों मे यह विवेचन करने में बहुत दिलचस्पी दिखायी है कि कुछ विशिष्ट, अमूर्त और साधारणतया स्थिर परिस्थितियो में विभिन्न देशों में कारक दामों में समानता कायम करने की प्रवृत्ति किस प्रकार मूर्त रूप धारण करेगी।

यहाँ हमें एक बड़ी विचित्र बात दिखायी पड़ती है। बहुत लम्बे अरसे से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आय की असमानताएँ बढ़ती रही हैं और आज भी बढ़ रही हैं। दूसरे महायुद्ध के अन्त के समय से उपनिवेशी व्यवस्था की समाप्ति का जो तूफान आया है, उसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निरन्तर बढती हुई असमानता के प्रति और अधिक चिन्ता प्रकट की गयी है। विश्व इतिहास के इस दौर मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त ने इस संकल्पना पर निरन्तर अधिक जोर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के बीच धीरे-धीरे आय की समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति का समारम्भ करता है—लेकिन इसके साथ जो मान्यताएँ जोड़ दी जाती हैं, वे स्पष्ट रूप से अव्यावहारिक और अनुभव के विपरीत होती हैं।

इस पुस्तक का पाठक अब इस बात पर आश्चर्य नही करेगा कि यदि मैं सैद्धान्तिक दिलचस्पी की इस विचित्र दिशा को—और विशेपकर विश्व में मौजूद वर्तमान और निरन्तर बढती हुई असमानताओ का स्पष्टीकरण देने मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कार्य करने वाले आर्थिक सिद्धान्तकारों की दिलचस्पी का पूर्ण अभाव भी उल्लेखनीय है—पूर्वाग्रहग्रस्त और विकसित देशो के लोगो के स्वार्थ से प्रेरित कहूँ। अपने आरम्भिक रूप में इस पूर्वाग्रह को आर्थिक विचार के इतिहास में बहुत समय पहले ही आधार मिल गया था। पहले अध्याय में मैंने दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण में मौजूद जिन पूर्वाग्रहों का उल्लेख किया है, यह पूर्वाग्रह उन सबसे पुराना है।

मेरे एक तीसरे देशवासी, स्वर्गीय फोल्क हिलगिर्ट, उस समय मौलिकता का दावा कर सकते थे, जब उन्होंने उत्तर दिये बिना ही यह प्रश्न उठाया कि यथार्थ में हमें मान्य सिद्धान्त से भिन्न जो बातें स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं उन्हें किस प्रकार समझाया जा सकता है?

लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के इस पूर्वाग्रहग्रस्त रुझान—और इसकी हितों की समानता, अवन्ध व्यापार और स्वतन्त्र व्यापार में स्पष्ट दिलचस्पी—ने नि.सन्देह उस तरीके को प्रभावित किया जिस तरीके से कम-विकसित देशों की समस्याओ पर साधारणतया विचार किया जाता है और जिस प्रकार इन देशों के लोगो और सरकारों को सलाह दी जाती है और वस्तुतः यही कारण है कि मैंने इस पुस्तक मे इस समस्या को उठाया है।

यह बात उस समय तक विशेष रूप से सही थी, जब तक हाल के वर्षों मे

कम-विकसित देशों ने मिलकर यह शिकायत नही की कि उनकी व्यापार की स्थिति और विकसित देशों की व्यापार सम्बन्धी नीतियाँ उनके लिए हानिकारक हैं—इसके परिणामस्वरूप *संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन* की स्थापना हुई। यह सम्मेलन पश्चिम के विकसित देशों के बहुत प्रतिरोध के बावजूद १९६४ में स्थापित किया गया। व्यापार के क्षेत्र में काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनों ने—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा तट-कर और व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार—इससे पहले के वर्षों में अधिकांशतया जो कुछ किया, उसका स्पष्टीकरण इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

विकसित देशों की सरकारें और लोग कम-विकसित देशों को सहायता देने की बात की तुलना में व्यापार के सम्बन्ध मे अपने मन में स्वयं को इतना कम दोषी क्यों अनुभव करते हैं, इस बात को इस तथ्य से बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पुराने जमाने से कायम अव्यावहारिक और पूर्वाग्रहग्रस्त सिद्धान्त इसका आधार और कारण है।

तथ्य यह है कि, इस सिद्धान्त के विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—और पूंजी का प्रवाह—साधारणतया असमानता को जन्म देगा और उस स्थिति में यह कार्य और अधिक शक्तिशाली तरीके से होगा, जबकि पर्याप्त असमानताएँ पहले ही कायम हो चुकी हैं।

बाजार की अनियन्त्रित शक्तियाँ ऐसे किसी सन्तुलन की ओर आगे बढने के लिए कार्य नही करेंगी, जिसकी प्रवृत्ति आय में समानता कायम करने की हो। चक्राकार कार्य-कारण सम्बन्धों और समग्र प्रभावों सहित उत्पादकता और आय की दृष्टि से श्रेष्ठ देश और अधिक श्रेष्ठ होता जायेगा, जबकि नीचे स्तर पर मौजूद देश उसी स्तर पर कायम रहेगा अथवा उसकी स्थिति और अधिक खराब हो जायेगी—यह क्रम उस समय तक जारी रहेगा जब तक बाजार की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से विकसित होने और कार्यरत रहने की छूट मिलती रहेगी।

श्रेष्ठ देश बाहरी और आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं को और अधिक प्रभावित करता जायेगा और यदि राऊल प्रीबिश की शब्दावली का प्रयोग करें तो यह कहना होगा कि विकास के प्रत्येक केन्द्र से इसके 'आस-पास के' अन्य देशों पर प्रत्यावर्तन सम्बन्धी प्रभाव होते हैं। उस समय ये हानिप्रद प्रवृत्तियाँ और अधिक शक्तिशाली हो जाती है, जब आय तथा शिक्षा का स्तर नीचा होता है और अन्य *अनेक 'गैर-आर्थिक' कारक भी ऐसी ही स्थिति मे होते हैं।* जब आर्थिक सिद्धान्त को इनसे अलग किया गया तभी से इन कारकों को 'गैर-आर्थिक' कहा जाने लगा। इसके विपरीत प्रसार-प्रभावों का असर आय के निचले स्तरों तथा गरीबी से सम्बन्धित अन्य समस्त बातों पर बहुत कम होता है।

हम एक देश के भीतर भी बाजार की शक्तियों के इन प्रभावों को देख सकते हैं।[4] किसी *कारखाने की स्थापना से जिस 'विकासशील केन्द्र' का निर्माण* होता है, अथवा विस्तार सम्बन्धी अन्य किसी गतिविधि के परिणामस्वरूप जब किसी केन्द्र की स्थापना होती है, तो दूसरे व्यापार, कुशल श्रम और पूंजी इस केन्द्र की ओर आकर्षित होने लगते हैं। इसी मानक के अनुसार प्रत्यावर्तन सम्बन्धी प्रभावों के द्वारा यह कार्य आस-पास के क्षेत्रों को निचले स्तर पर बनाये रखेगा अथवा

इन्हें और अधिक गरीब बना देगा, यदि प्रसार सम्बन्धी प्रभाव शक्तिशाली नही हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि गरीब देशों की इस प्रेक्षण योग्य प्रवृत्ति से हो जाती है कि इन देशों में समृद्ध देशों की तुलना में विभिन्न क्षेत्रों में आय मे कहीं अधिक अन्तर होता है।

अत्यधिक विकसित देशों के भीतर ये अन्तर क्यों कम होते जा रहे हैं, उसके जो मुख्य कारण हैं उनमे, एक, रहन-सहन के ऊँचे स्तरों पर प्रसार-प्रभाव अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं और प्रत्यावर्तन-प्रभाव कमजोर पड़ जाते हैं।

दूसरा स्पष्टीकरण राज्य में निहित है। यह बाजार की शक्तियों की क्रिया में हस्तक्षेप कर सकता है और करता भी है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कम-विकसित देश किसी देश के विकसित क्षेत्रों की तुलना में अधिक कमजोर स्थिति में इस कारण से है कि कोई विश्वव्यापी राज्य नही है, जो उस प्रकार कम-विकसित देशो या क्षेत्रो के लिए कानून बना सके, कर लगा सके तथा सहायता, संरक्षण और प्रोत्साहन दे सके, जिस प्रकार किसी एक देश मे राज्य देता है।

मैंने इस सिद्धान्त का अधिक व्यापक प्रतिपादन और इसकी उचित शर्तों का उल्लेख एक भिन्न सन्दर्भ मे किया है[5] और मुझे यहाँ स्वयं को अपने तर्क के संकेत मात्र तक सीमित रखना होगा। लेकिन मैं यहाँ इस बात का उल्लेख करना चाहता हूँ कि सब देशों में जो किस्से प्रचारित हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोग इस सिद्धान्त को समझते हैं और यह बात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मान्य सिद्धान्त के विपरीत जाती है। जैसाकि अक्सर होता है, बाइबिल ने सामान्य जन की बुद्धिमत्ता को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है: 'जिसके पास सब कुछ है उसे और दिया जायेगा और उसके पास सब चीजों की भरमार हो जायेगी, लेकिन जिसके पास कुछ नही है उसके पास से वह भी ले लिया जायेगा जो उसके पास मौजूद है' (मैथ्यू 25, 29, देखिए 13, 12 भी)।

सम्भवतः यह समझना इतना अधिक कठिन नही है कि जब कम-विकसित देश स्वतन्त्र हुए, उनके राजनीतिक प्रवक्ताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्थापित स्वरूप के प्रति प्रायः कोई सम्मान प्रदर्शित नही किया—चाहे उनके कुछ अर्थशास्त्री यह कार्य क्यों न करते हो और हाल के दशकों मे यह कार्य विशेष रूप से हुआ है। पिछली शताब्दी के अन्त के आस-पास भारत के आरम्भिक अर्थशास्त्रियों ने एक ऐसी विचारधारा का विकास किया जिसे 'संस्थागत' कहा जा सकता है और उन्होंने उस अबन्ध और मुक्त व्यापार के ऊपर विशेष रूप से प्रहार किया, जो अंग्रेजो ने उनके देश अर्थात् अपने उपनिवेश के ऊपर थोप दिया था।

उपनिवेशी युग मे विकसित देशों का बेहतर माल, जो अक्सर सस्ता भी होता था, कम-विकसित देशों की पुरानी दस्तकारी और परम्परागत उद्योग में निर्मित माल को होड में परास्त कर देता था और इन देशो के निर्मित माल के लिए किसी नये बाजार की कोई व्यवस्था नही की जाती थी। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय असमानता के प्रतिरोध के लिए पूंजी के प्रवाह पर भी निर्भर नही किया जा सकता था। समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पूंजी कम-विकसित

देशों से दूर ही रहती थी।

यह सच है कि इन देशों में पूंजी की कमी रहती थी। लेकिन इसकी आवश्यकता उस प्रभावशाली माँग का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी, जो पूंजी बाजार मे होड़ कर सकती है। यूरोप के देशों ने समुद्र पार पूंजी लगाने का जो अधिकांश प्रयास किया, वह सम-जलवायु वाले उन प्रायः आबादी रहित इलाक़ों में हुआ, जहाँ यूरोप के प्रवासियों के लिए बस्तियाँ बसायी जा रही थी।

पर रेलो, बन्दरगाहों और अन्य सार्वजनिक सुविधाओ के निर्माण में कुछ पूँजी खर्च की गयी और इस पूँजी विनियोग को उस राजनीतिक नियन्त्रण के द्वारा सुरक्षित बनाया गया, जो उपनिवेशी सरकारें बाहर से संचालित करती थी अथवा लेटिन अमराका में दूसरे तरीकों से यह कार्य किया गया। मार्क्स ने भारत के बारे में जो कल्पना की थी, उसके विपरीत रेलों के निर्माण से न तो इस्पात उद्योग की स्थापना हुई और न ही औद्योगिक क्रान्ति।[6] इन विनियोगो के लिए जिस सामग्री और पूंजीगत माल की आवश्यकता हुई, उन्हें विकसित देशों से कही कम खर्च पर आयात किया जा सकता था।

कुछ अपेक्षाकृत कम पूंजी उन विशाल उद्योगों में लगी जो निर्यात के लिए प्राथमिक सामान के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर चुके थे। ये उद्योग अपने स्वामियों के लिए साधारणतया इतने लाभदायक थे कि जहाँ तक पूंजी विनियोग का प्रश्न है, ये बडी तेजी से आत्मनिर्भर बन गये।

स्वाभाविक कारणों से इन उद्योगों ने अलग समूह बनाने की प्रवृत्ति दर्शायी और ये अपने चारों ओर की अर्थव्यवस्था से कटे हुए और अलग-थलग रहे, लेकिन इनका उस विकसित देश की अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ सम्पर्क रहा जिससे पूंजी और प्रबन्धक आते थे। विदेशियों के देशी अर्थव्यवस्था से आर्थिक सम्बन्ध अधिकाशतया अकुशल मजदूरों को रोजगार देने तक ही सीमित थे। ये उद्योग साधारणतया अपना पूंजीगत माल विदेशों से मँगाते थे और इन उद्योगों के विदेशी कर्मचारी अपनी आय का अधिकाश भाग आयातित उपभोग्य सामान पर खर्च करते थे या अपने देश मे पूंजी के रूप मे लगाते थे। इससे उन देशो मे प्रसार-प्रभाव समाप्त हो गये, जहाँ ये विदेशी उद्योग स्थापित थे।

जातीय अन्तर, अत्यधिक सास्कृतिक अन्तर और इन देशों के निवासियों के साधारणतया रहन-सहन के नीचे स्तर ने अलगाव को स्वाभाविक परिणाम बना दिया। यह बात इन औद्योगिक बस्तियों मे, जैसे प्रबन्धकों तथा मजदूरो के सम्बन्धों के बीच ही स्पष्ट रूप से दिखायी नही पडती थी, बल्कि आबादी के शेष हिस्से में भी यही होता हुआ दिखायी पडता था। इस प्रकार इन समूहों के अलग-थलग रहने ने संस्कृति के हस्तान्तरण के मार्ग में बाधा डाली और इसी प्रकार देशी आबादी को तकनीकी कुशलता और उद्यम में पहल करने की भावना भी प्राप्त नही हो सकी। यह इस बात का आंशिक स्पष्टीकरण है कि उपनिवेशी युग मे आर्थिक उद्यमों का जो समारम्भ हुआ, वे कुछ छोटी बस्तियों के रूप में ही क्यों सीमित रह गये और उनकी विस्तार सम्बन्धी गतिशीलता इतनी कमजोर या प्रायः गैर-मौजूद क्यों रही।

उपनिवेशी युग में इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कम-विकसित देशों पर यह असर पड़ा कि इनमें अकुशल मजदूरों को लगाकर निर्यात के लिए प्राथमिक

अथवा कच्चा माल ही तैयार किया गया। आज भी अधिकांशतया उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं का यही स्वरूप है। 70 से 80 प्रतिशत तक और कभी-कभी इससे भी अधिक निर्यात आज भी प्राथमिक वस्तुओं का ही होता है।

यह अत्यधिक सुयोजित तस्वीर[7], जिससे यह प्रकट होता है कि उपनिवेशी युग में कम-विकसित देशों में क्या हुआ, यह दर्शाने के लिए प्रस्तुत की गयी है कि उपनिवेशी शक्तियों ने यह विकास अथवा विकास का यह अपेक्षाकृत अभाव, बुनियादी तौर पर अपनी बुरे उद्देश्यों से प्रेरित नीतियों के द्वारा कम-विकसित देशों पर नहीं थोपा। यह मुख्यतया बाजार की उन शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था, जो समानता के लिए कार्य नहीं करती, बल्कि असमानता बढाने की प्रवृत्ति दिखाती हैं।

जब विदेशी व्यापारियों और सरकारों ने बाजार की शक्तियों की क्रियाशीलता का व्यापारिक लाभ उठाया, तो वे उस समय तक 'यह खेल खेलते रहे' जब तक यह लाभकारी रहा। और इन लोगों ने कानून और व्यवस्था कायम की, वैसे स्कूल बनाये, जिनका विश्लेषण अध्याय-6 में प्रस्तुत किया जा चुका है, रेलो और बन्दरगाहों का निर्माण किया, बैंको तथा अन्य वाणिज्य संस्थाओं की स्थापना की—यह कार्य बुनियादी तौर पर उन्होंने स्वयं अपने हित की दृष्टि से किये, लेकिन ये उन कम-विकसित देशों के हित में भी थे, जिन पर वे शासन करते थे।

पर जहाँ कहीं औपचारिक उपनिवेशी शासन था, वहाँ इस शासन ने कुछ सीमा तक बाजार की शक्तियों को नियन्त्रित किया और यह कार्य व्यापार सम्बन्धी नियमों की खुल्लमखुल्ला उपेक्षा को रोककर किया गया। लेटिन अमरीका के अनेक देश आज भी उन प्रभावों के बुरे असर का कष्ट भोग रहे है, जिनसे वे यूरोप के किसी देश के नियन्त्रण के कारण बच सकते थे।

पर बाजार की शक्तियों की क्रियाशीलता में प्रमुख हस्तक्षेप उपनिवेशी शक्तियों और उसके व्यापारियों के हितों को ध्यान में रखकर किये गये। वस्तुतः उपनिवेशी देश के हित में यह बात होती थी कि वह अपने उपनिवेश को स्वयं अपने उद्योग में निर्मित सामान के बाजार के रूप में सुरक्षित रखे। कभी-कभी स्वयं अपने देश के बाजार को उपनिवेश की प्रतियोगिता से बचाने के लिए भी कार्रवाई की जाती थी। लेकिन इन और अन्य दृष्टियों से उपनिवेशवाद का प्राथमिक अर्थ बाजार की शक्तियो को मजबूत बनाना ही था। इसने स्वयं को समग्र प्रक्रिया के चक्राकार कार्य-कारण के रूप में निर्मित किया और इसे अतिरिक्त प्रोत्साहन और विशेष स्वरूप प्रदान किया और यह प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय असमानता की ओर प्रवृत्त रही।

बाजार की शक्तियाँ, जैसाकि अमूर्त आर्थिक सिद्धान्त मे बताया जाता है, स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य नहीं करती थी। एकाधिकार के अनेक तत्त्व होते थे, जो प्रायः सदा उपनिवेशी देश के व्यापार के हित में संचालित होते थे और कुछ सीमा तक इन्हें उपनिवेशी सरकार अपना समर्थन अथवा यहाँ तक कि प्रोत्साहन देती थी। इस अध्याय में मैंने इन तत्त्वों को 'बाजार की शक्तियों' में

शामिल किया है।

यह प्रक्रिया निरन्तर जारी है। उपनिवेशों की समाप्ति ने स्थिति में कोई खास परिवर्तन नही किया है और मैंने इस पुस्तक में इस भाग को इस तथ्य पर ज़ोर देने के लिए शामिल किया है कि कम-विकसित देश बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया की दया पर रहे हैं और आज भी अधिकांशतया हैं। कम-विकसित स्थिति के कारण, ये शक्तियां इन देशों के विकास के प्रयासो के मार्ग में बाधक बनती हैं।

इसके साथ दो प्रमुख शर्तें जरूर जोड़ी जानी चाहिए। एक बात तो यह है कि स्वाधीनता के बाद कम-विकसित देशों को यह अवसर मिला कि वे स्वयं अपने विकास के हित की दृष्टि से बाजार की शक्तियों के संचालन में उपयोगी हस्तक्षेप करें। एक दृष्टि से उपनिवेशवाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नकारात्मक प्रभाव यह रहा कि ये देश स्वयं अपने हितों से अपनी अर्थव्यवस्था का नियमन करने के अपने अधिकार से वंचित हो गये थे।

यह महत्त्वपूर्ण है, लेकिन हाल के वर्षों में कम-विकसित देशो ने जो कुछ सीखा है वह यह है कि राष्ट्रीय आयोजन उन्हें आर्थिक निर्भरता और गरीबी से न तो तेज़ी से और न ही प्रभावशाली ढंग से उबारता है। और यह बात उस समय भी अधिकांशतया सच्ची होगी, यदि इनका आयोजन और योजनाओं को लागू करने की प्रक्रिया आज की तुलना में बेहतर हो और वे चाहे उन आमूल और दूरगामी सुधारो को लागू करने के लिए भी और अधिक तत्पर हों, जिन पर इस पुस्तक के खण्ड-2 में विचार किया गया है और जो विकास के लिए आवश्यक हैं।

यह दूसरी शर्त उनके कम-विकास की आरम्भिक स्थिति से कही अधिक गहराई से सम्बन्धित है। ये देश केवल अपनी कम-विकसित और निर्धन अर्थ-व्यवस्था मे ही हस्तक्षेप कर सकते हैं। यह अर्थव्यवस्था शेष संसार पर बहुत निर्भर है, विशेषकर विकसित देशों की बाजार की परिस्थितियों और नीतियों पर जो विश्वव्यापी वित्त-व्यवस्था और वाणिज्य पर छाये हुए हैं।

एक विश्व राज्य के अभाव में, जो उनकी ओर से और उनके लाभ को ध्यान मे रखते हुए शक्तिशाली अल्पसंख्यक विकसित देशो की अर्थव्यवस्थाओं और नीतियों में हस्तक्षेप कर सके, इन कम-विकसित देशों को विकसित देशो से वित्तीय सहायता का अनुरोध बाध्य होकर करना होगा। इस विषय पर अगले दो अध्यायों मे विचार किया जायेगा। उन्हें इस बात पर भी ज़ोर देना चाहिए कि विकसित देश उनकी वाणिज्य नीतियों में परिवर्तन को स्वीकार करें। कम-विकसित देशों के जबर्दस्त आन्दोलन का यही उद्देश्य और अभिप्राय है, जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की स्थापना हुई।

### 3. व्यापार

उपनिवेशी युग की समाप्ति के बाद की अवधि में अधिकांश कम-विकसित देशो की व्यापार की स्थिति मे गिरावट आयी है, यद्यपि इसमें विभिन्न देशों के सम्बन्ध में अत्यधिक अन्तर हैं; और यदि इन प्रवृत्तियो को बदलने के लिए कुछ नही किया जाता तो यह गिरावट जारी रहेगी।[8] इससे सबसे पहले कम-विकसित संसार के उस बड़े हिस्से की ओर संकेत होता है, जहां पेट्रोलियम और

उन अन्य खनिजों के स्रोत नही हैं अथवा बेहद कम है, जिनकी विकसित देशो में बहुत अधिक और तेजी से बढ़ती हुई मांग मौजूद है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति अधिकाशतया कम-विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्थाओ के विरासत में प्राप्त स्वरूप के कारण है और विशेषकर उनके निर्यात होने वाले सामान के स्वरूप और दिशा के कारण, जो उपनिवेशी युग से पर्याप्त बदलने मे सफल नही हुआ है। कम-विकसित देशों से परम्परागत सामान के निर्यात, अधिकांशतया प्राथमिक सामान के निर्यात का पहले महायुद्ध की समाप्ति के समय से विश्व व्यापार मे निरन्तर कम हिस्सा होता गया है। दक्षिण एशिया पर, जो अविकसित ससार का इतना विशाल भाग है, इसका विशेष रूप से बुरा प्रभाव पड़ा है।[9]

इस प्रवृत्ति के पीछे अनेक परिस्थितियां मौजूद हैं। वर्तमान युग में प्राथमिक सामान, जिनका अधिक प्रत्यक्ष तरीके से उपभोग हो रहा है, जैसे विभिन्न प्रकार की खाने-पीने की चीजें, तथा कपड़ा और कपड़ा बनाने का कच्चा माल भी एक सामान्य नियम के रूप में, आय की दृष्टि से सीमित प्रभाव रखता है और अक्सर विकसित देशों के आय के स्तरों से बहुत पीछे रह जाता है और यही देश प्रमुख आयातक हैं।

रबड़—जो अन्यथा ऐसे माल की कोटि मे आनी चाहिए, जिनकी मांग मे निरन्तर वृद्धि होती है—और कपड़ो तथा इनके कच्चे माल के बारे मे भी यह स्थिति है कि विकसित देशों की आधुनिक टेक्नालॉजी ने ऐसी कृत्रिम वस्तुओ का निर्माण कर लिया है, जिनका उपयोग इनके स्थान पर किया जा सकता है। यह सम्भव है, और वस्तुतः इसकी सम्भावना भी दिखायी पडती है कि कॉफी, चाय, कोको और सम्भवतः कुछ धातुओं पर भी, जो कम-विकसित देशो से निर्यात होने वाली परम्परागत वस्तुएँ हैं, यही प्रहार होगा (देखिए अध्याय-2)। इससे भी अधिक सामान्य बात यह है कि टेक्नालॉजी के विकास के फलस्वरूप अधिक तैयार माल बनाने के लिए कम मात्रा में कच्चे माल की जरूरत होती है।

कम-विकसित देशों के परम्परागत निर्यातों के बारे में जो भविष्यवाणियाँ की गयी हैं वे आशा नही बँधाती।[10] समग्र दृष्टि से यह अवाछित प्रवृत्ति जारी दिखायी देती है और बहुत से मामलों मे इसमें वृद्धि हुई है।

इस बीच, तैयार माल के निर्यात के क्षेत्र मे प्रवेश करने के प्रयासों मे अत्यधिक विकसित और उद्योगों में उन्नत देशों से प्रतियोगिता की जबर्दस्त कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इनके जमे-जमाये औद्योगिक प्रतिष्ठानों का बाजारो पर शिकजा कसा हुआ है। इन व्यापारिक कम्पनियों ने अपने व्यापार के सम्पर्क सूत्र बना रखे है, व्यापक और विविध औद्योगिक आधार तथा उत्पादन और सामान मे सुधार के लिए अनुसन्धान विभागो की स्थापना के द्वारा निरन्तर उपयोगी और तर्कसंगत परिवर्तनो के कारण आन्तरिक और बाहरी दृष्टि से खर्च मे कमी हुई है। इसके अलावा इन्हें बाजारों मे अपना माल बेचने की संगठित सुविधाएँ भी प्राप्त हैं और इन व्यवस्थाओ के माध्यम से इन्हें यह भी जानकारी मिलती रहती है कि इनके ग्राहकों की क्या आवश्यकताएँ और प्राथमिकताएँ है और इनमें किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है।

ऐसी कम्पनियों से विदेशी बाजारों को छीन लेना सर्वोतम दृष्टि से संचालित

उद्यमो के लिए भी कठिन होता है। कुशल प्रबन्धकों, तकनीकी कर्मचारियों और श्रमिको की कमी, पूंजी और व्यापारिक क्षमता का अभाव, जिसका सम्बन्ध अक्सर विकसित विधियों से कायम किया जाता है और उच्च कोटि के मानक माल के उत्पादन की अनुभवहीनता, कम-विकसित देशों के उद्योगों के लिए इन कठिनाइयों को और अधिक बढा देती है।

कुछ क्षेत्रो में सस्ता श्रम इन देशों को माल के उत्पादन की लागत की दृष्टि से लाभ पहुँचा सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश श्रमिकों और प्रबन्धकों दोनों की अकार्यकुशलता और विशिष्ट सहायक सुविधाओं का अभाव प्रति इकाई उत्पादन की दृष्टि से श्रम की लागत में वृद्धि कर देता है और इस प्रकार, कम-से-कम आशिक रूप से, समय की प्रति इकाई के हिसाब से कम मजदूरी के लाभ को समाप्त कर देता है।

इसके साथ ही कम-विकसित देशों के उद्योगपतियों का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निषेध भी उल्लेखनीय है। अधिकांश कम-विकसित देशों ने आयात के बारे में जो प्रतिबन्ध लगाये है, उन्हें विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण बाध्य होकर लगाना पडा है। लेकिन इससे उन उद्योगों को संरक्षण मिलता है जो आयात होने वाले माल के स्थान पर देश में ही सामान बनाने में लगे हैं। जैसाकि मैंने अध्याय-7 मे कहा है, यह सरक्षण, 'अनियोजित' है : सबसे कम आवश्यक चीजों के उत्पादकों को सबसे अधिक संरक्षण दिया जाता है।

उद्यम और पूंजी विनियोग के बारे मे अनेक प्रकार के व्यक्तिगत निर्णयो पर आधारित नियन्त्रणों को लागू करने के बाद उन लोगो को संरक्षण देना, जो नियन्त्रणों से बचकर निकल सकते हैं, ऊँची लागत पर माल बनाने वाले लोगों के लिए स्वदेश में आराम से व्यापार करना सम्भव बना देता है। इस प्रकार आन्तरिक बाजार को विदेशी प्रतियोगिता से पूरी तरह अलग-थलग कर निर्यात के लिए सामान बनाने के प्रोत्साहन को समाप्त कर दिया जाता है।[11]

प्राथमिक सामान की तुलना में निर्मित सामान का निर्यात कम-विकसित देशों से अधिक तेज़ी से बढा है। लेकिन यह वृद्धि उतनी नही हुई है जितनी विकसित देशो के निर्यात में हुई है। लेकिन अनेक कारणों से इस वृद्धि का लाभ इन देशो की विकास की सम्भावनाओ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ है।

एक बात तो यह है कि वह आधार, जिससे वृद्धि होती है बहुत सँकरा है। इसके अलावा कम-विकसित देशों से निर्यात होने वाला अधिकाश निर्मित माल, जैसे वस्त्र, खाने की चीजें, लकड़ी का सामान, चमड़े का सामान और ऐसी अन्य चीजें जिनके उत्पादन की विधियाँ बड़ी सरल हैं, प्राथमिक स्तर से बहुत दूर की चीजें नहीं हैं और इनसे औद्योगिक विकास को वह बढ़ावा देने की अपेक्षा नहीं की जा सकती, जो उन तैयार वस्तुओं के निर्यात से की जा सकती है, जो विकसित देशों के निर्यात का अधिकांश भाग होती हैं।

अन्त मे, अधिकांश कम-विकसित देशो में इस प्रकार के निर्यात मे भी अधिक वृद्धि नही हो रही है। यह अधिकाशतया कुछ गिने-चुने देशों से ही हो रहा है। उदाहरण के लिए, हांग-कांग से इस सामान का चौथाई से लेकर तिहाई हिस्सा तक निर्यात होता है।

बढ़ाने निर्यात की [illegible] [illegible] के [illegible] की आवश्यकता, और अन्तर्निहित आयात की [illegible] के [illegible] है। [illegible] दूसरे महायुद्ध के समय से [illegible] के [illegible] आबादी में वृद्धि और आबादी में तेजी से वृद्धि के [illegible] अनेक देशों को [illegible] है। सबसे पहले खाने की चीजों की [illegible] होती है जिसके परिणाम-स्वरूप खाने की चीजों की [illegible] बढ़ जाती है अतिरिक्त उपज वाले देशों से [illegible] के [illegible] से आयात बढ़ जाता है और से सर्वत्र विभिन्न प्रकार के [illegible] की [illegible] होती है। विकास के प्रयासों [illegible] आवश्यकता होती है, जिसे आयात करना पड़ता है।

4. पूंजी का प्रवाह

कम-विकसित संसार में प्रायः सर्वत्र इसका यह परिणाम हुआ कि आयात की आवश्यकताओं और निर्यात से प्राप्त होने वाले वास्तविक लाभ के बीच अन्तर बहुत बढ़ गया। इस स्थिति से और इस कारण से भी कि निर्यात की कठिनाइयाँ निरन्तर कायम रहीं, अन्तर की आवश्यकताओं को कम करना पड़ा, जिससे विकास के प्रयास उस स्तर से नीचे रह गये जो वांछित था और इसी प्रकार खपत के स्तर भी, विशेषकर सामान्य जन-समुदाय के, नीचे रहे।

दक्षिण एशिया में और दूसरे कम-विकसित देशों में भी वास्तविक निर्यात और आयात के बीच अन्तर बना रहा। यह 'व्यापारिक अन्तर' जैसाकि अक्सर इसे पुकारा जाता है, जो विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन के रूप में बना रहता है, विभिन्न प्रकार से पूंजी के आगमन द्वारा पूरा किया जाता है। लेकिन भीतर आने वाली राशि में से इन देशों से बाहर जाने वाली राशि को घटाना होगा। इनके प्रकार भी भिन्न हैं।

अनेक देशों के लिए, विशेषकर लेटिन अमरीका के देशों के लिए, शुद्ध प्रवाह नकारात्मक ही रहता है। इसका यह अर्थ होता है कि जहाँ तक इन देशों का सम्बन्ध है, पूंजी के प्रवाह से स्थिति में सुधार नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत निर्यात बढ़ाने का दबाव बढ़ता जाता है और आयात घटाने की आवश्यकता बढ़ती जाती है। लेकिन जिस सीमा तक निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता होती है, वह सम्भव नहीं हो पाता।

विकसित देशों से वित्तीय सहायता एक प्रकार का पूंजी आगमन है। अब अनेक वर्षों से वास्तविक अर्थों में इस सहायता की राशि में वृद्धि रुक गयी है और वस्तुतः इसमें कमी हुई है (देखिए अध्याय-11)। इसके अलावा सहायता अधिकाधिक मात्रा में ऋणों के रूप में प्राप्त होती है, अतः इसके [illegible] आगे चलकर ब्याज और ऋणों की राशि की अदायगी के रूप में [illegible] लगती है।

ऋण परिशोधन की लम्बी अवधि निर्धारित करके, इस [illegible] में [illegible] करके तथा ब्याज की दर को कम रखकर इस परिणाम का प्रभाव [illegible] कम हुआ है। पर हाल के वर्षों में ब्याज की औसत दर में वृद्धि हुई है और ऋणों की परिशोधन की औसत अवधि और इस [illegible] में [illegible] कमी हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक [illegible] देशों के [illegible]

सहायता देने वाली एक अन्तर-सरकार संस्था का रूप धारण करता जा रहा है। यह अपनी ऋण गतिविधियों में विस्तार कर रहा है, चाहे अभी भी इसके ऋणों की राशि कम-विकसित देशों को प्राप्त होने वाली कुल पूंजी का एक छोटा-सा हिस्सा ही क्यों न हो।

अक्सर यह कहा जाता है कि इसके नियमित ऋण व्यापारिक शर्तों पर दिये जाते हैं। लेकिन यह बात मुश्किल से ही सच है, क्योंकि ब्याज की दर और ऋण की अन्य शर्तों को सदस्य सरकारों की गारण्टी के बिना इतना सरल नहीं बनाया जा सकता था। इसके अलावा, अपनी एक सहायक संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की मार्फत इसने सार्वजनिक ऋणों का जो कार्य शुरू किया है, उसमें सहायता का पर्याप्त तत्त्व रहता है।

शेष कमी को पूरा करने के लिए कम-विकसित देशों में निजी कोषों के रूप मे ही पूंजी का आगमन होता है (आगे विचार के लिए देखिए अध्याय-10)। यह पूंजी आंशिक रूप से निर्यात के लिए छोटी अवधि के ऋण के रूप में प्राप्त होती है। हाल के वर्षों में इस रूप में पूंजी के आगमन में तेजी से वृद्धि हुई है। इस प्रकार विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन पर कुछ समय के लिए दबाव स्थगित हो जाता है। लेकिन यह अवधि बहुत छोटी होती है और अक्सर यह ऋण महंगे पड़ते हैं।

प्रतिभूत (पोर्टफोलियो) विनियोग, जिन्होंने उपनिवेशी युग मे बहुत बड़ी भूमिका निभायी थी, अब प्रायः पूरी तरह से समाप्त हो गये हैं।

अब अधिकांश आशा प्रत्यक्ष विनियोग पर लगायी जाती है। जिन कारणों का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें ध्यान मे रखते हुए हमें पैट्रोलियम उद्योग और ऐसे अन्य उद्योगों में लगी पूंजी को घटा देना चाहिए जो ऐसे कच्चे माल के उपयोग के लिए लगाये गये हैं, जिनकी मांग तेजी से बढ़ रही है। ये विनियोग कम-विकसित संसार के अधिकांश हिस्से के लिए बहुत कम दिलचस्पी के हैं। यद्यपि अधिक सही जानकारी उपलब्ध नही है, लेकिन इससे उन कुल राशियों में से सम्भवतः एक तिहाई या इससे भी अधिक हिस्सा घटाना होगा, जिनका उल्लेख निजी प्रत्यक्ष विनियोग के सम्बन्ध में किया जाता है।

दक्षिण एशिया मे निजी प्रत्यक्ष विनियोगों की राशि अधिक नहीं है।[12] यही बात पश्चिम एशिया और अफ्रीका पर भी लागू होती है। पूर्व एशिया और लेटिन अमरीका मे यह पूंजी अधिक मात्रा मे लगायी गयी है। विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से इनका महत्त्व सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि किस सीमा तक इस विनियोग से आयात की आवश्यकता मे कमी होगी और / अथवा निर्यात मे वृद्धि होगी।

इसके बाद इन विनियोगों से प्राप्त लाभ को जब देश से बाहर ले जाया जाता है और वही फिर पूंजी के रूप मे नही लगाया जाता तथा पहले लगायी गयी पूंजी को वापस सम्बन्धित देश मे भेजना भुगतान सन्तुलन की दृष्टि से पूंजी का बहिर्गमन सिद्ध होता है। (निजी पूंजी के उक्त तरीके से विनियोग को पूंजी का 'आगमन' बताने के सामान्य तरीके और आगे चलकर इसके बहिर्गमन की उपेक्षा की समालोचना के लिए देखिए अध्याय-10)।

पूंजी का बहिर्गमन इस तरीके से भी होता है कि किसी कम-विकसित देश

के नागरिक इसे विदेशी बैंकों में रख देते हैं अथवा इससे विदेशो में हिस्सा पूंजी खरीदते है। अधिकांशतया इस पूंजी को चुपचाप बाहर ले जाया जाता है और यह कार्य विदेशी मुद्रा के विनिमय सम्बन्धी नियमों के विरुद्ध होता है। इसी कारण से इस पूंजी को सम्बन्धित आँकड़ो मे भी शामिल करना सम्भव नही हो पाता। लेकिन इस बात की जानकारी है कि बुनियादी तौर पर लेटिन अमरीका से बड़ी मात्रा मे इस प्रकार पूंजी का बहिर्गमन होता है। लेकिन यह बात केवल लेटिन अमरीका पर ही लागू नही होती।

ऊपर व्यापार के विकास और पूंजी के प्रवाह का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों के ऋणो के निरन्तर बढ़ते हुए भार की समस्या सामने आयी है।[13] यह गणना की गयी है कि इन देशों के समस्त ऋणों की राशि 1950 के 10 अरब डालर से बढकर 1965 में 40 अरब डालर हुई और ऋण की इस राशि मे निरन्तर वृद्धि हो रही है और आगामी वर्षों मे भी यह वृद्धि जारी रहेगी।

इसी अवधि में ब्याज और ऋण परिशोधन के वार्षिक भुगतानों के रूप में अदायगी की राशि 8 करोड़ डालर से बढकर लगभग 3 अरब 60 करोड हो गयी है। ऋणों के ब्याज और मूल के भुगतान की राशि तथा निर्यात की आय का अनुपात 1950 के मध्य मे 4 प्रतिशत से बढ़कर 1965 में 9 प्रतिशत हो गया। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रही तो इन देशों के भीतर आने वाली समस्त पूंजी इन भुगतानों के रूप में बाहर चली जायेगी और यह कार्य 1970 के बाद के आरम्भिक वर्षो मे होगा।

लगभग 10 वर्ष से इस सम्बन्ध मे चिन्ताजनक चेतावनियाँ दी जा रही है। ये चेतावनियां अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक ने विशेष रूप से दी है, जो कम-विकसित देशों और विशेषकर पूंजी के प्रवाह के बारे मे अपनी अधिक जिम्मेदारी अनुभव करता है। अब इस घटना को कई वर्ष बीत चुके है, जब इस बैंक के तत्कालीन अध्यक्ष यूजीन ब्लैक ने यह खतरा देखा कि 'आर्थिक विकास की व्यवस्था सम्भवत: उस समय तक विदेशी ऋणों के भार से लादी जाती रहेगी, जब तक यह आधी निर्मित परियोजनाओं और रद्द की गयी योजनाओं के पहाड के नीचे ठप्प नहीं हो जाती।'[14] उनके उत्तराधिकारी जार्ज डी० वुड्स ने 'ऋणो के विस्फोट' की चर्चा की और इसी चेतावनी को दोहराया। इसका समाधान अधिक सार्वजनिक अनुदानों और सार्वजनिक ऋणों की अधिक सरल शर्तों के रूप मे ही हो सकता है। ऐसी सार्वजनिक सहायता की प्रवृत्ति विपरीत दिशा मे आगे बढ़ी है (देखिए अध्याय-11)।

कुछ कम-विकसित देशों के सम्बन्ध में ऋणों के भुगतान के बारे मे कुछ परिवर्तन किये गये हैं। लेकिन यह दिवालियेपन से निबटने का एक बेहतर तरीका होने के अलावा अन्य कुछ नही है। इसमें केवल लक्षणो के आधार पर काम किया गया है और इससे इस बुनियादी समस्या का हल नही निकलता: ऐसे घटनाक्रम को किस प्रकार रोका जाये जो अन्ततः अनिवार्य रूप से भुगतान संकट

के रूप में फट पड़ेगा यदि अधिक दूरगामी उपाय नहीं किये जाते।

5. व्यापार नीतियाँ

कम-विकसित देशों में पूंजी का आगमन और बहिर्गमन उनके विदेश व्यापार और विशेषकर निर्यात से सम्बन्धित होता है अथवा यह इसमें कुछ सुधार को प्रकट करता है। ऋणों के विस्फोट से तथा ऋणों के निरन्तर बढ़ते हुए भार से यह समस्या और जटिल हुई है कि कम-विकसित देशो के व्यापार की स्थिति मे कैसे सुधार किया जाये।

जैसाकि मैं जोर देकर कह चुका हूँ, हाल के दशकों मे कम-विकसित देशों की व्यापार की परिस्थितियों मे जो प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ी हैं, वे मुख्यतया बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया और प्रभाव का परिणाम हैं—इन शक्तियों को विभिन्न एकाधिकारी तत्वों से बल मिला है, जो प्रायः सदा कम-विकसित देशों के लिए अलाभकारी होते है। वस्तुतः इन प्रवृत्तियो का अर्थ उन्ही बातो को जारी रखना होता है, जो उपनिवेशी युग मे हुई थी। यदि इन्हें इसी प्रकार बेरोकटोक चलने दिया जाये, तो इन व्यापक अर्थों मे बाजार की शक्तियाँ कम-विकसित देशो के लिए हानिप्रद सिद्ध होती हैं।

लेकिन, उपनिवेशी युग की तरह ही, विकसित देशों की वाणिज्य नीतियों में कम-विकसित देशो के प्रति अनेक तरीको से और अधिक भेदभाव बरता गया है। उपनिवेशों की समाप्ति के बाद के युग में विकसित देशों की वे नीतियाँ, जो कम-विकसित देशों के विकास के हितो के विपरीत है और अधिक उपेक्षापूर्ण बन गयी हैं। उपनिवेश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भूतपूर्व उपनिवेशी देश अक्सर इसकी भलाई के लिए अपनी कम जिम्मेदारी अनुभव करने लगते हैं।

कम-विकसित देशों के विकास सम्बन्धी हितों के विपरीत कार्य करने वाली वाणिज्य नीतियों की सूची बड़ी लम्बी और विविध है और यहाँ इस पर बहुत संक्षेप में ही विचार किया जा सकता है। सबसे पहले गर्म देशों के कृषि उत्पादन हैं—जैसे, कॉफी, चाय, और कोको तथा अन्य अनेक चीजें। इन्हें उन सम-जलवायु वाले क्षेत्रों में नही उगाया जा सकता, जहाँ विकसित देश स्थित है और इस प्रकार इनसे किसी संरक्षण सम्बन्धी हित का साधन नही होता।

इन चीजो पर लगाये जाने वाले तट-कर और अन्य कर कभी भी विलास की चीजों पर लगाये जाने वाले करों के रूप मे नही लगाये गये। समृद्ध समाजों में अब यह प्रवृत्ति समाप्त हो गयी है। अब इन्हें शुद्ध रूप से मुद्रा सम्बन्धी शुल्क ही माना जाता है। एक देश के दृष्टिकोण से वे सामान्य खपत पर खास किस्म के कराधान के अलावा अन्य कुछ नही हैं। इन्हे बडी आसानी से समाप्त किया जा सकता है—इस कर-भार को दूसरे करो के रूप मे बदला जा सकता है, उदाहरण के लिए, अन्य खपत पर अथवा हर खपत पर कर लगाकर यह कार्य किया जा सकता है।

इसके अलावा अधिक नियमित कृषि जिन्स संरक्षण हैं, जो अक्सर कम-विकसित देशों के लिए बड़े अलाभकारी रहते हैं। इसका एक बड़ा उदाहरण चुकन्दर से बनने वाली चीनी के स्वदेश में उत्पादन को दिया जाने वाला उच्च संरक्षण है और इसी प्रकार वनस्पति तेल देने वाले पौधों को भी विभिन्न प्रकार के संरक्षण दिये जाते हैं।

इससे भी अधिक बुरा संरक्षण वह है, जो विकसित देशों में निर्मित और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं को दिया जाता है। भविष्य में प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में कमी की जो कल्पना की जा सकती है—चाहे उस कृषि जिन्स सरक्षण को, जिसका उदाहरण ऊपर दिया गया है, समाप्त भी कर दिया जाये—उसे देखते हुए यह कहना होगा कि कम-विकसित देशों में आत्मनिर्भर और गतिशील अर्थ-व्यवस्थाओं की स्थापना अधिकांशतया इन देशो द्वारा अपने निर्मित माल के निर्यात पर निर्भर करती है।

समस्त परिस्थितियो में ऐसे निर्यातों के विस्तार के समक्ष जबर्दस्त कठिनाइयां आती हैं। लेकिन इन कठिनाइयों में विकसित देशों की अपने उत्पादन को संरक्षण देने की नीतियों के कारण वृद्धि हुई है।

जिस जिन्स को तैयार करने में जितने अधिक सुधार की आवश्यकता होती है, उसके ऊपर उतना ही तट-कर लगाया जाता है। अर्द्ध-तैयार माल के सम्बन्ध में भी, जो आरम्भ में कम-विकसित देशों को निर्यात के लिए केवल प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन से दूर हटने की आसान सम्भावना प्रस्तुत करेगा, तट-कर एक ऐसी बाधा खड़ी कर देते हैं जो अक्सर अलंघ्य हो जाती है। यदि प्राथमिक वस्तुओं को शुल्क से मुक्त कर दिया जाता है तो अर्द्ध-तैयार माल पर लगने वाला प्रभावी तट-कर साधारणतया कहीं ऊँचा दिखायी पड़ता है।

इन अमूर्त उदाहरणों से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाता है कि कम-विकसित देशों के स्वयं को विकास की कमी से मुक्ति दिलाने के प्रयासों के विरुद्ध विकसित देशो की वाणिज्य नीतियां प्राय: विधिवत् खडी हो जाती हैं। ये नीतियां इस स्थिति में और भी अधिक हानिप्रद हो जाती हैं, क्योंकि ये बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया के बुरे प्रभावों के साथ अपने प्रभाव को और जोड़ देती हैं।

एक विवेकपूर्ण ससार मे, समानतावादी विचार को उचित स्थान देते हुए, विश्व समुदाय की यह स्वाभाविक महत्वाकांक्षा होनी चाहिए कि वह बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया और प्रभावों में इस प्रकार हस्तक्षेप करेगा कि कम-विकसित देशों के निर्यात की प्रवृत्ति एक भिन्न और कम विनाशकारी मार्ग से आगे बढ़।

वस्तुत: कोई विकसित देश—और न ही कोई ऐसा कम-विकसित देश जो आयोजन के मार्ग पर आगे बढ रहा है—बाजार की शक्तियो को अपने देशो के भीतर इस प्रकार विकसित होने देने को तयार नही है, जिनके परिणामस्वरूप बड़े क्षेत्र विकास की कमी से ग्रस्त रहें और कुछ परिस्थितियों मे और गरीब हो जायें। यह जान-बूझकर ऐसी नीतियां निर्धारित करने की तो बात भी नहीं सोच सकता जो बाजार की शक्तियों के बुरे प्रभावों को और मज़बूत बनायेंगी।

विकसित देश आज आंशिक रूप से इस कारण से विकसित और राजनीतिक दृष्टि से मज़बूत हैं, क्योंकि, अपने हाल के समस्त इतिहास के दौरान, उन्होंने बाजार की शक्तियों की प्रक्रिया मे हस्तक्षेप किया है और ऐसी नीतियां बनायी है, जो इन शक्तियों के बुरे प्रभावों का प्रतिरोध करती हैं और उनमें सुधार करती हैं।

अब क्योंकि दूसरे महायुद्ध के बाद कम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ, अत: समस्त देशों के —

अपनी सीमाओं के भीतर विकसित देश बहुत लम्बे अरसे से कम बेहतर स्थिति वाले क्षेत्रों और लोगों के समूह के हितों की रक्षा के लिए बाजार की शक्तियो की प्रक्रिया मे हस्तक्षेप करते रहे हैं। पर यह सच है कि प्रवासियों और उनकी सन्तान द्वारा निर्मित एक राष्ट्र के रूप मे जिसमें अधिकाश संख्या यूरोपीय जाति के लोगो की है लेकिन पूरी आबादी इन जातियो की नही है और नीग्रो जाति की दासता की पृष्ठभूमि के कारण समृद्ध अमरीकियो का एक बडा हिस्सा अपने मध्य अत्यधिक गरीब लोगो के बडे समूह को देखने का आदी हो गया है और उन्हें गरीबी तथा बेरोजगारी के संकट से मुक्ति दिलाने के लिए कोई प्रभावशाली उपाय न करने का भी वह आदी हो चुका है।

जैसाकि मैंने भूमिका में कहा है कि स्वदेश मे संयुक्त राज्य अमरीका के सामने एक ऐसी समस्या मौजूद है जो अनेक दृष्टियों से कम-विकसित देशो के विकास की समस्याओं जैसी ही है। एक हितकारी राज्य के रूप मे संयुक्त राज्य अमरीका अभी भी अपेक्षाकृत पिछडा हुआ है।

इसकी शहरी समस्या और गांवों की गन्दी बस्तियो की ऐसी ही समानान्तर समस्या का समाधान करने मे समय लगेगा। इस पर इतना अधिक धन व्यय करना होगा, जिसे कुछ अमरीकी ही यथार्थ रूप से समझते हैं। कहने का अभिप्राय है कि संयुक्त राज्य अमरीका के समृद्ध नागरिकों के ऊपर 'गरीब लोगो का ऋण' लदा हुआ है, जिसे उन्हें राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित रखने और उसमे सुधार करने के लिए चुकाना होगा। प्रसगवश यह उल्लेखनीय है कि इस कारण से अमरीका की राष्ट्रीय सम्पदा और आय के समस्त आंकडे अयथार्थ और बढा-चढा कर दर्शाये गये आंकड़े बन जाते है।

लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका में लोगों के विचारों और सार्वजनिक नीतियों—दोनो की दृष्टि से लम्बी अवधि का दिशा-परिवर्तन अनिवार्य है। यह परिवर्तन वैसा ही है, जैसा उन अन्य विकसित देशों में हुआ, जो हितकारी राज्यो के रूप में अधिक आगे बढे हुए हैं और जिन्हें कम गम्भीर समस्याओ को हल करना पडा और जिन्होने इन्हें केवल हल ही नही किया बल्कि इससे भी आगे बढ गये। अत: संयुक्त राज्य अमरीका उस सामान्य नियम का अपवाद नही है, जिसका मैंने उल्लेख किया है।

अब इन आन्तरिक नीतियों को केवल पिछडे हुए क्षेत्रों के लम्बी अवधि के हितो मे ही नही, बल्कि सर्वाधिक विकसित क्षेत्रो के लम्बी अवधि के हित मे देखा जा सकता है। वहाँ नि.सन्देह पर्याप्त सीमा तक 'हितों का सामंजस्य' मौजूद है। लेकिन इस 'सामंजस्य का निर्माण' किया गया, इस कार्य में बाजार की शक्तियो को स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं होने दिया गया और इन्हें सामान्य हितो के अनुरूप नियमित और प्रतिबन्धित किया गया। इस कारंवाई के अन्तर्गत पिछडे हुए क्षेत्रों और लोगो के समूहों को संरक्षण देना और उन्हे उन्नति के मार्ग पर आगे बढाना शामिल था।[16]

यह एक विरोधाभास है कि विकसित देशो मे इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो नीतियाँ अगीकार की गयी, उन्हें अक्सर इस तरीके से बनाया गया कि राष्ट्रीय समानता की स्थापना का प्रयास कम-विकसित देशो के निर्यात की सम्भावनाओ को कम करने के द्वारा किया गया। स्थिति चाहे कुछ भी हो, हाल

तक विकसित देशों के नीति सम्बन्धी विचार-विमर्श में मुश्किल से ही इस बात पर गौर किया गया कि कम-विकसित देशों के बारे में भी वैसी ही नीतियाँ अपनायी जानी चाहिए जैसी स्वदेश मे पिछड़े हुए इलाकों की उन्नति के लिए अपनायी गयी थी।

हितकारी राज्य राष्ट्रवादी होता है,[17] वस्तुतः यह अबन्ध व्यापार की किस्म के राज्य से अधिक राष्ट्रवादी होगा। निहित स्वार्थों की विशाल शक्तियों का, जो अक्सर नागरिकों के विभिन्न स्तरों पर व्यापक रूप से फैली हुई हैं, इस प्रकार निर्माण हुआ है कि इन्हें ऐसी नीतियों को समाप्त करने के विरुद्ध संगठित किया जा सकता है, जो कम-विकसित देशों को हानि पहुँचाती हैं। इस मामले में, 'पूँजी-पतियों' को दोष देना गलत है, जैसाकि कुछ अज्ञानी आमूल परिवर्तनवादी लोग करते हैं। इस सम्बन्ध में जनता प्रतिक्रियावादी है।

अनेक वर्षों मे संयुक्त राज्य अमरीका में जनमत का पता लगाने के लिए जो सैकड़ों अभियान चलाये गये, उनसे यह तथ्य प्रमाणित हुआ कि, व्यापक दृष्टि से, गरीब लोग अधिक प्रतिक्रियावादी होते हैं। मैकार्थीवाद एक लोकप्रिय आन्दोलन था। सन् 1968 के राष्ट्रपति चुनाव में वालेस के लिए उच्च वर्गों के लोगों ने मतदान नही किया। संयुक्त राज्य अमरीका में निचले वर्गों के एकीकरण की कमी, संगठनो की बडी आधार वाली सन्तुलित संस्थागत आधार व्यवस्था का अभाव और प्रभावशाली रूप से जनता द्वारा नीति निर्धारण में हिस्सा न लेना इस बात का परिणाम है।[18]

चाहे अन्य विकसित देशो में ऐसी स्थिति नाममात्र को हो अथवा बिल्कुल न हो, लेकिन शेष संसार और विशेषकर कम-विकसित देशों के प्रति अपनी भावनाओं में ये देश अक्सर इसी प्रकार अदूरदर्शिता पर आधारित स्वार्थपूर्ण प्रतिक्रिया दिखाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय एकता का आधार या तो मौजूद ही नहीं है अथवा बेहद कमजोर है, विशेषकर उस स्थिति में जब उन बातों का त्याग करने की बात आती है, जिन्हें लोग व्यापार से मिलने वाले लाभ समझते हैं। चाहे ये लाभ बहुत मामूली और कुछ समय के लिए ही प्राप्त होने वाले लाभ क्यों न हो।

विकसित देशों मे ऐसी नीतियों की समाप्ति, जो कम-विकसित देशों के लिए हानिकारक हैं और इससे भी अधिक ऐसी नीतियों को अपनाना जो उन्हें सकारात्मक ढंग से सहायता पहुँचायेंगी, इस मान्यता पर आधारित हैं कि विकसित देशों के लोग किसी-न-किसी सीमा तक एक हितकारी संसार की संकल्पना को स्वीकार करते हैं। जब कभी कम-विकसित देशों को उनके विकास के प्रयासों में सहायता देने के लिए कुछ करने की बात आती है, वहाँ ऐसी कार्रवाई करना उचित होगा।

विकसित देशों के लोगों को अपने राष्ट्रीय अनुभव से यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि लम्बी अवधि की दृष्टि से यह कार्य बहुत मामूली या बिना किसी बलिदान के किया जा सकता है। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी 'निर्मित सामंजस्य' की सम्भावना को देखने का तरीका सीखना चाहिए अथवा कम-से-कम निकट भविष्य मे ऐसे 'निर्मित सामंजस्य' के निर्माण के प्रति कार्रवाई करने के लिए तैयार होना चाहिए।

इस कल्पना पर जोर देने की आवश्यकता है, जो अभी तक अपूर्ण अन्तर-

राष्ट्रीय यथार्थ से बहुत दूर है। विकसित देशों में जनता के मध्य यह विचार फैलाये बिना उन वाणिज्य नीतियों को बनाये रखने के विरुद्ध कार्रवाई करना सम्भव नही होगा जो व्यापक निहित स्वार्थों पर आधारित है, लेकिन जो कम-विकसित देशों के निर्यात हितों के विपरीत जाती है। जब तक इस विचार का प्रसार नही होता, लोगो को केवल तट-कर और व्यापार के मार्ग मे आने वाली अन्य बाधाओ को समाप्त करने के लिए ही तैयार करना मुश्किल न होगा, बल्कि कम-विकसित देशो से होने वाले निर्यात को बढाने मे सकारात्मक रूप से सहायक कार्रवाई करने के लिए भी तैयार करना मुश्किल होगा।

विकसित देशो के लोगों को कम-विकसित देशो से अपने सम्बन्धो में उसी प्रकार की विवेकपूर्ण उदारता अनुभव करने के लिए तैयार किया जाना चाहिए, जो आन्तरिक सम्बन्धों में धीरे-धीरे विकसित हुई थी।

संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य विकसित देशो को अपने वस्त्र उद्योग को तट-कर और अन्य उपायों से संरक्षण देने की आवश्यकता नही है। कम-विकसित देशो के निर्यातों के विरुद्ध यह व्यवस्था करने की जरूरत नही है। ऐसा न करने के कारण उन्हे स्वदेश में कुछ अस्थायी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा, लेकिन ये देश इतने साधनसम्पन्न और धनी है कि अधिक कठिनाइयों के बिना ही इन समस्याओं का समाधान निकाल सकते हैं।

ऐसी ही समस्याएँ आर्थिक और टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण भी निरन्तर उत्पन्न हो रही हैं और इनका सामना सामान्य नीति सम्बन्धी उपायों के द्वारा किया जाता है। हाल के वर्षों में तट-कर में कमी करने के जो प्रयास किये गये और जिनकी परिणति तथाकथित कैनेडी राउंड में हुई, उनके अन्तर्गत लम्बी अवधि के लाभ उठाने की दृष्टि से व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओ को जानबूझकर उठाया गया। पर कुछ अपवादों को छोड़कर, इन प्रयासो का सम्बन्ध केवल विकसित देशों के बीच व्यापार से ही रहा।

एक सामान्य नियम के रूप मे, कम-विकसित देशों से होने वाले आयात पर विकसित देशो मे लगे प्रतिबन्धो को कम करना वस्तुतः विकसित देशो के लम्बी अवधि के हित में होना चाहिए। जिन उद्योगों में विकसित देश होड कर सकते है—अर्थात् साधनो पर आधारित और श्रमसघन उद्योग—वे साधारणतया ऐसे उद्योग नही होते, जिन्हे अपने देश मे बढाना अथवा यहाँ तक कि कायम रखना भी विकसित देशो के हित मे हो। विकसित देशों में ये अक्सर कम वेतन देने वाले उद्योग होते हैं। विकसित देशो मे विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत आयोजन का नियमित परिणाम, अपने अल्प श्रम साधनों को उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों मे लगाने की दिशा मे होना चाहिए, इन साधनों को कम वेतन देने वाले उद्योगों के साथ नही बाँध देना चाहिए।

स्वीडन जैसे देश में, जहाँ प्रबुद्ध मजदूर संघ आन्दोलन की परम्परा है और अब जिसके अन्तर्गत प्रायः समस्त श्रम शक्ति आ गयी है, इस नीति को कम वेतन देने वाले उद्योगों के श्रमिकों के संघों के प्रतिनिधि भी स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, कपड़ा उद्योग को उच्च कोटि का वस्त्र बनाने की दृष्टि से अपने उत्पादन में आमूल परिवर्तन करने और उत्पादन को इस दिशा में प्रवृत्त करने के लिए बाध्य किया गया है। यही ऐसा माल है, जिसके सम्बन्ध मे यह

देशों को अपनी सहायता मे ज़रा-सी भी वृद्धि करने मे स्वयं को असहाय अनुभव करने लगें और जो वे थोड़ी बहुत सहायता देते हैं उसे स्वयं अपने देशों के निर्यात से बाँधने की प्रेरणा अनुभव करने लगें।

लेकिन ये देश ऐसी ही सतर्कताएँ उन अन्य नीतियो के बारे मे नही बरतते जो उनके भुगतान सन्तुलन के लिए कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। जब मैंने मुद्रा-स्फीति को रोकने की उनकी प्रमाणित अक्षमता की ओर संकेत किया, तब इन नीतियों का भी उल्लेख किया गया। हथियारों पर किया जाने वाला खर्च इसका एक उदाहरण है, जो संयुक्त राज्य अमरीका में इतनी मात्रा में बढ़ गया है कि वह एक सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत है।

यह तथ्य कि विकसित देश कम-विकसित देशों के निर्यात के मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त न करने का कारण विदेशी मुद्रा की कठिनाई बताते हैं, एक ऐसा तथ्य है जो यह दर्शाता है कि वे अपने राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी लक्ष्यों में कम-विकसित देशों को विकास करने में सहायता देने की बात को कितनी नीची प्राथमिकता देते हैं।

अन्य सब महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी विकल्पों की तरह, यह बुनियादी तौर पर नैतिकता का प्रश्न है। सरकारों और अधिकारियो को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। उन्हें केवल उस स्थिति में अलोकप्रिय नीति को अधिक शक्ति-शाली तरीके से पेश करने का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए जब यह नीति विवेक द्वारा प्रेरित हो। ये लोग अपने देशवासियों की इच्छाओं के अनुरूप काम करते हैं, जो पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं। जैसाकि मैंने कहा है—इस मामले से निहित स्वार्थों का गहरा सम्बन्ध है। ये स्वार्थ बहुत मामूली है, लेकिन ये जनता मे व्यापक रूप में फैले हुए हैं।

### 6. संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की असफलता

नयी दिल्ली में 1968 की बसन्त ऋतु में संयुक्त राष्ट्र के विकास और व्यापार सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन प्रायः पूरी तरह से असफल रहा।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के विख्यात महासचिव राउल प्रिविश ने अधिवेशन सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया कि कमी 'पर्याप्त राजनीतिक संकल्प' की है। राउल प्रिविश ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा :

"महान् लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सका। सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन बहुत सीमित सकारात्मक परिणाम प्राप्त करने में सफल रहा, जो विकास की समस्या की विशालता और तात्कालिक महत्व के अनुरूप नहीं है।"[19]

उन्होंने बड़ी कटुता से आगे कहा :

"ऐसा लगता है कि लोगों और राष्ट्रों की समृद्धि दूसरे लोगो की भलाई के प्रति यदि पूर्ण उदासीनता को नहीं, तो कम-से-कम अलगाव का भाव अवश्य पैदा करती है······कुछ अपवादो को छोड़कर विकसित देश विकास की समस्या को एक ऐसी महत्त्वहीन समस्या समझते हैं जिसका समाधान कुछ टुकड़ो मे साहसपूर्ण और कृतसंकल्प कार्रवाई के बिना कुछ मामूली और अपर्याप्त उपायों से किया जा सकता है। केवल विकसित देशों के कुछ ही क्षेत्रों में इस बात के गम्भीर आर्थिक और राजनीतिक परिणामो को दूरदर्शितापूर्वक समझा जा

उद्योग अभी भी सफलतापूर्वक होड़ कर सकता है। इस बीच, कपड़ा कारखानों के श्रमिकों की संख्या में, 1950 से 1968 के बीच की अवधि में, लगभग 50 प्रतिशत की कमी हुई।

विकसित देश अपने विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की चिन्ता की बात को नियमित रूप से एक ऐसे कारण के रूप में पेश करते हैं और यह कहते हैं कि इस कमी के कारण वे सट-कर में कमी करने और आयात सम्बन्धी अन्य प्रतिबन्ध हटाने के लिए तैयार नहीं हैं, जो इस समय कम-विकसित देशों के निर्यात के प्रयासों के मार्ग में बाधक बने हुए हैं। वित्तीय सहायता में वृद्धि न करने का भी यही कारण बताया जाता है और सहायता देने वाले देश से निर्यात के साथ सहायता को जोड़ देने की आवश्यकता का भी यही कारण बताया जाता है (देखिए अध्याय 11)।

यह सच है कि अनेक विकसित देश भुगतान सन्तुलन की अत्यधिक और गम्भीर कठिनाइयों में फँसे हुए हैं—इन देशों में संयुक्त राज्य अमरीका भी शामिल है—और अधिकांश विकसित देश यह खतरा अनुभव करते हैं कि वे भी इन कठिनाइयों में फँस सकते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में अपने विचारों को विस्तार से प्रतिपादित किये बिना मैं सबसे पहले यह कहना चाहूँगा कि विकसित देशों की भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयाँ ऐसी हैं, जो उन्होंने स्वयं अपने लिए उत्पन्न की हैं।

ये कठिनाइयाँ उनकी आन्तरिक और बाह्य नीतियों की अपर्याप्तता का परिणाम हैं। निजी और सार्वजनिक खपत को—संयुक्त राज्य अमरीका के मामले में हथियारों पर अत्यधिक ऊँचा व्यय और वियतनाम युद्ध, चन्द्रमा पर पहुँचने के लिए की जाने वाली उड़ानें आदि भी शामिल हैं—बढ़ने दिया जाता है और देश इसके अनुरूप कराधान में वृद्धि नहीं करता। इसका परिणाम मुद्रा-स्फीति होता है।

दामों में मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति—अथवा भविष्य में दाम बढ़ने की सम्भावना—अनेक विकसित देशों में समान नहीं है, अतः इसका परिणाम कुछ देशों के लिए विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन की कठिनाई है और यह खतरा दिखायी पड़ता है कि निकट भविष्य में प्रायः सब देशों के समक्ष ऐसी ही कठिनाई सामने आ सकती है। इतना ही नहीं, विकसित देशों ने उस सीमा तक अपने मुद्रा सम्बन्धी सहयोग को पूर्ण नहीं बनाया है कि इस कठिनाई के बावजूद वे विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन को कायम रख सकें।

यदि विदेशी मुद्रा के भुगतान की कठिनाइयों के कारण को हम फिलहाल छोड़ दें अथवा निकट भविष्य में ऐसी कठिनाइयों की आशंका की बात को नजरअन्दाज कर दें, तो भी वस्तुतः एक ऐसी विचित्र स्थिति हमारे सामने आती है कि समृद्ध और विकसित देश विदेशी मुद्रा के कारणों से अपने-आपको ऐसी स्थिति में पाते हैं कि वे कम-विकसित देशों से होने वाले निर्यातों की सहायता के लिए मामूली से मामूली कार्रवाई न कर सकें—और कम-विकसित

देशों को अपनी सहायता में जरा-सी भी वृद्धि करने में स्वयं को असहाय अनुभव करने लगें और जो वे थोडी बहुत सहायता देते है उसे स्वयं अपने देशों के निर्यात से बाँधने की प्रेरणा अनुभव करने लगें।

लेकिन ये देश ऐसी ही सतर्कताएँ उन अन्य नीतियो के बारे में नही बरतते जो उनके भुगतान सन्तुलन के लिए कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। जब मैंने मुद्रा-स्फीति को रोकने की उनकी प्रमाणित अक्षमता की ओर संकेत किया, तब इन नीतियों का भी उल्लेख किया गया। हथियारों पर किया जाने वाला खर्च इसका एक उदाहरण है, जो संयुक्त राज्य अमरीका में इतनी मात्रा मे बढ गया है कि वह एक सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत है।

यह तथ्य कि विकसित देश कम-विकसित देशो के निर्यात के मार्ग में आने वाली बाधाओं को समाप्त न करने का कारण विदेशी मुद्रा की कठिनाई बताते हैं, एक ऐसा तथ्य है जो यह दर्शाता है कि वे अपने राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी लक्ष्यों में कम-विकसित देशों को विकास करने मे सहायता देने की बात को कितनी नीची प्राथमिकता देते हैं।

अन्य सब महत्त्वपूर्ण नीति सम्बन्धी विकल्पों की तरह, यह बुनियादी तौर पर नैतिकता का प्रश्न है। सरकारों और अधिकारियों को दोष नही दिया जाना चाहिए। उन्हें केवल उस स्थिति मे अलोकप्रिय नीति को अधिक शक्ति-शाली तरीके से पेश करने का उत्तरदायित्व निभाना चाहिए जब यह नीति विवेक द्वारा प्रेरित हो। ये लोग अपने देशवासियों की इच्छाओं के अनुरूप काम करते हैं, जो पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। जैसाकि मैंने कहा है—इस मामले से निहित स्वार्थों का गहरा सम्बन्ध है। ये स्वार्थ बहुत मामूली हैं, लेकिन ये जनता में व्यापक रूप में फैले हुए हैं।

### 6. संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की असफलता

नयी दिल्ली मे 1968 की वसन्त ऋतु मे संयुक्त राष्ट्र के विकास और व्यापार सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन प्रायः पूरी तरह से असफल रहा।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के विख्यात महासचिव राउल प्रिबिश ने अधिवेशन सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया कि कमी 'पर्याप्त राजनीतिक संकल्प' की है। राउल प्रिबिश ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया है। उन्होने अपनी रिपोर्ट मे कहा :

"महान् लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सका। सम्मेलन का दूसरा अधिवेशन बहुत सीमित सकारात्मक परिणाम प्राप्त करने में सफल रहा, जो विकास की समस्या की विशालता और तात्कालिक महत्त्व के अनुरूप नही है।"[19]

उन्होने बड़ी कटुता से आगे कहा :

"ऐसा लगता है कि लोगो और राष्ट्रो की समृद्धि दूसरे लोगों की भलाई के प्रति यदि पूर्ण उदासीनता की नही, तो कम-से-कम अलगाव का भाव अवश्य पैदा करती है······कुछ अपवादों को छोडकर विकसित देश विकास की समस्या को एक ऐसी महत्त्वहीन समस्या समझते है-जिसका समाधान कुछ टुकडो मे साहसपूर्ण और कृतसंकल्प कार्रवाई के बिना कुछ मामूली और अपर्याप्त उपायो से किया जा सकता है। केवल विकसित देशो के कुछ ही क्षेत्रों में इस बात के गम्भीर आर्थिक और राजनीतिक परिणामों को दूरदर्शितापूर्वक समझा जा

रहा है, जो तीसरी दुनिया को आर्थिक संकट में पड़े रहने देने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं।"

उन्होंने कहा कि "सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन की यही वास्तविक पृष्ठभूमि है।"[20] विकसित देशों ने अपनी स्थिति में थोड़ा बहुत परिवर्तन करने और सामंजस्य लाने के लिए कुछ छोटे और हिचकिचाहट भरे कदम उठाये, लेकिन स्वयं को किसी विशेष बात के प्रति प्रतिबद्ध नहीं किया। लेकिन अब यह कार्य भी अत्यधिक धीमी गति से हो रहा है।[21]

कम-विकसित देशों ने सम्मेलन के समक्ष दूरगामी माँग पेश नहीं की। अधिकांशतया इस बात का स्पष्टीकरण, और सम्भवतः राजनीतिक औचित्य भी, इस जानकारी के आधार पर दिया जा सकता है कि विकसित देश अधिक समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे और उनके हाथ में पूरी ताकत थी। जब ठोस मसलों पर विचार हुआ तब स्वयं कम-विकसित देशों के बीच अपने हितों की दृष्टि से फूट दिखायी पड़ी, जिसके परिणामस्वरूप उनके दबाव की शक्ति पर्याप्त कम हो गयी।

एक बात तो यह थी कि कम-विकसित देश स्वयं अपने बीच व्यापार बढ़ाना चाहते थे। अनेक क्षेत्रों में यह भावना दिखायी पड़ रही थी। अधिकांशतया यह उनकी अपनी जिम्मेदारी है। लेकिन यह महत्त्वपूर्ण है कि विकसित देश इस काम में अपना समर्थन दें और किसी भी स्थिति में अपनी सत्ता का उपयोग कम-विकसित देशों के बीच क्षेत्रीय एकता और सहयोग के मार्ग में बाधा डालने के लिए न करें।

सन् 1950 के बाद के वर्षों तक मैं स्वयं अपने सूक्ष्म प्रेक्षणों के आधार पर यह कह सकता हूँ कि क्षेत्रीय आयोगों में क्या हुआ है। संयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन ने व्यापार के क्षेत्र में सहयोग बढ़ाने के लिए इन संगठनों के उपयोग का बड़ी कड़ाई से विरोध किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि यह बात बहुदेशीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के विपरीत होगी। मोटे तौर पर अन्य विकसित देशों ने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी और तटस्थ रहे।

लगभग पिछले दशक में इसमें परिवर्तन हुआ है। लेटिन अमरीका में जहाँ क्षेत्रीय एकता की दिशा में सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण प्रयास शुरू किये गये, क्षेत्र के भीतर व्यापार सम्बन्धी बाधाओं को समाप्त करना विदेशी, अधिकांशतया अमरीकी, कम्पनियों के हित में देखा गया। प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि यह विदेशी समर्थन लेटिन अमरीका के सभी देशों में इस विचार के प्रति स्थानीय उत्साह को कम करने का कारण बना।

सामान्यतया क्षेत्रीय एकता और सहयोग कम-विकसित देशों के विकास के लिए निश्चय ही सहायक होगा।[22] इन देशों को एक 'साझा बाजार' की पश्चिम यूरोप के विकसित देशों की तुलना में कहीं अधिक आवश्यकता है। लेकिन कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। इन क्षेत्रों में गहरी राष्ट्रीय शत्रुताएँ मौजूद होने के कारण एकता के लिए उचित राजनीतिक वातावरण के मार्ग में भी कठिनाइयाँ आयेंगी। इसके अलावा तकनीक सम्बन्धी विशेष कठिनाइयाँ भी मौजूद हैं।

इस प्रकार किसी क्षेत्र में बड़े और उद्योगों में अधिक उन्नत देशों को छोटे और कम-विकसित देशों के ऊपर छा जाने से रोकने की आवश्यकता है।

अन्यथा ये देश इन प्रयासों मे शामिल नही होंगे। अतः सीमा शुल्क सम्बन्धी किसी संघ की स्थापना अथवा स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र पर्याप्त नही होगा।

पारस्परिक सहयोग में हिस्सा लेने वाले देशो के बीच व्यापार सम्बन्धी बाधाओं को समाप्त करने के अलावा कम-विकसित क्षेत्रो में यह निश्चय करने के लिए संयुक्त आयोजन की आवश्यकता है कि किन देशों को किन वस्तुओ के उत्पादन में विशेषज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। सब कम-विकसित देशों में राष्ट्रीय आयोजन में गम्भीर खामियाँ है। इसके अलावा अनेक देशों में आयोजन की प्रक्रिया समान रूप से विकसित नही हुई है और यह बात किसी क्षेत्र में व्यापार में सहयोग बढ़ाने के मार्ग में बहुत अधिक बाधा डालती है।

क्षेत्रीय सहयोग का लक्ष्य अब विवादास्पद विषय नही रह गया है और विकसित देश सामान्य रूप से इसके लिए अपना समर्थन देने का वचन दे सकते हैं।[23] इन देशों ने अपने ऊपर कोई विशेष दायित्व लेने से इनकार किया है। केवल इसी बात पर सहमति हुई कि इस समस्या पर संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के अधीन विचार किया जाना चाहिए। सम्भवतः किसी विशेष समिति द्वारा यह कार्य किया जाना चाहिए।

जहाँ तक 'वित्तीय साधनों' के हस्तान्तरण का प्रश्न है, विकसित देशो ने सहायता के लक्ष्य को लगभग 25 प्रतिशत तक बढाने पर अपनी सहमति दी। यह लक्ष्य राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत निर्धारित किया गया था।[24] इसके अलावा इस लक्ष्य को राष्ट्रीय आय के स्थान पर कुल राष्ट्रीय उत्पादन से जोड दिया गया। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए किसी विशेष वर्ष के निर्धारण पर सहमति नही हो सकी। सम्मेलन की पूरी अवधि मे इसे 'सहायता' के नाम से पुकारा जाता रहा। मैं अगले अध्याय में इस प्रकार की गणना की समालोचना प्रस्तुत करूँगा।

जहाँ तक सार्वजनिक सहायता का सम्बन्ध है, अनुदान की राशि मे वृद्धि करने और ब्याज की दरों, ऋण के परिशोधन की अवधि और इस अवधि में वृद्धि में सुधार करने तथा सहायता को सहायता देने वाले देश के निर्यात के साथ कम सम्बद्ध करने पर सामान्य सहानुभूति प्रकट की गयी।[25] पर कोई निश्चित वचन नही दिये गये और प्रवृत्ति निरन्तर विपरीत दिशा में दिखायी पड़ रही है। (देखिए अध्याय-11)

विकसित देश सामान्य शब्दावली में यह स्वीकार करने को तैयार थे कि कम-विकसित देशों की विकास योजनाओं मे निर्यात में लक्ष्य से कम उपलब्धि के प्रभावों को समाप्त करने के लिए पूरक और मुआवजे के रूप में वित्तीय सहायता की आवश्यकता है।[26] पर कोई निश्चित वचन नही दिया गया। यह अनुरोध कि विकसित देशों या अन्तर-सरकार संगठनो को प्रत्यारोधक भडार (बफर स्टॉक) बनाने के लिए पहले धन लगाने के वास्ते वित्तीय साधन उपलब्ध कराने चाहिए, स्वीकार नही किया गया।

यह विचार भी स्वीकार नही किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के भीतर विशेष आग्रहण के जो अधिकार देने पर सहमति हो रही है, उसका उपयोग कम-विकसित देशों को और अधिक धन उपलब्ध कराने के लिए किया जाना चाहिए।[27]

मुद्रा प्रणाली में सुधार मुख्यतया विकसित देशों की चिन्ता का विषय है, जो

कि जिन्स करारों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, वे निरर्थक सिद्ध होंगे।

जहाँ तक जहाजरानी का सम्बन्ध है, सम्मेलन ने इस बात की पुष्टि की कि इसके दो सम्मेलनों के बीच की अवधि में इस सम्बन्ध में कुछ प्रगति हुई है। कम-विकसित देशों को अधिक महत्त्व दिया गया है अथवा इन्हें यह देखने का अधिक अवसर दिया गया है कि इस अत्यधिक नियमित उद्योग मे माल की ढुलाई की दरों और अन्य बातों के बारे मे क्या हो रहा है।[30]

वस्तुतः जहाजरानी पर विकसित देशों का व्यापक प्रभाव है। लेकिन इन देशों ने कम-विकसित देशों को अपने बन्दरगाहो और अपनी जहाजरानी, बीमा व्यवसाय आदि के विकास के लिए साधारण और ऐसे वचन दिये जिनका कोई विशेष महत्त्व नही था। वस्तुतः वास्तविक बुनियादी समस्या यह है कि विकसित देशों मे कम-विकसित देशों के निर्यात के लिए बाजारों को खोल दिया जाये। कृषि के सम्बन्ध मे कम-विकसित देशों ने संरक्षण व्यवस्था को अधिक व्यापक रूप से कम करने पर और जोर नही दिया, बल्कि यह माँग की कि माँग मे जो वृद्धि होती है उसका एक हिस्सा इन देशों के लिए निर्धारित होना चाहिए।

यह बहुत बड़ा प्रत्यावर्तन था। इसके बावजूद उन्हें जो एकमात्र रियायत मिली वह विकसित देशों का यह वचन था :

"जहाँ तक सम्भव होगा प्राथमिक वस्तुओ का निर्यात करने वाले देशों को अपने बाजारों में अधिक अच्छी परिस्थितियाँ उपलब्ध कराने के लिए कार्रवाई करेंगे। वे इस सम्बन्ध में विकासशील देशों के हितों को विशेष रूप से ध्यान मे रखेंगे और प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों को उद्योगो में उन्नत देशों के बाजारो की उन्नति का लाभ उठाने की अनुमति देंगे।"[31]

यह निश्चय ही एक ऐसे करार का विशिष्ट उदाहरण है, जिसे लागू करने की कोई सम्भावना दिखायी नही पड़ती और जिसमें किसी भी प्रकार का वचन नही दिया जाता। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अन्तर-सरकार संगठनों में शामिल सरकारें जब यह छिपाना चाहती है कि उन्हें किसी भी काम मे सफलता नही मिली है, तो ऐसी ही शब्दावली का सहारा लिया जाता है।

जहाँ तक तयार और अर्द्ध-तैयार माल का सवाल है, प्रिबिश 'एक सीमित और अपूर्ण परिणाम' की जानकारी दे सके।[32] सम्मेलन ने सिद्धान्त रूप मे एक सामान्य अपारस्परिक और भेदभाव न करने वाली प्राथमिकताओ की प्रणाली के विचार को स्वीकार किया।[33] जैसाकि प्रिबिश ने जोर देकर कहा है, इस वचन को पूरा करना 'सर्वोपरि' महत्व का होगा।

अनेक वर्षों से संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को विशेष तरजीह देने और उनके साथ विशेष व्यवहार करने का कड़ाई से विरोध करता रहा है और स्वयं इन निर्यातों के विरुद्ध उसने खुल्लमखुल्ला भेदभाव बरता है। अब संयुक्त राज्य अमरीका ने इस सम्बन्ध में कार्रवाई करने की आवश्यकता अनुभव की है। लेकिन न तो संयुक्त राज्य अमरीका और न ही अधिकाश विकसित देश तरजीह प्रणाली के मुख्य तत्त्वों के बारे में कम-विकसित देशों से बात करने को तैयार है।

इसके बाद इस आशा से इस निर्णय को लागू करने का काम संयुक्त राष्ट्र के

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्बन्धों पर छाये हुए हैं। कम-विकसित देशों की समस्या एकदम भिन्न है। किसी भी प्रणाली के अन्तर्गत इन देशों को मुद्रा की कमी रहेगी।

मुद्रा सम्बन्धी सुधार की अनेक योजनाओं में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान इस विचार को मैंने व्यक्तिगत रूप से काफी लम्बे अरसे से एकदम भ्रान्त बताया है कि इस अवसर का उपयोग कम-विकसित देशों के पूंजी सम्बन्धी स्रोतों को बढाने के लिए किया जाना चाहिए।[28] मुद्रा सम्बन्धी सुधार को स्वीकार की आड में कम-विकसित देशो को अधिक वित्तीय सहायता पहुंचाना एक ऐसा बहाना है, जिसे विकसित देश कभी स्वीकार नही करेंगे। वित्तीय सहायता के लिए प्रकट रूप से संघर्ष करना होगा और इसी रूप में इस पर सहमति प्राप्त करनी होगी। अब यह बात पुष्ट हो चुकी है यद्यपि साथ ही वित्तीय सहायता में वृद्धि के अत्यधिक अस्पष्ट वचन ही दिये गये हैं।

सम्भवत: यह उल्लेखनीय है कि विकसित देशों द्वारा मुद्रा प्रणाली को नियमित बनाना कम-विकसित देशों के हित में है। मुद्रा प्रणाली का नियमन मुख्यतया विकसित देशों का अपना मामला है। इस सुधार से अपनी सहायता की राशि को निचले स्तर पर रखने का एक कारण समाप्त हो जायेगा जो विकसित देशो में प्रमुख रूप से सामने रहता है : विदेशी मुद्रा की अपनी कठिनाइयों का सामान्य बहाना।

सम्मेलन में जिन्स करारों के प्रश्न ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। युद्ध के बाद की अवधि मे इसका प्रभाव बड़ा अनुत्साहित करने वाला रहा। बहुत कम करार हो पाये हैं। अक्सर ये करार टूट गये हैं।

इस क्षेत्र में कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं। इसके मूल में दृष्टिकोण का बुनियादी अन्तर है। कम-विकसित देश वास्तव में 'उचित दाम' चाहते हैं अर्थात् वे 'बेहतर दाम' चाहते हैं, जबकि विकसित देश अधिक-से-अधिक दामों को किसी खास स्तर पर स्थिर करना ही अधिक से अधिक स्वीकार कर सकते हैं।

ये देश बाजारो की असंगठित स्थिति का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें किसी खास जिन्स की आवश्यकता से अधिक सप्लाई होती है और इसके परिणाम-स्वरूप दाम घटने लगते है। इस बात की और अधिक सम्भावना मौजूद रहती है, क्योंकि उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाने के करार कर पाना बड़ा कठिन है और इन करारों को लागू करना और भी कठिन है।

कम-विकसित देशो के मध्य अक्सर संयुक्त मोर्चा नहीं बनाया जा सकता और इसके कई कारण हैं। एक कारण यह है कि कुछ देश आयातक हैं और कुछ देश निर्यातक। कम-विकसित देशों के लिए महत्त्वपूर्ण अनेक जिन्सो के सम्बन्ध में, विकसित देश भी निर्यातक का काम करते हैं और कभी-कभी तो वे ही मुख्य निर्यातक होते हैं।

इस उदाहरण के द्वारा मैं केवल उन कुछ कठिनाइयों की ओर संकेत भर कर रहा हूँ जो जिन्स के दामों को नियमित करने के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासो के मार्ग मे आती हैं। इस सम्बन्ध मे सम्मेलन का परिणाम उससे मुश्किल से ही भिन्न हो सकता था, जो निकला। सम्मेलन ने अनेक जिन्सों के लिए अध्ययन, परामर्श और विचार करने की व्यवस्था की।[29] इस बात की पूरी सम्भावना दिखायी पड़ती है

कि जिन्स करारों के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गये, वे निरर्थक सिद्ध होंगे।

जहाँ तक जहाजरानी का सम्बन्ध है, सम्मेलन ने इस बात की पुष्टि की कि इसके दो सम्मेलनों के बीच की अवधि मे इस सम्बन्ध मे कुछ प्रगति हुई है। कम-विकसित देशों को अधिक महत्त्व दिया गया है अथवा इन्हे यह देखने का अधिक अवसर दिया गया है कि इस अत्यधिक नियमित उद्योग में माल की ढुलाई की दरो और अन्य बातों के बारे मे क्या हो रहा है।[30]

वस्तुतः जहाजरानी पर विकसित देशों का व्यापक प्रभाव है। लेकिन इन देशो ने कम-विकसित देशों को अपने बन्दरगाहों और अपनी जहाजरानी, बीमा व्यवसाय आदि के विकास के लिए साधारण और ऐसे वचन दिये जिनका कोई विशेष महत्त्व नही था। वस्तुतः वास्तविक बुनियादी समस्या यह है कि विकसित देशो मे कम-विकसित देशो के निर्यात के लिए बाजारो को खोल दिया जाये। कृषि के सम्बन्ध मे कम-विकसित देशो ने सरक्षण व्यवस्था को अधिक व्यापक रूप से कम करने पर और जोर नही दिया, बल्कि यह माँग की कि माँग में जो वृद्धि होती है उसका एक हिस्सा इन देशों के लिए निर्धारित होना चाहिए।

यह बहुत बड़ा प्रत्यावर्तन था। इसके बावजूद उन्हें जो एकमात्र रियायत मिली वह विकसित देशो का यह वचन था :

"जहाँ तक सम्भव होगा प्राथमिक वस्तुओ का निर्यात करने वाले देशो को अपने बाजारों में अधिक अच्छी परिस्थितियाँ उपलब्ध कराने के लिए कार्रवाई करेंगे। वे इस सम्बन्ध में विकासशील देशों के हितों को विशेष रूप से ध्यान में रखेंगे और प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों को उद्योगों में उन्नत देशों के बाजारों की उन्नति का लाभ उठाने की अनुमति देंगे।"[31]

यह निश्चय ही एक ऐसे करार का विशिष्ट उदाहरण है, जिसे लागू करने की कोई सम्भावना दिखायी नही पड़ती और जिसमें किसी भी प्रकार का वचन नही दिया जाता। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अन्तर-सरकार संगठनों में शामिल सरकारें जब यह छिपाना चाहती है कि उन्हें किसी भी काम मे सफलता नही मिली है, तो ऐसी ही शब्दावली का सहारा लिया जाता है।

जहाँ तक तयार और अर्द्ध-तैयार माल का सवाल है, प्रिबिश 'एक सीमित और अपूर्ण परिणाम' की जानकारी दे सके।[32] सम्मेलन ने सिद्धान्त रूप मे एक सामान्य अपारस्परिक और भेदभाव न करने वाली प्राथमिकताओ की प्रणाली के विचार को स्वीकार किया।[33] जैसाकि प्रिबिश ने जोर देकर कहा है, इस वचन को पूरा करना 'सर्वोपरि' महत्त्व का होगा।

अनेक वर्षों से संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को विशेष तरजीह देने और उनके साथ विशेष व्यवहार करने का कड़ाई से विरोध करता रहा है और स्वयं इन निर्यातो के विरुद्ध उसने खुल्लमखुल्ला भेदभाव बरता है। अब संयुक्त राज्य अमरीका ने इस सम्बन्ध में कार्रवाई करने की आवश्यकता अनुभव की है। लेकिन न तो संयुक्त राज्य अमरीका और न ही अधिकाश विकसित देश तरजीह प्रणाली के मुख्य तत्वो के बारे में कम-विकसित देशो से बात करने को तैयार हैं।

इसके बाद इस आशा से इस निर्णय को लागू करने का काम संयुक्त राष्ट्र के

व्यापार और विकास सम्मेलन को एक विशेष समिति को सौंपा गया कि वह 1969 से पहले अपनी अन्तिम रिपोर्ट पेश कर देगी, जिसमें कम-विकसित देशो के निर्यात को तरजीह देने की योजना के निश्चित प्रस्ताव शामिल होंगे। उस समय तक यह समिति रिपोर्ट तैयार नही कर सकी।

यह भी स्पष्ट है कि यदि कभी समिति यह काम करने में सफल भी होती है, विकसित देश जिस प्रस्ताव पर सहमत हो सकते हैं वह अधिक दूरगामी या उदार नही होगा। जो शक्तियाँ इन्हें तेज और साहसपूर्ण कार्रवाई से रोके हुए हैं, वे आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ ई सी डी) के रूप में संगठित हैं, जो विकसित देशों के एक प्रभावशाली संगठन के रूप मे काम करता है।

सम्मेलन के प्रस्तावों में पूर्व के देशों में निर्मित माल पर लगाये जाने वाले विशेष रूप से बुरे तट-कर और अन्य करों का कोई उल्लेख नही किया गया। ये ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में विकसित देश यह बहाना भी नही बना सकते कि उन्हें इन पर अपने उत्पादन की रक्षा के लिए अधिक कर लगाना आवश्यक है।

अधिक सामान्य रूप से यही बात दूसरी समस्याओं के बारे में भी कही जा सकती है। जब किसी खास समस्या को अन्तर-सरकार संगठनों के विचार के लिए उठाया जाता है, तो इस बात का बहाना बनाया जाता है कि विचाराधीन विषय पर किसी एक विकसित देश को स्वयं अपनी ओर से विवेकपूर्ण कार्रवाई नही करनी चाहिए।

स्वीडन जैसे एक अपेक्षाकृत प्रबुद्ध और विकसित देश तक को—जो आर्थिक सहयोग और विकास संगठन मे नीदरलैण्ड के साथ मिलकर निर्यात सम्बन्धी प्राथमिकताओं के बारे में जल्दी कार्रवाई करने और पर्याप्त रियायतें देने के लिए जोर दे रहा है और जिसने स्वयं अपनी एकतरफा कार्रवाई के द्वारा आयात होने वाली कॉफी के ऊपर लगने वाले कम करों को आधा कर दिया है—यह तर्क देते हुए देखा जा सकता है कि पूर्व के देशों मे निर्मित वस्तुओं पर पूरी तरह से तट-कर और अन्य कर समाप्त करने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय करार की प्रतीक्षा करनी होगी।[31]

यह वस्तुतः विचारों की भ्रान्ति है। पूरब के इस माल पर सब अथवा अधिकाश विकसित देशों द्वारा इन करों की समाप्ति से उसकी तुलना मे दामों में अधिक वृद्धि होगी, यदि केवल एक देश करों को समाप्त करता है। यह कार्रवाई इस प्रकार विकसित देशो के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन सम्बन्धित विकसित देश को इन दामों मे अधिक वृद्धि की कठिनाई का सामना करना होगा।

किसी समस्या पर किसी अन्तर-सरकार संगठन में विचार हो रहा है, इस बात का तर्कसंगत कारण नहीं हो सकता कि कोई एक देश इस सम्बन्ध में उचित और विवेकपूर्ण कार्रवाई करने से दूर रहे, जबकि यह तर्क दिया जाता है कि अन्य देश भी यही काम करें। इस बात में सन्देह नही है कि हमारे अन्तर-सरकार संगठनों में एक मिथ्या और हानिप्रद 'अन्तर राष्ट्रीयतावाद' की प्रवृत्ति स्वतः मौजूद रहती है। यह विभिन्न देशों द्वारा कार्रवाई न करने का बहाना बन जाती है।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के

प्रस्तावों पर फिर विचार करते समय यह भी कहना आवश्यक होगा कि चारों ओर से ज़मीन से घिरे देशों के प्रति, कम-विकसित देशों मे निर्धनतम देशो के प्रति जो सहानुभूति प्रकट की गयी वह विकसित देशो में व्यापार के ऐसे प्रतिबन्धात्मक तरीके अपनाने के विरुद्ध थी जो कम-विकसित देशों को हानि पहुँचाते हैं, और कम-विकसित देशों को यह सलाह देते हैं कि उन्हे किस प्रकार अपने आन्तरिक साधन जुटाने चाहिए, सहायता की राशि का इस्तेमाल करना चाहिए, आदि।

लेकिन इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के आरम्भ मे प्रिबिश के जिन चिन्ताजनक निष्कर्षों का उद्धरण दिया गया है, वे भी तथ्यो से समर्थित हैं। सम्मेलन के बाद जो कुछ हुआ है, उससे यह आशंका उत्पन्न होती है कि अधिकाश विकसित देश, जिनका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमरीका कर रहा है, संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन को प्रभावहीन बना डालने के लिए कटिबद्ध हैं।

और आर्थिक सहयोग और विकास सगठन—जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'अमीर लोगों के क्लब' के रूप मे काम करता है—इस विनाशकारी कार्रवाई का माध्यम बन रहा है।

लेकिन समस्याएँ अन्तर्धान नही होंगी। समय के गुजरने के साथ-साथ ये और अधिक विशाल और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जायेंगी।

अध्याय : 10

# सहायता सम्बन्धी आँकड़ों का अवसरवादी उपयोग : 'वित्तीय प्रवाहों' का प्रश्न

## 1. निष्ठाहीनता और वंचना

जैसाकि हम अध्याय-9 मे पहले ही कह चुके है, कम-विकसित देशों के प्रति विकसित देशों की वाणिज्य और वित्तीय नीतियाँ अन्य सब महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं की तरह मूलतः नैतिकता का प्रश्न हैं। सहायता सम्बन्धी अध्याय-11 में भी यही दृष्टिकोण अपनाया जायेगा। इस प्रकार मूल समस्या यह है कि विकसित देशो मे लोग कम-विकसित देशों के विकास प्रयासो मे सहायता देने के प्रति क्या सोचते और अनुभव करते हैं।

अन्ततः, अब तक व्यापार और सहायता सम्बन्धी नीतियों का जो विकास हुआ है और भविष्य में इन नीतियों मे परिवर्तन करने की जो सम्भावना हो सकती है, वह विकसित देशो के लोगो के मन मे कम-विकसित देशो के यथार्थ के प्रति बौद्धिक और भावनात्मक प्रतिक्रिया पर निर्भर करेगी। यह इस बात पर भी निर्भर करेगी कि ये लोग इस बात को समझें कि इन वास्तविकताओं को बदलने के लिए सहायता देने की उनकी जिम्मेदारी है।

संयुक्त राज्य अमरीका मे, विशेष रूप से उदारतावादियो के मध्य, यह आम बात बन गयी है कि वे अनुचित प्राथमिकताओ और प्रतिक्रियावादी नीतियों का दोष संसद् के मत्थे मढ देते है। यह कहना जरूरी है कि सम्भवतः संसार की अन्य कोई संसद् जनमत के प्रति इतनी संवेदनशील नहीं है, जितनी अमरीका की संसद्—इस तथ्य को बार-बार होने वाले चुनावों, छोटे जिलों मे बहुमत के आधार पर चुनाव की एंग्लो-सेक्सन परम्परा और संयुक्त राज्य अमरीका की शासन प्रणाली की अन्य अनेक विशेषताओं के माध्यम से समझाया जा सकता है।

अतः जब बड़े दोषों का उत्तरदायित्व निर्धारित करने की आवश्यकता होगी, तो अमरीका के लोगों के ऊपर ही इसका दोष मढ़ना होगा। यह बात उक्त बुनियादी तथ्य को नही बदल सकती कि संसद् और राष्ट्रपति तथा प्रशासन के सदस्य जनमत को अभिव्यक्त करने में ही नहीं बल्कि जनमत के निर्माण में भी भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से काम करने के तरीकों में भिन्नता सहित, यही बात पश्चिम के विकसित देशों पर भी लागू होती है।

जो लोग, इस पुस्तक के लेखक की तरह, नीति में परिवर्तन कराना चाहते हैं, उन्हें अन्ततः जनमत में परिवर्तन कराने का प्रयास करना होगा। विशेषज्ञों

और राजनीतिज्ञों को प्रभावित करना चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, लेकिन एक व्यापक और लम्बी अवधि की दृष्टि से इसे एक प्रकार का मध्यवर्ती काम ही कहा जा सकता है। आदर्शों और इनके आधार पर निकाले गये तर्क-संगत निष्कर्षों तथा तथ्यों की जानकारी के आधार पर तर्क देते हुए, हम इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि परिवर्तन के व्यापक कार्य के लिए अन्ततः जनमत को बदलना और जागृत करना होगा।

इस सम्बन्ध में एक सामान्य प्रेक्षण किया जा सकता है : कम-विकसित देशो से अपने सम्बन्धों के बारे मे विचार-विमर्श में पश्चिम के विकसित देशो में निष्ठा की कमी और यहाँ तक कि वंचना तक का वातावरण मौजूद है।

एक ओर, अन्तर्राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में निरन्तर बड़ी-बड़ी घोषणाएँ की जाती हैं और इनके माध्यम से समृद्ध और विकसित देशों द्वारा गरीब और कम-विकसित देशो को विकास के लिए सहायता देने में अत्यधिक उदार नीति अपनाने का वचन दिया जाता है।

इस कार्य का समारम्भ संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र की अस्पष्ट लेकिन बेलाग घोषणाओं के साथ हुआ। इस घोषणापत्र को दूसरे महायुद्ध की समाप्ति से पहले ही तैयार कर लिया गया था। अपने आमुख में—और यह बात 'संयुक्त राष्ट्र के हम सब लोगों' के नाम पर कही गयी थी—इस घोषणापत्र ने संयुक्त राष्ट्र के संगठनों मे हिस्सा लेने वाली सरकारों को इस बात के लिए बाध्य किया था कि वे 'सामाजिक प्रगति और अधिक व्यापक स्वतन्त्रता मे जीवन के बेहतर स्तरों की स्थापना' मे सहायता देंगे और 'संसार भर के लोगो की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का उपयोग करेंगे।' इसी विचार को 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग' के घोषणापत्र के अनुच्छेद-9 में और आगे विकसित किया गया।

इसके बाद जबर्दस्त घोषणाओं का एक क्रम शुरू हो गया, जिनमे कम-विकसित देशो को और अधिक स्पष्ट रूप से वचन दिये गये। राष्ट्रपति जान एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर 1961 में 1960 के दशक को संयुक्त राष्ट्र की महा-सभा के सर्वसम्मत निर्णय के द्वारा 'विकास दशक' घोषित किया गया। और इसके लक्ष्य को पूरा करने की पूरी जिम्मेदारी विकसित और कम-विकसित दोनों देशों के ऊपर डाली गयी।

राष्ट्रपति लिण्डन बी० जान्सन ने अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपति की वक्तृत्व की परम्परा को और आगे बढाया और यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया कि महान् समाज की कल्पना केवल संयुक्त राज्य अमरीका पर ही नहीं बल्कि समस्त विश्व पर लागू होनी चाहिए। अमरीका के इन राष्ट्रपतियों के अलंकारपूर्ण भाषणों के बीच की अवधि में और इसके बाद भी पश्चिम के समस्त विकसित देशो के राजनीतिज्ञों ने ऐसी ही बढ़ी-चढ़ी घोषणाएँ की।

संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनो के सचिवालय इस सम्बन्ध में निरन्तर जानकारी एकत्र और प्रचारित कर रहे थे

कि विकसित और कम-विकसित देशों के रहन-सहन के स्तर के बीच खाई निरन्तर बढ़ती जा रही है और कम-विकसित देशों का विशाल बहुमत अपार कष्ट भोग रहा है। प्रचार के समस्त साधनों के माध्यम से विकसित देशों के प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को इन चिन्ताजनक तथ्यों की जानकारी दी गयी।

लेकिन सामान्यतया इसके परिणामस्वरूप विकसित देशों के लोगों में यह इच्छा नहीं जगी कि वे जो कुछ प्राप्त कर चुके हैं उसका त्याग करें अथवा कम-से-कम अपने व्यापार के तरीकों में कुछ मामूली-सा फेरबदल करना ही स्वीकार करें। *यह एक तथ्य है कि अब तक पश्चिम के किसी भी विकसित देश ने कम-विकसित देशों को सहायता देने के अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए कोई वास्तविक बलिदान नहीं किया है।* समग्र दृष्टि से ये देश ऐसे मामूली से मामूली व्यापारिक लाभों को भी छोड़ने को तैयार नहीं हुए, जो लम्बी अवधि की दृष्टि से स्वयं विकसित देशों के हित में नहीं हैं और इस बात को सिद्ध भी किया जा सकता है। कम-विकसित देशों को सहायता देने की इच्छा में भी कोई वृद्धि दिखायी नहीं पड़ी है।

जैसाकि हम अगले अध्याय में दर्शायेंगे, विकास दशक के दौरान कम-विकसित देशों को मिलने वाली सहायता में केवल वृद्धि ही बन्द नहीं हुई, बल्कि वास्तविक अर्थों में सहायता की राशि में कमी हुई। यदि विकसित देशों की सहायता देने की क्षमता में हुई वृद्धि को ध्यान में रखकर इन आंकड़ों पर विचार किया जाये तो यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी, क्योंकि विकसित देशों की सम्पत्ति और आय बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इसके साथ ही, सहायता के 'गुण' में भी अनेक दृष्टियों से बेहद गिरावट आयी है।

कम-विकसित देशों के विकास के लिए सहायता देने के सम्बन्ध में पश्चिम के अधिकांश देशों में बलिदानों की मांग के प्रति जनता और संसद् में जो प्रभावहीन प्रतिक्रिया होती है, उसे ध्यान में रखते हुए सरकार के अधिकारी छोटे और अक्सर धांधली से तैयार किये गये सहायता बजटों को स्वीकार कराते समय प्रायः नियमित रूप से यह तर्क देते हैं कि इस सहायता पर अधिक धन खर्च नहीं होगा और वास्तव में इस प्रकार खर्च किया गया धन उनके अपने देश के विभिन्न व्यापारिक हितों के लिए लाभदायक है। संयुक्त राज्य अमरीका में *अपने विचार को स्वीकार कराने का सरकार का यह विशेष तरीका बन गया है।* लेकिन, जैसाकि मैं आगे चलकर बताऊंगा, यह बात केवल अमरीका तक ही सीमित नहीं है।

पिछले अध्याय में मैंने इस बात का उल्लेख किया है कि विकसित देश व्यापार और पूंजी के प्रवाह के क्षेत्र में सक्रिय बाजार की शक्तियों का ठोस प्रतिरोध करने को तैयार नहीं हैं, यद्यपि ये शक्तियां कम-विकसित देशों को उपनिवेशी काल से ही गरीबी के गर्त में धकेले हुए हैं और स्वाधीनता की छोटी अवधि में भी यही हुआ है। अतः इस स्थिति में यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि ये देश ऐसी वाणिज्य नीतियों को समाप्त करेंगे जो बाजार की इन शक्तियों को मजबूत बना रही हैं।

विकसित देशों मे इस सम्बन्ध में सरकार के काम करने का तरीका और इस काम करने के तरीके के पीछे जनता के विचार और भावनाएँ वैसी ही खतरनाक समानता प्रदर्शित करती हैं, जैसी समानता युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध में है। प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में प्रत्येक देश का प्रतिनिधि—और प्रत्येक अखबार में अग्रलेख लिखने वाला प्रत्येक पत्रकार—बड़ी गम्भीरतापूर्वक उस विनाश की सम्भावनाओ को व्यक्त करता है जो दो महाशक्तियों के बीच हथियारों की होड के कारण मानवता के समक्ष उत्पन्न हो गया है और कहता है कि यदि हथियारों की यह होड बन्द नही हुई तो मानवता का सर्वनाश हो जायेगा।

लेकिन हथियारों की यह होड़ बन्द नही हुई है, बल्कि इसके विपरीत इसकी गति और तेज हो गयी है।[1] लम्बे विचार-विमर्श के बाद निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में जिन तर्कों पर पहुँचा जाता है वे इस दृष्टि से निरर्थक होते हैं। भयभीत संसार को सान्त्वना देने के लिए ही अक्सर ये तर्क दिये जाते है और संसार को यह समझाने की कोशिश की जाती है कि सम्भावित सर्वनाश को रोकने के लिए कुछ न कुछ किया जा रहा है।

केवल कुछ ही लोग वास्तव मे इस स्थिति से अत्यधिक चिन्तित दिखायी पड़ते हैं और निरस्त्रीकरण के लिए आश्चर्यजनक सीमा तक कम दबाव डाला जा रहा है। सर्वत्र शान्ति संगठन बेहद कमजोर है और विशेषकर उन दो देशों में जो हथियारो की होड़ में लगे हुए है। लेकिन सर्वत्र प्रभावशाली रूप से संगठित ऐसे राष्ट्रवादी संघ हैं, जो इस सम्बन्ध में चिन्ता छोड़कर हथियारों के संग्रह का समर्थन करते है।

सेना और उद्योगों का गठबन्धन अत्यधिक शक्तिशाली निहित स्वार्थों के गठजोड़ का प्रतिनिधित्व करता है और हथियार संग्रह की होड़ को रोकने के लिए किसी भी गम्भीर प्रयास को असफल बना देता है—विशेषकर इस कारण से भी कि अब इस कार्य में अनेक विश्वविद्यालय भी लग गये हैं और यह सेना, उद्योगों और विद्वानों का गठजोड़ बन गया है। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा कि इस गठजोड़ ने संयुक्त राज्य की सरकार को ही अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

यह विश्वास करने का कोई कारण नही है कि सोवियत संघ मे स्थिति बुनियादी तौर पर भिन्न है। वस्तुतः, प्रायः प्रत्येक देश मे, चाहे वह बड़ा हो अथवा छोटा, अमीर हो या गरीब, इसका प्रतिरूप देखने को मिलता है। हम लोग अपने सिर के ऊपर मँडराते हुए एक भयानक खतरे के प्रति विचित्र सहिष्णुता दिखाते हुए जीवनयापन कर रहे हैं और इस खतरे से बचने के लिए एक साथ मिलकर कुछ भी नही कर रहे हैं।

कम-विकसित देशों को सहायता देने और वाणिज्य तथा वित्तीय नीतियों, दोनो के क्षेत्र मे विकसित देशो में बौद्धिक और भावनात्मक उलझन इसी प्रकार स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ रही है। इसका कारण लोगों के मन मे एक साथ ऐसे दो विचारों की मौजूदगी है, जो किसी भी तरह एक-दूसरे से मेल नही खाते : कम-विकसित देशों में अत्यधिक गरीबी और इन देशों की बड़े पैमाने पर सहायता की आवश्यकता की जानकारी और दूसरी ओर इन देशों को सहायता देने के लिए कोई भी ठोस बलिदान न करने के प्रति स्वार्थपूर्ण अनिच्छा।

यह बात लोगों की यथार्थ सम्बन्धी संकल्पना के लिए हानिकारक है। इस पुस्तक में अब हम तर्क के जिस ऊँचे स्तर पर आ चुके हैं, उसके आधार पर पाठक इस परिस्थिति में सच्चाई को अवसरवादी दिशा में तोड़-मरोड़कर पेश करने की प्रवृत्ति की अपेक्षा कर सकता है—दूसरे शब्दो में, यथार्थ का पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण मौजूद है, जो इन दो विचारक्रमों के एक-दूसरे से मेल न खाने की बात को छिपाने मे सहायक बनता है।

अब क्योंकि कम-विकसित देशों की गरीबी इच्छा मात्र से समाप्त नहीं की जा सकती, अतः पाठक को यह अपेक्षा कर लेनी चाहिए कि सहायता के क्षेत्र में आँकड़ों को तोड़-मरोडकर प्रस्तुत किया जाता है, ताकि सहायता को उससे कहीं अधिक बढा-चढ़ाकर दिखाया जा सके जितनी वास्तव में सहायता दी जाती है। वस्तुतः यही हुआ है। मुझे एक बार फिर उन आँकड़ों की ओर आलोचनात्मक दृष्टि से ध्यान देना होगा, जिन्हें वैज्ञानिक और लोकप्रिय लेखन दोनों में प्रस्तुत किया जाता है और जिनके ऊपर निर्भरता दिखायी जाती है।

## 2. विकास सहायता समिति के आँकड़े

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन (ओ० ई० सी० डी०) में, जिसका मुख्यालय पेरिस में है, प्राय. सब समृद्ध और विकसित गैर-कम्युनिस्ट देश शामिल हैं। इस संगठन की एक विकास सहायता समिति (डी० ए० सी०) है। विकास के लिए जो सहायता दी जाती है, उसके आँकड़े विभिन्न सदस्य देशों से एकत्र करने और सदस्य सरकारों के अधिकारियों द्वारा 'सहायता समीक्षा' के बाद विकास सहायता समिति का सचिवालय इन्हें प्रचारित करता है। सहायता सम्बन्धी ये आँकड़े इस सहायता के बारे में जानकारी का प्रमुख स्रोत होते है और प्रायः सर्वत्र इन्हें प्रामाणिक माना जाता है। अर्थशास्त्री और विकास समस्याओं के पेशेवर अध्ययनकर्ता, अधिकारी, राजनीतिज्ञ, लोकप्रिय पुस्तकों और लेखों के लेखक, पत्रकार आदि, अन्य अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालय और समय-समय पर नियुक्त विशेषज्ञ समूह इन आँकड़ों पर बिना सोचे-समझे निर्भर करते हैं।

सबसे पहले इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि विकास सहायता समिति अपनी तालिकाओं के शीर्षक मे 'वित्तीय साधनों के प्रवाह' शब्दों का प्रयोग करती है। यह मान लेना उचित दिखायी पड़ता है कि इस शब्द को इसलिए चुना गया है, ताकि इन आँकडों में से ऐसी राशियों को न निकालना पड़े, जिनमें सहायता का कोई तत्त्व नहीं होता—विशेषकर निजी विनियोग और ऋण। इस बात की नियमित रूप से और विधिवत् उपेक्षा कर दी जाती है कि विकास सहायता समिति के आँकडों में हर प्रकार का 'प्रवाह' शामिल है, चाहे इसमें सहायता का तत्त्व हो अथवा नहीं। संसार भर में लोग इन आँकड़ो का उपयोग करते समय इस बारीकी पर गौर ही नहीं करते।

जैसाकि इस अध्याय के पहले पैराग्राफ में कहा गया है, उस संगठन का नाम जिसे यह तालिकाएँ तैयार करने में यह सचिवालय सहायता देता है, विकास सहायता समिति है और इसके 'प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़े 'विकास सहायता' अथवा अधिक स्पष्ट रूप से 'विकास के लिए दी जाने वाली सहायता' बन जाते हैं। यह उच्च उत्परिवर्तन वज्ञानिक और लोकप्रिय तथा राजनीतिक लेखन और घोषणाओं

में दिखायी पड़ता है। विकास सहायता समिति के सचिवालय ने आँकडो के इस अवसरवादी दुरुपयोग को रोकने के लिए प्रायः कुछ नही किया है और आज संसार-भर में इसका व्यापक दुरुपयोग किया जा रहा है। वस्तुतः यह सचिवालय यदाकदा स्वयं इस भ्रान्ति को कायम रखने में सहायता देता है। यह कार्य कुछ तालिकाओ के शीर्षको और तालिकाओं सम्बन्धी टिप्पणियो के द्वारा किया जाता है।

जब विकास सहायता समिति ने यह रिपोर्ट (10 जुलाई 1969)[2] दी कि 1968 के दौरान कम-विकसित देशों को 'प्रवाह' मे प्रायः 13 अरब डालर की वृद्धि हुई है, तो इसका यह अभिप्राय था कि 'सरकारी प्रवाहो' में कमी हुई है और 'निजी प्रवाहो' में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। संसार-भर में इस बात को उत्साहवर्द्धक लक्षण समझा गया और यह टिप्पणी की गयी कि एक बार फिर 'सहायता' की राशि मे वृद्धि हो रही है।

लेकिन यहाँ यह सवाल उठाना होगा : क्या विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा 'निजी प्रवाहो' को 'सरकारी प्रवाहो' से जोड़ देना विचार की स्पष्टता और ईमानदारी के वस्तुतः हित में है? 'निजी प्रवाह' व्यापारी सौदो का एक बड़ा विविध और मिश्रित समूह है। इनमे पश्चिम की कम्पनियों द्वारा अपनी सरकारों को बताये गये प्रत्यक्ष विनियोग (कभी-कभी इन विनियोगों की राशि की गणना बढ़ा-चढाकर दर्शाये गये दामों के आधार पर की जाती है) से लेकर निर्यात के लिए दिये जाने वाले ऋण तक शामिल हैं। वस्तुतः हाल मे 'निजी प्रवाहों' मे जो वृद्धि हुई है, वह अधिकांशतया ऐसे ही निर्यात ऋणो के रूप मे दी गयी 80 करोड़ डालर की राशि के कारण हुई है। ये ऋण अक्सर बड़े महँगे पड़ते हैं और उन कम-विकसित देशों को दिये जाते है, जिनके ऊपर पहले के ऋणों की अदायगी का जबर्दस्त भार चढा हुआ है। इसके अलावा इनमे से अधिकांश देश वित्तीय कठिनाइयो में फँसे हुए हैं और इन्हें इस प्रकार के ऋणों की भी बड़ी जरूरत है। अतः इन देशों को उन आयातो के लिए बहुत ऊँचे दाम चुकाने के लिए विवश किया जा सकता है, जिन आयातों के लिए अक्सर ये ऋण दिये जाते हैं।

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन की मन्त्रिपरिषद् की फरवरी 1969 की बैठक में 'विकासशील देशो से सम्बन्ध' पर विचार हुआ और इस बैठक में स्वीडन के उद्योगमन्त्री, क्रिस्टर विकमन ने कहा कि यह मिले-जुले प्रवाह की संकल्पना

"तीसरी दुनिया मे विकास के लिए सहायता देने के लिए हमारे वित्तीय बलिदानो को मापने का एक बहुत बुरा पैमाना है...इसमें ऐसे सौदे शामिल हैं, जो विकसित देशो मे होने पर कभी भी सहायता नही कहे जा सकते। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि विकास सहायता और दूसरे रूपो मे पूंजी के प्रवाहो के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाये।"[3]

लेकिन विकास सहायता समिति के 'निजी प्रवाहो' सम्बन्धी आँकड़ों मे अनेक और इससे भी अधिक गम्भीर खामियाँ हैं। एक खामी यह है कि इन्हे 'शुद्ध मूल्य' बताया जाता है। लेकिन इनसे लाभ के रूप में जो राशि वापस प्राप्त होती है, वह ऋणों की बकाया राशि और उस पूंजी के परिशोधन की राशि भर

होती है, जिसे पूंजी लगाने वाले देशों को लौटाया जाता है। ये भी केवल वे आँकड़े हैं, जिनकी सूचना विकसित देशों की सरकारों को दी जाती है।

ब्याज के भुगतान, लाइसेंसों के भुगतान आदि की राशि को और विशेषकर, कम-विकसित देशों से लाभ के रूप में प्राप्त राशि को वापस प्राप्त राशि में शामिल नही किया जाता, जबकि लाभ की पुनर्विनियोजित अथवा दूसरी बार लगायी गयी राशि को कम-विकसित देशो को दी गयी सहायता के योग मे शामिल कर लिया जाता है। कभी-कभी ये दोनों प्रकार के लाभ कल्पनातीत रूप से ऊँचे हो सकते हैं। विशेषकर उन पूंजी विनियोगों पर, जिन्हें बहुत समय पहले और खुल्लमखुल्ला शोषण की उन परिस्थितियों के अधीन लगाया गया था, जिनका मैंने अध्याय-8 में उल्लेख किया है और जिन पर इस अध्याय के अन्त मे फिर विचार किया जायेगा।

इस गणना में कम-विकसित देशो के निवासियो द्वारा बाहर भेजी गयी पूंजी—जो अक्सर चुपचाप बाहर भेजी जाती है—शामिल नही की जाती। विशेषकर लेटिन अमरीका में दोनों प्रकार के 'निजी बहिर्प्रवाह', विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा संकलित आँकड़ो मे जिनकी गणना नही की जाती, बहुत बड़ा-बड़ी राशियों मे होते हैं।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए विकमन ने अपनी आलोचना को इस प्रकार जारी रखा :

"·········यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि जिस शुद्ध संकल्पना का उपयोग किया जाता है, वह शुद्ध आँकड़ों के आसपास भी नही पहुँच पाती। सन् 1967 में विकास सहायता समिति ने अपने सदस्य देशो द्वारा साधनों के 'शुद्ध' प्रवाह ['सरकारी' और 'निजी'] की राशि 11·4 अरब डालर बतायी। इस राशि की तुलना उस राशि से की जा सकती है, जो संयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने विकासशील देशों को साधनो के रूप में प्राप्त राशि के सम्बन्ध मे बतायी है। यह राशि, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के आँकड़ों पर आधारित है, 3 अरब डालर है!······ इस गणना की गलतियों और भूलों, बीती हुई अवधि आदि की गुंजाइश छोड़ते हुए दोनों राशियो के इस अन्तर का मुख्य स्पष्टीकरण यह है कि विकास सहायता समिति द्वारा प्रस्तुत राशि में उन वित्तीय सौदों का पूरा ध्यान नही रखा गया है, जिनके अन्तर्गत कम-विकसित देशो से विकास सहायता समिति के सदस्यों को वापस पूंजी प्राप्त हुई। विकास सहायता समिति के कुछ सदस्यों ने जब इन आँकड़ों पर गौर से विचार किया तो उन्होंने देखा कि तीसरी दुनिया के देशो से उनके भुगतान सन्तुलन मे अतिरिक्त राशि मौजूद है।"

लेकिन वास्तविकता यह है कि विकसित देशो के लोग यह 'गौर से विचार' करना नही चाहते। विकमन का ध्यान इन अवसरवादी रुझानों और उनके परिणामो की ओर था :

"यह खतरा बड़ा स्पष्ट है कि आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के सदस्य देश अपनी घरेलू और बाहरी कठिनाइयो में व्यस्त होने के कारण, तीसरी दुनिया की समस्याओ की ओर विशेष ध्यान नहीं देंगे······ यथार्थ से ऊँचा मूल्याकन सहायता कार्यक्रमो के विस्तार के मार्ग में अवरोध बनता है। इस प्रकार यह अनिवार्य है कि हमारे देशों के जन-सामान्य और संसद सदस्यो को विकास-

शील देशों को दी जानी वाली सहायता के हमारे वर्तमान प्रयासों की सही जानकारी दी जाये।"

और उन्होंने यह आशा प्रकट की कि आर्थिक सहयोग और विकास संगठन, विशेपकर विकास सहायता समिति इस समस्या का समाधान निकालेंगे।[4]

पर इसकी कोई आशा दिखायी नही पड़ती। विकमन के आरोपो के उत्तर मे विकास सहायता समिति के सचिवालय ने जो टिप्पणी[5] तैयार की उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सचिवालय अपने इसी रवैये पर क्यो कायम रहना चाहता है। इस तर्क मे तीन मुद्दे सामने आते हैं सदस्य सरकारें इस तरीके मे परिवर्तन नही करना चाहती, कम-विकसित देशो से जो पूंजी वापस प्राप्त होती है, उसके जिस हिस्से की गणना की जाती है, उसके अलावा जिस राशि के आँकड़े उपलब्ध होते है वे बड़े अपर्याप्त है और उनकी व्याख्या करना बड़ा कठिन है। और विशेषकर लाभ और पूंजी के बहिर्गमन का प्रश्न, 'बुनियादी तौर पर स्वय विकासशील देशों की अपनी समस्या है।'[6]

जो बातें ऊपर कही गयी हैं, उनसे यह अर्थ निकलता है कि विकास सहायता समिति के आँकड़े, जिन्हें सर्वत्र अधिकृत बताकर उद्धृत किया जाता है, इस समस्या को पूरी तरह उलझा हुआ ही छोड़ देते है कि विकसित देशो से कम-विकसित देशो को साधनों के शुद्ध निजी प्रवाह के रूप मे कितनी राशि प्राप्त होती है और क्या बहुत से देशों को शुद्ध रूप से कोई राशि प्राप्त भी होती है अथवा इसके विपरीत स्वयं इन देशो से पूंजी बाहर चली जाती है। पूंजी का यह शुद्ध आगमन अथवा बहिर्गमन कम-विकसित देशो मे ऋण के विस्फोट और ऋणों की अदायगी के भयंकर भार से सम्बन्ध रखता है और इसी प्रकार इसका विकास को सहायता पहुंचाने की सम्भावनाओ से भी सम्बन्ध है। इस बात को अध्याय-9 मे स्पष्ट किया गया है।

एक पेशेवर सगठन के रूप में विकास सहायता समिति के सचिवालय को यह बात स्पष्ट किये बिना कि उसके 'शुद्ध प्रवाह' सम्बन्धी आँकड़ो मे वास्तविक शुद्ध मूल्यो को व्यक्त नही किया गया है, ये आँकड़े देने के लिए माफ नही किया जा सकता। वेतनभोगी पेशेवर अर्थशास्त्रियो को अनैतिक आचरण के अभियोग से इस कारण से मुक्त नही किया जा सकता कि वे अपने रोजगार देने वालों अथवा सरकारों के निर्देशन के अनुसार ही काम कर रहे थे। इसी प्रकार संसार-भर के दूसरे पेशेवर लोगो को भी इन आँकडों को असावधानी से और समालोचनात्मक दृष्टि से विश्लेपण किये बिना व्यापक रूप से इस्तेमाल करने के लिए भी क्षमा नही किया जा सकता, क्योंकि इन आँकड़ो का उपयोग साधारणतया 'विकास सहायता' की राशि के रूप मे किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले और दूसरे अन्तर-सरकार संगठनो के सचिवालयो पर भी इस सम्बन्ध मे विशेप दायित्व आता है। इन संगठनो के सचिवालयो की इस बात के लिए प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होने युद्ध के तुरन्त बाद अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो में विश्व-व्यापी तुलनात्मक आँकडो का सकलन करने का कठिन कार्य किया। लेकिन उस समय इन सचिवालयो मे स्पष्ट संकल्पनाओं और विभिन्न देशो की सरकारो द्वारा भेजे गये बुनियादी आँकड़ो की कमजोरियों के प्रति सतर्कतापूर्वक समालोचनात्मक दृष्टि अपनाने के प्रति

उतना पेशेवर उत्साह नहीं था, जितना होना चाहिए था ।

इन संगठनों के सचिवालयों के बीच अपने संघर्ष जारी हैं, विशेषकर इस सम्बन्ध में कि कौन-सा सचिवालय किन विशेष क्षेत्रों के लिए किस सीमा तक जिम्मेदार है। लेकिन एक-दूसरे के प्रति एक विनम्रतापूर्ण भद्रता नियमित रूप से बरती गयी है। ये एक-दूसरे के आँकड़ो के बारे में यानि इनकी सत्यता के बारे मे शंका नही उठाते। यह बात भद्रता के खिलाफ समझी जाती है।

इस प्रकार आय और उत्पादन की वृद्धि और कम-विकसित देशों की प्रगति की दरों के जो आँकडे संयुक्त राष्ट्र का सांख्यिकी कार्यालय तैयार करता है, और जिसकी मैंने अध्याय-8 के अन्त में आलोचना की है, उन्हें अन्य सचिवालय सामान्यतया स्वीकार करते हैं और उनका उसी रूप में इस्तेमाल करते हैं। अक्सर इस कार्य में इन आँकड़ो के अर्थ, सार्थकता अथवा विश्वसनीयता के बारे में कोई शंका नही उठायी जाती।

यूनेस्को का सचिवालय साक्षरता और स्कूलों में विद्यार्थियों की भर्ती के बारे में आँकड़े संकलित करता है। जैसाकि मैंने अध्याय-6 मे कहा है, ये आँकड़े बहुत घटिया स्तर के हैं और इनसे बेहद भ्रान्ति उत्पन्न होती है। यदि कोई दूसरा सचिवालय शिक्षा की समस्याओं पर विचार करते समय इस सचिवालय के आँकड़ो को जैसे का तैसा स्वीकार न करे तो इस बात को स्पष्ट रूप से यूनेस्को के सचिवालय के प्रति अमित्रतापूर्ण व्यवहार कहा जायेगा। अक्सर इन परिस्थितियों में इन आँकड़ों का उपयोग उससे भी कहीं कम शर्तें लगाकर किया जाता है, जितनी कम शर्तें लगाने का साहस स्वयं यूनेस्को का सचिवालय भी नहीं कर सकता था।

विभिन्न संगठनों के बीच जारी इस विनम्रता का परिणाम एक ऐसा सहयोग होता है, जो पेशे की दृष्टि से अनैतिक है और जो इसके परिणामस्वरूप अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालयों के कार्यों के वैज्ञानिक मूल्य को घटा देता है। अब क्योंकि ये सचिवालय नौकरशाही व्यवस्था का स्वरूप धारण कर चुके हैं और सम्बन्धित पेशे के सर्वाधिक योग्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की बेहतर स्थिति में नही हैं,[7] अतः उनके द्वारा तैयार आँकडों सम्बन्धी जानकारी पुरानी होती है और इसमें समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

वर्तमान मामले में इसका और उस प्रतिरक्षात्मक भाईचारे का, जिसका मैंने उल्लेख किया है, यह अर्थ निकलता है कि विकास सहायता समिति के आँकडे हर वर्ष प्रकाशित होते रहते हैं और अन्य संगठनो के सचिवालय इनका समालोचनात्मक विश्लेषण नही करते। वस्तुतः इन आँकड़ों का इस्तेमाल दूसरे सचिवालय व्यापक रूप से करते हैं और इस प्रयोग में इन आँकड़ों की सत्यता पर कोई ध्यान नही दिया जाता।

कम-विकसित देशों के राजनीतिक प्रवक्ता और उनके अर्थशास्त्री समग्रतः आँकड़ों सम्बन्धी इन दावपेंचों के प्रति पूरी तरह बचकानी दृष्टि ही अपनाते रहे हैं। इन लोगों के मामले में यह बात अधिक क्षमायोग्य दिखायी पड़ती है, क्योंकि

विकसित देशों के विशेषज्ञों ने इस प्रकार एकमत होकर इन आँकड़ों को अपना समर्थन दिया है।

इस प्रकार कम-विकसित देशों के इन प्रवक्ताओं और विशेषज्ञों ने अपने देशों के उत्पादन और आय की वृद्धि की दर को इन बढ़िया आँकड़ों के सन्दर्भ में मापने और विश्लेषण करने का तरीका अपनाया है और इन आँकड़ों को बिना किसी शंका के स्वीकार किया है। इस तरीके की मैंने अध्याय-8 के अन्त में आलोचना की है।

इन लोगों ने विकास सहायता समिति के सचिवालय की कुल सार्वजनिक और निजी वित्तीय 'शुद्ध प्रवाहों' सम्बन्धी संकल्पना को भी स्वीकार कर लिया है। यह एक और भी हानिकारक बात है, क्योंकि यह संकल्पना उन अवसरवादी पूर्वाग्रहों से गम्भीरतापूर्वक ग्रस्त है, जो विकसित देशों के लिए सुविधाजनक है।

सन् 1961 में महासभा की इस प्रबल घोषणा के बाद कि 1960 से आरम्भ दशक को विकास दशक माना जाना चाहिए, जब विकसित देशों को सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार करना पड़ा कि कम-विकसित देशों को वे जो सहायता देते हैं, उसका उन्हें एक न्यूनतम स्तर कायम करना चाहिए, तो यह सीमा इन मिले-जुले 'शुद्ध प्रवाहों' के रूप में निर्धारित की गयी और यह कहा गया कि यह राशि इन देशों की राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत होनी चाहिए। और जब 1968 में संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन में इस निचली राशि को एक-चौथाई और बढ़ाया गया और इसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा कहा गया, तब भी इन सन्दिग्ध 'प्रवाहों' को ही इस प्रस्तावित ऊँचे स्तर तक बढ़ाने की बात थी।

विदेशी साधनों की इस अधिकतम सीमा के अनुसार भविष्य में लाभ उठाने वालों की हैसियत से कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया कि उन्हें इस बात पर कोई जोर नहीं देना चाहिए कि किन शब्दों में इस बात को कहा जाता है। लेकिन जैसाकि मैंने कहा है, यह केवल शब्दावली की ही समस्या नहीं है।

कम-विकसित देशों से लाभ और पूँजी का बहिर्गमन एक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण मसला है, और इस बहिर्गमन का उक्त आँकड़ों में उल्लेख नहीं किया गया है और इस कारण से यह अनेक कम-विकसित देशों के प्रतिनिधियों के लिए भी उलझन बन सकता है, अतः इसे जैसे का तैसा छोड़ देना बेहतर समझा गया। कम-विकसित देशों के ये प्रतिनिधि नियमित रूप से एक ऐसे शासक समूह के सदस्य होते हैं अथवा इसकी सेवा में नियुक्त होते हैं, जिनमें से अनेक—चाहे स्वयं उन्हें व्यक्तिगत रूप से लाभ न मिल रहा हो—अपने देशों की गरीबी और दूसरे देशों पर निर्भरता की स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर व्यक्तिगत मुनाफा कमाते हैं।

लेकिन बाद के वर्षों में कुछ कम-विकसित देशों में इस सम्बन्ध में आवाज उठायी गयी और संयुक्त राष्ट्र की महासभा को 'विकासशील देशों से निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में पूँजी के बहिर्गमन' के प्रति चिन्ता प्रकट करनी पड़ी, क्योंकि इस पूँजी के बहिर्गमन से 'विकासशील देशों की प्राप्त बाहरी साधनों की शुद्ध राशि में पर्याप्त कमी हो जाती है' और संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय ने अपने

प्रकाशन 'दि एक्सटर्नल फाइनेंसिंग ऑफ इकानामिक डेवेलपमेंट'[8] में इस 'शुद्ध राशि' के बारे में कुछ अनुमान शामिल किये हैं।

*यद्यपि ये अनुमान इतने अपरिष्कृत हैं कि इनका उद्धरण देना उचित नहीं* है, लेकिन इनसे यह सामान्य आभास मिलता है कि कम-विकसित देशों से अन्य देशों को राशि के कुल बहिर्गमन, जिसमें लाभ और पूंजी का बहिर्गमन (अक्सर चुपचाप भेजी जाने वाली पूंजी) भी शामिल है, की मात्रा प्रायः वही होती है, जितनी विकास सहायता समिति के आंकड़ों में निजी और सरकारी 'शुद्ध प्रवाहों' के रूप में दी जाती है। अथवा यह राशि इससे अधिक कम नहीं होती। विशेषकर उस स्थिति में जबकि 'सरकारी प्रवाह' सम्बन्धी आंकड़े अक्सर ग़लत रूप से पेश किये जाते हैं, जैसाकि हम अगले अध्याय में दर्शायेंगे।

अनेक देशों के लिए, विशेषकर लेटिन अमरीका में, पूंजी का यह बहिर्गमन देश के भीतर आने वाली कुल पूंजी से कई गुना अधिक होता है। अक्सर यह कहा जाता है कि जितनी पूंजी के बाहर जाने की बात कही जाती है वास्तव में उससे पांच गुना अधिक पूंजी बाहर जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के एक उदारतावादी सेनेटर चार्ल्स मेक मेथियाज जूनियर ने (वे जिन कारणों से अपने देश की सहायता नीति की आलोचना करते हैं उस पर अगले अध्याय में विचार होगा) हाल में बड़े स्पष्ट शब्दों में यह बात कही : "लेटिन अमरीका से जो पूंजी संयुक्त राज्य अमरीका पहुँचती है, वह लेटिन अमरीका के देशों में जाने वाली पूंजी से चार गुना अधिक है। एक तरीके से लेटिन अमरीका के देश वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका को, जो संसार का सबसे धनी देश है, विदेशी सहायता दे रहे हैं।"[9]

इस वर्ष के आरम्भ में 'विकासशील देशों से वित्तीय साधनों के बहिर्गमन' का मामला संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन की एक समिति में उठाया गया। यह बात बड़ी दिलचस्प है कि यह मामला आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अधिकांश विकसित देशों की सलाह के विरुद्ध उठाया गया। संयुक्त राष्ट्र के *व्यापार और विकास सम्मेलन* के सचिवालय ने जो अध्ययन किया उसमें यह अनुरोध किया गया था : "इस प्रश्न की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकासशील देशों को जाने वाली पूंजी के प्रवाह को इस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है कि पूंजी का यह बहिर्गमन विकासशील देशों के विकास सम्बन्धी लक्ष्यों के अनुरूप हो।"[10] यह बड़ी दिलचस्प बात होगी कि इस अध्ययन के परिणामस्वरूप क्या तथ्य सामने आते हैं।

विकास सहायता समिति के सचिवालय का कार्य अन्य अनेक विचित्र बातें भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। संसार-भर में प्रसार से पहले, 'प्रवाह' सम्बन्धी आंकड़ों का सम्बन्धित भावों के सूचक अंकों की मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति के सन्दर्भ में मूल्यांकन करना जरूरी था।

पर इन 'प्रवाहों' को 'वित्तीय' कहकर पेश किया जाता है यद्यपि ये प्रवाह

अक्सर इस रूप में नहीं होते। अतः यह बात दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि जिन विभिन्न 'साधनो' को वस्तुतः हस्तान्तरित किया जाता है, उनका कितना दाम लगाया जाता है और इस सम्बन्ध में आँकड़ों का उचित उपयोग किया जाता है अथवा नही। लाभ के स्तरों सम्बन्धी यथार्थ जाँच, जिसमें पूँजी लगाने वालों द्वारा लाभाश के अलावा अन्य लाभ उठाने की बात का भी ध्यान रखा गया हो, अत्यधिक दिलचस्प और उपयोगी होगी।

विकास सहायता समिति के 'सरकारी प्रवाहों' सम्बन्धी आँकड़ों पर अगले अध्याय के अनुभाग-2 मे समीक्षात्मक विचार किया जायेगा। इससे विकास सहायता समिति के आँकड़ो में कहीं अधिक गहराई से पैठे हुए पूर्वाग्रहो का पता चलेगा, क्योंकि इन आँकडों के आधार पर उससे कही अधिक बढा-चढ़ाकर बातें कही गयी हैं, जिन्हें सच्ची सार्वजनिक सहायता के रूप में समझा जा सकता है।

लेकिन इन नाजुक समस्याओ के अलावा, विकास सहायता समिति के सचिवालय द्वारा जारी आँकडों के अध्ययन से यह आभास मिलता है कि सचिवालय की या तो अनुसन्धान में कोई दिलचस्पी नही है अथवा इसे सरकारी दबाव द्वारा यह दिलचस्पी लेने से रोका जाता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सामान्य सूझबूझ और विनोद का भाव भी सचिवालय मे मौजूद नही है। विकास सहायता समिति के आँकडों मे छुटभैया फासिस्ट पुर्तगाल को निरन्तर हर वर्ष बडा सम्मानित स्थान दिया जाता है और यह बताया जाता है कि अपने कुल राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना मे पुर्तगाल कम-विकसित देशों को सबसे अधिक 'पूंजी' भेजता है।

इस स्थिति को समझाने के लिए कोई पाद-टिप्पणी भी नही दी जाती कि यह स्थिति दो तथ्यो पर निर्भर करती है। पहली बात यह है कि पुर्तगाल लम्बे अरसे से बहुत गरीब और अधिकाशतया निष्क्रिय रहा है—केवल हाल में उसने व्यापार में कुछ दिलचस्पी और पहल दिखायी है। व्यापार सम्बन्धी यह गतिविधि यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ के सदस्य देशों के कारण हुई है, जिन्होंने वहाँ के वेतन के अत्यधिक निम्न स्तरों का लाभ उठाने की कोशिश की। जन-सामान्य मे निरक्षरता बहुत अधिक है और यह बात देहाती इलाकों पर विशेष रूप से लागू होती है। बच्चो की मृत्यु-दर बहुत ऊँची है और रहन-सहन का स्तर बेहद नीचा है। पुर्तगाल वस्तुतः आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अन्य तीन सदस्य देशो—स्पेन, ग्रीस और तुर्की, की तरह ही स्वयं कम-विकसित है। इन देशो को विकास सहायता समिति के आँकडों मे कम-विकसित देशों में गिना जाता है और इस कारण से इन्हें विकास सहायता समिति के अन्य समृद्ध देशों के समूह मे शामिल होने को नही कहा जाता। इसका यह अर्थ होता है कि पुर्तगाल का कुल राष्ट्रीय उत्पादन, जिसकी तुलना में पूँजी के बहिर्गमन का आकलन किया जाता है, अत्यधिक नीचे स्तर का है।

दूसरी बात यह है कि पुर्तगाल अफीका में अपने 'प्रान्तो' में लम्बे उपनिवेशी युद्ध मे लगा हुआ है और इन्ही 'प्रान्तो' को पूँजी का यह 'प्रवाह' जारी रहता है। इसके साथ ही विकास सहायता समिति के आँकड़ों में दूसरे 'प्रवाहो' का भी उल्लेख किया जाता है और ये प्रवाह आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के अन्य देशों से होते हैं।

अत्यधिक महत्त्व की दूसरी समस्याएँ भी हैं, जिनके कहीं अधिक गहरे अध्ययन की आवश्यकता है। विकास सहायता समिति और आर्थिक सहयोग और विकास संगठन अथवा किसी भी अन्य अन्तर-सरकार संगठन का सचिवालय, जिसमें संयुक्त राष्ट्र का विकास और व्यापार संगठन भी शामिल है, इतनी गहराई से यह अध्ययन नहीं करता।

एक बात तो यह जानने योग्य है कि जिन पूंजी विनियोगों की बात कही जाती है क्या वे विनियोग नये उद्यमों में होते हैं अथवा पुराने पूंजी विनियोगों को मजबूत बनाने के लिए और पूंजी लगायी जाती है। इन बाद के पूंजी विनियोगों में विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को दिये जाने वाली वे रियायतें शामिल हो सकती हैं, जो इस समय अनुचित और कम-विकसित देशों के विकास की दृष्टि से विपरीत प्रभाव डालने वाली समझी जायें।

यह बात भी महत्त्वपूर्ण होगी कि विस्तृत और व्यापक रूप से इस बात का विश्लेषण किया जाये कि पूंजी का यह प्रवाह किन देशों को हुआ है। बल्कि यह भी देखा जाये कि विभिन्न कम-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था के किन क्षेत्रों में यह 'प्रवाह' हो रहा है। पैट्रोलियम उद्योग और अत्यधिक ऊँची माँग वाले अन्य खनिजों के खनन सम्बन्धी उद्योगों मे नया विदेशी पूंजी विनियोग उन देशों अथवा उन देशों के शासकों के लिए अत्यधिक लाभकारी हो सकता है, जहाँ यह पूंजी विनियोग किया जाता है। यह पूंजी विनियोग कम-विकसित संसार के उन गिने-चुने देशों में किया जाता है, जहाँ ऐसे प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। लेकिन यह हो सकता है कि इन देशों के विकास सम्बन्धी प्रयास भिन्न प्रकार के हों और अक्सर उससे कम महत्त्व के हों जितना महत्त्व विनिर्माण उद्योग की कुछ शाखाओं में नये विनियोग का होता है। यही बात लेटिन अमरीका मे बड़े पैमाने पर बागानों में पूंजी विनियोग के बारे में सही है। लेकिन यह बात केवल लेटिन अमरीका पर ही लागू नही होती।

यह मानना उचित ही है कि ऐसी समस्याओं पर गहरे विचार का काम, और साधारणतया निजी पूंजी के 'प्रवाहों' की वास्तविक स्थिति के अध्ययन का काम, संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों द्वारा अधिक गहराई से और पूर्वाग्रहों के बिना किया जा सकता है, जिनमें विकसित और कम-विकसित दोनों प्रकार के देश शामिल होते है। लेकिन ये संगठन भी प्रभावशाली देशों की पहुँच के बाहर नहीं हैं, जहाँ अल्पसंख्यक विकसित देश बड़ी प्रभावशाली और शक्तिशाली स्थिति मे होते हैं। यह निश्चय है कि स्वतन्त्र अध्ययनकर्ता इन समस्याओं का समीक्षात्मक और तटस्थतापूर्वक अध्ययन करें। लेकिन अभी तक ऐसा उदाहरण प्रायः देखने को नही मिला है।

### 3. निजी प्रत्यक्ष विनियोग

व्यापार के अन्तर, ऋण के विस्फोट, और ऋणों के भुगतान के निरन्तर बढ़ते हुए भार जैसी गम्भीर समस्याओं से बच निकलने के लिए और अक्सर इन समस्याओं पर सही सन्दर्भ में विचार किये बिना ही, इस बात पर ध्यान केन्द्रित कर दिया गया है कि कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग को किस प्रकार प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

अनेक विकसित देशों में, लेकिन विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में, इस

विश्वास के प्रति विचारधारा सम्बन्धी आस्था प्रकट की गयी है कि कम-विकसित देशो का विकास निजी उद्यम द्वारा ही सर्वोत्तम तरीके से हो सकता है। इस विश्वास के एक स्वाभाविक निष्कर्ष के रूप मे संयुक्त राज्य अमरीका की नीति कम-विकसित देशो में विदेशों से निजी प्रत्यक्ष विनियोग को प्रोत्साहन देने पर केन्द्रित रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक ने इस विचारधारा को अपना समर्थन दिया है। बैंक ने यह कार्य इन देशों को सलाह देने की अपनी सामान्य गतिविधि मे प्रकट रूप से और अपनी ऋण सम्बन्धी गतिविधि में भी किया है। लेकिन हाल के वर्षों मे बैंक ने अपने दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन किया है और भविष्य में और अधिक परिवर्तन कर सकता है।

बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष, जार्ज डी० वुड्स ने अध्यक्ष के रूप मे अपने अन्तिम सार्वजनिक वक्तव्य में इस बात पर जोर दिया कि 'नई दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है' और यह स्वीकारोक्ति की कि 'विश्व बैंक समूह' संस्थाओ की 'मानक फारमूलों' से चिपके रहने की प्रवृत्ति से बचा हुआ नहीं है। उन्होने आगे कहा : "विश्व बैंक समूह में······हम लोगों ने राज्य के स्वामित्व मे सचालित उद्यमो को सहायता देने मे धीमी गति दिखायी है, जिसका कारण यह था कि अनेक देशो में इन्हे कार्यकुशल ढंग से चलाने की समस्या मौजूद थी। पर निजी बचतो की कमी के कारण सरकार द्वारा इन उद्योगों को चलाने की आवश्यकता हुई थी।"[11]

कठिन परिस्थितियों मे पड़े होने के कारण कम-विकसित देशो ने अक्सर निजी विनियोग का बडा स्वागत किया है। अक्सर इन उद्यमों को विशेष रियायते दी जाती हैं। अक्सर इन्हें यह आश्वासन दिया जाता है कि वे अपना लाभ और यदि चाहें तो अपनी पूँजी भी अपने देश वापस ले जाने लिए स्वतन्त्र होगे।

इस दृष्टिकोण को संयुक्त राष्ट्र महासभा के अनेक प्रस्तावो में विस्तार से प्रकट किया गया है और नई दिल्ली में आयोजित संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन (1968) मे भी यह बात कही गयी है।[12] सन् 1969 में संयुक्त राष्ट्र के विकासशील देशों मे विदेशी विनियोग सम्बन्धी कार्यदल मे भी फिर इस बात की पुष्टि की गयी। इस कार्यदल की बैठक एम्स्टर्डम में हुई थी और इसमे विकसित देशों के व्यापार प्रतिनिधि और कम-विकसित देशो के अधिकारी शामिल थे।[13]

सामान्यतया कम-विकसित देश शर्तें भी लगाना चाहते हैं। वे यह निर्णय लेने में भी शामिल होना चाहते हैं कि उद्योग की किस शाखा मे विदेशी उद्यम शुरू किया जाना चाहिए। अक्सर वे इसे संयुक्त रूप से चलाना चाहते हैं। अक्सर वे यह शर्त भी लगाते है कि उनके अपने देशवासियों की एक न्यूनतम संख्या को ऊँचे प्रबन्ध और तकनीकी पदो के लिए प्रशिक्षित और नियुक्त किया जायेगा।

अधिकांशतया विकसित देश इन शर्तों को कम-से-कम उनके सामान्य रूप मे स्वीकार कर लेते हैं। जैसाकि हाल मे संयुक्त राज्य अमरीका के अन्तर-अमरीका मामलों के सहायक मन्त्री चार्ल्स ए० मीयर ने समझाया : "······प्रत्येक देश को स्वयं यह निश्चय करना चाहिए कि वह कितनी मात्रा में (विदेशी उद्यमों को)

चाहता है और किन शर्तों पर उसे इन उद्यमों की आवश्यकता है।"[14] इस सामान्य सहमति के पीछे कम-विकसित देशों को केवल पूंजी की प्राप्ति का ही लाभ नहीं है, बल्कि तकनीकी जानकारी, प्रबन्ध और विशेषकर उन बाजारों का परिचय भी प्राप्त होता है, जो विदेशी पूंजी विनियोग के साथ सामान्यतया सम्बन्धित होते हैं।

फिर भी सामान्यतया कम-विकसित देशों में यह शिकायत सुनने को मिलती है कि प्रत्यक्ष विनियोग अत्यधिक महंगे पड़ते हैं। यह बुनियादी तौर पर अनुदानों और रियायती दरों पर ऋण के रूप में अधिक सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयास है। इसके समर्थन में उन पूंजी विनियोगों का उल्लेख और स्मरण किया जाता है जो उपनिवेशी युग में निजी पूंजी बाजारों से प्राप्त किये जा सकते थे। अक्सर ब्याज की उससे कहीं कम दरों पर यह पूंजी उपलब्ध हो जाती थी, जिन दरों पर यह आज उपलब्ध होती है। उस समय यह पूंजी विनियोग बहुत महत्त्व-पूर्ण भूमिका निभाते थे।

अब क्योंकि सार्वजनिक अनुदान और ऋणों की मात्रा बड़ी सीमित है, और निजी पोर्टफोलियो विनियोग की आशा नहीं की जा सकती, यह शिकायत प्रत्यक्ष विनियोगों को स्वीकार करने से अधिकांश कम-विकसित देशों को नहीं रोक पाती।

वास्तविकता यह है कि अब तक जो अध्ययन हुए हैं, उनसे साधारणतया यह प्रकट नहीं होता कि प्रत्यक्ष पूंजी विनियोगों से बहुत ऊंचे लाभ प्राप्त हुए हों। लेकिन इन अध्ययनों पर अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता। विनियोजित पूंजी के बारे में यदाकदा ही अथवा कभी भी यह गणना नहीं की जाती है कि कितनी राशियां ऐतिहासिक दृष्टि से पहले ही लगायी जा चुकी थीं। इस सम्बन्ध में जिन आंकड़ों का उल्लेख किया जाता है, वे अधिकांशतया मनमाने होते हैं और इस कारण से ऐसी किसी दर का कोई महत्त्व नहीं होता जो पूंजी की इस राशि के अनुसार व्यक्त की जाती है।

पूंजी लगाने वाली कम्पनी की दृष्टि से विनियोगों से अक्सर और पर्याप्त लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि इन्हें सामान्य आंकड़ों में शामिल नहीं किया जाता।

एक बात तो यह है कि पूंजी लगाने वाली कम्पनी अपनी विदेशी शाखा को मशीनें, अतिरिक्त पुरजे और उत्पादन में काम आने वाला अन्य सामान भेजती है और पेटेंट के अधिकार और लाइसेंस सुलभ कराती है। यह कार्य अधिक बाहरी प्रतियोगिता के बिना ही हो जाते हैं। अतः अक्सर सामान और अधिकारों का दाम प्रायः मनमाने ढंग से और ऊँचे स्तर पर निर्धारित किया जा सकता है।

इसके अलावा किसी देश में पांव जमा लेने के बाद और उस देश के अधिकारियों और राजनीतिज्ञों से अपनी पटरी बैठा लेने के बाद, कम्पनी को उन चीजों का आयात करने के लाइसेंस भी अक्सर मिल जाते हैं, जिनका यह उत्पादन भी करती है। इसके अलावा इसे ऐसे अन्य लाभ भी मिल जाते हैं, जो अन्यथा प्राप्त नहीं होते।
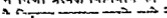
मैंने इन बातों पर कम-विकसित देशों में स्थापित विदेशी कम्पनियों की शाखाओं के स्थानीय अधिकारियों से बातचीत की है। मैंने सदा यह देखा कि वे उस मनमाने तरीके की खुले तौर पर पुष्टि करने के लिए राजी हो जाते हैं,

जिसके आधार पर उनके विनियोगों के पूंजी सम्बन्धी मूल्यों को आंका जाता है। वे उन अतिरिक्त लाभांशो और अन्य सुविधाओं को भी स्वीकार करते हैं, जो उन्हें उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए, करों सम्बन्धी रियायतें। वास्तव में वे अक्सर जोर देकर यह बात कहते हैं कि यह कम महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है कि उनकी कम्पनियों ने इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही यह पूंजी लगाना स्वीकार किया।

इन बातों ने मुझे आश्वस्त कर दिया है कि मुनाफे की जिन दरों का साधारणतया उल्लेख किया जाता है वे अयथार्थ और अत्यधिक नीची हैं। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि खुले मस्तिष्क वाले और पूर्वाग्रह से मुक्त अनुसन्धान-कर्ताओं द्वारा खोज करने पर इस बात पर और अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है कि मुनाफे की वास्तविक दरें कितनी ऊंची हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में जो चतुरतापूर्ण और जटिल शब्दावली अक्सर प्रयुक्त की जाती है, उसके अनुरूप एम्स्टर्डम के करार में निम्नलिखित प्रेक्षण शामिल किया गया है :

"कार्यदल यह स्वीकार करता है कि विभिन्न देशों में एक ही प्रकार के पूंजी विनियोग की लाभदायकता के तुलनात्मक अध्ययन तभी सार्थक हो सकते हैं, जब उनमें लाभों के समस्त तत्त्वों का ध्यान रखा गया हो। इन तत्त्वों मे उन कीमतों के सम्भावित अन्तर शामिल हैं, जिन पर साज-सामान और अन्य वस्तुएँ सप्लाई की जाती हैं। इसी प्रकार रायल्टी और सेवा-शुल्को की राशियों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। पूंजी लगाने वाले और जिस देश में पूंजी लगायी गयी है, उसकी सामाजिक, आर्थिक और कानूनी स्थिति और प्रतियोगिता की सीमा का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। कार्यदल ने इस विषय के और अध्ययन की भी सिफारिश की और कहा कि जहां कहीं आवश्यक हो यह अध्ययन उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सहायता से क्षेत्रीय अथवा विभिन्न उद्योगों के आधार पर किया जाना चाहिए।"[15]

मैं पहले ही यह बात जोर देकर कह चुका हूँ कि अधिकांश कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग की राशि बहुत अधिक नहीं है—यह उससे कहीं [illegible] वाली जबर्दस्त बहस के आधार पर [illegible], विशेषकर लेटिन अमरीका में, इस [illegible] यह भाव जगता है कि वह अपनी स्वतन्त्रता से वंचित हो रहे है अथवा पहले ही वंचित हो चुके हैं।

ये आशंकाएँ उस समय स्वाभाविक रूप से प्रबल होती हैं, जब किसी बड़े देश की कम्पनियां पूंजी लगाती हैं। व्यवहार में इसका अभिप्राय संयुक्त राज्य अमरीका से होता है। ये शंकाएँ उस स्थिति में और भी प्रबल होती हैं जब पूंजी लगाने वाली कम्पनी की शाखाएँ संसार-भर मे फैली हुई हों। अधिकांशत: इसका अभिप्राय अमरीकी कम्पनियों से ही होता है। जब यह देखा अथवा समझा जाता है कि अमरीकी सरकार विदेशों में अमरीकी कम्पनियों की सहायता के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करेगी तो यह आशंकाएँ और गहरी हो जाती हैं।

सम्भवत: इन आशंकाओं की जानकारी एक ऐसा कारण है कि संयुक्त राज्य अमरीका के लोग इन देशों में प्रत्यक्ष पूंजी विनियोग के प्रति इतने उत्साहित नहीं

होते। लेकिन यह प्रतिक्रिया व्यापक दिखायी नही पड़ती। लेकिन अमरीकी प्रशासन के स्तर पर यदा-कदा कुछ सतर्कता प्रदर्शित की जाती है।

श्री मीयर के लेख का जो वाक्य पहले उद्धृत किया जा चुका है, उससे यह बात प्रमाणित होती है। इसी लेख में उन्होने अधिक स्पष्टता से यह बात कही :

"लेटिन अमरीका के विकास के लिए अन्ततः स्वयं लेटिन अमरीका में ही साधन जुटाये जाने चाहिए। आर्थिक दृष्टि से यह अनिवार्य दिखायी पड़ता है। सम्भवत राजनीतिक दृष्टि से भी यह वांछित है······संयुक्त राज्य अमरीका ऐसे किसी भी मामले में हिस्सा नही लेना चाहता जहाँ पूंजी विनियोग की अपेक्षा नही है और न ही हम किसी देश में इतनी गहराई से उलझना चाहते हैं कि हमारे देश की विनियोजित पूंजी की राशि इतनी बड़ी हो जाये कि यह परेशानी पैदा करने लगे।"[17]

इस दृष्टि से कुछ निष्कर्ष स्वयं प्रकट दिखायी पड़ते हैं। एक बात तो यह है कि यह विकसित और कम-विकसित दोनो प्रकार के देशों के सामान्य हित में होगा कि अधिक प्रत्यक्ष पूंजी विनियोग उन देशों से हो जो संयुक्त राज्य अमरीका जितने बड़े नही हैं और जो उसकी तरह इतने समीप नहीं हैं। इन और अन्य कारणो से इन देशो की सरकारें पूंजी लगाने वाली अपनी कम्पनियों के हितों की रक्षा के लिए राजनीतिक अथवा सैनिक शक्ति के प्रयोग के लिए इतनी लालायित नही होंगी। इस प्रकार वितरित होने के कारण विदेशी पूंजी विनियोग उस कम-विकसित देश की स्वतन्त्रता के हनन की कम आशकाएं उत्पन्न करेगा, जहाँ यह विनियोग किया जाता है।

इसी प्रकार यह बात भी उपयोगी होगी कि अधिक पूंजी विनियोग वे कम्पनियाँ करें जो विदेशों में पूंजी लगाने के काम में लगी अमरीकी कम्पनियों जितनी विशाल नही हैं। इस कारवाई से भी उक्त उद्देश्य पूरे होगे।

यद्यपि ये निष्कर्ष बड़े स्पष्ट हैं, लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका मे इनके प्रति अधिक सूझबूझ नही दिखायी गयी है। सन् 1969 की गर्मियों में लेटिन अमरीका के देशों की चार महत्त्वपूर्ण यात्राओं के बाद गवर्नर नेल्सन ए० रॉकफेलर ने एक बड़े आशापूर्ण शीर्षक 'क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरीकाज' के अन्तर्गत एक रिपोर्ट जारी की है। इन यात्राओ में उनके साथ बड़ी संख्या में अधिकारी और सब विषयो के विशेषज्ञ भी थे। वे इस रिपोर्ट मे सबसे पहले यह कहते हैं :

"गोलार्द्ध के बहुत अधिक और सम्भवतः अधिकाश नागरिक संयुक्त राज्य अमरीका के निजी पूंजी विनियोग को एक प्रकार का शोषण अथवा आर्थिक उपनिवेशवाद कहते है······संयुक्त राज्य की कम्पनियो द्वारा इन देशों पर छा जाने का भय अक्सर व्यक्त किया जाता है।"[18]

अत्यधिक अनुत्तरदायी तरीके से और बिना किसी तर्क के वे इसे 'ग़लत विचार' बताते हैं और यह सिफारिश करते हैं कि "संयुक्त राज्य को पूरे गोलार्द्ध मे निजी विनियोग को अधिकतम प्रोत्साहन देना चाहिए।"

बहुत समय पहले प्रोफेसर पी० एन० रोज़ेनस्टीन-रोडान ने टेक्नालॉजी और प्रबन्ध सम्बन्धी अनुभव और सम्भवतः पूंजी के हस्तान्तरण का एक तरीका सुझाया था, जो ऐसे विकास मे सहायक हो सकता था।[19] उन्होंने इसे 'प्रबन्ध सम्बन्धी ठेका' कहा था। इस विचार पर अनेक लेखकों ने यदा-कदा अपने विचार

व्यक्त किये है।[20]

इस विचार में कहा गया है कि किसी विदेशी कम्पनी को किसी कम-विकसित देश की सरकार से एक सीमित अवधि, जैसे दस वर्ष, के लिए एक नया कारखाना लगाने और उसका प्रबन्ध चलाने का ठेका करना चाहिए।

विदेशी कम्पनी को इस सहमत अवधि के लिए या तो प्रत्यक्ष रूप से पूँजी लगानी चाहिए अथवा राज्य या किसी स्थानीय कम्पनी से मिलकर यह काम करना चाहिए। अथवा यह शुरू से ही स्वामित्व से दूर रह सकती है और अपने प्रबन्ध के ठेके की अवधि के लिए निश्चित ब्याज की राशि पर ऋण दे सकती है।

लेकिन इस ठेके में सम्बन्धित विदेशी कम्पनी को इस बात का आश्वासन दिया जाना चाहिए कि उसे प्रबन्ध चलाने के लिए निर्धारित शुल्क दिया जायेगा और यदि उसने पूँजी लगायी है तो वह भी निश्चित तारीखों पर उस समय तक हुए सामान्य लाभ के साथ लौटा दी जायेगी। इस कम्पनी को अपनी ओर से आवश्यक टेक्नालॉजी और प्रबन्ध सम्बन्धी अनुभव देना होगा लेकिन जिस देश मे कारखाना लगाया जाता है उसके कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने और काम पर लगाने का कार्य भी धीरे-धीरे करना होगा।

ऐसी कोई भी योजना पारस्परिक हितों को पूरा करती हुई दिखायी पड़ेगी। कम-विकसित को उद्योग शुरू होने तथा आवश्यक तकनीकी जानकारी और अनुभव प्राप्त होने का आश्वासन रहेगा और यदि, सहमति हुई तो एक निश्चित अवधि के लिए कुछ पूँजी भी मिल सकती है। इसके बाद उस कारखाने पर स्वयं इस देश का स्वामित्व होगा अथवा यह अपने देशवासियों के किसी समूह को इसका स्वामित्व प्राप्त करने की अनुमति दे सकता है।

इस प्रकार कोई विदेशी कम्पनी विदेशों को अपने प्रबन्ध और टेक्नालॉजी सम्बन्धी ज्ञान को बेचकर, अपनी पूँजी विदेशों मे लगाये बिना ही लाभ अर्जित कर सकती है अथवा एक निश्चित अवधि के लिए अपनी पूँजी लगा सकती है। इससे अनेक छोटी औद्योगिक कम्पनियाँ अधिक दिलचस्पी लेंगी और वे अन्तर्राष्ट्रीय उद्योगों में हिस्सा ले सकेंगी।

मैंने रोज़ेनस्टीन-रोडान के इस विचार पर कम-विकसित देशों के अनेक राजनीतिज्ञों से बातचीत की है, लेकिन मुझे इस सम्बन्ध में कोई उत्साह दिखायी नहीं पड़ा। इस पर मुझे विशेष रूप से आश्चर्य हुआ। एक प्रधानमन्त्री ने यह कहा कि वे बड़ी कम्पनियों की तुलना मे सरकारों से पूँजी विनियोग की बात-चीत करना अधिक पसन्द करते हैं।

लेकिन वे इस बात पर सहमत थे कि यदि विदेशी पूँजी लगाने वालों मे बड़े उद्योगों की कम संख्या होती है और ये कम्पनियाँ अधिक छोटे देशो की होती हैं तो इससे उनके देश की स्वाधीनता को कम खतरा उत्पन्न होगा। उद्योगों के चल निकलने पर ये कम्पनियाँ वहाँ से चले जाने के लिए अधिक तत्पर होंगी।

व्यक्तिगत रूप से मेरा विश्वास है कि संसार-भर में कहाँ ऐसे साझीदार उपलब्ध हो सकते हैं इस बात की जानकारी कम-विकसित देशो को नही है और वे आसानी से यह जानकारी प्राप्त कर भी नही सकते। अतः मैंने कभी-कभी

विकसित देशों के अधिकारियों से जोर देकर यह बात कही है कि वे इस समस्या में दिलचस्पी लें, ठेकों के मानक मसौदे तैयार करें और ऐसी विभिन्न कम्पनियों का ध्यान इस मामले की ओर आकृष्ट करें, जिन्होंने शायद ही कभी अपने प्रबन्ध और टेक्नालॉजी सम्बन्धी अनुभव को लम्बी अवधि के लिए पूंजी लगाने की सम्भावना के बिना बेचने की बात पर विचार किया हो।

कम-विकसित देश साधारणतया जो शर्तें लगाना चाहते हैं, उनमें एक शर्त यह भी है: विदेशी विनियोग उनकी अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहना चाहिए।

कोई भी विकसित देश यह नहीं चाहेगा कि उसके सार्वजनिक उपयोग के प्रतिष्ठानों पर विदेशी पूंजी विनियोजकों का स्वामित्व हो। संयुक्त राज्य अमरीका को छोड़कर अन्य सब विकसित देशों में बहुत समय पहले ही यह निर्णय ले लिया गया था कि इन प्रतिष्ठानों पर सार्वजनिक स्वामित्व होगा और उनका प्रबन्ध भी सार्वजनिक नियन्त्रण में होगा। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी इन प्रतिष्ठानों के ऊपर संघीय नियन्त्रण कायम किये हैं और कभी भी अमरीका यह नहीं चाहेगा कि इन प्रतिष्ठानों पर विदेशियों का स्वामित्व हो।

अतः यह विश्वास करना कठिन है कि लम्बी अवधि की दृष्टि से कम-विकसित देशों में भी सार्वजनिक उपयोगिता के प्रतिष्ठानों से विदेशी हितों को अलग रखने की ऐसी ही इच्छा नहीं जगेगी। एक ऐसी ही तुलना इस मत को समर्थन प्रदान करती है कि वे यह अनुभव करेंगे कि खानों के स्वामित्व और बड़ी-बड़ी जागीरों के रूप में भूमि के स्वामित्व से विदेशियों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

वे यह भी अनुभव करेंगे कि विभिन्न विनिर्माण उद्योगों में विदेशी हितों को आवश्यकता से अधिक प्रभावशाली स्थिति में आने से रोका जाये। विशेषकर उस स्थिति में जब ये उद्योग बहुत बड़े देशों की बहुत बड़ी कम्पनियों की शाखाओं के रूप में चलाये जा रहे हों। वास्तव में इसका अभिप्राय संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियों से ही होता है।

इस दृष्टि से लेटिन अमरीका के कम-विकसित देशों को, लेकिन केवल इन्हीं देशों में नहीं, एक ऐसी स्थिति विरासत में प्राप्त हुई है, जिसे केवल एक ऐसे राष्ट्रीयकरण के माध्यम से सुलझाया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप हितों का गम्भीर संघर्ष उत्पन्न होता है। इस प्रकार के राष्ट्रीयकरण किये गये हैं और यह पूर्व-कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि भविष्य में भी ऐसे ही राष्ट्रीयकरण और होंगे।

यह संघर्ष अक्सर एक दुर्भाग्यपूर्ण ऐतिहासिक विरासत में निहित होता है। एक जमाने में भूमि और अन्य रियायतों को नाममात्र के भुगतान पर प्राप्त किया गया था और यदा-कदा यह कार्य भ्रष्टाचार से मुक्त तरीकों से भी नहीं किया गया था। अतः सरकार ऐसे मुआवजे देने को तैयार नहीं होगी जिन्हें वर्तमान बाजार दर पर देने की बात कही गयी हो। कम-से-कम स्वदेश में इसके ऊपर इस बात का दबाव रहेगा कि मुआवजा न दिया जाये। दूसरी ओर विदेशी कम्पनियाँ उन माँगों को अनुचित समझती हैं और सम्पत्ति और हिस्सा

पूंजी में अक्सर स्वामित्व का परिवर्तन नियमित रूप से होता रहता है । कभी-कभी कई बार स्वामित्व का परिवर्तन होता है । यदि ये विदेशी हित सयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियो के हैं तो वे बहुत जोरदार शब्दों में इस बात की मांग करेंगी कि संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार उनका समर्थन करे । इसका एक प्रासंगिक प्रभाव यह होगा कि नये विदेशी विनियोग का उत्साह समाप्त हो जायेगा ।

लेटिन अमरीका मे पुराने अमरीकी विनियोगों के सम्बन्ध में अधिकाधिक संख्या में ऐसे संघर्षो की पूर्व कल्पना कर पाना कठिन नही है, जहां अतीत की तरह ही भविष्य मे भी सरकारें निरन्तर बदलती रहेगी । लेकिन कम-विकसित संसार के दूसरे हिस्सों मे भी यह ज्वलन्त प्रश्न बना हुआ है ।

विश्व बैंक ने ऐसे संघर्षों सम्बन्धी समस्याओं में सुलह सफाई कराने अथवा पंच-निर्णय देने की ओर ध्यान दिया है, ताकि इन संघर्षों के कारण विकसित और कम-विकसित देशों के बीच विदेशी पूंजी विनियोग और अन्य क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के राजनीतिक वातावरण को दूषित होने से रोका जा सके ।

इन संघर्षों का शान्तिपूर्ण समाधान तब और अधिक सम्भव हो जायेगा यदि कुछ परिस्थितियो में बैंक अच्छे इरादों से प्रेरित राष्ट्रीयकरण के लिए ऋण देने को तैयार हो जाये—यह ऋण उसी प्रकार दिया जा सकता है, जिस प्रकार मैंने भूमि सुधार के लिए अध्याय-8 मे ऋण देने की बात कही है ।

विकसित और कम-विकसित दोनो प्रकार के देशों में कम-विकसित देशों में निजी प्रत्यक्ष विनियोग के बारे में विचार-विमर्श इन देशों के विकास के राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से किया जाता है ।

लेकिन यहाँ आकर हमें इस बात का उल्लेख करना होगा कि अधिकाश कम-विकसित देशो में अत्यधिक असमानतावादी सामाजिक व्यवस्था है । इन देशो पर उच्च वर्ग के समूहो के कुछ लोगो का शासन कायम है ।

यह स्थिति ऐसी नीतियो का मार्ग प्रशस्त करती है, जो अनिवार्यतः ऐसी नहीं होती, जिन्हें इन देशों के लम्बी अवधि के राष्ट्रीय हितों में कहा जा सके । इन छोटे शासक समूहों के सदस्यों के निजी हित दाव पर लगे होते हैं और कभी-कभी इन हितों की ऐसी स्थिति होती है कि ये सार्वजनिक रूप से प्रकट नही किये जा सकते अर्थात् इन्हे छिपाये रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है ।

एक दृष्टि से यह स्थिति किसी कम-विकसित देश मे विदेशी कम्पनी द्वारा पूंजी विनियोग के कार्य को आसान बना सकती है । पर स्थिति चाहे कुछ भी हो, यह प्रायः आवश्यक होता है कि सत्तारूढ लोगों से सहयोग किया जाये ।

यह अवसर देखा गया है कि कम-से-कम छोटी अवधि की दृष्टि से विदेशी पूंजी विनियोग उस क्षेत्र को शक्तिशाली बनाने में सहायता देते हैं, जिन्हें कम-विकसित देश मे 'निजी क्षेत्र' कहा जाता है । जैसाकि अध्याय-3 और 8 में कहा गया है ये विनियोग इस प्रकार सम्बन्धित देश में उच्च वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति को और बढ़ायेंगे—वैध सौदो के अभाव में यह कार्य होगा ।[21]

लेकिन साधारणतया उच्च वर्ग के लोगो का यह समूह प्रतियोगी टुकडो में

बंटा है। राजनीतिक शासन अक्सर अधिक स्थिर नहीं होता, जिसका प्रमाण कम-विकसित देशो मे सरकारों का तख्ता उलटने की आये दिन की कार्रवाइयां है।

सत्ता पर अधिकार के इन अधिकांश प्रयासों का अभिप्राय उच्च वर्ग के प्रभावशाली समूहों के बीच सत्ता का हस्तान्तरण होता है। लेकिन कुछ कम-विकसित देशों में, और यह बात लेटिन अमरीका पर भी लागू होती है, अधिक व्यापक विरोधी आन्दोलन का समारम्भ हो रहा है। कभी-कभी इस आन्दोलन मे 'मध्यम वर्ग' के लोगों के अलावा सामान्य जन-समुदाय के लोग भी शामिल होते हैं।

ऐसी कोई विदेशी कम्पनी, जिसे बाध्य होकर सत्तारूढ लोगों से सहयोग करना पड़ा हो और जिसे इसका लाभ भी प्राप्त हुआ हो, स्वयं को आसानी से कठिन स्थिति में पा सकती है। इस स्थिति में कम्पनी, और यदि यह कोई अमरीकी कम्पनी है तो अमरीका सरकार दोनों सम्बन्धित कम-विकसित देश के आन्तरिक, राजनीतिक सत्ता के सघर्ष मे आसानी से फँस जाते हैं।

यह एक ऐसी स्थिति है, जो न तो संयुक्त राज्य अमरीका के लिए और न ही विदेश में पूंजी लगाने वाली इसकी किसी कम्पनी के लिए, मोयर के शब्दों मे, 'आरामदेह' हो सकती है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि संसार-भर में अमरीका के प्रत्यक्ष पूंजी विनियोग मे वृद्धि, यह जरूरी नही है कि स्वयं अमरीका के अथवा अन्तर्राष्ट्रीय हित में हो जैसाकि इन विनियोगों को बढ़ाने के प्रचार में सामान्यतया मान लिया जाता है।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका और वस्तुतः सब विकसित देशों का कम-विकसित देशों के साथ यह सामान्य हित है कि उच्च पदो पर आसीन लोगों में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाये और उच्च वर्ग के कुछ समूहों ने सत्ता पर जो एकाधिकार कर लिया है और जो भ्रष्टाचार की उर्वर भूमि बन गया है, उसे समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार इन देशों के राजनीतिक सत्ता के आन्तरिक संघर्षों में फँसने की कठिनाई से भी बचा जा सकता है।

•

अध्याय : 11

# सहायता

## 1. यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम

दूसरे महायुद्ध के बाद से कम-विकसित देशों को सार्वजनिक सहायता देने के क्षेत्र में जो अधिकांशतया होता रहा है उसका एक पूर्व इतिहास है। विकसित देशो में कम-विकसित देशो से अपने सम्बन्धो के प्रति लोगो के मन में जो भ्रान्तियाँ है, उन्हें बेहतर ढग से समझने के लिए इस पूर्व इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक है।[1]

जब दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ तो संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं को ऐतिहासिक दृष्टि से एक विलक्षण स्थिति मे पाया। अपने मित्र राष्ट्रो के विपरीत अमरीका किसी भी सैनिक कार्रवाई के परिणामस्वरूप होने वाली क्षति से अछूता ही नही था, बल्कि युद्ध आरम्भ होने के समय की तुलना मे आर्थिक दृष्टि से कही अधिक बेहतर था। अमरीका ने आर्थिक मन्दी और व्यापक तथा लम्बे अर्से से चली आ रही बेरोजगारी की स्थिति मे युद्ध में प्रवेश किया था। पर युद्ध ने वह कर दिखाया जो अमरीका सरकार का न्यूडील कार्यक्रम करने मे असफल रहा था। युद्ध के परिणामस्वरूप रोजगार में तथा आय और रहन-सहन के स्तरों मे तेजी से वृद्धि हुई।

इस परिस्थिति में संयुक्त राज्य अमरीका ने प्राय: अकेले ही आर्थिक सहायता देने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली जिसकी पुनर्निर्माण और युद्ध से हुई क्षति को पूरा करने के लिए आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इस सहायता का अधिकाश भाग पश्चिम यूरोप के देशो को मिला। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना मे—दक्षिण यूरोप के देशो को छोड़कर—पश्चिम यूरोप को इन देशों को उत्तर अमरीका और आस्ट्रेलिया सहित संसार के उन गिने-चुने देशों मे शामिल करना होगा जो उद्योगो मे उन्नत और आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं। यद्यपि युद्ध के कारण कुछ समय के लिए वे आर्थिक दृष्टि से अपंग हो गये थे।

मार्शल योजना और यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम के अधीन जो सहायता कार्य किया गया उसका यह अभिप्राय था कि एक अमीर देश ने समृद्धि की क्षमता रखने वाले दूसरे देशो को बड़े पैमाने पर सहायता दी। अमरीकियो और अधिकाश यूरोपवासियों को 'सम्पदा में हिस्सा बटाना' बडा स्वाभाविक लग रहा था। लेकिन यह हिस्सा-बटायी केवल अमीरों के बीच ही थी।

यूरोप पर केन्द्रित यही रुझान उस समय अन्य अनेक क्षेत्रों मे देखा जा सकता था। अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर शरणार्थियो को सहायता देने के जो प्रयास किये जा रहे थे, उनका लाभ यूरोप के विस्थापित और इधर-उधर भटक रहे लोगों

को ही मिल रहा था, जबकि, उदाहरण के लिए, भारत और पाकिस्तान को अपने शरणार्थियों की देखभाल स्वयं अपने ही साधनो से यथाशक्ति करनी पड़ी।

इस आरम्भिक दौर मे संयुक्त राज्य अमरीका ने पश्चिम यूरोप के लोगो के प्रति जो उदारता दिखायी वह प्रायः असीम थी। अमरीका सरकार ने अपनी शक्ति के उपयोग मे अधिकतम संयम प्रदर्शित किया। इसने यूरोप की सरकारों को सलाह दी कि वे अपने-आप निर्णय लें और वे स्वयं जिस निर्माण नीति पर सहमत होंगे, अमरीका उसके लिए वित्तीय और अन्य सहायता देगा।

व्यापार के क्षेत्र मे संयुक्त राज्य अमरीका ने पश्चिम यूरोप के देशो को इस बात की छूट दी कि वे उसके निर्यात के विरुद्ध खुलकर भेदभाव बरत सकें। वास्तव मे अमरीका ने उन्हें स्वयं अपने विरुद्ध भेदभावपूर्ण नीतियाँ निर्धारित करने मे सहायता दी और यदा-कदा अपने व्यापारिक हितों के जबरदस्त दवाव का भी मुकाबला किया। कम-से-कम एक बार अमरीका सरकार ने अमरीका की एकाधिकारी तेल कम्पनियो के विरुद्ध हस्तक्षेप किया और एक ऐसी मूल्य नीति निर्धारित करने का निषेध किया जिससे पश्चिम यूरोप को हानि पहुँच सकती थी। जब आगे चलकर कम-विकसित देशों ने विदेश व्यापार में विशेष रियायतें देने की बात उठायी तो संयुक्त राज्य अमरीका ने —और अधिकाश विकसित देशो ने भी—जो रवैया अपनाया वह उक्त रवैये से प्रायः बिल्कुल विपरीत था।

पश्चिम यूरोप को मुख्यतया वित्तीय सहायता मिली थी। सैनिक सहायता को छोडकर अन्ततः सहायता की यह राशि 30 अरब डालर बैठी —उस समय डालर का वास्तविक मूल्य उससे बहुत ऊँचा था जो आगे चलकर मुद्रास्फीति के कारण रह गया था। उक्त राशि मे से दो-तिहाई शुद्ध अनुदान के रूप में प्राप्त हुआ था।

उस समय मैं यह अनुभव कर रहा था कि यह पूरी सहायता ऋणो के रूप मे दी जानी चाहिए थी। पश्चिम यूरोप के देशों की आर्थिक स्थिति सुधर जाने के बाद इन ऋणो को चुकाया जा सकता था। मेरा कभी भी यह विश्वास नही रहा—और आज भी नही है—कि एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को उपहार के रूप मे सहायता देना आवश्यक, स्वाभाविक अथवा यहाँ तक कि बुद्धिमत्तापूर्ण नीति हो सकती है—यह केवल तभी हो सकता है जब सहायता प्राप्त करने वाला कोई कम-विकसित देश हो, जिसे गहराई से पैठी हुई संरचनागत खामियों को दूर करना हो।

आगे चलकर जो कुछ हुआ उस पर विचार करते समय मेरी तत्कालीन राय की पुष्टि हो जाती है। आज और पिछले दशक में समस्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय की स्थिति कही अधिक अच्छी होती यदि अमरीका पश्चिम यूरोप की सरकारों से धीरे-धीरे और उचित मुआवजे सहित ऋणों के भुगतान की माँग करता। मार्शल योजना के युग में अमरीका के कार्यो से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि उसने पश्चिम यूरोप के प्रति जो चिन्ता का भाव दिखाया उसमे तर्क-सम्मत उदारता का भाव होना चाहिए था।

इसके विपरीत अनुदानो, और बहुत लम्बी अवधि के ऋणों, ने पश्चिम यूरोप के देशों को अपनी स्थिति में सुधार हो जाने पर सोने और मुद्रा के आवश्यकता से अधिक बड़े सुरक्षित कोष बनाने में मदद दी। इससे संयुक्त राज्य अमरीका

तक की विदेशी मुद्रा के भुगतान की स्थिति को खतरा उत्पन्न हुआ। हम सब यह जानते हैं कि दगाल के शासन काल में फ्रांस—जो बड़े-बड़े अनुदान प्राप्त करने वाले देशों में से था—कुछ समय के लिए ऐसे दबाव डाल सका जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका को प्राय: डराने-धमकाने की कार्रवाई कहा जा सकता है।

लेकिन उस आरम्भिक युग में अमरीका उपहार देना चाहता था। मैं स्वयं इस बात का साक्षी हूँ कि इस प्रकार अमरीकी अफसरों ने बड़ी कृपापूर्वक पर असफल रहकर अपने स्वीडन के सहयोगियों को अनुदान लेने के लिए कहा—स्वीडन को न तो इन अनुदानों की आवश्यकता थी और न ही वह लेना चाहता था। स्वीडन को 'समानता' और 'सहयोग' के हित में ये अनुदान लेने को कहा जा रहा था।

संयुक्त राज्य अमरीका खुले अनुदानों, ऐसे ऋणों को जिनकी अदायगी सहमति प्राप्त शर्तों पर जरूरी नहीं थी, और सीधे ऋणों को एक साथ 'सहायता' के नाम से पुकारने पर जोर देता था। मार्शल योजना के युग में जब सबसे पहले यह तरीका शुरू हुआ तो मैंने इसे अमरीकियों की आवश्यकता से अधिक उदारता के रूप में देखा। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त के क्षेत्र में अमरीका की अस्थिर पृष्ठभूमि और दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में जर्मनी और लेटिन अमरीका को दिये गये विशाल ऋणों के उसके खेदजनक अनुभवों के कारण यह और अधिक सम्भव हुआ था।

पर उस समय मैंने यह देखा कि मुश्किल से ही कोई यूरोपीय अर्थशास्त्री अथवा राजनीतिज्ञ मेरे समालोचनात्मक विचारों से सहमत था अथवा इस समस्या पर विचार करने को तैयार था। वे सब बड़े-बड़े अनुदानों से खुश थे और ऋणों को सहायता बताये जाने की बात को स्वीकार करने को तत्पर थे, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप यह अस्पष्ट अनिश्चितता उत्पन्न होती थी कि क्या इन ऋणों को चुकाया जाना चाहिए और यदि हाँ तो कैसे। इस प्रकार भ्रान्तिपूर्ण विचार का वह क्रम स्थापित हो गया जो आज भी बना हुआ है। उस समय शब्दावली सम्बन्धी जो गड़बड़ पैदा हुई थी, जिसे मैं बुनियादी तौर पर समृद्ध और विकसित देशों के प्रति अमरीका की आवश्यकता से अधिक उदारता का परिणाम समझता था, अब गरीब और कम-विकसित देशों के प्रति कृपणता दिखाने का माध्यम बन गयी है। आज हर प्रकार की पूँजी के आगमन को, निजी और सार्वजनिक पूँजी के आगमन को, 'सहायता' नाम दिया जाता है। इतिहास अक्सर कितना विरोधाभासपूर्ण होता है।

मैं सबसे पहले मार्शल योजना के युग में संयुक्त राज्य अमरीका में व्याप्त विचारों और भावनाओं का कुछ अधिक गहराई से विवेचन करना चाहूँगा।

अमरीका सरकार ने 1947 की गर्मियों से ही मार्शल योजना को साम्यवाद के विरोध के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। आरम्भ से ही मुझे अमरीका के अधिकारियों ने अक्सर यह बताया कि यह दृष्टिकोण आंशिक रूप से एक रणनीति के रूप में अपनाया जा रहा है: अमरीकी संसद में आसानी से और व्यापक रूप से इसे स्वीकृति दिलाने और अमरीकी जनता का अधिक व्यापक समर्थन प्राप्त करने के लिए यह तरीका अपनाया गया है।

जब शीतयुद्ध तेज हुआ जिसे स्तालिन के साथ विचित्र 'सहयोग' से सक्रिय,

बढ़ावा मिला,[2] और विशेषकर 1949 में चीन में कम्युनिस्टों की विजय और अमरीका में मैकार्थीवाद के उदय से इस विशेष कारण से पश्चिम यूरोप के देशों को सहायता देने की बात अधिक महत्त्वपूर्ण बन गयी। लेकिन उस समय तक इस योजना का समारम्भ हो चुका था और इसे जारी-भर रखना शेष था।

मोटे तौर पर साम्यवाद विरोधी अपील की भूमिका को यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम से अलग ही रखा गया, पर कम्युनिस्ट विरोध का उपयोग यूरोप के देशों की सरकारों तथा अन्य गैर-कम्युनिस्ट सरकारों को कम्युनिस्ट देशों को होने वाले निर्यात के प्रति अमरीका में जारी भेदभावपूर्ण निर्यात लाइसेंस नीति से सम्बद्ध करने के लिए किया गया (यह काम अमरीकी संसद की ओर से कुछ शर्तें लगाकर किया गया)।[3]

पर यह मेरी सुविचारित राय है कि आरम्भ मे अमरीका के लोगों को—किसानों और मजदूरों, शिक्षकों और पादरियों, वकीलों और व्यापारियों को—और संसद मे उनके प्रतिनिधियों को मार्शल योजना को अपना समर्थन देने की प्रमुख प्रेरणा संकट मे फँसे राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति और एकता की कहीं अधिक सकारात्मक भावना से प्राप्त हुई थी। इतना ही नही, वे इन संकटग्रस्त राष्ट्रों से स्वयं को सांस्कृतिक और रक्त सम्बन्धों से जुड़ा अनुभव करते थे। यह प्रेरणा यूरोप के निवासियों को साम्यवाद से बचाने और शीतयुद्ध में उन्हें अपना साथी बनाये रखने की नकारात्मक प्रेरणा से कही अधिक महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि कम्युनिस्ट विरोध के आकर्षण ने उनकी भावनाओं को निस्सन्देह और बढ़ावा दिया और जैसे-जैसे शीतयुद्ध तेज होता गया, इन भावनाओं मे प्रखरता आती गयी।

मार्शल योजना के सम्बन्ध मे अमरीकियों को प्रेरित करने की एक विलक्षणता यह रही कि आरम्भ से ही जिन व्यक्तियों ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये उन्होने स्वयं को और दूसरों को इस बात से आश्वस्त करने की कोशिश की, कि वे "संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हित मे" काम कर रहे है। मुझे यह अमरीकियों द्वारा स्वयं अपने उदारतापूर्ण उद्देश्यों के प्रति विचित्र और बुनियादी तौर पर अवांछित सन्देह का एक और उदाहरण लगा जिसका एक बार मैंने उनकी कट्टरपन्थी परम्परा के कुछ विकृत तत्त्व के रूप में विश्लेषण किया था।

भविष्य में संयुक्त राज्य अमरीका के कम-विकसित देशों से सम्बन्धों के बारे मे जो होना था उसकी दृष्टि से अपने देशो मे यूरोप निवासियों का अमरीका के उक्त विचार-विमर्श पर एक खास प्रतिक्रिया दिखाना महत्त्वपूर्ण था। अमरीकियों की यह स्वीकारोक्ति कि वे अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर काम कर रहे हैं, यूरोप में अक्सर अत्यन्त तत्परता से इस बात का आधार बनायी गयी कि ऋणों आदि का भुगतान करने की, इसके प्रति कृतज्ञता तक प्रकट करने की कोई जरूरत नही है।

यूरोप के जिन देशो को बड़े पैमाने पर सहायता मिली थी उनमें यह प्रतिक्रिया विशेष रूप से हुई। उस समय यूरोप में स्विट्ज़रलैण्ड और स्वीडन ही एकमात्र ऐसे देश थे जिनमे लेशमात्र को भी अमरीका विरोध नही था। और यही ऐसे देश थे जिन्हे अमरीका से कोई अनुदान प्राप्त नहीं हुआ था। मुझे

स्मरण है कि यूरोपियनो की एक सामाजिक पार्टी में ब्रिटेन की मजदूर दल की सरकार का एक सदस्य यह समझ रहा था कि संयुक्त राज्य अमरीका को स्वदेश में मन्दी रोकने के लिए फिलहाल और निकट भविष्य में निर्यात होने वाले अपने माल का एक बडा हिस्सा अनुदान के रूप मे दे डालने की जरूरत रहेगी। अमरीकियो को इस बात से प्रसन्न होना चाहिए कि पश्चिम यूरोप उनके अतिरिक्त उत्पादन के लिए एक सुगम कूडेदान के रूप में उपलब्ध है।

पश्चिम यूरोप की सब सरकारें अनिच्छा से संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा कम्युनिस्ट देशों की नाकेबन्दी की नीति पर अपनी सहमति देती रही, यद्यपि इन सरकारो ने ऐसे अनेक प्रकट और गुप्त कार्य किये जिन्हे अमरीका के दृष्टिकोण से भीतरघात कहा जा सकता था। इन कार्यों से अमरीकी संसद के सदस्य अत्यन्त क्रोधित हो उठते थे, यद्यपि अमरीकी प्रशासन के सामने खीस निपोरने, और बरदाश्त करने के अलावा और कोई चारा नही था।

जब 1950 के मध्य में मार्शल योजना के अन्तर्गत धन मिलना बन्द हुआ तो पश्चिम यूरोप की सरकारों ने तुरन्त एक साथ मिलकर अमरीका द्वारा प्रेरित कम्युनिस्ट देशों को निर्यात न करने की नीति को समाप्त कर डाला। वैसे उन्हे इस नीति में कभी विश्वास नही था।[4] इसके बाद केवल संयुक्त राज्य अमरीका ही कम्युनिस्ट देशों से सामान्य व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने से दूर रहा। यह बात यूरोप के व्यापारिक हितो के विपरीत नही थी, जैसा कि यदा-कदा संयुक्त राज्य अमरीका मे कहा भी गया।

**2. कम-विकसित देशों को सहायता**

मुझे इस बात मे ज़रा भी सन्देह नही है कि अमरीका को मार्शल योजना के युग मे यूरोप मे जो अनुभव प्राप्त हुआ उसका अनेक दृष्टियो से अमरीका की कम-विकसित देशों के प्रति नीति पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा।

सबसे पहले तो यह हुआ कि विशाल मार्शल योजना के कारण, जो लगभग 1950वें दशक के मध्य तक चलती रही, अमरीकी साधनो को अन्य अनेक कार्यों पर नही लगाया जा सका। जैसे हाल के वर्षों में वियतनाम युद्ध अथवा आदमी को चांद पर उतारने के प्रयास में स्वदेश में निर्धनता विरोधी कार्यक्रम के लिए साधन नही छोड़े।

मेरा इससे क्या अभिप्राय है यह समझाने के लिए मैं एक वचारिक प्रयोग प्रस्तुत करना चाहूंगा। कल्पना कीजिए कि यूरोप में पुनर्निर्माण की कोई आवश्यकता न होती, लेकिन अन्य सब कुछ जैसे का तैसा होता।

मुझे इस बात का प्रायः पूरा विश्वास है कि जैसे-जैसे उपनिवेश स्वतन्त्र होते जा रहे थे—जिसके प्रति गहन सैद्धान्तिक स्तर पर अमरीका मे बड़ी सहानुभूति थी—और जैसे-जैसे नवोदित और अन्य कम-विकसित देशों के समक्ष मौजूद कठिनाइयों का ज्ञान होता, तो युद्ध की समाप्ति के बाद संसार के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करने वाले संयुक्त राज्य अमरीका से इसमे कहीं पहले और अधिक व्यापक सहायता प्राप्त होती, क्योंकि उस समय तक अमरीकियों की भावना मे वह कठोरता नही आयी थी जो आगे चलकर उत्पन्न हुई, जिसका आंशिक कारण मार्शल योजना के युग मे पश्चिमी यूरोप में प्राप्त अनुभव प्रभाव था।

मैं, वस्तुतः बहुत अच्छी तरह से यह कल्पना कर पाता हूँ कि संयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित ससार के लिए मार्शल योजना जैसा कोई कार्यक्रम अवश्य चलाता, और यदि उस विशाल पैमाने पर कोई कार्यक्रम शुरू न हो पाता तो भी पर्याप्त बड़े पैमाने पर सहायता देने की बात को जनता और ससद से सफलतापूर्वक स्वीकार कराया जा सकता था।

मैं इस सन्दर्भ में कम-विकसित देशो को मिलने वाली सार्वजनिक सहायता का इतिहास देने का प्रयास नही करूँगा।[5] सार्वजनिक सहायता बहुत धीरे-धीरे शुरू हुई और अनेक वर्षों तक इसका आकार बहुत छोटा रहा—इसका एकमात्र आंशिक अपवाद अपने भूतपूर्व उपनिवेश को अमरीका द्वारा दी जाने वाली सहायता है।

और उस आरम्भिक युग में कम-विकसित देशो को जो सहायता दी गयी, यूरोप को दी गयी सहायता के विपरीत उसका लक्ष्य आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास नही था। इसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक और सैनिक संकटपूर्ण स्थितियो का सामना करना और नागरिक खपत के अत्यधिक नीचे स्तर को राहत पहुँचाना था।

जब 1950 के लगभग सयुक्त राज्य अमरीका का विदेश-सहायता का बजट अचानक अधिक तेजी से बढ़ने लगा तो इसकी प्रमुख प्रेरणा कम-विकसित देशों की विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने की इच्छा नही थी बल्कि शीतयुद्ध को और उग्र बनाने की इच्छा थी। यह कम-विकसित संसार के उस हिस्से में विशेष रूप से हुआ जिसका मैंने अध्ययन बहुत गहराई से किया है। कम-विकसित संसार का यह विशाल भाग दक्षिण एशिया है। एक कम-विकसित देश का राजनीतिक गठबन्धन और कुछ मामलों में पहले से मौजूद ऐसी तटस्थता जो अमित्रतापूर्ण न हो, संयुक्त राज्य अमरीका की राजनीतिक दिलचस्पी का विषय बन गया। इस क्षेत्र के देशों को जो अनुदान और ऋण प्राप्त हुए उसकी अस्सी प्रतिशत अमरीका से मिला। इसके परिणामस्वरूप अमरीका की प्रभावशाली स्थिति रही।

सहायता का राजनीतिक उद्देश्य इस क्षेत्र के देशों में इसके वितरण से स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। पाकिस्तान को, सैनिक सहायता के अलावा, प्रति व्यक्ति के हिसाब से भारत की तुलना मे दुगनी सहायता मिली। पाकिस्तान को यह सहायता संयुक्त राज्य अमरीका से उसके राजनीतिक और सैनिक गठबन्धन के मुआवजे के रूप में मिली। यद्यपि हाल के वर्षों में यह गठबन्धन अधिक भरोसे योग्य सिद्ध नही हुआ।

सन् 1954-58 के बीच लाओस और दक्षिण वियतनाम को संयुक्त राज्य अमरीका से अनुदानों और ऋणों के रूप में जो राशि प्राप्त हुई वह भारत और पाकिस्तान को प्राप्त राशि के प्रायः बराबर थी। इसी अवधि में, दक्षिण कोरिया को भारत, पाकिस्तान, फिलिपाइन, बर्मा और श्रीलंका को कुल मिलाकर प्राप्त सहायता से अधिक सहायता मिली (जिसे आर्थिक सहायता बताया गया)। केवल भारत की आबादी ही उक्त तीनों, लेकिन सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, देशों की कुल आबादी से दस गुना बड़ी है।

जिस समय मार्शल योजना को कम्युनिस्ट विरोधी नीति के रूप मे प्रस्तुत

किया गया, उस समय मैंने यह तर्क प्रस्तुत किया और समझाया कि "संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों को ध्यान मे रखते हुए" यह कम-से-कम आरम्भ मे अधिकांशतया भ्रान्ति पर आधारित और अवांछित आत्मवंचना थी। इस प्रेरणा का स्वयं मार्शल योजना पर कोई गम्भीर प्रभाव नही पडा (केवल वाद में जोडी गयी कम महत्त्वपूर्ण निर्यात लाइसेंस नीति को छोड़कर)।

लेकिन आगे चलकर, अत्यन्त उग्र हुए शीत युद्ध के प्रभाव के अन्तर्गत और कोरिया के युद्ध के वाद, कम-विकसित देशो के लिए संचालित सहायता कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया, ताकि वह संयुक्त राज्य अमरीका के वास्तविक राजनीतिक हित मे हो और अमरीका के सामरिक और सैनिक हित मे भी। उस समय अमरीका सरकार और अमरीका की जनता अधिकांशतया इसी रूप में अपने हितो की कल्पना कर रही थी।

जो पहले अवांछित आत्मवंचना थी, वह अब अत्यन्त वांछित और अवसर का लाभ उठाने वाली बन गयी, जिसके परिणामस्वरूप विचारधारा मे वह दोहरापन आया जो आज भी उस सार्वजनिक विचार मे बेईमानी और वंचना के रूप मे प्रकट होता है, जिसका उल्लेख पिछले अध्याय के अन्त में किया गया है।

यह कहना असम्भव है कि विकास के दृष्टिकोण से उस समय कितनी अधिक 'सहायता' गलत रूप मे दी गयी, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि प्रतिक्रियावादी शासनो को जो सहायता दी गयी, वह बरबाद गयी अथवा इस सहायता के परिणामस्वरूप आवश्यक सुधारो के मार्ग में बाधा पडी। यह विचार मुझे वाद मे नही आया, वल्कि मैंने उसी समय इसकी पूर्व-कल्पना कर ली थी, जब सबसे पहले सामरिक हितों को ध्यान में रखते हुए सहायता नीति को निर्धारित किया गया था। और केवल इन पंक्तियों के लेखक ने ही नही बल्कि कुछ अन्य ने भी यह कल्पना की थी।[6]

सन् 1954 मे जब मैंने इस नये राजनीतिक 'यथार्थवाद' की अपनी आलोचना के समर्थन मे कुछ अन्य लोगों के उद्धरण दिये थे, उनमें राजनय के एक बुद्धिमान यूरोपियन इतिहासकार ए० जे० पी० टेलर भी थे, जिन्होंने स्पष्टीकरण देते हुए कहा था कि "जब एक राज्य पूरी तरह से दूसरे राज्य पर निर्भर हो जाता है तो पहला राज्य ही दूसरे राज्य को अपनी अंगुलियों पर नचा सकता है। यदि उसे वांछित सहायता प्राप्त न हो तो वह यह धमकी दे सकता है कि अब भविष्य में वह अपने विरोधियो के सामने नही टिक सकेगा और संरक्षक राज्य को उसकी बात मानने के अलावा अन्य कोई चारा नही रह जाता, क्योंकि उसके पास कोई जवाबी धमकी नही होती।"[7] अमरीका सरकार ने दक्षिण वियतनाम की एक के बाद एक कठपुतली सरकार से अपने सम्बन्धों मे यही अनुभव किया और उसे इसके लिए बहुत भारी वित्तीय और नैतिक कीमत चुकानी पड़ी।[8]

यूजीन स्टेली ने संयुक्त राज्य अमरीका की कम-विकसित देशों सम्बन्धी नीति के बारे में लिखी गयी पुस्तक में एक पूरी तरह व्यक्त दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे यह बताया है कि इन देशों को किस प्रकार साम्यवाद से बचाया जा सकता है और इन्हें शीत युद्ध मे किस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका का राजनीतिक साथी बनाया जा सकता है। स्टेली ने सामरिक दृष्टिकोण से निर्धारित ऐसी सहायता नीति

के समक्ष मौजूद व्यावहारिक दुविधाओं का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है :

"यदि हम एक ऐसी सरकार को जो प्रगतिशील और लोकतन्त्रीय दिशाओं में आगे बढने की कोशिश कर रही हो, वांछित समय पर सहायता नही देते, तो इस बात की सम्भावना रहती है कि आगे चलकर हमें बाध्य होकर एक ऐसी सरकार को अपना समर्थन देना पडे जो हमारे मानकों से बुरी है और हमें यह सहायता इस एकमात्र कारण से देनी होगी कि कम्युनिस्ट शासन की स्थापना का यही एकमात्र विकल्प रह जाता है···जब हम किसी देश में कम्युनिस्टों द्वारा सत्ता पर अधिकार करने को रोकने के लिए किसी भ्रष्ट अथवा अलोकप्रिय अथवा विदेशियों के प्रभाव के अधीन काम करने वाली सरकार को अपना समर्थन देते हैं, तो हम स्वय अपनी विश्व स्थिति को अत्यधिक राजनीतिक क्षति पहुँचाते हैं, उस स्थिति मे यह भी हो सकता है कि सहायता की अधिकांश राशि सैनिक उपायों पर खर्च हो, जिसके बुरे राजनीतिक परिणाम निकलें, जबकि समय रहते आर्थिक सहायता दिये जाने पर बेहतर परिणाम निकल सकते थे···हमें यह सीखने मे कितना समय लगेगा कि जब किसी कम-विकसित देश में प्रगतिशील और सुधार लागू करने की इच्छा रखने वाली सरकार सत्तारूढ़ होती है, तो हमें इसे अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का मुकाबला करने के लिए हर सम्भव सहायता देनी चाहिए ?"[9]

और एडली ई० स्टीवेनसन ने चेतावनी देते हुए कहा :

"केवल कम्युनिस्ट विरोध और सैनिक प्रभाव पर आधारित कोई भी नीति बीसवी शताब्दी के इस महान आन्दोलन की भावना के अनुरूप नहीं है और इससे आप बहुत कम लोगों का हृदय जीत सकेंगे। हमारे समक्ष यह चुनौती मौजूद है कि हम अपने-आपको सामाजिक और मानवीय क्रान्ति का समर्थक सिद्ध कर, आधी मानवता की बेहतर जीवन की महत्त्वाकांक्षा को प्रोत्साहित करें, उसके लिए सहायता और प्रेरणा दें, इन महत्त्वाकांक्षाओं को उन रास्तों से आगे बढायें जो स्वतन्त्रता प्राप्ति मे सहायक बनते हैं। इसमें असफल होने का अर्थ होगा विनाश।"[10]

आरम्भ से ही संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश सहायता नीति मे उस व्यापक तथा और अधिक मानवीय नीति के तत्त्व थे, तथा मेरी राय में अधिक तर्कसम्मत संकल्पना भी थी, जिसके पक्ष मे उदारतावादी अमरीकियों ने इस पूरी अवधि में तर्क प्रस्तुत किये। और सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि जैसे 1950 से आरम्भ दशक समाप्त हुआ और अगला दशक शुरू हुआ, इन तत्त्वों का अपेक्षाकृत महत्त्व धीरे-धीरे बढने लगा—यद्यपि संकीर्ण राजनीतिक, सैनिक और सामरिक उद्देश्यों की ओर निरन्तर बुनियादी रूप से ध्यान दिया जाता रहा।

लेकिन इसके बाद वियतनाम के युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका निरन्तर और गहराई से फँसता गया। यह कार्य योजनाबद्ध तरीके से नही, बल्कि एक अन्ध नियति के रूप में निरन्तर आगे बढ़ता गया,[11] और धीरे-धीरे पूरी परिस्थिति को बदल डालने का आधार बना। लड़ाई के अगले दौर में विदेश सहायता कार्यक्रम, संयुक्त राज अमरीका के अन्य अनेक अच्छे कार्यों की तरह, अमरीकी जनता की गहरी निराशा का शिकार बना, यद्यपि सातवें दशक के अन्त मे विदेश सहायता कार्यक्रम में गिरावट कही अधिक जटिल प्रक्रिया के कारण आयी।

सन् 1950 से कम-विकसित देशो के लिए जो सहायता कार्यक्रम अमरीका के शीत युद्ध सम्बन्धी राजनीतिक और सामरिक हितो के अनुरूप निर्धारित किये गये, उनके अनेक महत्त्वपूर्ण और व्यापक परिणाम निकले, जिन पर सक्षेप मे विचार किया जाना चाहिए।

एक बात तो यह स्पष्ट हुई कि सयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशो को बहुद्देशीय आधार पर संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की व्यवस्था के अनुसार सहायता और सहयोग देने के लिए अनिच्छुक था, यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की ये व्यवस्थाएँ फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के मार्गदर्शन मे तैयार हुई थी। राजनीतिक और सामरिक सहायता देने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका को एक ऐसी राष्ट्रीय विदेश नीति स्वीकार करनी पडी, जिसका आधार एकतरफा आर्थिक और सैनिक सहायता था। अन्य विकसित देशो ने, विशेषकर वड़े देशो ने, स्वयं वडे पैमाने पर सहायता देना शुरू करने पर अमरीका की इस नीति से प्रेरणा प्राप्त की और उन्होने भी एक संकीर्ण राष्ट्रीय नीति का अनुसरण करना शुरू किया, यद्यपि यह वैसी और उस सीमा तक सैनिक और सामरिक सहायता नही थी।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि संयुक्त राज्य अमरीका में धीरे-धीरे हृदय की कठोरता बढती गयी। एक बार राजनीतिक, सैनिक और सामरिक आधार पर सहायता नीति के दृढता से स्थापित हो जाने के बाद अमरीका मे शुद्ध अनुदान देने के प्रति कोई उत्साह नहीं रह गया जैसाकि यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम शुरू करने के समय था, अन्यथा अनुदान कही बेहतर उद्देश्यों और प्रेरणा से दिये जाते। स्पष्ट है कि पश्चिम यूरोप के बुनियादी तौर पर समृद्ध और विकसित देशो की तुलना मे गरीब और कम-विकसित देशो को शुद्ध अनुदान देना कही अधिक युक्तिसंगत था।

स्थिति चाहे कुछ भी क्यो नही रही हो पर यह स्पष्ट है कि युद्ध के बाद के आरम्भिक वर्षों मे जब वहुत छोटे पैमाने पर कम-विकसित देशो को सहायता दी जा रही थी—और 1950 से आरम्भ दशक के पहले वर्षों मे भी जब सहायता की राशि मे वृद्धि होना शुरू हुआ था—तो यह शत-प्रतिशत अनुदान के रूप मे ही होती थी। पर सातवें दशक के आरम्भ में, अनुदान की राशि घटकर 50 प्रतिशत रह गयी। और सहायता तथा ऋण दोनो के साथ अधिकाधिक मात्रा मे यह शर्त लगायी जाने लगी कि इन राशियो से केवल संयुक्त राज्य अमरीका से ही माल खरीदा जा सकता है।

इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका ने एक ऐसा क्रम शुरू किया जिसका अनुसरण अन्य विकसित देशो ने भी अधिकांशतया किया। बड़े पैमाने पर सहायता देना शुरू करने पर अन्य वड़े विकसित देशों ने भी इसी प्रकार की शर्तें लगानी शुरू कीं।

मैंने कम-विकसित देशों को अपना विकास करने में सहायता देने के कार्यक्रम
ो संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रीय हित मे संचालित राजनीतिक और सामरिक

सहायता नीति के रूप में प्रदर्शित और संचालित करने में निहित बौद्धिक दुरंगी चाल का उल्लेख किया है। इस नीति को इस प्रकार प्रस्तुत करने का एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि जब यह नीति जबरदस्त रूप से असफल रही, और यह अक्सर हुआ, तो इसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों को सहायता देने के बारे में व्यापक रूप से मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हुई।

शीत युद्ध के युग में अमरीकी सहायता नीति का इतिहास व्यापक भ्रष्टाचार और अन्य अनियमितताओं के प्रवादों से भरा पड़ा है। इन मामलों के बारे में समाचारपत्रों में बहुत कुछ लिखा गया और इनकी छानबीन के लिए संसद की समितियाँ भी नियुक्त हुईं। इन सब बातों का अमरीकी जनता और संसद पर अक्सर यह प्रभाव पड़ा कि सहायता की राशि पूरी तरह से बरबाद हो जाती है। इतना ही नहीं, अक्सर असावधानी से इस भावना को कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता से जोड़ दिया जाता।

एक गहन मनोवैज्ञानिक और सैद्धान्तिक स्तर पर वस्तुतः इसकी पूर्व-कल्पना की गयी थी कि इस प्रकार की एकतरफा सहायता से जनता की नैतिक महत्त्वाकांक्षाओं को, विशेषकर अमरीका में पूरा नहीं किया जा सकेगा।

"·· स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका में यह कठोर नीति, जो उस राष्ट्र की मान्य मानवतावादी परम्पराओं से निश्चय ही मेल नहीं खाती, किसी भी रूप में प्रेरणा का विषय नहीं बन सकती। मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात में सन्देह करता हूँ कि क्या सामरिक आधार पर निर्धारित कोई भी व्यापक और चिरस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सहायता नीति संयुक्त राज्य अमरीका में कभी भी स्वीकार हो सकेगी। कुछ सीमा तक—और वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओं और आर्थिक विकास की दृष्टि से वास्तविक प्रभावों को ध्यान में रखते हुए—इस नीति को आजमाया जा चुका है और विदेशों में जो परिणाम निकले हैं, वे बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। स्वदेश में एकतरफा, सामरिक दृष्टिकोण से निर्धारित सहायता नीति लम्बी अवधि में प्रायः निश्चयपूर्वक सहायता प्राप्त करने वालों की कृतघ्नता के कारण निराशा, वितृष्णा और कटुता को जन्म देगी; अन्त में इसका यह परिणाम निकल सकता है कि अमरीका से मिलने वाली सहायता की राशि में कमी हो जाय।[12]

"······वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर एकतरफा सहायता का संयुक्त राज्य अमरीका और सहायता प्राप्त करने वाले कम-विकसित देशों में अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ेगा : स्वदेश में इसे केवल शीत युद्ध के एक राजनीतिक उपाय के रूप में ही प्रदर्शित किया जा सकेगा। यह बात सहायता के वितरण, निर्देशन और उपयोग के क्षेत्र में नैतिक और आर्थिक मानकों को गिरा देती है, सहायता प्राप्त करने वाले देशों में आक्रोश और राजनीतिक फूट को जन्म देती है, और अन्त में संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता की राशि में बहुत अधिक कमी करने के लिए उचित कारण प्रस्तुत करेगी।"[13]

मेरी इस भविष्यवाणी के बाद पन्द्रह वर्ष का जो समय बीता है, दुर्भाग्यवश उसमें भी मेरी यह बात गलत सिद्ध नहीं हुई है।

सन् 1961 में अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के प्रस्ताव पर संयुक्त-राष्ट्र महासभा ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा 1960 से आरम्भ दशक को विकास

दशक का नाम दिया। यह कार्य इस प्रकट और अप्रकट वायदे के आधार पर किया गया कि विकसित देशो से कम-विकसित देशो को पर्याप्त मात्रा मे वित्तीय सहायता मिलेगी। पर यह दशक अमरीका के सहायता बजट में सहायता की राशि मे वृद्धि रुकने और जल्दी ही राशि मे कमी होने वाले दशक के रूप मे सामने आया।

विदेशी सहायता की राशि में कमी होने की प्रवृत्ति के वास्तविक प्रभाव का मूल्याकन करने के लिए हमें अनेक बातों को ध्यान मे रखना होगा जो सब कम-विकसित देशों की सहायता के लिए निर्धारित डालरो के वास्तविक मूल्य में कमी की ओर भी संकेत करते है। एक बात तो यह थी कि दामों में वृद्धि हो रही थी और संयुक्त राज्य अमरीका भी इसका अपवाद नही था।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जब अन्य दृष्टियों से, उदाहरण के लिए कुल राष्ट्रीय उत्पादन और वेतनो के सन्दर्भ मे, यह सदा आवश्यक समझा जाता है कि अंकित मूल्यों को वास्तविक मूल्यों मे बदलना आवश्यक है, पर कम-विकसित देशो को दी जाने वाली सहायता को मापने के लिए कभी यह आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती—यह एक ऐसा पूर्वाग्रह है जो अवसरवादी प्रवृत्तियो के सामान्यतया अनुरूप है, जिसके इस पुस्तक मे अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

अनुदानों के स्थान पर ऋणों के रूप मे सहायता देने की प्रवृत्ति 1955 के बाद के वर्षों में बहुत स्पष्ट हो गयी थी और अब इसमें और अधिक वृद्धि हुई। ब्याज की दर को नीचा और ऋण परिशोधन की अवधि को लम्बा रखने के प्रयास हाल के वर्षो मे उलट दिये गये है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः समस्त सहायता, चाहे यह अनुदानों के रूप मे हो या ऋणो के, संयुक्त राज्य अमरीका से निर्यात से बाँध दी गयी है।

यह संरक्षणात्मक तरीका—जो जहाजरानी और निजी निवेशो पर भी लागू होता है, विशेषकर उस स्थिति में जब निर्यात-आयात बैंक जैसी सार्वजनिक संस्थाओ का मामला हो, उस स्वयंसिद्ध सिद्धान्त के एकदम विपरीत हो जाता है, जो पुराने निजी पूंजी बाजार के समय चालू था। इस बाजार से ही आवश्यक धन प्राप्त होता था और यह अधिकांशतया प्रतिभूति (पोर्टफोलियो) ऋणों के रूप मे प्राप्त होता था। यह बात उन कारणो में से है जिनकी वजह से इस पुस्तक का लेखक आज भी उस युग का बड़ी व्यग्रता से स्मरण करता है, जब अन्तर्राष्ट्रीय वित्त की व्यवस्था निजी ऋण संस्थाएँ करती थी।[14]

सहायता को निर्यात से सम्बद्ध कर देने का यह अर्थ होता है कि सहायता प्राप्त करने वाले कम-विकसित देश की यह स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है कि वह सर्वाधिक उपयोगी वस्तु, सर्वाधिक उचित दाम पर जहां से चाहे खरीद सके। इस सम्बन्ध में ये अनुमान लगाये गये हैं कि सहायता की राशि को किसी विशेष देश के निर्यात से सम्बद्ध कर देने पर दाम 25 से 40 प्रतिशत तक अधिक देने पड़ते हैं।

विनम्र शब्दावली में कम-विकसित देशों की ओर से कुछ आलोचकों ने यह कहा है कि इस नीति के द्वारा स्वयं कम-विकसित देशो से अमरीका की अर्थ-व्यवस्था को सहायता प्राप्त होती है। अमरीकी राज्यों के सगठन के गालो प्लाज़ा ने इन शब्दो में इस बात का स्पष्टीकरण दिया है :

"संयुक्त राज्य अमरीका के सहायता कार्यक्रम के ऊपर शब्दावली का एक

बादल मँडरा रहा है और इसके परिणामस्वरूप इन कार्यक्रमों की वास्तविकता को समझ पाना कठिन हो जाता है। 'प्रगति के लिए सन्धि' नामक कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकांश अमरीकी सहायता उपहार नहीं है, बल्कि यह ऋणों के रूप मे दी गयी है और इन ऋणों को चुकाया जा रहा है ··· तस्वीर के दूसरे पहलू को देखना असंगत नहीं होगा और यह जरूरी है कि जिस वस्तु को हम सहायता कहते हैं, उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका को क्या लाभ प्राप्त होते हैं उन पर विचार किया जाय···प्रायः ऋणों की पूरी राशि को संयुक्त राज्य अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका के माल को ही खरीदने पर खर्च किया जाता है। इस प्रकार अमरीका के श्रमिकों के लिए और अधिक काम प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप अमरीका के उत्पादक उद्योगों और उनका माल बेचने वाली कम्पनियो तथा अमरीका सरकार को करों के रूप मे प्राप्त होने वाली आय मे वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका को लेटिन अमरीका के देशो में विदेशी मुद्रा के भुगतान सन्तुलन में अतिरिक्त राशि प्राप्त हो जाती है।"[15]

ऋण प्राप्त करने वाले देशों को केवल 'ऋण देने वाले देश' से ही माल खरीदने की शर्त बड़ी अनुचित दिखायी पड़ती है, क्योंकि ऋणो का भुगतान डालरों में करना पड़ता है और इन डालरों का उपयोग बिना किसी प्रतिबन्ध के किया जा सकता है।

लेटिन अमरीका के देशों के अमरीका से इस संघर्ष के सन्दर्भ में, जो 1969 मे पर्याप्त बढ गया था, कि उन्हे निर्यात की बेहतर सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए,[16] संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अपने ऋणो पर यह पाबन्दी लगाना कि उनकी राशि से केवल अमरीका से ही माल खरीदा जा सकता है, अत्यधिक अलोचना का आधार बन रहा है। यह आलोचना अब अधिक कड़ी होती जा रही है और अमरीका के इस रवैये को शोषण कहा जाने लगा है। ये पंक्तियाँ लिखते समय समाचार पत्रों में इस आशय के समाचार छपे हैं कि अब संयुक्त राज्य अमरीका सरकार बाध्य होकर यह अनुभव कर रही है कि लेटिन अमरीका के देशों को जो धन दिया जाता है उसके ऊपर केवल संयुक्त राज्य अमरीका से ही माल खरीदने की पाबन्दी में कुछ ढील दी जाय।

जब कम-विकसित देशों को अमरीकी सेवाएँ अथवा माल अनुदान अथवा अनुदान जैसे अंशदान के रूप में सीधे दिया जाता है तो इन उपहारों के साथ जुड़ा ऊँचा मूल्य यह दर्शाता है, अथवा दर्शाता हुआ दिखायी पड़ता है, कि सहायता की राशि को अनुचित रूप से बढ़ाया-चढाया जा रहा है।

सन् 1958 में पाकिस्तान में अयूबखान द्वारा सत्ता हथियाने से कुछ सप्ताह पहले जब मैं करांची में था तो गुप्त रूप से एक सरकारी रिपोर्ट प्रचारित की जा रही थी कि अमरीका ने अपने जो विशेषज्ञ पाकिस्तान सरकार को दिये हैं उन पर लगभग 40 हजार डालर औसत खर्च बैठता है—इसमें सब सुविधाएँ, सम्बन्धित लाभ और विभिन्न प्रकार की काम करने की सुविधाएँ ऊँचे वेतनो के साथ जोड़ दी गयी थी। पाकिस्तानियों का कहना था कि अगर उन्हें बिना किसी प्रतिबन्ध के डालर दे दिये जाते तो वे अन्यत्र कहीं अधिक सस्ते में ये सेवाएँ उपलब्ध कर सकते थे। पाकिस्तान की नयी सरकार ने अन्य बातो के अलावा इस

रिपोर्ट को भी दबा दिया क्योंकि संयुक्त राज्य अमरीका में अयूब द्वारा सत्ता हथियाने का मित्रतापूर्ण स्वागत हुआ।

इसी प्रकार पी० एल०-480 के अधीन जो अनाज दिया गया, उसके दाम की गणना संयुक्त राज्य अमरीका के बाजारों के संरक्षित दामों के आधार पर की गयी। ये दाम अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के दामों की तुलना में ऊँचे थे। इस अनाज की ढुलाई का काम भी अमरीका की जहाजी कम्पनियों को दिया गया, जिन्होंने ऊँचा ढुलाई भाड़ा वसूल किया और यह राशि भी सहायता प्राप्त करने वाले देश को देनी पड़ी।

उस समय अमरीका के विशाल अनाज भण्डार को ठिकाने लगाना भी अमरीका के अपने हित में था। अतः यह प्रश्न उठाया जा सकता था, और अक्सर उठाया भी गया कि क्या अनाज की सप्लाई की लागत के यथार्थ विश्लेषण से यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि इस अनाज का पूरा दाम अथवा इसका एक बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय कृषि सहायता की मद में डाला जाना चाहिए था, विदेशी सहायता की मद में नहीं।

सहायता के विकास मूल्य की उपेक्षा करने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि इस सहायता की प्रेरणा और अधिकांशतया इसकी दिशा भी राजनीतिक, सैनिक और सामरिक थी। जब सहायता से राजनीति जुड़ जाती है चाहे यह स्वदेश मे हो अथवा विदेश में, तो नैतिकता और प्रभावशालिता दोनों मानक अनिवार्य रूप से और व्यापक पैमाने पर नीचे हो जाते हैं। मैंने अक्सर घटने वाली इस घटना पर पहले ही अपने विचार प्रकट किये हैं।

जब 1960 से आरम्भ दशक समाप्ति की ओर आया, तो सहायता का यह राजनीतिक स्वरूप और अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगा। यह सच है कि इसका प्रमुख कार्यकारी कारक संयुक्त राज्य अमरीका की वियतनाम नीति था। दक्षिण वियतनाम—अथवा इसका वह हिस्सा जिसके ऊपर सैगोन सरकार और संयुक्त राज्य अमरीका की सेनाओं का नियन्त्रण था —एक ऐसा देश बन गया जिसे सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित राशि का सबसे बड़ा हिस्सा मिला—यदि हम दक्षिण पूर्व और पूर्व एशिया के उन पिछलग्गू देशों को मिलने वाली सहायता का कुछ हिस्सा भी इसमें जोड़ दें जो अमरीका को वियतनाम युद्ध मे सहायता दे रहे थे तो वियतनाम की मद मे दी जाने वाली राशि कुल सहायता की राशि का चौथाई हिस्सा बैठती है।

संयुक्त राज्य अमरीका, उसके साथ युद्ध में हिस्सा लेने वाली एशियायी सरकारों और, निश्चय ही, विकास सहायता समिति के सचिवालय को छोड़कर प्रायः अन्य कोई भी व्यक्ति स्वयं अमरीका में भी इस बात पर विचार करने के बाद इसे उस रूप में सहायता नहीं कह सकता, जिस रूप मे, उदाहरण के लिए, भारत को दी जाने वाली सहायता कही जा सकती है, यद्यपि इस युग में भारत को दी जाने वाली सहायता के साथ भी जबरदस्त राजनीतिक स्वार्थ जुड़े हुए हैं।

यदि हम सहायता की मद मे शामिल उस बड़े हिस्से को निकाल दें जो वियतनाम को अमरीका से प्रत्यक्ष राजनीतिक और सैनिक सहायता के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है, तो विकास सहायता का नीचा स्तर और इसकी निरन्तर कम होते जाने की प्रवृत्ति विकास दशक मे बहुत अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ी।

यदि, इसके अलावा, ऊपर दिये गये अन्य सब कारणों के अनुसार उचित कटौती करें, तो विकास सहायता समिति के आँकड़ों मे 'सार्वजनिक वित्तीय प्रवाह' के रूप में जो अमरीकी सहायता बजट और उसके वितरण की राशि दी गयी है, उसका आधे से भी कम भाग कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सच्ची सहायता के रूप में प्रकट होगा। इसका यह अर्थ होगा कि जिन बातों की बहुत जोर देकर और बढ़ा-चढ़ाकर घोषणा की गयी थी, उन्हें प्रायः हास्यास्पद सीमा तक अपर्याप्त रूप से पूरा किया गया।

मैंने अध्याय-3 मे यह बात कही है कि कुछ प्रभावशाली संसद सदस्य यह समझने लगे हैं कि विदेशी सहायता संयुक्त राज्य अमरीका को वियतनाम जैसे और युद्धों में फँसाने का खतरा बन रही है। ये भावनाएँ और संसद के बाहर व्याप्त ऐसी ही भावनाएँ यह दर्शाती हैं कि कम-विकसित देशों को सहायता देने की बात को आज अमरीका की उदार शक्तियों का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं है।

लोग सहायता के उद्देश्यों से सम्बन्धित दुरंगी नीति को समझने और नापसन्द करने लगे हैं, जिसे राष्ट्रीय सैनिक और सामरिक नीति के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया गया था और जिसका अन्त असफलता में हुआ और इस बात का खतरा बना हुआ है कि अन्य क्षेत्रों मे भी यही होगा। उदाहरण के लिए लेटिन अमरीका में यह दुरंगी नीति अमरीका की नैतिक परम्पराओं के विपरीत जाती है। इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

मुझे भय है कि अगले कुछ वर्षों में हमे विदेशी सहायता में वर्तमान गिरावट की प्रवृत्ति निरन्तर जारी दिखायी पड़ेगी और सहायता की दिशा और शर्तों मे भी कोई खास परिवर्तन नही आयेगा। पर मैं निराशावादी नहीं बनना चाहता। ऐसा समय अवश्य आयेगा और यह आशा की जा सकती है कि जल्दी आयेगा कि जब सहायता नीति पर पूरी तरह से पुनर्विचार करने की माँग करने वाली शक्तियाँ एकजुट हो जायेंगी।

हमें आज कम-विकसित देशों को सहायता के बारे में एक नये दर्शन की आवश्यकता है। हमें इसकी प्रेरणा, इसकी दिशा और इसकी शर्तों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है और हमें इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में ही देखना चाहिए, जो यह वास्तव में है—'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों' के सन्दर्भ में नहीं जो अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण है।

हाल में एक उच्च-स्तरीय समिति, तथाकथित परकिन्स समिति, जिसे राष्ट्रपति लिंडन बी० जॉनसन ने नियुक्त किया था, की रिपोर्ट में नये प्रशासन के सहायता कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है, जबकि इसे विदेशी सहायता के समस्त प्रश्न पर पुनर्विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था। इस रिपोर्ट का समारम्भ इस शिकायत से होता है कि "अमरीका में आज दुविधा और उपेक्षा की भावना अमरीका के विकास सहायता प्रयासों को कमजोर बना रही है।"[17] राष्ट्रपति जॉनसन की सरकार के अन्तर्राष्ट्रीय विकास संगठन के प्रशासक के पद से रिटायर होने से पहले विलियम एस० गौड ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दावली में कहा

था : "कटु सत्य यह है कि संयुक्त राज्य अमरीका अच्छे ढंग से काम नहीं कर रहा है। हमारे कार्यक्रम का आकार घट रहा है। हम पिछड़ रहे हैं···।"[18]

इस 'पीछे हटने के प्रबल ज्वार' के स्पष्टीकरण का संक्षेप में उल्लेख करते समय मैं यह बात जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अमरीकी जनता और अमरीका की संसद को सहायता देने के जो कारण बताये गये हैं, वे स्पष्ट रूप से अपर्याप्त हैं।

और जो लोग तर्क देते तथा सहायता कार्यक्रम को राजनीतिक रंग देने का काम कर रहे हैं, उन्होंने स्वयं को और दूसरों को भी इस बात से आश्वस्त कर लिया है कि ये अपर्याप्त कारण ही सच्चे कारण हैं और इन्हीं के आधार पर वे तत्सम्बन्धी आचरण कर रहे हैं।

इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन कारणों के आधार पर ही सहायता कार्यक्रम को अपना वर्तमान स्वरूप धारण करने दिया है—और अन्ततः वे इस स्थिति में नहीं रह गये कि यह अनुभव कर सकें कि क्या कम-विकसित देशों को सहायता देने के ये अच्छे कारण हैं।

बहुत समय पहले ही अनुभव के द्वारा एक कारण भ्रान्तिजनक सिद्ध हो चुका है : "सहायता उन लोगों की कृतज्ञता की भी गारंटी नहीं दे सकती, जिन्हें यह प्राप्त होती है।"[19] यदि सहायता को रिश्वत अथवा राजनीतिक दबाव के रूप में इस्तेमाल किया जाय, तो अमरीका जैसे देश में लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने के लिए यह कारण नहीं बताया जा सकता।

जैसाकि मैंने जोर देकर कहा है, संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता को परम्परा से और सामान्यतया यह कहकर पेश किया गया है और किया जा रहा है कि 'यह अमरीका के बुनियादी हित में है'।[20] पर साधारण नागरिक और संसद सदस्य के लिए यह कारण अत्यन्त अस्पष्ट संकल्पना-भर रहेगा।

जब उसे यह समझाया जाता है कि कम-विकसित देशों का विकास कहीं अधिक शान्तिपूर्ण और स्थिर संसार की स्थापना में योगदान देता है और सहायता के द्वारा इन देशों का विकास किया जा सकता है, तो यह बात अधिक स्पष्ट अथवा अधिक प्रेरणादायक नहीं बन जाती।[21] अधिक परिष्कृत लोग उदाहरण देकर यहाँ तक कह सकते हैं कि थोड़ी-बहुत विकास सहायता लोगों को अधिक शान्तिप्रिय नहीं बनाती—विशेषकर उस स्थिति में जब उन्हें सैनिक अफसरों के रूप में प्रशिक्षण दिया गया हो और 'सैनिक सहायता' के रूप में उन्हें हथियार दिये गये हों अथवा उन्हें इन हथियारों को अपने साधनों से खरीदने की अनुमति दी गयी हो और इन साधनों में सहायता की राशि से ही वृद्धि की गयी हो।

किसी भी व्यक्ति को सहायता और कम-विकसित संसार में राजनीतिक घटना क्रम के बीच का सम्बन्ध अत्यधिक काल्पनिक और अनिश्चित दिखायी पड़ेगा। दूसरी ओर जब 'अमरीका के बुनियादी हितों' को सूक्ष्म सैनिक और सामरिक हितों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो यह ठोस दिखायी पड़ने लगता है, लेकिन वियतनाम युद्ध में असफलता के बाद और डलेस के युग से विरासत में प्राप्त नीतियों की पहले से चली आ रही असफलताओं के परिणामस्वरूप यह कारण थोथा सिद्ध हो चुका है।

अनेक संसद सदस्य और अन्य लोग अब 'अमरीका का सर्वोत्तम हित' सहायता न देना ही मानने लगे हैं, ताकि अमरीका आगे चलकर राजनीतिक और सैनिक जिम्मेदारियों मे न फँस जाये जैसाकि सहायता देने के बाद पहले हुआ।

इसके अलावा एक यह कारण भी है कि यथार्थ मे सहायता देने से संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर कोई खास भार नही पडता—केवल संघीय बजट मे करों को छोड़कर। इस कारण को अक्सर यह कहकर अधिक प्रभावशाली ढंग से पेश किया जा सकता है कि 'सहायता व्यापार के लिए अच्छी बात है।' जैसाकि हम देख भी चुके है, सहायता कार्यक्रम को अधिकाधिक मात्रा में अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ढाला गया, विशेषकर सहायता की राशि से केवल संयुक्त राज्य अमरीका में ही आवश्यक सामग्री खरीदने की शर्त लगाकर। जैसाकि गौड ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा :

"विदेशी सहायता कार्यक्रम के बारे मे सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि हम विदेशों को धन भेज देते हैं। हम यह नही करते। विदेशी सहायता मे अमरीकी मशीनें, कच्चा माल, विशेषज्ञों की सेवाएँ और अनाज शामिल होता है—ये सब चीजें कुछ खास विकास कार्यक्रमों के लिए दी जाती हैं, जिनकी हम स्वयं समीक्षा करते हैं और अनुमति देते हैं ·· सहायता की राशि का 93 प्रतिशत प्रत्यक्ष रूप से अमरीका मे ही इन वस्तुओं के भुगतान पर खर्च किया गया। पिछले वर्ष ही 50 राज्यों मे 4,000 अमरीकी कम्पनियों को सहायता की राशि मे से 1 अरब 30 करोड डालर का भुगतान मिला। उन्हे यह भुगतान विदेशी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत खरीदे गये माल के लिए दिया गया।"[22]

अमरीकी करदाता और संसद में उसका प्रतिनिधि लम्बे अरसे से निजी व्यापार को इस प्रकार धन की प्राप्ति की बात को सन्देह की दृष्टि से देखता रहा है—यद्यपि पहले यह प्राप्ति इतनी विशाल और व्यापक नही थी, जितनी हाल मे हथियारों पर होने वाला खर्च रहा है जिसके कारण अधिकांश लोग और अधिकांश संसद सदस्य यह अनुभव करते हैं कि कम्पनियों को उनके हिस्से से अधिक मिल रहा है।

इसके अलावा एक सीधा-सादा नैतिक कारण भी है। ऊपर वर्णित कारणों के सन्दर्भ मे 'राष्ट्रीय हित' का उल्लेख कर देने के बाद परकिन्स समिति ने 'दूसरे' राष्ट्रीय हित के रूप मे 'मानवतावादी कारण' का उल्लेख किया है : "हमें गरीब देशों को और गरीब लोगो को अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए सहायता देनी चाहिए।"[23] राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी ने कहा था कि संयुक्त राज्य अमरीका को सहायता इसलिए देनी चाहिए क्योंकि यह बात 'सही' है।

संसद को विदेशी सहायता के बारे में अपने पहले सन्देश में राष्ट्रपति रिचर्ड एम० निक्सन ने—ऊपर वर्णित अन्य सब कारणों की चर्चा करने के बाद—आगे कहा : "ये सब हमारे विदेश सहायता कार्यक्रमों के ठोस और व्यावहारिक कारण हैं, लेकिन ये हमारे मूलभूत चरित्र और उद्देश्य के प्रति न्याय नहीं करते। इस देश में एक ऐसा नैतिक गुण है, जो हमें इस संसार मे व्याप्त

अभाव के प्रति अपनी आँखें बन्द करने की अनुमति नही देगा……"[21]

उक्त उद्धरण की अन्तिम बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। सार्वजनिक विचार-विमर्श और सार्वजनिक राय में समस्त स्वार्थ पूर्ण कारणों को एक ऐसा स्थायी स्थान देने के बाद, और पूरे सहायता कार्यक्रम को इन कारणो के आधार पर इतना निश्चित स्वरूप प्रदान करने के बाद, नैतिक अनिवार्यता का प्रकाश और शक्ति समाप्त हो जाती है।

मैंने संयुक्त राज्य अमरीका के ऊपर अपना ध्यान कम-विकसित देशो को सहायता देने वाले देश के रूप में केन्द्रित किया है। अन्य विकसित देश 1955 से सहायता देने वाले अधिक महत्त्वपूर्ण देशो के रूप मे सामने आये। यह कार्य आशिक रूप से अमरीका द्वारा इस बात पर जोर डालने से हुआ कि विकसित देशो को सहायता में अपना हिस्सा भी बटाना चाहिए।

सयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्ध मे विकास सहायता समिति के आँकड़ों के बारे मे जो कारण बताये गये हैं, उसी प्रकार अन्य सब विकसित देशों से 'सरकारी पूंजी प्रवाहो' सम्बन्धी इस समिति के आँकड़ों को कम-विकसित देशों को प्राप्त वास्तविक सहायता के सूचक के रूप में जैसे का तैसा स्वीकार नही किया जा सकता। समस्त आँकडों मे कटौती करने की आवश्यकता होगी। बढते हुए दामों को ध्यान में रखते हुए जिस अवस्फीति की आवश्यकता होगी उसके परिणामस्वरूप सहायता कार्यक्रमो की वृद्धि का रुकना ही नही वल्कि सहायता की राशि मे वास्तविक कमी स्पष्ट हो जायगी।

हाल के वर्षों में अधिकाश अन्य विकसित देशों में सयुक्त राज्य अमरीका की विदेश-सहायता की राशि मे मूलभूत कमी जैसी कोई वात नही हुई है। अगले कुछ वर्षों में सहायता कार्यक्रमों में अन्य विकसित देशों का हिस्सा बढता जायेगा। उस समय विकास सहायता समिति के आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकाल पाना कम सम्भव होगा कि कम-विकसित देशों को जो सहायता मिलती है उसका आधा अथवा आधे से अधिक हिस्सा संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त होता है जैसाकि आजकल अक्सर कहा जाता है।

पर ये सब बातें कहने के वावजूद हम अभी भी सतही स्तर पर है। सहायता की वास्तविक राशि का अनुमान लगाते समय 'सरकारी प्रवाह' के आँकडों में बढती कीमतो को ध्यान में रखते हुए कटौती करने के अलावा अन्य कारण भी है, जिनमें विभिन्न उपायो से सहायता पर शर्तें अथवा पावन्दियाँ लगाने का तरीका प्राय: सब देशों में सामान्य रूप से अपनाया जाता है। और इस प्रकार सहायता प्राप्त करने वाले देशों को मिलने वाली सहायता के मूल्य में कमी हो जाती है। यदि इस तरीके मे वृद्धि नही हो रही है तो भी यह कहना होगा कि इसके महत्त्व में किसी भी रूप में कमी नही हुई है।

गहराई से अध्ययन करने पर सम्भवत: यह प्रकट हो जायेगा कि शेष पश्चिमी संसार के सब बड़े देशों के लिए राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी कारण प्रमुखतम प्रेरणा बनते हैं। ऐसी सहायता पहले ही अधिकाधिक मात्रा मे सैनिक और सामरिक लक्ष्यों का अपरिष्कृत रूप धारण कर चुकी है, और इसके परिणाम-स्वरूप अमरीका द्वारा दी जाने वाली सहायता की राशि मे कटौती करने का प्रबल कारण मौजूद रहता है। उदाहरण के लिए, वियतनाम को दी जाने वाली

'सहायता' का उल्लेख किया जा सकता है।

राजनीतिक हित साधन की दिशा अपना प्रभाव बढ़ाने और व्यापारिक लाभ उठाने की ओर निर्देशित होती है। फ्रांस और ब्रिटेन ने अपने भूतपूर्व उपनिवेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखा और इन उपनिवेशों में अपनी प्रभावशाली भूमिका निभाते रहे। यह बात सहायता प्राप्त करने वाले देशों को दिये गये दिशा-निर्देश से स्पष्ट है।

सहायता के इस दिशा-निर्देश का प्रमुख उद्देश्य उक्त देशों में अपने शेष व्यापारिक सम्बन्धों और पूंजी निवेशों को सुरक्षित रखना था। पर यह भी कहना होगा कि नवस्वतन्त्र देशों के भविष्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना भी उनमें मौजूद थी।

फ्रांस, और इससे कम प्रकट रूप से ब्रिटेन, अपने भूतपूर्व उपनिवेशों में पुराने राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को बनाये रखने में सक्रिय दिलचस्पी दिखाता रहा। फ्रांस ने अपने अपेक्षाकृत बड़े विदेश-सहायता बजट में अनेक सन्दिग्ध मदों को भी शामिल किया है। व्यय का एक हिस्सा भ्रष्टाचार में भी नष्ट हुआ। अथवा, इससे भी अधिक यह हुआ कि फ्रांस की नीति के प्रतिनिष्ठा रखने वाले शासक वर्ग के लोगों को आवश्यकता से अधिक ऊँचे वेतन और सुविधाएँ देकर वह प्रक्रिया जारी रखी गयी जिसे 'सामूहिक भ्रष्टाचार' ही कहा जा सकता है।

विल्सन सरकार के अधीन ब्रिटेन असाधारण वित्तीय कठिनाइयों से जूझता रहा और इस असाधारण बात का उल्लेख करना होगा कि इसके बावजूद ब्रिटेन ने अपने सहायता बजट में और आगे कटौती नहीं की। सम्भवतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि ब्रिटिश सरकार ने सहायता के रूप में ऊँची राशि देने की अपनी नीति के समर्थन मे इस बात का उल्लेख किया है कि इसके परिणामस्वरूप उसे व्यापार में कितना लाभ हुआ है। हाल तक विदेश विकास मन्त्री अर्ल ग्रिनस्टेड ने इस बात को समझाते हुए कहा :

"हमारी सहायता की दो-तिहाई राशि ब्रिटेन से खरीदे जाने वाले माल और सेवाओं पर खर्च होती है······सहायता के परिणामस्वरूप व्यापार बढ़ता है। हम विदेश मे किसी कारखाने के लिए मशीनें आदि देते हैं और आगे चलकर हमे अतिरिक्त हिस्से पुर्जों और नयी मशीनों के लिए आर्डर मिलते हैं······हम (सहायता पर व्यय करेंगे)······क्योंकि यह बात सही है और इसलिए भी कि यह बात हमारे लम्बी अवधि के हित में है।"[25]

ब्रिटेन के सहायता कार्यक्रम का अध्ययन करने वाली एक संसदीय समिति ने इसी बात को बेहद स्पष्टता से कहा :

"सहायता व्यापार में वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सहायता कार्यक्रम के बुनियादी नैतिक उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए, उन्हीं देशों को अधिकाधिक मात्रा में सहायता दी जानी चाहिए जो ब्रिटेन में बनने वाले माल की खपत की सबसे अधिक क्षमता रखते हों।"[26]

सम्भवतः इस प्रकार की प्ररणा अधिकाश विकसित देशों की सहायता सम्बन्धी गतिविधि के साथ जुड़ी हुई है। इन देशों मे फ्रांस और, विशेष रूप से, जापान और जर्मनी भी शामिल है।

अब तक जो अध्ययन हुए है उनसे कही अधिक गहन अध्ययन किये बिना निश्चित निष्कर्षों की मात्रात्मक अभिव्यक्ति देना यद्यपि असम्भव है, पर ज्ञात जानकारी के आधार पर यही सामान्य धारणा बनती है कि इन सब देशों की सहायता के आंकड़ो मे कटौती करना आवश्यक होगा—विशेषकर इस कारण से क्योंकि सहायता की बडी राशि पर माल आदि की खरीद के बारे मे शर्तें लगी होती हैं—लेकिन इनमे अमरीकी सहायता की राशि जितनी कटौती नहीं करनी होगी।

इस प्रकार कटौती करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि सयुक्त राज्य अमरीका कम-विकसित देशों को जो सहायता दे रहा है, उसकी आधी से पर्याप्त कम और सम्भवतः लगभग एक-तिहाई राशि को ही सच्ची सहायता कहा जा सकता है। कम-विकसित देशों को जो सहायता सब देशों से मिलती है उसमे अमरीका का हिस्सा घटता जायेगा क्योंकि हाल के वर्षो में सहायता बजट मे जो कमी की गयी है उससे भविष्य में कम सहायता का ही वितरण होगा।

अन्य विकसित देशों से कम-विकसित देशों को जो सहायता मिलती है उसका सच्चा स्तर वास्तव मे पूरी तरह अपर्याप्त है। सहायता सामान्यतया बढने के स्थान पर घट ही रही है। यद्यपि अमरीका की तरह अन्य विकसित देशों की सहायता मे निश्चित और तेजी से कमी नही हो रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष जार्ज डी० वुड्स ने अपने एक महत्त्वपूर्ण भाषण मे, जिसके कुछ उद्धरण मैं पहले ही दे चुका हूँ, निम्नलिखित शब्दों में सहायता की प्रवृत्ति के बारे मे अपनी चिन्ता व्यक्त की है :

"ऐसा लगता है कि ऊँची आय वाले देश कल के बारे मे नही सोच रहे है। उनकी सहायता नीतियो से उनकी अपनी संकीर्णतम चिन्ताएँ ही प्रकट होती हैं जिसके परिणामस्वरूप विकासशील देशो की स्थिति और समग्र संसार के लिए लम्बी अवधि की दृष्टि से इसके महत्त्व के बारे मे प्रभावशाली ढंग से सोचने की गुंजाइश नही रह जाती। यह हो सकता है कि शायद सहायता के मामले को बढ़ा-चढाकर पेश कर दिया जाय लेकिन इसके बावजूद यह सच है कि अब तक द्विदेशीय सहायता कार्यक्रमो का एक बुनियादी लक्ष्य स्वयं ऊँची आय वाले देशों को सहायता पहुँचाना था; यह कार्यक्रम निर्यात बिक्री के लिए वित्तीय सहायता देने, राजनय के दांवपेंचो मे सहायता पहुँचाने, सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले सैनिक ठिकानों पर अपने पाँव जमाये रखने के लिए सहायक बनाया जा रहा है।"[22]

कुछ छोटे विकसित देशों मे हाल में इस सम्बन्ध मे जो काम हुआ है वही एकमात्र उत्साहवर्धक लगता है। इस अध्याय के तीसरे अनुभाग में मैं नीति सम्बन्धी जो निष्कर्ष निकालूँगा उसके पूर्वाभास के रूप में मैं अपने सुपरिचित और छोटे देश स्वीडन के सहायता कार्यक्रम के हाल के घटना-क्रम की सक्षिप्त समीक्षा करना चाहूँगा।

स्वीडन निवासियों और अमरीकियो के बीच समानताओ के कारण स्वीडन की संयुक्त राज्य अमरीका से तुलना विशेष रूप से समीचीन है। वास्तव में सामान्य सांस्कृतिक विशेषताओं और बुनियादी, नैतिक प्रवृत्तियो मे अमरीकियों

से अन्य कोई राष्ट्र स्वीडन से अधिक समानता नही रखता। यह सही है कि स्वीडन निवासियों की तुलना में अमरीकियों को शेष संसार के प्रति कहीं अधिक उदारतापूर्ण सहायता देने की प्रवृत्तियां विरासत मे प्राप्त है।

पर स्वीडन निवासियों के मन मे स्वभावतः यह विचार नही आता कि कम-विकसित देशो को सहायता देना "स्वीडन के सर्वोत्तम हित में होगा।" आंशिक रूप से इस भिन्नता का स्पष्टीकरण इस बात में निहित हो सकता है, कि सौभाग्यवश, संयुक्त राज्य अमरीका की तरह स्वीडन आवश्यकता से अधिक बड़ आकार का नहीं है। इसके अलावा विशुद्धिवादी विरासत अपेक्षाकृत कम मात्रा मे प्राप्त होने के कारण एक सही कार्य को स्वार्थपूर्ण ढंग से करने की प्रवृत्ति स्वीडन मे कभी भी अमरीका की तरह एक परम्परा नही बन पायी। डेढ शताब्दी तक युद्ध से दूर रहने के बाद स्वीडन निवासियों को सहायता को सैनिक और सामरिक हितों मे इस्तेमाल करने का आकर्षण नही होता।

ठोस और प्रतियोगितात्मक वाणिज्य का सिद्धान्त दृढ़तापूर्वक कायम हो जाने और एक पीढ़ी से अधिक समय तक समाजवादी लोकतन्त्री शासन द्वारा इसका कट्टरता से पालन करने के बाद स्वीडन निवासी स्वदेश मे कुछ निजी व्यक्तियों और व्यापारी कम्पनियो को अव्यवस्थित ढंग से सहायता पहुँचाने के लिए दूसरे देशो को दी जाने वाली सहायता का अनुचित लाभ उठाने की आवश्यकता अनुभव नही करते।

इस प्रकार स्वीडन निवासी यह अनुभव करते हैं कि उनके लिए सहायता देने का एकमात्र कारण मानवीय प्रेरणा ही हो सकती है। निर्धन, भूख से पीड़ित, रोग ग्रस्त और निरक्षर तथा उन लोगो के प्रति एकता-भाव ही उन्हें यह प्रेरणा देता जो स्वयं को गरीबी से मुक्ति दिलाने का प्रयास कर रहे हैं।

स्वीडन ने यूरोप के बाहर उपनिवेशी साम्राज्य स्थापित करने का अधिक प्रयास नही किया। इसका कारण यह नही था कि उन्हें इस कार्य मे दुर्भाग्य का सामना करना पडा हो, बल्कि समुद्र-पार आश्रित राज्यों की स्थापना की होड से दूर रहने की इच्छा के फलस्वरूप यह हुआ। स्वीडन के राजा ने सौ वर्ष से अधिक समय पहले ही अपने उपनिवेशी प्रदेश का अन्तिम छोटा हिस्सा बेच दिया था।

अपना कोई भी उपनिवेश न होने के कारण स्वीडन के विश्वविद्यालयों ने यदा-कदा ही, और वह भी प्रायः सयोगवश, संसार के उस भाग के बारे में दिलचस्पी ली जिसे आज तीसरी दुनिया कहा जाता है। स्वीडन मे वापस लौटने वाले उपनिवेशी अधिकारी नहीं थे। जिन गिने-चुने व्यापारियों और मिशनरियों को इन क्षेत्रों का व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त था उन्होने अनुसंधान अथवा व्यापक राष्ट्रीय दिलचस्पी को प्रोत्साहन नही दिया। इस कमजोर पृष्ठभूमि के कारण हाल के वर्षों तक में स्वीडन-निवासियों ने कम-विकसित देशो और उनकी समस्याओं के बारे में ज्ञान में वृद्धि करने के लिए प्रायः कोई मौलिक अंशदान नही किया।

पर जनसामान्य को इन देशो की निर्धनता और इन देशो के निवासियों के कष्टो के बारे में जानकारी देने के लिए वास्तव मे किसी शास्त्रीय और बौद्धिक आधार की आवश्यकता नही होती। लेकिन इस कार्य मे पर्याप्त समय लगा और सन् 1955 के आसपास ही स्वीडन में सहायता की समस्या का व्यापक प्रचार

हुआ। और उस समय सहायता बजट बहुत छोटा था और आज भी है।

लेकिन दिलचस्प बात बहुत हाल का एक निर्णय है। सन् 1968 में संसद ने यह निर्णय लिया कि राष्ट्रीय बजट में सहायता की जो राशि निर्धारित की गयी है उसमें हर वर्ष पच्चीस प्रतिशत वृद्धि की जाय, जब तक, 1974-75 के वित्तवर्ष में, यह राशि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत नही हो जाती (राष्ट्रीय-उत्पादन राष्ट्रीय-आय से पच्चीस प्रतिशत अधिक है और अन्य देशों मे राष्ट्रीय-आय के आधार पर ही सहायता का प्रतिशत आँका जाता है)। इसके अलावा किसी की यह धारणा भी नही है कि यह स्तर प्राप्त हो जाने के बाद यह वृद्धि रोक दी जाय।

उक्त प्रतिशत की गणना केवल सार्वजनिक सहायता के लिए ही की गयी थी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वीडन की सहायता की गणना मे 'निजी प्रवाह' शामिल नही है। जब कभी सहायता सार्वजनिक ऋण के रूप मे दी जायगी तो ऋण की अवधि पच्चीस वर्ष या इससे अधिक होगी, और इस अवधि को दस वर्ष और बढ़ाया जा सकेगा, तथा इस पर दो प्रतिशत या इससे भी कम ब्याज लिया जायगा। विश्व बैंक की अन्तर्राष्ट्रीय विकास-संस्था के सहयोग से काम करते समय पचास वर्ष की अवधि के लिए ब्याज-मुक्त ऋण दिये जा सकते हैं। इन पर केवल थोड़ा-बहुत प्रशासनिक शुल्क लिया जायगा।

इसके अलावा सहायता पर सामान्यतया यह शर्त नही होती कि इसकी राशि को स्वीडन मे ही खर्च करना होगा (केवल उस स्थिति को छोड़कर जब स्वीडन के आवश्यकता से अधिक उत्पादन को सहायता के रूप मे दिया जाता है, उदाहरण के लिए कुछ वर्षो में दिया गया कागज़)। व्यापारियों ने इस सम्बन्ध में कुछ दबाव डाला है कि स्वीडन द्वारा दी जाने वाली सहायता पर भी स्वीडन से ही माल की खरीद की शर्त लगायी जाय। इस सुझाव के सम्बन्ध मे एक प्रभावशाली कारण पेश किया जा सकता है। जब स्वीडन को छोड़कर अन्य सब देश सशर्त सहायता देते है तो यह कल्पना की जा सकती है कि स्वीडन के व्यापार को कितने बड़े पैमाने पर अनुचित होड़ और इस प्रकार भेदभाव का सामना करना होगा। अब क्योंकि इस सम्बन्ध में सरकार का दृढ संकल्प सर्वविदित था, अतः इस दबाव का कभी कोई असर नही हुआ।

वर्तमान सन्दर्भ मे हमारी दिलचस्पी इस प्रश्न पर केन्द्रित होती है कि किस प्रकार और इतनी तेजी से यह काम हुआ, विशेषकर सहायता मे इतनी अधिक वृद्धि करने के बारे मे? यह बात विदेशो मे व्याप्त प्रवृत्ति के विपरीत थी, और विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका मे व्याप्त प्रवृत्ति के जहाँ के लोग स्वीडन निवासियों के अत्यधिक समान हैं।

जहाँ तक स्थिर कारकों का सम्बन्ध है—सहायता और व्यापार तथा सहायता पर शर्त न लगाने के अन्तर को पूरी तरह स्पष्ट रखते हुए—इसका श्रेय सरकार और संसद को है। ये दोनो ही बहुत कट्टरपन्थी तरीके से 'ठोस वित्त और वाणिज्य के पुराने सिद्धान्तों' पर डटे रहे।

लेकिन जब बड़ी मात्रा में और तेजी से सहायता की राशि मे वृद्धि करने का निर्णय लिया गया तो इस कार्य मे राजनीतिक प्रतिष्ठान ने मुश्किल मे ही पहल की। *मेरा विश्वास है कि यह कहना उचित होगा कि सरकार और राजनीतिक*

की इसलिए भी आवश्यकता थी क्योकि मैं अगले अनुभाग मे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ। स्वीडन निवासियो के बारे मे इसे छोड़कर अन्य कोई असाधारण बात नही है कि वे ऐसी स्थिति मे हैं जहाँ कम-विकसित देशो को सहायता देने का यदि कोई कारण हो सकता है, तो वह कष्ट मे फँसे लोगों के प्रति एकता रखने का नैतिक भाव ही हो सकता है। यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर उन्होने स्वदेश मे अपने सफल हितकारी राज्य की स्थापना की है।

कम-विकसित देशों को सच्ची सहायता मे वृद्धि का बेहतर वातावरण निर्मित करने मे स्वीडन अकेला नही है। छोटे और अत्यधिक विकसित देशो मे अनेक देश ऐसी ही स्थिति मे हैं, जहाँ राष्ट्रीय हितो का बहुत कम और निरन्तर घटता जा रहा महत्त्व है, जिसके परिणामस्वरूप सहायता की प्रेरणा केवल नैतिक कारणो से ही मिल सकती है। जब अन्य राष्ट्रीय हित नही रह जाते तो यह देखा गया है कि इन देशों ने सहायता की राशि मे कमी न करके वृद्धि की अथवा वे ये वृद्धि करने के लिए तैयार थे।

इन देशों मे मैं कनाडा और नीदरलैण्ड की निश्चित रूप से गणना करूँगा, और सम्भवतः जल्दी ही स्विट्जरलैण्ड, डेनमार्क, ऑस्ट्रिया, फिनलैण्ड और नार्वे भी इसी कोटि मे आ जायेंगे। इसके बावजूद एक अन्तर है जो शायद अधिक समय तक कायम न रहे कि उक्त अन्य देशो ने अपनी सहायता की राशि से केवल अपने देश मे बना माल ही खरीदने की शर्त लगाना बन्द नही किया है, और स्वीडन की तरह निजी पूंजी-निवेश को सार्वजनिक सहायता से अलग और भिन्न कोटि मे नही रखा है, तथा अपने व्यापारियों पर कर लगाकर उनसे बलिदान की माँग नही की है।

### 3. नीति सम्बन्धी निष्कर्ष

अब मैं अपने नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने की स्थिति में आ गया हूँ। कम-विकसित देशों मे उत्पादन और खपत के स्तरों और दिशा के बारे में हमे जो जानकारी है तथा विकास सम्बन्धी प्रयासों में उन्हें जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है, उसके परिणामस्वरूप यह अनिवार्य दिखायी पडता है कि विकसित देशो को अपनी सहायता की राशियो में जल्दी-से-जल्दी पर्याप्त मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिए। अत्यन्त उदारतापूर्वक जो घोषणाएँ की जाती हैं, यह कार्रवाई उसके भी अनुरूप होगी, पर अब तक जो कुछ किया गया है यह उसके विपरीत होगा।

यथार्थवादी दृष्टिकोण से यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कम-विकसित संसार के बड़े भाग मे सहायता की आवश्यकता को कम अवधि की आवश्यकता नही समझा जा सकता, सहायता की योजनाएँ लम्बी अवधि की दृष्टि से बनानी होंगी। किसी विशेष कम-विकसित देश को उस स्थिति में पहुँचने मे कितनी समय लगेगा, जिसे लोकप्रिय शब्दावली में—और तर्क की दृष्टि से अस्पष्ट तरीके से[28]— 'स्वयं स्फूर्त' अथवा 'अपने प्रयासों से संचालित' कहा जाता है, यह बात सम्बन्धित देश को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता के आकार और विकसित देशो की वाणिज्य नीतियों के अलावा सम्बन्धित कम-विकसित देश की उन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को अपने देश मे लागू करने की इच्छा और क्षमता पर निर्भर करेगी, जिन सुधारों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग मे विचार किया गया है।

पार्टियों ने जनता की इच्छा का लागू करने वाले माध्यमों के रूप में काम किया —प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि इसी प्रकार स्वीडन की सरकार और राजनीतिक पार्टियों को वियतनाम में अमरीका के सैनिक कार्रवाई करने अथवा चेकोस्लोवाकिया पर रूस के आक्रमण के प्रति अपनी नीति निर्धारित करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। और इस कार्य में लोगों की अगवाई लोकप्रिय संगठनों ने की। इनमें राजनीतिक, युवक और स्त्री संगठन तथा शक्तिशाली सहकारी और मजदूर संगठन शामिल थे।

राजनीतिक प्रतिष्ठान को केवल लोकप्रिय माँगों का अनुसरण भर करना पड़ा। सत्तारूढ पार्टी से अधिक दक्षिणपन्थी नीति का अनुसरण करने वाली दो राजनीतिक पार्टियों ने लोकप्रिय समर्थन प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक समझा कि वे विपक्ष के रूप मे सरकार से भी आगे बढ़कर सहायता बजट मे और अधिक तेजी से वृद्धि की माँग करें ताकि कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देने का प्रथम लक्ष्य 1972-73 के वित्त वर्ष तक ही पूरा हो जाय।

स्वीडन का प्राय. स्वच्छतम और प्रायः आदर्श उदाहरण यह प्रकट करता है कि सहायता देने की नैतिक अनिवार्यता की कितनी प्रबल शक्ति है—यदि सहायता के साथ अवसरवादी दुरंगी चाल की भ्रान्ति को न जोड़ दिया जाय जिसके परिणामस्वरूप असफलता और निराशा हाथ लगती है, जैसाकि संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। स्वीडन के लोगों को कम-विकसित देशों को सहायता देने की प्रेरणा सीधे-सादे मानवीय कारणों के अलावा अन्य किसी वस्तु से नहीं मिली थी।

इस प्रमुख निष्कर्ष के अलावा दो अन्य दिलचस्प प्रेक्षण आवश्यक होगे। जब सहायता देने का कार्य राष्ट्रीय और विशेषकर, सैनिक तथा सामरिक हितों के इरादों से मुक्त हो जाता है और जब सहायता पर यह शर्त नहीं होती कि इसकी राशि को केवल सहायता देने वाले देश में ही खर्च किया जा सकता है, तो संयुक्त राष्ट्र के अधीन काम करने वाले अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से सहायता देने की अनिच्छा कम हो जाती है। स्वीडन की सहायता की लगभग आधी राशि इन्हीं संगठनों की मार्फत बहुद्देशीय आधार पर दी जाती है। जहाँ तक अन्य विकसित देशों का सम्बन्ध है उनकी सहायता का केवल दस प्रतिशत ही उक्त संगठनों की मार्फत वितरित होता है।

दूसरा प्रेक्षण यह है कि नैतिक के अलावा अन्य सब उद्देश्यों का अभाव स्वीडन को इस बात से मुक्त कर देता है कि वह कम-विकसित देशों को प्रभावित करने का प्रयास करे। सार्वजनिक बहस में, जो सदा राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिष्ठान से आगे चलती है, अब अधिकाधिक दबाव इस बात पर डाला जाता है कि सहायता उन प्रगतिशील कम-विकसित देशों को दी जाय जो इस पुस्तक के अध्याय-3 और 7 मे वर्णित आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू कर रहे हैं। इस दबाव के कारण प्रतिष्ठान धीरे-धीरे इसी दिशा मे आगे बढ़ने लगा है।

मैं यह बात कहने से इसलिए हिचकिचा रहा था कि कहीं यह उदाहरण प्रस्तुत करने की बात राष्ट्रवादी न दिखायी पड़े। लेकिन मैंने इस कारण से इस हिचकिचाहट पर काबू पा लिया क्योंकि मैं पूरी ईमानदारी से काम करना चाहता हूँ, और मुझ इस आदर्श उदाहरण से प्राप्त वास्तविक अनुभव का उद्धरण देने

की इसलिए भी आवश्यकता थी क्योंकि मैं अगले अनुभाग मे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ। स्वीडन निवासियों के बारे मे इसे छोड़कर अन्य कोई असाधारण बात नही है कि वे ऐसी स्थिति मे हैं जहाँ कम-विकसित देशो को सहायता देने का यदि कोई कारण हो सकता है, तो वह कष्ट मे फँसे लोगो के प्रति एकता रखने का नैतिक भाव ही हो सकता है। यही वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर उन्होने स्वदेश मे अपने सफल हितकारी राज्य की स्थापना की है।

कम-विकसित देशो को सच्ची सहायता मे वृद्धि का बेहतर वातावरण निर्मित करने मे स्वीडन अकेला नही है। छोटे और अत्यधिक विकसित देशो मे अनेक देश ऐसी ही स्थिति मे हैं, जहाँ राष्ट्रीय हितो का बहुत कम और निरन्तर घटता जा रहा महत्त्व है, जिसके परिणामस्वरूप सहायता की प्रेरणा केवल नैतिक कारणों से ही मिल सकती है। जब अन्य राष्ट्रीय हित नही रह जाते तो यह देखा गया है कि इन देशों ने सहायता की राशि मे कमी न करके वृद्धि की अथवा वे ये वृद्धि करने के लिए तैयार थे।

इन देशों में मैं कनाडा और नीदरलैण्ड की निश्चित रूप से गणना करूँगा, और सम्भवतः जल्दी ही स्विट्ज़रलैण्ड, डेनमार्क, ऑस्ट्रिया, फिनलैण्ड और नार्वे भी इसी कोटि में आ जायेंगे। इसके बावजूद एक अन्तर है जो शायद अधिक समय तक कायम न रहे कि उक्त अन्य देशों ने अपनी सहायता की राशि से केवल अपने देश में बना माल ही खरीदने की शर्त लगाना बन्द नही किया है, और स्वीडन की तरह निजी पूंजी-निवेश को सार्वजनिक सहायता से अलग और भिन्न कोटि में नही रखा है, तथा अपने व्यापारियों पर कर लगाकर उनसे बलिदान की माँग नहीं की है।

**3. नीति सम्बन्धी निष्कर्ष**

अब मैं अपने नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने की स्थिति मे आ गया हूँ। कम-विकसित देशो में उत्पादन और खपत के स्तरो और दिशा के बारे मे हमे जो जानकारी है तथा विकास सम्बन्धी प्रयासों में उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसके परिणामस्वरूप यह अनिवार्य दिखायी पड़ता है कि विकसित देशो को अपनी सहायता की राशियो में जल्दी-से-जल्दी पर्याप्त मात्रा मे वृद्धि करनी चाहिए। अत्यन्त उदारतापूर्वक जो घोषणाएँ की जाती हैं, यह कारंवाई उसके भी अनुरूप होगी, पर अब तक जो कुछ किया गया है यह उसके विपरीत होगा।

यथार्थवादी दृष्टिकोण से यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कम-विकसित संसार के बड़े भाग में सहायता की आवश्यकता को कम अवधि की आवश्यकता नही समझा जा सकता, सहायता की योजनाएँ लम्बी अवधि की दृष्टि से बनानी होंगी। किसी विशेष कम-विकसित देश को उस स्थिति में पहुँचने मे कितनी समय लगेगा, जिसे लोकप्रिय शब्दावली मे—और तर्क की दृष्टि से अस्पष्ट तरीके से[28]— 'स्वयं स्फूर्त' अथवा 'अपने प्रयासो से संचालित' कहा जाता है, यह बात सम्बन्धित देश को प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता के आकार और विकसित देशों की वाणिज्य नीतियो के अलावा सम्बन्धित कम-विकसित देश की उन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को अपने देश में लागू करने की इच्छा और क्षमता पर निर्भर करेगी, जिन सुधारों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग मे विचार किया गया है।

विशेषज्ञ और अधिकारी स्वयं को शक्तिशाली अवसरवादिता पर आधारित पूर्वाग्रहों से मुक्त कराने में असमर्थ रहे हैं। ये पूर्वाग्रह उनके मालिकों के हैं और मालिक कोई एक सरकार हो सकती है अथवा कई सरकारों का एक समूह।

यह शुद्धिकरण बौद्धिक स्पष्टता और ईमानदारी के हित में होगा। इस कारण से इसका हमारी जैसी सभ्यता मे व्यापक और स्वतन्त्र महत्त्व है। इस शुद्धि अभियान के परिणामस्वरूप सहायता की राशि मे वृद्धि करने के लिए लोक-प्रिय समर्थन प्राप्त करना बहुत आसान हो जायेगा।

इस प्रकार हमे उदारतापूर्वक सहायता देने, जिसके लिए बलिदान करने की आवश्यकता होती है, और व्यापार, जिसे सामान्यतया लाभदायक समझा जाता है, के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खीचनी होगी।

यदि सहायता ऋण के रूप मे दी जाती है—और अनेक मामलों मे इसका उपयोग राष्ट्रीय विधान सभाओं मे आसानी से स्वीकृति प्राप्त करने के लिए ही नही किया जाता—तो ऋण की अवधि में वृद्धि और बाजार दर से निचली दर पर ऋण परिशोधन की लम्बी अवधि में ब्याज लेने को ही सहायता कहा जा सकता है। वर्तमान समय तक किये गये भुगतानों का बट्टा निकालकर और इसे ऋण की राशि में से घटाकर सहायता की राशि की गणना की जा सकती है।

निजी पूंजी का प्रवाह, विशेषकर प्रत्यक्ष पूंजी निवेश तथा व्यापार—उन अनेक महत्त्वपूर्ण शर्तों सहित जिनका विवरण हमने अध्याय-9 और 10 मे दिया है—किसी भी कम-विकसित देश में विकास के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सहायता से अक्सर कम-विकसित देश के आर्थिक आधार मे सुधार किया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप निजी पूंजी निवेश मे वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार सहायता का लाभकारी प्रभाव प्रकट होता है और इसका उपयोग निजी पूंजी निवेश के लिए उपदान देने और इसमें वृद्धि करने के लिए भी किया जा सकता है। कुछ परिस्थितियो मे उपदान को, पर पूंजी निवेश को नही, सहायता कहा जा सकता है।

सामान्य व्यापारिक सौदों के लाभदायक प्रभावों को, यद्यपि सदा ये लाभ प्राप्त भी नही होते, सहायता कहकर पेश नही किया जाना चाहिए। यह सच है कि ऐसे सौदे अक्सर होते हैं और विकसित देशों के मध्य इनकी बहुत अधिक गुजाइश रहती है। जब विकसित देशों के बीच ऐसे सौदे होते हैं, तब इन्हे किसी भी स्थिति मे सहायता नहीं कहा जाता, चाहे ये सम्बन्धित पक्षों के लिए कितने भी लाभदायक क्यो न हों।

कम-विकसित देशो में जो निजी पूंजी निवेश किये गये हैं उन्हे सहायता की राशि के रूप में पेश कर भ्रान्ति उत्पन्न न करना और सम्बन्धित विकसित देशो के लोगो के मन में यह विश्वास जगाना कि वे कम-विकसित देशो के लिए कितना बलिदान कर रहे हैं, बेहतर होगा।

जब कोई विकसित देश—और यह बात केवल संयुक्त राज्य अमरीका तक ही सीमित रह गयी है क्योकि पश्चिम का अन्य कोई भी देश यह करने की बात नही सोचेगा—इस उद्देश्य से सहायता देता है कि यह उसके अपने सैनिक हितो मे है तो इस राशि को सहायता बजट से निकालकर राष्ट्रीय प्रतिरक्षा व्यय की मद में डाल देना चाहिए, चाहे यह सहायता हथियारों के रूप में हो, सैनिक

विश्व बैंक अत्यन्त दृढ़ता से इस सिद्धान्त पर डटा हुआ है और अपने कोष मे वृद्धि के लोभ में आकर विकसित देशों के दबाव के समक्ष झुकने को तैयार नही है।

सहायता के क्षेत्र में जो अन्य अन्तर-सरकार संगठन काम कर रहे हैं, और विशेषकर संयुक्तराष्ट्र विकास कार्यक्रम के कार्य संगठन, उन्होने भी सहायता पर शर्त लगाने का कड़ाई से विरोध किया है। पर इस प्रवृत्ति पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा कि कुछ सरकारी प्रतिनिधि इस बात का दबाव डालते हैं कि परामर्श देने वाली कम्पनियों को ठेके दे दिये जायें। अक्सर यह होता है कि इन कम्पनियों को किसी खास देश से माल खरीदने का आर्डर देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है और इस प्रकार इस नियम की उपेक्षा हो जाती है कि सहायता पाने वाले देश को प्रतियोगी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से अपनी इच्छानुसार माल खरीदने की छूट होनी चाहिए।

मेरा दूसरा मुद्दा सहायता की संकल्पना और सहायता देने सम्बन्धी तरीकों के शुद्धीकरण से पूरी तरह से सम्बद्ध नही है। यह मेरा दृढ विश्वास है, और यह अध्ययन और चिन्तन पर आधारित है—कि लोगों की नैतिक भावनाओं का लाभ उठाकर ही वह लोकप्रिय आधार बनाया जा सकेगा, जिसके आधार पर *कम-विकसित देशों को आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा मे सहायता में वृद्धि की जा सके।*

इस बात को स्पष्ट रूप से और आश्वासनदायक तरीके से प्रस्तुत करने के लिए सहायता देने के नैतिक कारण को राष्ट्रीय हित के उन झूठे कारणो से एकदम अलग और मुक्त करना होगा, जिनकी मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता की नीति के सम्बन्ध मे आलोचना की है। और सहायता की संकल्पना को वास्तविक बलिदानों के रूप में अभिव्यक्त करना होगा। इन बलिदानों को उन अनेक अवसरवादी तरीकों से विकृत नही बना देना चाहिए जिनकी मैंने ऊपर आलोचना की है। इन अवसरवादी तरीकों से सहायता की वास्तविक राशि को बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाने की कोशिश की जाती है।

मैं एक नैतिकतावादी के रूप में यह बात नही कह रहा हूँ। यह निश्चयपूर्वक सच है कि यह बात मेरे व्यक्तिगत मूल्याकनो से मेल खाती है और मेरे ईमानदारी और स्पष्टता के उस आग्रह से भी जिसे मैं आर्थिक विषयो के एक अध्ययनकर्त्ता के रूप में महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। लेकिन इन अपेक्षाओं और कारणो के अलावा मैं इस वक्तव्य में निहित एक समाजविज्ञानी की तथ्यों और वास्तविक कार्यकारण सम्बन्धों पर जोर देने की प्रवृत्ति को भी दर्शाना चाहूँगा, क्योंकि यह बात हमारे समसामयिक ससार मे आर्थिक नीतियों के अध्ययन से प्रकट होती है और मैंने अपने प्रतिपाद्य विषय की मान्यताओं के उदाहरण के रूप मे दो अत्यन्त समान देशो—संयुक्त राज्य अमरीका और स्वीडन—के भिन्न और विपरीत तरीकों का भी उल्लेख किया है।

हमारी पश्चिमी सभ्यता में सामान्य लोगों को—और ये वे लोग हैं जो अन्ततः हमारे देशों में नीतियों की दिशा का निर्धारण करते हैं—करुणा और संकटग्रस्त लोगों के प्रति एकता का भाव प्रदर्शित करने के आधार पर काम करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। ये लोग तथाकथित राष्ट्रीय हितों के प्रति जल्दी ही उदासीन हो जाते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जब, और यह

अक्सर होता है, ये राष्ट्रीय हित झूठे और गलत दिशा में प्रेरित दिखायी पड़ने लगते हैं।

युद्ध के बाद के अपने अनुभवों से हम एक महत्त्वपूर्ण सबक भी सीख सकते हैं। जब राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ नैतिक कारणों के महत्त्व को इस और अन्य अनेक क्षेत्रों में प्रकट करने से डरने लगते हैं तो स्पष्टतः सच्चा यथार्थवाद नदारद रहता है।

गहराई से देखने पर यह प्रकट हो जाता है कि यह भीरुता अपनी बात प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने वाले लोगों की जन-सामान्य के प्रति अवांछित कृपाभाव दर्शाने की प्रवृत्ति का अंग है। ये लोग हर प्रकार के छोटी अवधि के लाभों और निहित स्वार्थों से सम्बन्धित विशेष परिस्थितियों में इस सीमा तक उलझ गये हैं कि उन्हें सच्चाई को देखने-परखने में कठिनाई होती है।

मैं अत्यन्त स्पष्टता से इस बात में विश्वास करता हूँ कि किसी राष्ट्र की नैतिक शक्तियों पर अविश्वास करना अव्यावहारिक और हानिप्रद है। पिछले दो दशकों में कम-विकसित देशों को सहायता देने के सम्बन्ध में संसद से धन स्वीकृत कराने के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमरीका में जो कुछ होता रहा है, यह मेरे इस विश्वास को प्रमाणित कर देता है। राबर्ट ई०एशर ने भी ये विचार प्रकट किये हैं :

"अमरीका की जनता बेहद उदासीन दिखायी पड़ती है, सम्भवतः इसका कारण यह है कि अमरीका के लोगों की मानवीयता और बुनियादी भद्रता के प्रति उचित रूप से अपील नहीं की गयी है।"[29]

विकसित देशों में कम-विकसित देशों की भलाई के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व की भावनाओं की शक्ति को केवल इस बात का ज्ञान ही कम कर सकता है कि उन देशों में अक्सर अत्यन्त असमानतावादी सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण है और यह प्रवृत्ति आन्तरिक असमानताओं को बढ़ाने में सहायक बन रही है।[30]

अक्सर यह होता है कि इन देशों पर उच्च वर्ग के कुछ गिने-चुने वंशों अथवा व्यक्तियों के समूहों का शासन होता है और ये सत्तारूढ़ समूह अक्सर बदलते रहते हैं। इन सत्तारूढ़ समूहों के सदस्य अमीर हैं, और यदाकदा तो कल्पनातीत रूप से अमीर होते हैं। ये विभिन्न उपायों से प्रत्यक्ष करों से बच निकलते हैं, जबकि अप्रत्यक्ष करों का भारी भार जन-सामान्य पर पड़ता है। राज्य नरम हैं और भ्रष्टाचार बहुत व्यापक है तथा इसमें वृद्धि भी हो रही है।

वे नीतियाँ भी, जिन्हें गरीबों के हित में होने का ढिंढोरा पीटा जाता है, अक्सर इस प्रकार तोड़-मरोड़कर लागू की जाती हैं कि उनका लाभ उन लोगों को मिलता है जो अधिक गरीब नहीं हैं। और जहाँ तक विदेशी सहायता का सम्बन्ध है, यह अक्सर अत्यधिक अमीर लोगों की जेबों में ही पहुँच जाती है। इसका कारण वर्तमान बाजार की शक्तियों के संचालन का स्वाभाविक परिणाम हो सकता है अथवा साँठगाँठ। और गैर-कानूनी तरीकों से भी यह काम किया जा सकता है।

इस तथ्य के प्रति सजग न होना अव्यावहारिक होगा कि कम-विकसित देशों में वास्तव में जो घटनाएँ घट रही हैं और इन देशों के जीवन में जो यथार्थ हैं, उनकी जानकारी मिल जाने पर विकसित देशों के लोगों की उनके प्रति नैतिक दायित्व की भावना कमजोर पड़ जायेगी। "हम लोगों के दरवाजे पर भिक्षापात्र

लेकर आने से पहले ये लोग अपने देश के अमीर लोगों पर कर क्यों नही लगाते ?"
—एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है।

सहायता सम्बन्धी अपीलों के प्रति सार्वजनिक अथवा जन-सामान्य की प्रतिक्रिया के मार्ग मे आने वाली इस बाधा को दो तरीकों से दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। एक तरीका यह है कि इन तथ्यो को घटाकर दर्शाया जाय। यह बात कम-विकसित देशों के प्रभावशाली उच्च वर्ग के भी हित में है और, वास्तव मे, बड़े पैमाने पर यह काम किया भी जाता है।

वस्तुतः इन समस्याओं के विचार के समय जो पूर्वाग्रह सामने आते है, यह उनका एक प्रमुख कारण है। इस पुस्तक के पहले दो भागों में इन पूर्वाग्रहों पर विचार किया गया है। ये विधिवत् प्रयुक्त पूर्वाग्रह, जिनका उपयोग भद्दी और उलझन मे डालने वाली समस्याओ से बचने के लिए किया जाता है, इस और अन्य कारणो से वैज्ञानिक कार्य का भी स्वरूप निर्धारित करते हैं, जैसाकि हमने, अध्याय-1 में कहा है।

इन पूर्वाग्रहों के अनुरूप कम-विकसित देशो मे विकास सम्बन्धी विचार 'आर्थिक प्रगति' पर केन्द्रित हो गया है। इसकी परिभाषा मे इसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय में वृद्धि बताया जाता है। पर इस सन्दर्भ में आय के वितरण और अन्य सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तनों का कोई ध्यान नही रखा जाता जो विकास के स्वरूप का निर्धारण करते हैं, विशेषकर अपेक्षाकृत लम्बी अवधि में। यह 'प्रगति' अन्ततः 'प्रगति दरों' के माध्यम से मापी जाती है, जिसकी अत्यन्त अविश्वसनीयता पर अध्याय-8 के अन्त में टिप्पणी की गयी है।

नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण से इसकी एक कमजोरी यह है कि 'प्रगति' जैसी अमूर्त धारणाएँ विकसित देशो के लोगों की नैतिक प्रवृत्तियों को आकर्षित नही करती। यह विशष रूप से इस स्थिति मे होता है, जब राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहायता देने वाले सगठनों से जो विशेषज्ञ सम्बद्ध हैं, वे विकास सम्बन्धी अपर्याप्त संकल्पना और दोषपूर्ण आकड़ों के आलोचनारहित उपयोग से स्वयं को और अन्य लोगों को इस बात से आश्वस्त करने में सफल हो जाते हैं कि कम-विकसित देश विकास के मार्ग पर काफी आगे बढ गये हैं। दुर्भाग्यवश यह वंचना—और आत्म-वंचना—बहुत सामान्य बात बन गयी है।

[illegible] गरीबी सम्बन्धी जानकारी जुड जाती [illegible] सम्बन्धी जानकारी होती है, तो [illegible] समझते हैं कि कुल आय मे वृद्धि के साथ-साथ इस अत्यन्त निर्धन जन-सामान्य की आय में भी वृद्धि होगी। इसके परिणामस्वरूप विकसित देशों में एक प्रकार की सन्तुष्टिपूर्ण ढील आ जाती है और भार वहन करने तथा अधिक बलिदान देने की इच्छा और तत्परता में वृद्धि नहीं होती।

पर अक्सर यह होता है कि इस प्रयास के द्वारा कम-विकसित देशों के उन *तथ्यों को पूरी तरह से छिपाने में सफलता नहीं मिलती, जिन्हे मैं जीवन के तथ्य* कहता हूँ और विशेषकर अत्यधिक असमानताओं और इन असमानताओं में वृद्धि की प्रवृत्ति को छिपा पाना सम्भव नहीं हो पाता। अब क्योंकि विकास की पूर्वाग्रहग्रस्त और सतही परिभाषा दी जाती है, जिसमें इसे 'प्रगति' बताया जाता

है और जिसकी गणना ऊपर वर्णित अत्यन्त गलत तरीके से की जाती है, अतः उसका परिणाम बौद्धिक भ्रान्ति होता है। यह नैतिक मूल्यांकन में ईमानदारी बरतने के लिए उचित वातावरण का निर्माण नहीं करती।

यह विश्वास करना गलत होगा कि इन भद्दे तथ्यों को विकसित देशों के जन-सामान्य की नजर से पूरी तरह छिपाकर रखा जा सकता है। आर्थिक विश्लेषण में पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के प्रयोग के बावजूद, और राजनीतिक विचार में इन भद्दे तथ्यों को जन-सामान्य की नजर से छिपाकर रखने के अवसरवादी प्रयासों के बावजूद, ये प्रकट हो जायेंगे।

मैं इस बात से पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि लोकप्रिय और राजनीतिक बहस में नैतिक भावनाओं सम्बन्धी दृष्टिकोण को पूरी तरह प्रकट करना आवश्यक है क्योंकि इससे उक्त अवसरवादी पूर्वाग्रहों को उखाड़ फेंकने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। इस स्थिति में लोग यह माँग करेंगे कि कम-विकसित देशों के सत्तारूढ़ समूहों को फलने-फूलने देने के लिए सहायता नहीं दी जानी चाहिए। वे यह माँग करेंगे कि सहायता केवल उन्हीं देशों को दी जाये जो सामाजिक सुधार लागू करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास करते हैं और उस स्थिति में भी सहायता पर यह शर्त लगाई जाय कि इन सुधारों को अवश्य लागू किया जायेगा। वस्तुतः इन सुधारों को और अधिक सम्भव बनाने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। अक्सर इसका यह अर्थ होगा कि प्रतिक्रियावादी सरकारों को मजबूत बनाने के लिए सहायता न दी जाय, जो सुधारों का प्रतिरोध करने के लिए कृतसंकल्प हैं।

नैतिक दृष्टि से सहायता सम्बन्धी नीतियाँ तटस्थ नहीं हो सकती (देखिये अध्याय-8)। और तटस्थ सहायता नीति के प्रति नैतिक आस्था को सार्वजनिक समर्थन प्राप्त नहीं होगा। सामाजिक परिस्थितियों के प्रति नैतिक भावनाएँ कभी भी तटस्थ नहीं हो सकतीं।

कुछ सरकारों ने यह अनुभव भी किया है। जब सन् 1962 में स्वीडन सरकार ने कम-विकसित देशों को सहायता देने के व्यापक लक्ष्यों को पहली बार प्रतिपादित किया तो ये विचार प्रकट किये गये :

"मानव गरिमा और सामाजिक समानता के दावों की संकल्पना, जिसके आधार पर पिछली शताब्दी में पश्चिम के अधिकांश देशों में विकास हुआ है, किसी राष्ट्रीयता अथवा जाति की सीमा पर जाकर नहीं रुक जाती'''अन्तर्राष्ट्रीय एकता और दायित्व की बढ़ती हुई भावना इन तथ्यों को समझने की गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है कि शान्ति, स्वतन्त्रता और कल्याण पूरी तरह से राष्ट्रीय चिन्ता के विषय नहीं हैं, बल्कि ये सार्वभौम और अविभाज्य बनते जा रहे हैं। सहायता के पीछे छिपा आदर्शवादी उद्देश्य इसी प्रकार अत्यन्त यथार्थवाद भी है। कम-विकसित देशों को सहायता देने के लिए स्वीडन को अन्य किसी उद्देश्य की आवश्यकता नहीं है।

"'''हम अपने सहायता कार्यक्रमों को इस प्रकार संचालित करने का समुचित प्रयास कर सकते हैं कि वे हमारे सर्वोत्तम निर्णय के अनुसार राजनीतिक लोकतन्त्र और सामाजिक समानता में वृद्धि में सहायक बनें। यह बात स्वीडन द्वारा दी जाने वाली सहायता के लक्ष्यों के अनुरूप नहीं है कि यह प्रगति विरोधी

सामाजिक संरचना को बनाये रखने में मदद दे।"[31]

यह कहना न्यायोचित होगा कि यथार्थ मे स्वीडन ने जिस सहायता नीति का अनुकरण किया वह पूरी तरह से इस घोषित आदर्श के अनुरूप नहीं रही। पर धीरे-धीरे यह हो जायेगा। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि राजनीतिक और नौकरशाही व्यवस्था के ऊपर जन-सामान्य का दबाव पड़ने का यही परिणाम होगा। सितम्बर 1969 में समाजवादी लोकतन्त्री पार्टी के सम्मेलन में इस बात की पुष्टि हुई।

संयुक्त राज्य अमरीका में उदारतावादी संसद सदस्यों की नैतिक उत्तरदायित्व की इस भावना को कि अमरीकी सहायता का उपयोग कम-विकसित देशों के जन-सामान्य के हितों में किया जाय, 1966 के विदेश सहायता अधिनियम, एल, अनुच्छेद-9 में अत्यन्त मुखर अभिव्यक्ति मिली। पर इरादों की इस घोषणा का संसद के व्यावहारिक निर्णयों और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था के कार्य पर इस दृष्टि से कोई प्रभाव नहीं हुआ कि सहायता की राशि का किस प्रकार वितरण और उपयोग किया जाय।

*अध्याय-4, अनुभाग-3* में मैंने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है कि भूमि सुधार जैसी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास समस्या तक को उस समय नजरअन्दाज कर दिया गया, जब उक्त अधिनियम के अनुच्छेद-9 के सिद्धान्तों के स्तर पर विचार हो रहा था। भूमि सुधार के बारे में प्रमुख व्यावहारिक प्रयास दक्षिण वियतनाम पर ही केन्द्रित रहे और यह कार्य एंगो दिन्ह दियेम की हत्या से बहुत पहले शुरू हो गया था।

पर यह प्रयास वियतनाम की जनता की आत्मा पर अधिकार की राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे से चल रही होड़ के दावपेंच के रूप में शुरू हुआ था। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने यहाँ तक घोषणा की कि इसका उद्देश्य दक्षिण वियतनाम में 'सामाजिक क्रान्ति' लाना है। पर यह सामरिक नीति अधिकांशतया सैगोन सरकार के प्रतिरोध के कारण प्रभावहीन बनी रही। सैगोन की सरकारों में चाहे किसी भी रूप में परिवर्तन हुआ, जमींदारों के हित सर्वोपरि रहे और इन्हीं हितों ने सरकार की कार्रवाइयों को प्रभावित किया।[32]

अधिकांशतया यह तथ्य मौजूद रहा कि व्यवहार में अमरीका की सहायता नीति अनुच्छेद-9 में वर्णित नैतिक दृष्टिकोण से पूरी तरह दूर रही। प्रायः नियमित रूप से संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं को कम-विकसित देशों में प्रतिक्रियावादी और भ्रष्ट शासनों को सत्तारूढ़ रखने के प्रयास में लगा हुआ पाया। यह समझाते समय कि संयुक्त राज्य अमरीका में सहायता के लिए लोकप्रिय समर्थन में क्यों कमी होती गयी, यहाँ तक कि उदारतावादी लोगों के मध्य भी समर्थन घटता गया, इस बात को उचित महत्व दिया जाना चाहिए।

यदि आवश्यकता के अनुसार सहायता की राशि में पर्याप्त वृद्धि करनी है तो नयी विचारधारा में एक बड़ा तत्व निस्सन्देह यह होगा कि सहायता का उपयोग कम-विकसित देशों के जन-सामान्य के हितों के अनुरूप सुधार लागू करने के लिए किया जाये और उन उद्देश्यों से छुटकारा पाया जाये जो नैतिक दृष्टिकोण से गलत दिखायी पड़ते हैं।

कम-विकसित देशों में ऐसे अनेक देश हैं जो विशेष रूप से गरीब हैं अथवा

जिन्हें विभिन्न कारणों से विकास करने के प्रयास में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। जब नयी विचारधारा के अनुसार सहायता में आमूल परिवर्तन किया जायेगा, जहाँ नैतिक प्रेरणा निर्णायक बन जायेगी, तो यह अनिवार्य रूप से होगा कि सबसे अधिक कम-विकसित देश को विशेष तरजीह दी जाये।

यह बात एक प्रस्थापित सिद्धान्त के विपरीत जाती है, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में इस लोकप्रिय नारे की आड़ में, कि कम-विकसित देशों को सहायता 'आत्म-सहायता के लिए सहायता' के रूप में दी जानी चाहिए। यह निस्सन्देह ठोस सिद्धान्त है पर इसके आधार पर अक्सर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कम-विकसित देशो मे सहायता देने के लिए उन देशो को प्राथमिकता दी जाये, जिनके तेजी से विकास की अधिकतम सम्भावना हो। यह अत्यधिक सन्देह-पूर्ण बात है।

यदि इसका अर्थ यह होता है कि सबसे पहले सहायता उन देशों को दी जाय जिनकी सरकारें आन्तरिक सुधार करने के लिए कृतसंकल्प हो, तो इसका कोई विरोध नही कर सकता, क्योकि यह विकास की बहुत आवश्यक शर्त है। यह बात उस प्रकार की सरकारों और सरकारी नीतियों के प्रति राजनीतिक गैर-तटस्थता के सिद्धान्त मे भी मेल खाती है जिनके बारे मे ऊपर लिखा गया है। पर यदि इसका अर्थ यह होता है कि निर्धनतम देश, जो अधिकतम कठिनाइयों का सामना कर रहे हों उन्हें सहायता न दी जाय, तो इस नीति सम्बन्धी नियम को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकसित देशों की संसारव्यापी जिम्मेदारियो के निर्वाह के लिए यह नियम ग्राह्य नहीं हो सकता।

कम-विकसित देशो के सामूहिक दबाव के अन्तर्गत इस बात को अमूर्त प्रस्ताव के रूप में सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यापार और विकास सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन मे यह माँग की गयी कि संयुक्त राष्ट्र के संगठन "अपने सहायता कार्यक्रम निर्धारित करते समय और लागू किये जाने योग्य कार्यक्रमों को निर्धारित करते समय तथा इन कार्यक्रमों के लिए धन देते समय सबसे कम-विकसित देशों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दें।"[33] इसी भावना के अनुरूप विश्व बैंक के नये अध्यक्ष, रावर्ट एस० मैक्नामारा ने सन् 1968 मे संचालक मंडल के समक्ष अपने पहले भाषण मे बैंक की ओर से घोषणा की :

"हम विश्व बैंक समूह के कार्यों के एक उलटे पहलू को सीधा करने की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे: यह तथ्य हमारे सामने मौजूद है कि हमारे अनेक निर्धनतम सदस्यों को अपनी अधिक आवश्यकताओ के बावजूद बैंक समूह से तकनीकी और वित्तीय सहायता न्यूनतम मिली है। लगभग दस ऐसे देशों को किसी भी प्रकार के ऋण नही मिले हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि वे बैंक के विचारार्थ योजनाओं का विवरण तैयार करने में असमर्थ रहे। ऐसे मामलों में हम आर्थिक कार्यों को बेहतर ढंग से करने और बैंक समूहो से वित्तीय सहायता के लिए योजनाएँ निर्धारित और तैयार करने के लिए विशेष सहायता देंगे।"[34]

न तो संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के प्रस्ताव मे और न ही किसी अन्य सम्बन्ध मे, फिलहाल एकदेशीय आधार पर कही बडी मात्रा मे दी जाने वाली सहायता का कोई उल्लेख नही हुआ।

संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के सचिवालय ने इन सर्वाधिक कम-विकसित देशों की सूची तैयार करने के प्रयास किये है।[35] इस सचिवालय ने यह ब्यौरा तैयार करने का भी प्रयास किया है कि किस प्रकार इन देशों को सहायता दी जा सकती है।[36] सचिवालय ने नीति सम्बन्धी उपायों की जो सूची तैयार की है और जिसकी प्रतिध्वनि संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के प्रस्ताव में भी हुई है---जिसमे जिन्स करारों, क्षेत्रीय आधार पर सहयोग आदि को विशेष तरजीह देने की बात भी शामिल है---वह किसी को भी इस बात से आश्वस्त नही करती कि इन प्रस्तावों से कोई भी ठोस कार्य हो सकेगा।

प्रमुख बात सीधे-सादे ढंग से सहायता की ही होनी चाहिए, जो आंशिक रूप से उस सामाजिक नीति के सिद्धान्त के आधार पर दी जाय जो विकसित देशों के राष्ट्रीय हितकारी राज्य मे नीतित है। इसके बाद यह विश्वास किया जा सकता है कि किसी भी क्षेत्र अथवा समूह के लोगो का जीवन स्तर एक राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर से नीचा नही रहेगा और हर व्यक्ति को अपनी स्थिति में सुधार करने का उपयुक्त अवसर मिलेगा। मानक स्तरों पर सामाजिक सेवाएँ उपलब्ध करायी जानी चाहिएँ और इन सेवाओ के लिए सार्वजनिक कोष से अंशदान दिया जाना चाहिए।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को भी निर्धनतम देशों में लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए अंशदान करना चाहिए। यदि ऐसी सहायता पौष्टिक आहार के स्तर को तथा शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए दी जाये, तो अपेक्षाकृत लम्बी अवधि मे यह विकास के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली सहायता सिद्ध होगी।

सब कम-विकसित देशो की तरह इन सर्वाधिक कम-विकसित देशों मे अत्यन्त भिन्नता है। तंजानिया, इथियोपिया की तरह ही गरीब और कम-विकसित है। तंजानिया की सरकार आन्तरिक सुधार लागू करने के लिए कृतसंकल्प है, जबकि इथियोपिया राजनीतिक दृष्टि से गतिहीन और सामन्ती देश है। किसी भी नैतिक दृष्टि से प्रेरित सहायता नीति के अन्तर्गत तंजानिया सरकार को इथियोपिया सरकार से अधिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार मिलेगा।

यदि विकसित देश यह करार कर लेते हैं कि सहायता देने वाले देश से ही माल मँगाने की शर्त नहीं लगायी जायेगी, और यह कार्य हर दृष्टि से तर्कसम्मत होगा, तो इसमे एकदेशीय आधार पर सहायता देने का राष्ट्रीय निहित स्वार्थ भी कम हो जायेगा और यह अधिकाधिक सम्भव हो सकेगा कि सहायता को बहुदेशीय और अन्तर-सरकार संगठनों के माध्यम से ही वितरित किया जाय।

एक ऐसे सुधार के पक्ष में जो कारक है, उनमे यह भी शामिल है कि सहायता के क्षेत्र में अन्तर-सरकार संगठन अपेक्षाकृत सफल रहे है। वस्तुतः इसका सबसे बडा उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक है।

आरम्भ से ही, विश्व बैंक ने अपने असाधारण व्यक्तित्व वाले अध्यक्षो के अधीन निर्णय लेने की असाधारण स्वतन्त्रता दिखायी है। संयुक्त राज्य अमरीका के सम्बन्ध में भी यह स्वतन्त्रता दिखायी गयी है और यह आशा की जा सकती है कि बैंक इसी दिशा मे और आगे बढ़ेगा। यह आवश्यक है कि बैंक बहुत

*अधिक गरीब कम-विकसित देशों और वामपन्थी सरकारों वाले देशों के सम्बन्ध* में अपनी गतिविधियों में वृद्धि करे। वामपन्थी सरकारें अधिकांशतया ऐसी होती हैं जो अपने आन्तरिक सुधारों की आवश्यकताओं के सम्बन्ध मे गम्भीर और आमूल परिवर्तनवादी तरीके से काम करती हैं।

पर समग्र दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम और उसके कार्यदल तथा विभिन्न देशों मे नियुक्त प्रतिनिधि अपने कार्य में सफल रहे हैं और उनकी सफलता में निरन्तर वृद्धि हुई है, चाहे अभी भी सुधारों की अपेक्षा क्यो न हो। इस आशय की अफवाहें हैं कि आगामी जैक्सन रिपोर्ट में—*और इसके प्रकाशन से पहले ही समाचारपत्रों मे प्रकाशित सनसनीखेज* विवरणों में—बहुदेशीय आधार पर सहायता के प्रति अत्यधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है और खामियों का उल्लेख किया गया है। यह बात एकदेशीय आधार पर सहायता देने वाली राष्ट्रीय संस्थाओं के अधिकारियों के मन मे बहुदेशीय आधार पर सहायता देने के प्रति विरोध के भाव के अनुरूप सिद्ध होगी। इसी प्रकार राष्ट्रीय विधान सभाओं और सरकारी अधिकारियो में भी बहुत से ऐसे लोग होंगे जो बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का विरोध करने के कारण इसका स्वागत करेंगे।

इसका प्रभाव यह हो सकता है कि इस रिपोर्ट से विकसित देशों मे उन लोगों को नये तर्क प्राप्त हो जायेंगे जो इस प्रकार की बहुदेशीय सहायता की राशि को बढने नही देना चाहते अथवा इसमें कमी तक करना चाहते हैं। यह परिणाम निकलने की अधिक सम्भावना है, क्योंकि विधान सभाओं मे और जन-सामान्य के मध्य भी ऐसे बहुत से लोग हैं जो कम-विकसित देशों को दी जाने वाली हर प्रकार की सहायता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और जिन्हें इस रिपोर्ट से अच्छा मसाला मिल जायेगा। अब क्योंकि अधिकांश विकसित देशो में, विशेष कर संयुक्त राज्य अमरीका मे, एकदेशीय आधार पर भी सहायता की राशि में पर्याप्त वृद्धि करने की सम्भावना बहुत कम है, तो इसका यह परिणाम हो सकता है कि कम से कम फिलहाल वास्तविक अर्थों मे सहायता की कुल राशि में कमी जारी रहेगी।

पर समस्त कमजोरियों के बावजूद यह तथ्य हमारे सामने मौजूद है कि तकनीकी सहायता और पूंजीगत सहायता के व्यापक क्षेत्र में समग्र दृष्टि से बहुदेशीय आधार पर सहायता कार्यक्रम अधिक सफल रहा है और राष्ट्रीय एकदेशीय कार्यक्रमों की तुलना में इसकी सफलता कही अधिक रही है। दस वर्ष तक संयुक्त राष्ट्र के एक अधिकारी के रूप मे काम करने से मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ और उसके बाद तीसरी दुनिया के विभिन्न हिस्सो मे मैंने जो प्रेक्षण किये, उनके आधार पर मैं उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वर्तमान सन्दर्भ मे मैं अपने इस निष्कर्ष को इसी रूप में छोड देता हूँ, यद्यपि मुझे आशा है कि आगे चलकर कभी मैं इस समस्या पर और विचार करूंगा।

वस्तुत. बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का सर्वाधिक सामान्य कारण यह है कि इससे सहायता के बारे मे संकीर्ण राष्ट्रीय हितो के आधार पर निर्णय लेने का महत्त्व सीमित हो जायेगा। और इस बड़े कारण के अलावा, इससे सहायता सम्बन्धी समस्त वातावरण में सुधार होगा। जैसाकि एशर ने कहा है:

"किसी समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा सर्वाधिक सावधानी से द्विदेशीय आधार पर तैयार किया गया सहायता कार्यक्रम गरीब और कमजोर देशों मे सन्देह की दृष्टि से देखा जायेगा, पर यह सन्देह बहुदेशीय आधार पर दी जाने वाली सहायता के सन्दर्भ में नही होगा। इसके परिणामस्वरूप, कम आय वाले देशों में विकास और संसारव्यापी बेहतर व्यवस्था की दिशा मे आगे बढ़ने की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका का स्थायी हित इस बात में निहित है कि विकास के लिए दी जाने वाली सहायता बहुदेशीय आधार पर अधिकाधिक माता मे वितरित की जाये।"[37]

विश्व बैंक के एक भूतपूर्व अध्यक्ष, यूजीन ब्लैक, कार्यकुशलता की दृष्टि से बहुदेशीय आधार पर सहायता देने को बेहतर समझते हैं :

"यदि यह धन द्विदेशीय आधार पर दिया जाता है तो क्या हमें सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं अथवा यह धन बहुदेशीय संस्थाओं के माध्यम से दिया जाना चाहिए ?···मेरा विश्वास है कि तत्सम्बन्धी वर्तमान आग्रह को बदला जाना चाहिए और बदला जा सकता है अर्थात् द्विदेशीय सहायता के स्थान पर बहुदेशीय आधार पर सहायता दी जानी चाहिए। अक्सर द्विदेशीय सहायता—और दुर्भाग्यवश अधिकाधिक माला मे—सहायता देने वाले देश के माल की खरीद की शर्त से जुडी होती है। सहायता देने वाले देश के इरादे चाहे कितने भी अच्छे क्यो न हो पर इस बात की सम्भावना रहती है कि वह अपने देश के वाणिज्य हितो के इस दबाव मे आ जाये कि अमुक विदेशी योजना के लिए अमुक माल की खरीद के लिए ही धन दिया जाये, चाहे इन योजनाओं का अपने आप मे कोई औचित्य हो या नही। और सहायता प्राप्त करने वाले देश की सरकार चाहे कितनी भी समझदार क्यो न हो, उसके लिए नीची प्राथमिकता वाली योजनाओं के लिए और ऐसी शर्तों पर जो देश की परिस्थितियो के अथवा योजना की आवश्यकताओ के अनुरूप न हो, वित्तीय सहायता के प्रस्ताव का स्वीकार न करना कठिन होगा।

"पर द्विदेशीय सहायता कार्यक्रम की मेरी सर्वाधिक गम्भीर आलोचना यह है कि ये कार्यक्रम राजनीतिक प्रभावों से ग्रस्त होते हैं, चाहे ये प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ें अथवा नही। सबसे बुरी स्थिति में सहायता को राजनीतिक सौदेबाज़ी के रूप में दिया अथवा दवाव डालकर लिया जाता है और इसमे सहायता प्राप्त करने वाले देश की वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओ का कोई ध्यान नही रखा जाता। पर सर्वोत्तम स्थिति में, इस बात का खतरा बना रहता है कि राजनीतिक प्रभाव विकास सहायता को गलत दिशा दे सकते हैं, क्योंकि राजनीतिक प्रभावों से ऐसी बातें जुडी रहती हैं, जिनका वास्तविक आवश्यकताओ से कोई सम्बन्ध नही होता। मुझे ऐसे मामलों की जानकारी है जहाँ सहायता की राशि से एक शानदार नया खेल स्टेडियम बनाया गया, जबकि सड़कें आदिम हालत में ही पडी रही अथवा राष्ट्रीय हवाई अड्डे की अत्यधिक आधुनिक इमारत बना दी गयी, जबकि सूखी पर अन्यथा उपजाऊ जमीन सिचाई सुविधा के अभाव मे व्यर्थ पडी रही। जब आर्थिक निरपेक्षता समाप्त हो जाती है, तो आर्थिक प्राथमिकताएं अनिवार्य रूप से भ्रान्तिग्रस्त हो जाती हैं और उस स्थिति मे आर्थिक निरपेक्षता को बनाये रखना आसान नही होता, जब सहायता

पर राजनीतिक उद्देश्यों का प्रभाव मौजूद हो। इतना ही नहीं, समस्या किसी निश्चित धन राशि की बरबादी तक ही सीमित नहीं रह जाती, इसकी जड़ें कहीं गहराई तक जाती हैं। किसी ऐसी सरकार को सहायता देने का हानिकारक प्रभाव होता है, जो अपने देश की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करने की इच्छा नहीं रखती। पिछले दशक में द्विदेशीय आधार पर जो ऋण दिये गये हैं, उनमें से कुछ के अत्यधिक स्पष्ट परिणाम निकले हैं और इन ऋणों के परिणाम-स्वरूप ऋण प्राप्त करने वाले देश वांछित सुधारों को स्थगित करने मे सफल रहे। इसका कारण यह रहा कि अच्छे इरादों से, लेकिन गलत मूल्यांकन के आधार पर, सहायता के प्रस्ताव प्राप्त होते रहे, सम्बन्धित सरकारें कराधान की प्रणाली अथवा मुद्रा सम्बन्धी आवश्यक सुधारों जैसे अनिवार्य लेकिन शासकों के लिए अग्राह्य कार्यों को स्थगित करती रहीं।"[38]

एकदेशीय आधार पर सहायता देने के स्थान पर बहुदेशीय आधार पर सहायता देना धीरे-धीरे शुरू करने के विचार का विरोध विकसित संसार की वे सरकारें करती हैं, जो विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय हित साधन के लिए सहायता का इस्तेमाल करना चाहती हैं। कुछ सीमा तक, यद्यपि यह बहुत कम है, ऐसे कम-विकसित देशों की सरकारें भी इसका विरोध करती हैं, जो यह अनुभव करती हैं कि वे किसी खास देश, मुख्यतया संयुक्त राज्य अमरीका, से अपने सम्बन्धों का अनुचित लाभ उठा सकती हैं।

पर अधिकांश कम-विकसित देश राजनीतिक तत्त्व को अधिक व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ मे देखने के लिए बहुत उत्सुक हैं। वे यह चाहते हैं कि उन्हें अपनी इच्छानुसार काम करने की अधिक छूट हो और उन्हें सहायता सम्बन्धी सिद्धान्तो और निर्देशों के निर्धारण में हिस्सा मिले।

यह बात पर्याप्त विरोधाभासपूर्ण है कि संयुक्त राज्य अमरीका, जिसने अपनी सहायता नीति में राष्ट्रीय हितों का अत्यधिक खुलकर ध्यान रखा है, ऐसे बड़े देशों में से एक देश है जो अब बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का समर्थन कर रहे हैं। वस्तुतः इसका स्पष्टीकरण इस बात मे निहित है कि 'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों मे' सहायता देने के उनके अनुभव विदेश नीति की असफलता और अत्यन्त कटु अनुभवों में समाप्त हुए हैं।

सेनेटर जे० विलियम फुलब्राइट इस सद्धान्तिक आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं। वे यह चाहते है कि सहायता को "एक राष्ट्रीय दान और शीत युद्ध की होड के एक पूंजी निवेश से बदल कर, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व बना दिया जाय" और "उस क्षयकारी अत्याचार को समाप्त कर दिया जाय, जो द्विदेशीय आधार पर सहायता देने वाला और सहायता प्राप्त करने वाला देश एक-दूसरे के प्रति करता हुआ दिखायी पड़ रहा है।"[39] अमरीका के संसद सदस्यो में फुलब्राइट के विचार को निरन्तर अधिकाधिक समर्थन प्राप्त होता जा रहा है और अमरीकी जनता के प्रबुद्ध वर्ग से भी यह समर्थन मिल रहा है।

भूतपूर्व वित्त मन्त्री हेनरी एच० फाउलर ने विश्व बैंक के संचालक मण्डल की 1968 की वार्षिक बैठक में यह विचार प्रकट किया :

"अब इस बात में सन्देह नहीं रह गया है कि बहुदेशीय आधार पर सहायता देने का प्रभावशाली दृष्टिकोण विकास के लिए बड-बड़े कोष जुटाने में सर्वाधिक

सहायक बन सकता है और इस धन राशि का न्यायोचित आधार पर वितरण भी किया जा सकता है…आज बहुदेशीय संस्थाओं को जो विश्वास प्राप्त है, उसके परिणामस्वरूप वे इस स्थिति में आ गयी हैं कि सहायता के लिए आवश्यक साधन जुटाने की जटिल प्रक्रिया में रचनात्मक नेतृत्व प्रदान कर सकें। और यह धनराशि विकासशील देशों की मांगों के अनुरूप हो सकती है…किसी भी एक देश को चाहे वह सहायता देने वाला हो अथवा सहायता प्राप्त करने वाला, इस प्रकार का निरंकुश नेतृत्व प्रदान करने के लिए सामने नहीं आना चाहिए और वस्तुतः कोई देश यह नेतृत्व दे भी नहीं सकता। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं के नेतृत्व की प्रभावशालिता का पूरा उपयोग करके ही हम विकास कार्यों के लिए आवश्यक वित्त जुटाने की समस्या को सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से सुलझा सकते हैं।"[40]

स्वीडन में—इस पुस्तक में स्वीडन का उपयोग एक दूसरे सन्दर्भ देश के रूप में किया गया है—सरकार ने बहुदेशीय आधार पर सहायता देने के प्रति निश्चित और स्पष्ट वचनबद्धता देना शुरू कर दिया है। इस सम्बन्ध में एक कारण यह दिया गया कि इस कार्य में संयुक्त राष्ट्र समूह में अन्तर-सरकार संगठनों की शक्ति बढ़ेगी। स्वीडन आज भी अपनी सहायता की लगभग आधी राशि संयुक्त राष्ट्र परिवार की संस्थाओं के माध्यम से देता है।

पर इसके साथ ही स्वीडन सरकार ने एक ऐसी संस्था भी बनायी जिसे एकदेशीय आधार पर सहायता का शेष कार्य सौंपा गया। द्विदेशीय आधार पर सहायता देने का स्वीडन में हाल तक यह कारण रहा और इसी प्रकार स्केंडीनेविया के अन्य देशों में भी, कि वे देश यह अनुभव करते थे कि वे कम-विकसित देशों को अपने जन-समुदाय में सन्तति निरोध का प्रचार करने के लिए आवश्यक सहायता दे सकते हैं (देखिये अध्याय-5)।

पर जब एक बार किसी नौकरशाही संस्था की स्थापना हो जाती है, तो यह अपने प्रसार के लिए स्वतः गतिशीलता उत्पन्न कर लेती है। और यह संस्था भी बड़ी तेजी से बढ़ी। यह कार्य उन तरीके से हुआ जिसे साधारणतः [illegible] पार्किन्सन के नियम का संयुक्त प्रभाव कहा जा सकता है। [illegible] प्रति सतर्क रहने के कारण यह संस्था कम-विकसित देशों [illegible] कार्यक्रमों के प्रति एक प्रकार का राष्ट्रीय गर्व जगाने [illegible] यह कार्यक्रम बहुत बड़े अथवा प्रभावशाली नहीं थे। [illegible] सन पर दबाव को रोक देने में भी सफलता मिली कि सहायता [illegible] बहुदेशीय आधार पर दी जावे।

प्रतिरोध की अपेक्षा की जा सकती है, वे जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड जैसे मध्यम आकार के देश हैं। अब ये देश बड़ी सफलतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों में सहायता का इस्तेमाल कर रहे हैं, लेकिन आजकल इन हितों में सैनिक और सामरिक हित अधिक नहीं हैं। ये ऐसे हित नही हैं, जिनके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका में असफलता और निराशा की भावना उत्पन्न हुई थी।

इस बात के अलावा कि इस सम्बन्ध मे सफलता आसानी से प्राप्त की जा सकती है अथवा नही, एकदेशीय आधार पर सहायता में कमी करने और बहुदेशीय आधार पर सहायता को और अधिक व्यापक बनाने के तर्कसम्मत कारण इतने प्रभावशाली हैं कि हमें इस सम्बन्ध में प्रयास करना चाहिए। और हमें इस सम्बन्ध में उस बात के धोखे में नही आ जाना चाहिए, जिसे मैं झूठा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद कहता हूँ। यह तथ्य कि कुछ देश एकदेशीय आधार पर सहायता देने पर ही जमे रहना चाहेंगे, अन्य देशों के मार्ग में बाधक नही होना चाहिए और संयुक्त राज्य अमरीका के मार्ग मे तो किसी भी रूप मे नही। इन देशों को अपनी सहायता की और अधिक राशि अन्तर-सरकार संगठनों को सौंपनी चाहिए।

आगामी कुछ वर्षों में संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश सहायता की राशि में और अधिक कमी की पूर्वकल्पना की जा सकती है। मैं पहले ही यह कह चुका हूँ कि मैं निराशावादी नही हूँ। मैं यह कल्पना करता हूँ कि इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आयेगा और इस दिशा में हमे अवश्य प्रयास करना चाहिए।

अमरीकी सहायता में कमी ने वह दिशा ग्रहण को है, जिसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ, पर इस बात की सम्भावना है कि यह कमी सब विकसित देशों के सहायता कार्यक्रमों मे वृद्धि करने की एक पूर्व शर्त बने और भविष्य मे सहायता की राशि पर्याप्त बड़ी हो जाये और यह सहायता उन आदर्शों के अनुरूप दी जाने लगे, जिन्हें मैं अमरीका के आदर्श भी समझता हूँ।

हमे वर्तमान स्थिति को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिए। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद, संयुक्त राज्य अमरीका एक ऐसे आवश्यकता से अधिक अमीर देश के रूप में सामने आया, जिसे युद्ध से क्षति नहीं पहुँची थी, बल्कि युद्ध के परिणामस्वरूप जिसकी स्थिति मे बहुत अधिक सुधार हो गया था। अतः संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप दोनों स्थानों पर लोगों और राजनीतिज्ञों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे इसे सामान्य और उचित बात के रूप में स्वीकार करे कि अमरीका संसार के उस भाग के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रायः पूरा वित्तीय भार अपने ऊपर ले, जिसे इसकी आवश्यकता थी।

यह स्थिति बदल गयी है। अन्य विकसित देश भी अब अमीर हो गये हैं। राष्ट्रीय पुनर्वितरण प्रणाली की तरह एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्वितरण प्रणाली भी भार वहन की दृष्टि से न्यायोचित होनी चाहिए।

यदि एक सामान्य अमरीकी ने घटनाक्रम को गहराई से नही समझा है, तो यह बात भी स्वाभाविक है। सम्भवतः वह विश्वास करता है कि आज भी उसका देश अधिकाश सहायता देता है और संयुक्त राज्य अमरीका में सार्वजनिक बहस, विशेषज्ञों तक के स्तर पर, इस मान्यता के आधार पर बड़े विचित्र ढग से चल रही है कि अमरीकी सहायता एकमात्र महत्त्वपूर्ण बात है। यह स्वयं अपने दायरे

तक ही सीमित रहने का एक और अतिवादी उदाहरण है और अपेक्षाकृत बड़े देश के समक्ष यह खतरा मौजूद रहता है।

पर सहायता के क्षेत्र में अमरीकियों का अपने देश के अत्यधिक ऊँचे महत्त्व के बारे मे गलत विचार है। यदि हम सही तस्वीर पेश करने के लिए सब आवश्यक कटौतियाँ करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि संयुक्त राज्य अमरीका अपने हिस्से से अधिक कुछ नही दे रहा है। और यदि सहायता की राशि मे सम्भावित कमी होती है तो स्थिति और भी खराब दिखायी पड़ेगी।

छठें दशक के आरम्भिक वर्षों मे मेरे मन मे यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि एक छोटी अवधि के लिए अमरीका मे अन्तर्राष्ट्रीय सहायता देने के प्रति इच्छा की कमी हो। अन्तर्राष्ट्रीय सहायता को स्थिर आधार पर स्थापित करने के लिए मैं इस बात को आवश्यक समझता था। इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता की राशि मे वांछित स्तर पर पर्याप्त वृद्धि करने के लिए भी इसकी जरूरत थी।[41] अब वह स्थिति आ गयी है। और संयुक्त राज्य अमरीका ने नैतिक प्रेरणा के स्थान पर हर प्रकार के राष्ट्रीय हितों के लिए सहायता का उपयोग कर अपने हाथ काले कर लिये हैं।

इसके बावजूद, कम-विकसित देशों को दी जाने वाली सहायता के भार के किसी भी उचित अन्तर्राष्ट्रीय वितरण में अमरीका का हिस्सा निश्चय ही बड़ा होना चाहिए।[42] इसका यह कारण है कि अमरीका इतना बड़ा है। संयुक्त राज्य अमरीका अपेक्षाकृत बहुत अधिक अमीर भी है, यद्यपि इतना अधिक अमीर नही है, जितना सामान्यतया अमरीका के लोग विश्वास करते हैं।

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में इसकी सम्पदा और राष्ट्रीय आय से वह पर्याप्त बड़ी राशि घटानी होगी, जिसे मैं अमरीका पर 'गरीबो का ऋण' कहता हूँ। यदि अमरीका विशृंखलित नही हो जाना चाहता अथवा एक पुलिस राज्य नही बन जाना चाहता, तो उसे यह ऋण चुकाना होगा। यह ऋण उससे कहीं अधिक बड़ा है जितना इसे अमरीका के लोग सामान्यतया समझते हैं। ऋण की इस राशि में उन वर्तमान खर्चों को भी जोड़ना होगा, जो एक कम एकीकृत और सुसंगठित समाज मे हो रहे हैं। ये खर्चे अधिकांश अन्य विकसित देशों की तुलना में कही बड़े हैं।

सम्भवतः पश्चिम के सर्वाधिक विकसित देशो मे से कुछ आज संयुक्त राज्य अमरीका जितने ही समृद्ध हैं। इसका बुनियादी कारण यह हो सकता है कि उन्होंने स्वयं को उक्त ऋण से कभी ग्रस्त नहीं होने दिया अथवा यदि कभी हुए तो इस ऋण को बहुत समय पहले ही चुका भी दिया गया। इसके अलावा यह कारण भी है कि वे अपनी राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत इतना बड़ा हिस्सा युद्धो और युद्ध की तैयारियों तथा अन्तरिक्ष के अत्यन्त व्ययसाध्य अभियानों और अन्य विशाल सार्वजनिक खपत के कार्यों पर खर्च नही करते।

पर इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भी बहुदेशीय आधार पर सहायता देने की किसी भी व्यवस्था में अमरीका का हिस्सा निश्चय ही बहुत बड़ा होगा और विशेषकर उस स्थिति में जब विकसित देशो से दी जाने वाली कुल सहायता की राशि को पर्याप्त बढ़ा दिया जाय।

युद्ध के बाद अमरीका में इस भावना का पैदा होना कि कम-विकसित देशों

को सहायता देना मुख्यतया अमरीका का दायित्व है, संसार मे अमरीका के सर्व-शक्तिमान होने की सामान्य भ्रान्ति का एक हिस्सा था। यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही और यह हो सकता है कि अभी भी पूरी तरह समाप्त न हुई हो।

एशर ने राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी का उद्धरण देते हुए बताया है : "हम इस देश के निवासी···विश्व स्वातन्त्र्य की दीवार के पहरेदार हैं और यह दायित्व हमारे ऊपर स्वेच्छा से नही, बल्कि हमारी नियति के कारण आया है।" वे आगे लिखते हैं :

"सन् 1947 के ट्रूमन सिद्धान्त में निहित हस्तक्षेप की नीति को वियतनाम में अपनी अन्तिम निर्णायक अभिव्यक्ति मिल रही है। साथ ही, अमरीका बड़ी गम्भीरता से यह प्रश्न उठाने लगा है कि कम-विकसित देशों में उसके फँसने की क्या तार्किकता है।"[43]

वियतनाम मे हस्तक्षेप और अन्य अनेक साम्राज्यवादी दुस्साहसपूर्ण अभियानों की भयकर असफलता के बाद, विशेषकर लेटिन अमरीका में जहाँ संयुक्त राज्य अमरीका अकेला ही यह कार्यवाही कर रहा था, अनिवार्यतः अमरीकी और विश्व इतिहास में एक युग का अन्त होगा। ऐसे लोग सामने आयेंगे जो अपने स्वदेश रूपी अमरीकी दुर्ग मे वापस लौटना अधिक पसन्द करेंगे।

पर ऐसे लोग भी होगे जो यह देखेंगे कि संयुक्त राज्य अमरीका की इन विनाशकारी असफलताओं का कारण यह दर्पपूर्ण दावा था कि उसे स्वय अपनी शर्तों पर—अपनी शक्ति के बल पर—पूरे संसार की लम्बरदारी करने का हक है। यूनानी लोग इसे ही हूबरिस कहते थे और उनका यह विश्वास था कि यदि इस पर अंकुश नही लगता तो इसका परिणाम सदा अपना विनाश होता है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान मैंने 'एन अमेरिकन डिलेमा' शीर्षक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक अमरीका की न्याय, स्वतन्त्रता और समानता की आन्तरिक समस्याओं के बारे मे है। इस पुस्तक के अन्तिम अध्याय में मुझ संयुक्त राज्य अमरीका की भूमिका पर यह विचार करना पड़ा कि "संसार रूपी रंगमंच के प्रमुख अभिनेताओं के अनन्त क्रम में जब अमरीका की भूमिका निभाने की बारी आयेगी" तो वह किस रूप मे आचरण करेगा। उस समय मैंने जो लिखा था, मैं उसकी पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ : "अमरीका अब विश्व का एक हिस्सा बन गया है। अब वह अन्य देशों के समर्थन और सद्भावना पर अत्यधिक निर्भर हो गया है। उसके नेतृत्व की स्थिति मे पहुँच जाने के कारण इसकी चरम सीमा आ गयी है। ऊपर उठने वाले से अधिक सन्देह से अन्य किसी को नही देखा जाता।"[44]

उस समय भी अमरीका में सामान्य रूप से व्याप्त इस विचार का मैंने खण्डन किया था कि वित्तीय और सैनिक शक्ति संसार-भर के भद्र लोगों की सद्भावना के माध्यम से प्राप्त नैतिक शक्ति का स्थान ले सकती है। अनुयायियों के अभाव में नेता, नेता नहीं रह जाता बल्कि अतिरेकपूर्ण कार्य करने वाला एक दम्भी भर रह जाता है। और यदि इस स्थिति मे वह अमरीका जैसा शक्तिशाली देश होता है, तो वह खतरनाक बन जाता है, स्वयं अपने लिए और पूरे ससार के लिए भी।

आज संसार को संयुक्त राज्य अमरीका से जिस नेतृत्व की अपेक्षा है, वह स्पष्ट विचार, तर्कसम्मत विश्लेषण और शान्तिपूर्ण जीवन तथा विकास के प्रति

निष्ठा से ही उत्पन्न होना चाहिए। अमरीका के लिए हथियारबन्दी की होड़ को समाप्त करने और निर्धन, अश्वेत राष्ट्रों को व्यापारिक सुविधाएँ और वित्तीय सहायता देने की दिशा में अधिक साहसपूर्वक आगे बढ़ना सम्भव होना चाहिए।

और संयुक्त राज्य अमरीका को स्वयं को इस बात से आश्वस्त करने का प्रयास बन्द कर देना चाहिए कि वह गरीब देशों की सहायता के लिए जो भी करने को तयार है, वह अपने राष्ट्रीय और राजनीतिक उद्देश्यसे ही कर रहा है—'संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोत्तम हितों में' अथवा यहाँ तक कि 'संयुक्त राज्य की सुरक्षा' के लिए कर रहा है। विदेशी सहायता के लिए इस प्रकार की प्रेरणा स्वदेश में अथवा अन्य समृद्ध देशों में राष्ट्रीय स्तर पर बलिदान देने का आह्वान करने के लिए प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकती। इसके अलावा इस तरीके से गरीब देशों में और संसार में अन्यत्र भी सद्भावना प्राप्त नहीं की जा सकती।

संयुक्त राज्य अमरीका से अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व, अन्तर्राष्ट्रीय करुणा और एकता को मजबूत बनाने के सशक्त प्रयासों के रूप में प्राप्त होना चाहिए, जो संयुक्त राष्ट्र के भीतर निरस्त्रीकरण, संसार-भर में शान्ति की स्थापना और गरीब देशों के विकास और कल्याण के लिए संयुक्त जिम्मेदारी का अन्तर-सरकार सहयोग के आधार पर निर्माण करने के लिए आवश्यक है। ऐसे नेतृत्व की आज आवश्यकता है। एक शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के निर्माण के लिए राष्ट्रीय स्वार्थपरता उसी प्रकार खतरनाक है, जिस प्रकार उग्र व्यक्तिवाद स्वदेश में एक राष्ट्र को सशक्त बनाने के मार्ग में बाधक और खतरनाक सिद्ध हुआ है।

# भाग चार

## विकास की राजनीति

अध्याय : 12

# एक बोझिल भ्रान्ति

जब छठे दशक में कम-विकसित देशों को मिलने वाली सहायता की राशि मे वृद्धि होने लगी—आरम्भ में अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता में यह वृद्धि हुई—तो मुख्यतया इसका कारण निरन्तर उग्र होता जा रहा शीत-युद्ध था (देखिए, अध्याय-11, अनुभाग-2)। जिन सरकारों के ऊपर यह भरोसा किया जा सकता था कि वे साम्यवाद के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक डटी रहेंगी, उन्हें केवल सैनिक सहायता और 'समर्थन सहायता' ही नहीं, बल्कि विकास के लिए भी सहायता दी गयी।

इस सहायता से यदि उक्त प्रकार की सरकार को अपने देश में बल मिलता था तो सैनिक दाँव-पेंच की दृष्टि से समझ में आने वाली बात दिखायी पड़ती थी। उस समय अर्थशास्त्रियों ने यह कहकर कि विकास सहायता सामान्य जन-समुदाय को कम्युनिस्ट विचारों के प्रभाव से बचाने में सहायक बनेगी, अपेक्षाकृत अधिक मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। यह बात केवल उन्ही देशों के बारे में सच नहीं थी, जो शीतयुद्ध में सहयोगी बने हुए थे, बल्कि भारत जैसे देशों के बारे में भी, जिनकी सरकारों ने शीतयुद्ध में कोई पक्ष नही लिया था, बल्कि तटस्थ रही थी।

साम्यवाद को 'निराश लोगों के लिए आकर्षक' बताया गया। यह कहा गया कि केवल वे लोग ही साम्यवाद के प्रतिआ कर्षित होगे जो अत्यधिक गरीब हैं और जिन्हे अपनी स्थिति में सुधार की कोई आशा दिखायी नही पड़ती। जिन लोगो की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है और जो अपने भविष्य के प्रति अधिक आश्वस्त हैं उनके ऊपर साम्यवाद का कोई असर नही होगा।[1]

इस मान्यता को 'बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओ की क्रान्ति' के सिद्धान्त से समर्थित किया गया। अनुभवजन्य अनुसन्धान का प्रयास किये बिना ही यह मान लिया गया कि कम-विकसित देशों के लोगों के मन में उक्त प्रतिक्रिया होती है।

एक ओर इस सिद्धान्त का आशावादी रुझान था। यह विश्वास प्रकट किया गया था कि जब निर्धन लोग बढ़ती हुई महत्त्वाकाक्षाओं से प्रेरित होते है तो नयी आशाएँ उन्हें अपने विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन करने, अपने जीवन और काम को आधुनिक बनाने के लिए प्रेरित करेंगी और इस प्रकार विकास होगा। यदि विकसित देशों से उन्हे सहायता प्राप्त होगी तो इसका प्रभाव अधिक प्रभावशाली होगा।

इस सिद्धान्त से एक धमकी भी ध्वनित होती थी। बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं

को पूरा करना होगा। यदि आशाएँ पूरी नही होती तो सम्बन्धित जन-समुदाय विद्रोह कर उठेंगे और कम्युनिस्ट प्रचार के शिकार बन जायेंगे।

संयुक्त राज्य अमरीका में यह विचार-क्रम सहायता के क्षेत्र में 'साम्यवाद की बाढ़ रोकने की नीति' का सहायक बन गया। उक्त नीति पाँचवें दशक के अन्तिम और छठे दशक के आरम्भिक वर्षों में विकसित हुई थी तथा अमरीकी विदेश मन्त्री जॉन फोस्टर डलेस ने इसे सैद्धान्तिक संरचना और धर्मशास्त्रों जैसी सर्वोपरिता प्रदान की थी। इस प्रकार प्रेरित विकास सहायता निरन्तर उग्र होते जा रहे शीतयुद्ध में पश्चिम के देशों के कवच का अंग बन गयी थी।

इस सम्बन्ध में किंचित विद्रूपपूर्ण बात यह जोड़नी होगी कि यह विचार—कि निर्धनताग्रस्त जन-समुदाय अपने भविष्य के प्रति निराश हो जाने पर विद्रोह कर सकते हैं—मार्क्स के वर्ग संघर्ष और सर्वहारा क्रान्ति सम्बन्धी सिद्धान्त से उत्पन्न होता है। एक प्रकार से बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं की क्रान्ति का आधुनिक विचार मार्क्स के सिद्धान्त का आवर्धित रूप है क्योंकि यह जन-समुदाय के विद्रोह को अत्यन्त निर्धनता की प्रक्रिया से गुजरे बिना ही सम्भव बना देता है।

जहाँ तक मार्क्स के बुनियादी सिद्धान्त का सवाल है, स्वयं मार्क्स ने इस पर अनेक शर्तें लगायी हैं और विशेष परिस्थितियों का उल्लेख किया है, जबकि पश्चिम के लेखकों ने मार्क्स के इस मूल सिद्धान्त को और उनके अन्य अनेक प्रतिपादनों को अनजाने में ही उनके अत्यन्त अपरिष्कृत रूप मे ग्रहण कर लिया है। यदि पश्चिम के लेखक इन सिद्धान्तों में निहित विचारधारा के इतिहास से अधिक परिचित होते तो ये सिद्धान्त उनके सतर्क अध्ययन का उपयुक्त विषय बन सकते थे।

कम-विकसित देशो को सहायता देने की इस प्रेरणा के बारे में कुछ वर्षो से कम-से-कम विद्वत्ता का स्वाँग रचने वाले लेखन में कम जोर दिया गया है। विचारों में इस परिवर्तन के पीछे अनेक घटनाएँ छिपी हैं।

एक बात तो यह है कि शीतयुद्ध में कमी हुई है—अथवा यह कहा जा सकता है कि पश्चिम के बुद्धिवादी यह समझने लगे कि शीतयुद्ध मे कमी हुई है। कम-विकसित देशों को सहायता देकर साम्यवाद का प्रसार रोकने का 'उद्देश्य' अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण लगने लगा।

यहाँ यह कहना होगा कि यह सिद्धान्त हमारे लिए संयुक्त राज्य अमरीका में बनाया गया था। अन्य विकसित देश, और विशेषकर पश्चिम यूरोप के वे देश जिन्हें पिछड़े हुए प्रदेशों पर उपनिवेशी शासन का अधिक अनुभव था, आरम्भ से ही इस उद्देश्य से सहायता देने की आवश्यकता के प्रति सन्देह का भाव रखते थे।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि वास्तविक अर्थों मे अत्यधिक निर्धन लोगों ने शायद ही कभी विद्रोह किया। जब भारत के कुछ जिलो में फसल नहीं हुई तो वे गरीब लोग, जिनके पास भोजन नही था, बस भूखे ही पड़े रहे। कुछ को बीमारियाँ लग गयी और कुछ मर गये। कुछ इस आशा से अपना घर-बार छोड़कर निकल चले कि शायद अन्यत्र भोजन मिल जायेगा। पर उन्होंने विद्रोह

नही किया ।

यह संसार-भर का पुराना अनुभव है कि अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति वाले लोग विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं, और जब उनकी स्थिति मे थोडा सुधार होने लगता है तब भी उनकी विद्रोह प्रवृत्ति में कोई कमी नही आती। इन स्पष्ट तथ्यों को नज़रअन्दाज कर देना उस समय और कठिन हो गया जब समय गुजरता गया और लोगों ने इस बात पर सोचना शुरू किया कि आखिर वे कह क्या रहे है।

विद्वत्ता का स्वाँग रचने वाले लोगो ने इस बात को निरन्तर और अधिक उलझन-भरा पाया होगा कि—जन-सामान्य के सन्दर्भ में बढती हुई महत्त्वाकाक्षाओं की क्रान्ति भरोसे योग्य नही है। इसकी पुष्टि अथवा खण्डन करने के लिए प्रेक्षणों का उपयोग न करना उलझन की बात बनना स्वाभाविक था। दक्षिण एशिया की परिस्थितियों के अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ऐसी कोई महत्त्वाकांक्षा इन निर्धन जन-समुदायो को प्रभावित नही करती—यद्यपि यह उच्च वर्ग के अपनी आवाज उठाने की क्षमता रखने वाले लोगो को, जिनमे 'मध्यम वर्ग' के लोग शामिल हैं, प्रभावित करती है।

जब कभी यह बात ज़ोर देकर कही गयी—और आज भी यदाकदा पिछडे हुए देशों के बुद्धिवादी और विकसित देशो के प्रेक्षक भी यह बात कहते है—कि बढती हुई महत्त्वाकांक्षाओं से गरीब जन-समुदाय सचमुच उद्वेलित हो रहा है, पर मेरी राय में यह झूठी तार्किकता है। इस कथन से केवल यह बात प्रकट होती है कि वे यह सोचते हैं कि यदि स्वयं उन्हे इन जन-समुदायो की तरह भयंकर और अक्सर निराशापूर्ण गरीबी में रहना पडे तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इस बात में स्वयं उनकी आत्मा का संशय भी प्रकट होता है। जब वे अत्यन्त असमानता को देखते हैं, और जो अक्सर बढ रही है, तो उनकी आत्मा उन्हें कुछ न करने के लिए धिक्कारती है।[2]

यह बात सच है कि कम-विकसित संसार में अनेक 'क्रान्तियाँ' हो रही हैं। पर कुछ अपवादों को छोडकर ये सत्ता हथियाने की कार्रवाइयाँ मात्र है, जिनके माध्यम से उच्च वर्ग के लोगों का एक समूह अपने जैसे ही दूसरे सत्तारूढ समूह को अपदस्थ कर देता है। इन कार्रवाइयों का अक्सर यह भी परिणाम होता है कि नयी सरकार और अधिक निरंकुश होती है।

जैसाकि मैंने अध्याय तीन में कहा है कि कम-विकसित संसार के जिस 'हिस्से (दक्षिण एशिया) का मैंने अधिक गहराई से अध्ययन किया है उसमें गरीब जन-समुदाय के संगठित विद्रोह के परिणामस्वरूप ऐसी 'क्रान्तियाँ' कभी नही हुईं और शेष संसार में भी ऐसा अधिक नही हुआ। ये सब क्रान्तियाँ जन-सामान्य से बहुत ऊँचे स्तरो पर हुईं।[3]

एशियन ड्रामा में मैंने इस सम्भावना की पूर्व-कल्पना करने के बारे में संशय प्रकट किया था कि दक्षिण एशिया में इस प्रकार की 'क्रान्तियाँ' किस प्रकार होंगी। समस्त कम-विकसित संसार पर व्यापक नजर डालने के बाद अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि अगले पाँच वर्षो तक के लिए ऐसी कोई निश्चित भविष्यवाणी कर पाना सम्भव नही है कि अमुक कम-विकसित देश मे किस प्रकार की सरकार कायम होगी।

गरीब जन-समुदाय के जीवन और काम की परिस्थितियों में सुधार करने के उद्देश्य से हुई कहीं अधिक ठोस क्रान्तियों की पूर्व-कल्पना कर पाना इतना ही कठिन है चाहे इन क्रान्तियों को कुछ सीमा तक, कम-से-कम क्रान्ति हो जाने के बाद, समर्थन प्राप्त हुआ हो। यही बात किसी प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद के उदय और प्रसार पर भी लागू होती है। यदि ऐसी क्रान्तियाँ बड़े पैमाने पर होती हैं, और इस बात की सम्भावना की पूरी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती, तो ये बहुसंख्य कारकों में से किसी एक कारक पर निर्भर करेंगी। इन कारकों में जन-समुदाय की निरन्तर बढ़ती गरीबी मुश्किल से ही शामिल है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही यह एक व्यापक और निहित परिस्थिति हो सकती।[1] मैं इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इस अध्याय के तीसरे अनुभाग में फिर विचार करूँगा।

एक अर्थशास्त्री के नाते मुझे यह स्मरण कर अत्यन्त लज्जा का अनुभव होता है कि उस युग में मेरे व्यवसाय के कितने अधिक लोगों ने यह बात जोर देकर कही कि कम-विकसित देशों को साम्यवाद से बचाने के लिए सहायता दी जानी चाहिए। बस इन लोगों ने कोई गम्भीर अनुसन्धान किये बिना ही अथवा सम्बन्धित सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं पर समालोचनात्मक दृष्टि से विचार किये बिना ही इस बात को कह डाला। ये सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाएँ ऐसी थी जिनके बारे में परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने अपनी आँखों पर पट्टियाँ बाँध ली थी।

उक्त कार्य सर्वोत्तम उद्देश्य से किये गये थे : संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम के अन्य विकसित देशों में विकास सहायता को राजनीतिज्ञों और जनता के लिए अधिक ग्राह्य बनाने के वास्ते यह किया गया था पर यह निश्चित है कि अपने अज्ञान के प्रति समालोचनात्मक चेतना और सत्य का अन्वेषण करने के उद्देश्य से ठोस तथ्यों के आधार पर प्रेरित अनुसन्धान ही एक अच्छे उद्देश्य को पूरा कर सकता है। प्रत्येक ईमानदार अध्ययनकर्त्ता का यही विश्वास है, जो उसे विरासत में मिला है।

हाल के वर्षों में विकास-सहायता के बारे में शीतयुद्ध के योद्धा का तर्क अधिक अस्पष्ट और अधिक सामान्य प्रतिपादन में परिवर्तित हो गया है अर्थात् यह कहा जाने लगा है कि विकास-सहायता के परिणामस्वरूप जो आर्थिक प्रगति हुई है उसने कम-विकसित देशों को अधिक लोकतन्त्री, आन्तरिक दृष्टि से अधिक स्थिर, और अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अधिक शान्तिपूर्ण बना दिया है। मैंने अध्याय-11 में यह कहा है कि अपने इस सामान्य रूप में यह प्रतिपादन, अनुभव और अनुसन्धान की दृष्टि से एकदम निराधार है और इस कारण से इतना ही उत्तरदायित्वहीन है। मैंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे मेरा अभिप्राय अर्थशास्त्रियों को कम-विकसित देशों की सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के व्यापक प्रश्नों पर विचार करने के विरुद्ध चेतावनी देना नहीं है। इसके विपरीत उन्हें यह कार्य करना चाहिए, यदि वे अपने अध्ययनों को यथार्थ और नीति निर्धारण की दृष्टि से तर्कसम्मत बनाना चाहते है।

पर इस स्थिति में उन्हें उन तथ्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण और अनुभव-जन्य अध्ययन की आवश्यकता के उन्हीं अंकुशों के अन्तर्गत काम करना चाहिए

जिन्हें वे, यदि व्यवहार में नहीं तो कम-से-कम सिद्धान्तरूप मे, विकसित देशो में स्वयं अपने अनुसन्धान के अनुभवों के अनुरूप संकीर्ण रूप से प्रतिबन्धित 'आर्थिक' समस्याओ पर काम करते समय स्वीकार करने को तैयार रहते है, क्योंकि विकसित देशों मे इन समस्याओं को पृथक् कर पाना अधिक सम्भव है।

•

अध्याय : 13

# एक निर्णायक घटना

आज कम-विकसित संसार में जो सर्वाधिक निर्णायक घटनाएँ घटी हैं, उनमे से एक घटना उन परिस्थितियों से सम्बन्धित है, जो राष्ट्रीय समुदायों में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और विभिन्न वर्गों के मध्य अवसरों के वितरण का निर्धारण करती हैं। पिछले अध्यायों में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर राजनीतिक गतिशीलता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने का प्रयास करने से पहले, मैं, तैयारी के रूप में इस समय सक्रिय आर्थिक सामाजिक परिवर्तन की दो शक्तियो पर इस अध्याय में अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा। ये शक्तियाँ हैं : आबादी में वृद्धि (देखिए, अध्याय-5) और खेती के क्षेत्र मे टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति (देखिए, अध्याय-4)।

जहाँ तक आबादी का सम्बन्ध है, सन्तति-निरोध के कार्यक्रम के प्रसार का एक प्रमुख प्रभाव यह होगा कि विभिन्न आयु वर्गों में आबादी के वितरण में परिवर्तन के माध्यम से रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, पर यह तभी हो सकता है जब सन्तति-निरोध का प्रभावशाली कार्यक्रम लागू किया जाय। प्रत्येक कम-विकसित देश में इन अच्छे प्रभावों का बड़ा महत्त्व होगा और ये प्रभाव मनुष्यों और भूमि के अनुपात पर निर्भर नही करेंगे।

कम-विकसित देशो की सब सरकारों ने निर्धन जन-समुदाय मे सन्तति-निरोध का प्रसार करने के लिए दूरगामी नीति निर्धारित करने का अब तक निर्णय नही लिया है। बहुत कम सरकारों ने ऐसे किसी निर्णय को लागू करने की इच्छा अथवा दृढता से कार्रवाई करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

सामान्य जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने की नीति को लागू करने का प्रयास एक अत्यन्त कठिन कार्य है, विशेषकर निर्धनतम देशों में और सामान्यतया आबादी के निर्धनतम वर्गों में। सन्तति-निरोध के नये उपाय उपलब्ध हो जाने के बावजूद गाँवों में एक-एक परिवार तक इनका सन्देश पहुँचाने के मार्ग में प्रायः अलघ्य कठिनाइयाँ और निषेध आते हैं।

आबादी मे युवा वर्ग का बड़ा हिस्सा होने के कारण, जो अब तक अपने-आपमे ऊँची जन्म-दर का कारण रहा है, जनन-क्षमता मे कमी के द्वारा आबादी मे वृद्धि में पर्याप्त कमी करने मे लम्बा समय लगेगा। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि भावी माता-पिताओं के समुदायों की तरह ही भावी श्रम-शक्ति का जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही इसका जन्म होगा जबकि सन्तति-निरोध का धीरे-धीरे प्रसार होता रहेगा। इस प्रकार श्रम-शक्ति मे इस शताब्दी के अन्त तक दो और तीन प्रतिशत के बीच वृद्धि होती रहेगी।

अध्याय : 13

# एक निर्णायक घटना

आज कम-विकसित संसार में जो सर्वाधिक निर्णायक घटनाएँ घटी हैं, उनमें से एक घटना उन परिस्थितियों से सम्बन्धित है, जो राष्ट्रीय समुदायों में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और विभिन्न वर्गों के मध्य अवसरों के वितरण का निर्धारण करती है। पिछले अध्यायों में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर राजनीतिक गतिशीलता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने का प्रयास करने से पहले, मैं, तैयारी के रूप में इस समय सक्रिय आर्थिक सामाजिक परिवर्तन की दो शक्तियों पर इस अध्याय में अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा। ये शक्तियाँ हैं : आबादी मे वृद्धि (देखिए, अध्याय-5) और खेती के क्षेत्र में टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति (देखिए, अध्याय-4)।

जहाँ तक आबादी का सम्बन्ध है, सन्तति-निरोध के कार्यक्रम के प्रसार का एक प्रमुख प्रभाव यह होगा कि विभिन्न आयु वर्गों में आबादी के वितरण में परिवर्तन के माध्यम से रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, पर यह तभी हो सकता है जब सन्तति-निरोध का प्रभावशाली कार्यक्रम लागू किया जाय। प्रत्येक कम-विकसित देश में इन अच्छे प्रभावों का बड़ा महत्त्व होगा और ये प्रभाव मनुष्यों और भूमि के अनुपात पर निर्भर नही करेंगे।

कम-विकसित देशों की सब सरकारों ने निर्धन जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने के लिए दूरगामी नीति निर्धारित करने का अब तक निर्णय नही लिया है। बहुत कम सरकारों ने ऐसे किसी निर्णय को लागू करने की इच्छा अथवा दृढ़ता से कार्रवाई करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

सामान्य जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने की नीति को लागू करने का प्रयास एक अत्यन्त कठिन कार्य है, विशेषकर निर्धनतम देशों में और सामान्यतया आबादी के निर्धनतम वर्गों मे। सन्तति-निरोध के नये उपाय उपलब्ध हो जाने के बावजूद गाँवों में एक-एक परिवार तक इनका सन्देश पहुँचाने के मार्ग में प्रायः अलघ्य कठिनाइयाँ और निषेध आते हैं।

आबादी में युवा वर्ग का बड़ा हिस्सा होने के कारण, जो अब तक अपने-आपमें ऊँची जन्म-दर का कारण रहा है, जनन-क्षमता मे कमी के द्वारा आबादी में वृद्धि में पर्याप्त कमी करने मे लम्बा समय लगेगा। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि भावी माता-पिताओं के समुदायों की तरह ही भावी श्रम-शक्ति का जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही इसका जन्म होगा जबकि सन्तति-निरोध का धीरे-धीरे प्रसार होता रहेगा। इस प्रकार श्रम-शक्ति मे इस शताब्दी के अन्त तक दो और तीन प्रतिशत के बीच वृद्धि होती रहेगी।

उद्योग श्रम-शक्ति की शुद्ध माँग मे अधिक संख्या मे निकट भविष्य मे वृद्धि करने की स्थिति मे नही है। 'प्रत्यावर्तन प्रभावो' के कारण औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप विनिर्माण उद्योग, जिसमे दस्तकारी और परम्परागत उद्योग भी शामिल हैं, मे लगे कुल श्रमिकों की संख्या मे पर्याप्त समय तक कमी भी हो सकती है।

अन्य शहरी व्यवसायों में, और विशेषकर खुदरा व्यापार और सेवाओं मे, पहले से ही ऐसे श्रमिकों की भरमार है जिनका पूरा उपयोग नहीं हो पाता। जहाँ कही शहरों की गन्दी बस्तियो मे कृषि क्षेत्र से आने वाले शरणार्थियों की सख्या मे तेजी से वृद्धि हो रही है—और प्रायः प्रत्येक कम-विकसित देश में यह हो रहा है—वहाँ कृषि मे लगी श्रम-शक्ति मे कमी नही होगी बल्कि सामान्यतया वृद्धि ही होगी। कुछ देशों में तो यह वृद्धि बहुत तेजी से होगी।

कृषि क्षेत्र मे तेजी से श्रम-शक्ति मे वृद्धि की यह मूलभूत प्रवृत्ति होती है कि कृषि भूमि का और अधिक बँटवारा होता जाता है तथा खेत निरन्तर छोटे होते जाते हैं। इसका सामान्य प्रभाव यह होगा कि लोगों का आर्थिक और सामाजिक स्तर गिरता जायेगा—भू-स्वामी बटायी आदि पर खेती करने वाले काश्तकार और काश्तकार भूमिहीन खेत मजदूर बनते जायेंगे। इस प्रकार आबादी मे वृद्धि अपने-आपमे एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो कृषि क्षेत्र मे सामाजिक और असमानता को बढ़ाने का काम करती है।

एक सामान्य प्रतिपादन के रूप मे यह सच है कि कम-विकसित देशों में खेती श्रम के अधिक उपयोग की होती है, श्रम के सघन उपयोग की नहीं जैसाकि अक्सर मान लिया जाता है। श्रम-शक्ति मे शामिल अनेक लोग काम ही नहीं करते और जो काम भी करते हैं वे पूरे दिन में थोड़े समय ही काम करते हैं और पूरे वर्ष मे ऐसी अवधियाँ भी आती हैं जब उनके पास कोई काम नहीं होता। उनकी श्रम सघनता बहुत नीचे स्तर की होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस समय श्रम-शक्ति का बेहद कम उपयोग हो रहा है। किसी भी तर्कसम्मत कृषि नीति का लक्ष्य श्रम और श्रम की कार्यकुशलता में वृद्धि होना चाहिए क्योंकि इसी प्रकार श्रम की उत्पादकता और कृषि उपज में वृद्धि की जा सकती है।

यह कार्य सम्भव होना चाहिए, यह बात इस तथ्य से प्रकट हो जाती है कि औसत उपज केवल बहुत कम ही नहीं है बल्कि विभिन्न खेतों की उपज में भी बहुत अन्तर रहता है। परिस्थितिगत कारकों को स्थिर रखने पर भी यह अन्तर बना रहता है। ये कारक हैं: खेत का आकार, मिट्टी, जलवायु और उपलब्ध तथा सामान्य रूप से ज्ञात कृषिविधि।

श्रम और कार्यकुशलता में वृद्धि की माँग के बिना इस [illegible] में सुधार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कृषि की सुधरी हुई विधियों के [illegible] ... ऐसी कृषि नीति की [illegible] की सम्भावना बढ़ती चाहिए जिससे जीवन के कम [illegible] को आरम्भ करना हो।

अध्याय : 13

# एक निर्णायक घटना

आज कम-विकसित संसार में जो सर्वाधिक निर्णायक घटनाएँ घटी हैं, उनमें से एक घटना उन परिस्थितियो से सम्बन्धित है, जो राष्ट्रीय समुदायों में सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण और विभिन्न वर्गों के मध्य अवसरों के वितरण का निर्धारण करती है। पिछले अध्यायों मे जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसके आधार पर राजनीतिक गतिशीलता सम्बन्धी निष्कर्ष निकालने का प्रयास करने से पहले, मैं, तैयारी के रूप मे इस समय सक्रिय आर्थिक सामाजिक परिवर्तन की दो शक्तियों पर इस अध्याय में अपना ध्यान केन्द्रित करूँगा। ये शक्तियाँ हैं : आबादी में वृद्धि (देखिए, अध्याय-5) और खेती के क्षेत्र में टेक्नालॉजी सम्बन्धी प्रगति (देखिए, अध्याय-4)।

जहाँ तक आबादी का सम्बन्ध है, सन्तति-निरोध के कार्यक्रम के प्रसार का एक प्रमुख प्रभाव यह होगा कि विभिन्न आयु वर्गों में आबादी के वितरण मे परिवर्तन के माध्यम से रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा, पर यह तभी हो सकता है जब सन्तति-निरोध का प्रभावशाली कार्यक्रम लागू किया जाय। प्रत्येक कम-विकसित देश मे इन अच्छे प्रभावों का बड़ा महत्त्व होगा और ये प्रभाव मनुष्यों और भूमि के अनुपात पर निर्भर नही करेंगे।

कम-विकसित देशों की सब सरकारों ने निर्धन जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने के लिए दूरगामी नीति निर्धारित करने का अब तक निर्णय नही लिया है। बहुत कम सरकारों ने ऐसे किसी निर्णय को लागू करने की इच्छा अथवा दृढता से कार्रवाई करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

सामान्य जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करने की नीति को लागू करने का प्रयास एक अत्यन्त कठिन कार्य है, विशेषकर निर्धनतम देशों में और सामान्यतया आबादी के निर्धनतम वर्गों में। सन्तति-निरोध के नये उपाय उपलब्ध हो जाने के बावजूद गाँवों में एक-एक परिवार तक इनका सन्देश पहुँचाने के मार्ग में प्रायः अलंघ्य कठिनाइयाँ और निषेध आते हैं।

आबादी मे युवा वर्ग का बड़ा हिस्सा होने के कारण, जो अब तक अपने-आपमे ऊँची जन्म-दर का कारण रहा है, जनन-क्षमता में कमी के द्वारा आबादी में वृद्धि में पर्याप्त कमी करने मे लम्बा समय लगेगा। यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि भावी माता-पिताओं के समुदायों की तरह ही भावी श्रम-शक्ति का जन्म हो चुका है अथवा जल्दी ही इसका जन्म होगा जबकि सन्तति-निरोध का धीरे-धीरे प्रसार होता रहेगा। इस प्रकार श्रम-शक्ति मे इस शताब्दी के अन्त तक दो और तीन प्रतिशत के बीच वृद्धि होती रहेगी।

उद्योग श्रम-शक्ति की शुद्ध मांग मे अधिक सख्या मे निकट भविष्य में वृद्धि करने की स्थिति में नहीं है। 'प्रत्यावर्तन प्रभावों' के कारण औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप विनिर्माण उद्योग, जिसमें दस्तकारी और परम्परागत उद्योग भी शामिल हैं, में लगे कुल श्रमिकों की संख्या मे पर्याप्त समय तक कमी भी हो सकती है।

अन्य शहरी व्यवसायों मे, और विशेषकर खुदरा व्यापार और सेवाओ में, पहले से ही ऐसे श्रमिकों की भरमार है जिनका पूरा उपयोग नही हो पाता। जहां कही शहरो की गन्दी बस्तियों में कृषि क्षेत्र से आने वाले शरणार्थियों की संख्या मे तेजी से वृद्धि हो रही है—और प्रायः प्रत्येक कम-विकसित देश मे यह हो रहा है—वहां कृषि मे लगी श्रम-शक्ति मे कमी नही होगी बल्कि सामान्यतया वृद्धि ही होगी। कुछ देशों में तो यह वृद्धि बहुत तेजी से होगी।

कृषि क्षत्र मे तेजी से श्रम-शक्ति मे वृद्धि की यह मूलभूत प्रवृत्ति होती है कि कृषि भूमि का और अधिक बँटवारा होता जाता है तथा खेत निरन्तर छोटे होते जाते हैं। इसका सामान्य प्रभाव यह होगा कि लोगो का आर्थिक और सामाजिक स्तर गिरता जायेगा—भू-स्वामी बटायी आदि पर खेती करने वाले काश्तकार और काश्तकार भूमिहीन खेत मजदूर बनते जायेंगे। इस प्रकार आबादी में वृद्धि अपने-आपमे एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो कृषि क्षेत्र मे सामाजिक और असमानता को बढ़ाने का काम करती है।

एक सामान्य प्रतिपादन के रूप मे यह सच है कि कम-विकसित देशो मे खेती श्रम के अधिक उपयोग की होती है, श्रम के सघन उपयोग की नहीं जैसाकि अक्सर मान लिया जाता है। श्रम-शक्ति मे शामिल अनेक लोग काम ही नही करते और जो काम भी करते है वे पूरे दिन मे थोड़े समय ही काम करते है और पूरे वर्ष में ऐसी अवधियां भी आती हैं जब उनके पास कोई काम नही होता। उनकी श्रम सघनता बहुत नीचे स्तर की होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस समय श्रम-शक्ति का बेहद कम उपयोग हो रहा है। किसी भी तर्कसम्मत कृषि नीति का लक्ष्य श्रम और श्रम की कार्यकुशलता मे वृद्धि होना चाहिए क्योंकि इसी प्रकार श्रम की उत्पादकता और कृषि उपज में वृद्धि की जा सकती है।

यह कार्य सम्भव होना चाहिए, यह बात इस तथ्य से प्रकट हो जाती है कि औसत उपज केवल बहुत कम ही नही है बल्कि विभिन्न खेतो की उपज मे भी बहुत अन्तर रहता है। परिस्थितिगत कारकों को स्थिर रखने पर भी यह अन्तर बना रहता है। ये कारक हैं: खेत का आकार, मिट्टी, जलवायु और उपलब्ध तथा सामान्य रूप से ज्ञात कृषिविधि।

श्रम और कार्यकुशलता मे वृद्धि की मांग के बिना सदा कृषिविधि में सुधार नही किया जा सकता। इस प्रकार कृषि की सुधरी हुई विधियों के उपयोग से एक ऐसी कृषि नीति को लागू करने की सम्भावना बढनी चाहिए जिसका लक्ष्य श्रम-शक्ति के कम उपयोग को समाप्त करना हो।

खेती की अधिक उन्नत विधियों का अधिक व्यापक उपयोग करने के लिए बहुत-सी कठिनाइयों पर काबू पाना होगा। यह बात कृषि की पहले से ही ज्ञात उन्नत विधियों और नयी उन्नत विधियों पर लागू होती है। ये सब कठिनाइयाँ भू-स्वामित्व और काश्तकारी व्यवस्था के मूल में निहित है। यद्यपि ये विभिन्न कम-विकसित देशो मे अलग-अलग है पर इनके परिणामस्वरूप सामान्यतया श्रम का पूरा उपयोग नही हो पाता और ये विशेषकर उन्नत विधियों के व्यापक उपयोग मे बाधक बनती है।

भूमि-सुधार की आवश्यकता आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना की अभिलाषा से ही प्रेरित नही है, बल्कि भूमि और श्रम की ऊँची उत्पादकता की तात्कालिक आवश्यकता से मूलतः प्रेरित है। कृषि की उन्नत विधियाँ अपना-कर उपज बढ़ाने के प्रयासों को तभी पूरी सफलता मिल सकती है जब इनके साथ ही भूमि-सुधार भी लागू किया जाय।

कम-विकसित देशो की परिस्थितियों के अनुसार भूमि-सुधार का अलग-अलग स्वरूप होना चाहिए। उत्पादकता की दृष्टि से प्रत्येक भूमि-सुधार को मनुष्य और भूमि के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए[1] जो किसान को अधिक काम करने, अधिक मेहनत से और अधिक प्रभावशाली ढंग से काम करने, अपनी उपज और भूमि मे सुधार करने के लिए उपलब्ध धन को कृषि कार्य पर लगाने और सर्वप्रथम इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वयं अपने श्रम को लगाने के लिए प्रेरित करे।

अधिकाश कम-विकसित देशों में, यद्यपि सबमें नही, भूमि-सुधार नाटक भर रहा है जिसमे शक्ति का असमान वितरण प्रतिबिम्बित हुआ है। हाल के वर्षों मे कम-विकसित और विकसित दोनों प्रकार के देशो मे भूमि-सुधार पर विचार तक प्रायः बन्द हो गया है।

सामान्यतया जिस प्रेरणा का स्वांग किया जाता है, संस्थागत सुधार, स्थानीय स्वायत्तशासी संगठनों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की सहायता और सहयोग के अन्य अनेक कार्यक्रम भूमि-सुधार के अभाव मे समानता के प्रश्न की उपेक्षा को ही प्रकट करते है। इन अन्य सुधारों से गाँवो के बेहतर स्थिति वाले लोगो को ही वास्तविक लाभ मिला है और इस प्रकार इनसे कृषि क्षेत्र मे असमानता मे कमी होने के स्थान पर वृद्धि हुई है।

अध्याय-4 और 5 में जो मुख्य निष्कर्ष निकाले गये है उनमे से कुछ की मैंने ऊपर संक्षेप में पुनरावृत्ति की है। कृषि क्षेत्र मे असमानता और नीची उत्पादकता की समस्याएँ हाल के वर्षों में अनाज की अधिक उपज देने वाली किस्मों और 'हरित क्रान्ति' की कल्पना के परिणामस्वरूप प्रबल रूप से सामने आयी है (देखिए, अध्याय-4, अनुभाग-3)।

अनेक देशों मे, उदाहरण के लिए, दो निर्धनतम तथा प्राय सबसे अधिक आबादी वाले कम-विकसित देशों—पाकिस्तान और भारत—में कुछ जिलों मे कुछ समृद्ध और प्रगतिशील किसानों की उपज मे सुधरे हुए बीजों के उपलब्ध होने के

कारण अत्यधिक वृद्धि हुई है, कभी-कभी तो उपज में कई गुना वृद्धि हुई है। यह आशा करने का उचित कारण है कि इन देशो के अन्य जिलो मे भी यह हो सकता है और कम-विकसित संसार के अन्य भागों में भी।

इस घटना के परिणामस्वरूप वह स्थिति उत्पन्न हुई है जिसे मैंने कृषि की विकसित विधियो सम्बन्धी थोथी आशावादिता कहा है। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि भूमि-सुधार सम्बन्धी प्रायः समस्त भावी विचारो और कार्रवाइयो को अन्तिम रूप से दफनाया जा रहा है।

यह आशा प्रकट की गयी है कि अनाज की कमी वाले देश, जिनमें उक्त दो देश में शामिल हैं, जल्दी ही 'अनाज मे आत्मनिर्भर' हो जायेंगे अर्थात् उन्हे अनाज का आयात नहीं करना होगा। इस प्रकार तीसरी दुनिया मे भूख का जो संकट खडा दिखायी पड रहा है वह समाप्त हो जाना चाहिए, अथवा कम-से-कम कुछ समय के लिए टल जाना चाहिए।

जिस रूप मे यह आशावादिता प्रकट की जाती है उसमें अपोषण और कुपोषण की उस स्थिति मे कोई सुधार होने की बात नही कही गयी है जिससे कम-विकसित देशों का निर्धन जन-समुदाय ग्रस्त है और जिसका मैंने अध्याय-4, अनुभाग-1 में उल्लेख किया है। स्थिति मे उक्त सुधार मे मान लिया जायेगा कि निचले स्तरों के लोग इतना अधिक अर्जन करने लगेंगे कि वे अधिक पौष्टिक और स्वास्थ्यप्रद भोजन की प्रभावशाली मांग उत्पन्न करेंगे जिसके परिणाम-स्वरूप और अधिक मांडयुक्त फसल की आवश्यकता बढेगी। इन आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए अनाज मे आत्म-निर्भरता के लिए कही अधिक ऊँचे स्तर के उत्पादन की आवश्यकता होगी।

नये विकसित बीजो का उपयोग कर उन्नत विधि से खेती करने की क्षमता वाले समृद्ध और प्रगतिशील किसान उपज से प्राप्त होने वाली कीमत का भी पूरा ध्यान रखते हैं। अब जबकि अनाज की आवश्यकता से अधिक उपलब्धि के बारे मे आशंका प्रकट करते हुए यह कहा जा रहा है कि इससे अनाज के दाम मे कमी होगी और उन्नत विधियो से खेती कम लाभदायक अथवा अलाभदायक बन जायगी तो इससे एक बार फिर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जो लोग पौष्टिक आहार की कमी से ग्रस्त हैं उनके द्वारा अनाज की प्रभावशाली मांग बड़े पैमाने पर होने की आशा नही है।

'हरित क्रान्ति' की कल्पना से जो आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं मैंने अभी तक उनकी सतह को ही छुआ है। इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नयी सम्भावनाएँ केवल उन किसानो को ही उपलब्ध हैं जिनकी जमीन की सिंचाई की व्यवस्था है और जिनके पास उर्वरक खरीदने और सघन खेती के लिए आवश्यक अन्य सामान और औजार खरीदने के लिए पूंजीगत साधन उपलब्ध है। वे इस कारण से यह कार्य करने की बेहतर स्थिति मे होंगे क्योंकि उन्हें कभी भी आयकर नहीं देना होगा चाहे उन्हे कितना भी अधिक लाभ क्यों न प्राप्त हो। नयी सम्भावनाएँ मुश्किल से अपना गुजारा चलाने वाले किसानों के बड़े हिस्से को

पहुंच के बाहर हैं, चाहे ये किसान बटायी पर खेती करते हों अथवा अपने अत्यन्त छोटे-छोटे खेतों में।

मैंने अध्याय-4, अनुभाग-2 में इस बात पर जोर दिया है कि खेती की उन्नत विधियाँ अपनाने से श्रम की माँग में सामान्यतया वृद्धि होगी। वस्तुतः यह बात मशीनीकरण के बारे में भी सच है यदि मशीनों का उपयोग केवल श्रम बचाने के लिए न किया जाये। आयात नियन्त्रण और उद्योगों के उत्पादन और पूंजीनिवेश की दिशा का नियन्त्रण करके कम-विकसित देश की सरकार इस नये किस्म की पूंजीवादी खेती में श्रम की बचत करने वाली मशीनों का उपयोग रोक सकती है।

पर असली सवाल यह उठता है कि क्या ये सरकारें यह कार्य करेंगी। ये समृद्ध किसान देश के सत्तारूढ़ विशिष्ट वर्ग में अपना स्थान बना लेते हैं। सब स्तरों पर सरकार और प्रशासन इस वर्ग की माँगों और दबाव के प्रति 'नरम' होते हैं, और बहुत आसानी से इनसे साँठ-गाँठ करने लगते हैं। इस बात की अधिक सम्भावना दिखायी पड़ती है कि धीरे-धीरे श्रम की बचत करने वाली मशीनों में पर्याप्त पूंजीनिवेश होने लगे और इसके परिणामस्वरूप श्रम की मांग घटने लगे।

जैसा कि अध्याय-4, अनुभाग-2 में कहा गया है, लेटिन अमरीका के कुछ देशों में श्रम की बचत करने वाली मशीनों के उपयोग की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। यह अत्यन्त चिन्ताजनक तथ्य है कि भारत जैसे देश में भी इस बात का कोई संकेत दिखायी नहीं पड़ता कि श्रम सघन और इसके साथ ही उच्च उत्पादकतावाली खेती के लिए कोई नीति निर्धारित की जा रही है अथवा कोई अनुसन्धान किया जा रहा है।

श्रम की बचत करने वाली मशीनों के उपयोग का प्रभाव उन बातों पर भी पड़ेगा, जो कम-विकसित देशों में सामाजिक और आर्थिक असमानता में वृद्धि करती है और खेती में लगे निर्धन लोगों के स्तर को और नीचे गिराती है। प्रमुख बात खेती से बँधी श्रम-शक्ति में तेजी से वृद्धि की है—यह श्रम-शक्ति खेती की कैद में इस तरह फँसी है कि भागकर शहरों की गन्दी बस्तियों में भी नहीं पहुँच पाती।

मैंने खेती पर अपने प्रेक्षण केन्द्रित रखे हैं क्योंकि खेती ही सब कम-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। अधिकांश कम-विकसित देशों में फिलहाल जो प्रवृत्तियाँ दिखायी पड रही हैं उनसे ऐसा कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ता कि कृषि क्षेत्र में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक असमानता निरन्तर, और वस्तुतः अधिकाधिक तेजी से बढ़ती नहीं जायेगी। भूमि-सुधार के प्रयास प्रायः सर्वत्र कमजोर होते जा रहे है, जिसका आंशिक कारण 'हरित क्रान्ति' की कल्पना का प्रभाव है। हरित क्रान्ति को ही खेती की समस्या का हल बताया जा रहा है।

प्रभावशाली भूमि-सुधार के अभाव में इस आशा का कोई आधार नहीं है कि अन्य सब संस्थागत सुधार—जैसे सामुदायिक विकास, कृषि विस्तार और

सहकारी समितियों के माध्यम से ऋण—बेहतर स्थिति वाले लोगों के हित साधन के लिए निरन्तर विकृत नहीं होते रहेंगे। कृषि की उन्नत विधियों के उपलब्ध होने के कारण सरकारें उन लोगों को सहायता देना अधिक पसन्द करेंगी जो इन विधियों का उपयोग करने की सर्वोत्तम क्षमता रखते हैं और इसका अर्थ है साधनसम्पन्न लोग।

यदि ये उन्नत खेती करने वाले समृद्ध किसान जैसाकि मुझे आशंका है, श्रम की बचत करने वाली मशीनों का उपयोग शुरू कर देते हैं और इस प्रकार श्रम की माँग में कमी कर देते हैं, जबकि श्रम-शक्ति का पहले ही पूरा उपयोग नहीं हो पाता और श्रमिकों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हो रही है, तो अन्ततः 'हरित क्रान्ति' का यह प्रभाव होगा कि कल्पनातीत पैमाने पर श्रम के कम उपयोग में वृद्धि होगी।

इस प्रकार आठवें दशक में—जिसे दूसरे विकास दशक के रूप में मनाने की बात कही गयी है—उस 'बेरोजगारी' और 'अर्द्ध-रोजगारी' में अत्यन्त हानिप्रद सीमाओं तक वृद्धि होगी, जिसे लोकप्रिय शब्दावली में किन्तु अपर्याप्त रूप से उक्त संज्ञा दी गयी है। इस घटना का दूसरा पहलू ग्रामीण जन-समुदाय में गरीबी में वृद्धि होगी।

इन परिस्थितियों में शहरों की गन्दी बस्तियों में निष्क्रमण जारी रहेगा और सम्भवतः इसमें वृद्धि भी होगी। जैसाकि मैंने कहा, आधुनिक उद्योगों के विकास से रोजगार में अधिक वृद्धि शुद्ध अर्थों में नहीं होगी। कम-विकसित देशों में अन्य शहरी व्यवसायों में श्रम की पहले से ही भरमार है और इसका भी पूरा उपयोग नहीं हो पाता।

शहरों की भयंकर कष्टपूर्ण गन्दी बस्तियों में पहुँचने वाले कृषि क्षेत्र के शरणार्थी शहरी समुदाय में घुलमिल नहीं पाते। वास्तव में, इन्हें गाँवों के निचले वर्ग का एक गलत स्थान पर स्थित हिस्सा ही कहा जायेगा, जो अत्यन्त कड़ाई से विभिन्न स्तरों में बँटे समाज में श्रम-शक्ति में वृद्धि के परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में फालतू हो गया है। यह एक ऐसा समाज भी है, जहाँ श्रम-शक्ति का उचित उपयोग करने की दृष्टि से टेक्नालॉजी की उन्नति को प्रतिबन्धित और अधिकाधिक गलत दिशा में निर्देशित किया गया है।

शहरों में रहने वाला यह निम्न वर्ग कम-विकसित देशों के अधिकांश शहरों में आसानी से अधिसंख्य वर्ग बन जायेगा। शहरों तक में यह बहुत बड़ी समस्या हो जायेगी कि श्रम निरन्तर अधिक फालतू और बर्बाद होता जायेगा। इसका परिणाम होगा व्यापक गरीबी।

कम-विकसित देशों में असमानता बनाये रखने और इसमें वृद्धि तक करने के अन्य लक्षण इधर दिखायी पड़े हैं। इस प्रकार अधिकांश कम-विकसित देशों में, विशेषकर निर्धनतम देशों में, शिक्षा का उपयोग सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने के एक माध्यम के रूप में प्रभावशाली ढंग से नहीं किया जाता है (देखिए अध्याय-6)।

अनेक देशों में अब शिक्षा का उपयोग आर्थिक और सामाजिक असमानता घटाने अथवा जन-समुदाय को विकास प्रक्रिया में हाथ बँटाने के लिए तैयार करने के लिए भी नहीं किया जाता। इसके विपरीत, अक्सर इसका उपयोग शिक्षा पर उच्च वर्ग के एकाधिकार और उनके मेहनत-मजूरी न करने के विरासत में प्राप्त दावे को कायम रखने के लिए किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा विकास विरोधी बन जाती है। सामान्य जन-समुदाय को उपयोगी साक्षरता प्राप्त करने में सहायता देने के प्रयास अनेक तरीकों से व्यर्थ कर दिये जाते हैं।

प्रायः सब कम-विकसित देशों में राजनीतिक सत्ता उच्च वर्ग के लोगों के कुछ समूहों के हाथों में है, जिन्होंने गरीब जन-समुदाय के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से प्रस्तावित प्रभावशाली सुधारों को सामान्यतया लागू नहीं होने दिया है। पश्चिम के और अपने देश के अर्थशास्त्रियों की सहायता से उन्होंने अपने पक्ष को इस सिद्धान्त से समर्थित कर लिया है कि असमानता ही नहीं बल्कि निरन्तर बढ़ती हुई असमानता एक 'विकासशील देश' में स्वाभाविक घटना, और वस्तुतः, आर्थिक प्रगति की एक पूर्व-शर्त है। यह सिद्धान्त बिल्कुल झूठा है (देखिए, अध्याय-3)।

भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है और इसमें सामान्यतया वृद्धि हो रही है। विकास साहित्य में सामान्यतया इस प्रश्न पर चुप्पी ही साधी जाती है। कभी-कभी तो मिथ्या रूप से यहाँ तक कहा जाता है कि यह 'विकासशील देश' में विकास के लिए लाभदायक होता है (देखिए, अध्याय-7)।

विकसित देश जो प्रभाव रखते हैं—प्रत्यक्ष निजी पूँजी निवेशों और सार्वजनिक सहायता के माध्यम से—उसका अधिक समानता की स्थापना के लिए शायद ही कभी इस्तेमाल किया जाता है। अधिकतर इससे सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई (देखिए, अध्याय 9-11)।

यह हो सकता है कि इस बीच भूख का सम्भावित संकट कुछ समय के लिए समाप्त हो जाये अथवा स्थगित हो जाये। 'भूख के संकट' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग अधिकांशतया इन सीमित अर्थों में होता है कि कम-विकसित देशों में गरीब वर्गों की पौष्टिक आहार के नीचे स्तर पर प्रभावशाली माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन पर्याप्त तेजी से नहीं बढ़ रहा है।

इस बीच राज्य और देशी पूँजीपतियों और विदेशी कम्पनियों द्वारा, जो अक्सर संयुक्त रूप से यह काम करती हैं, आधुनिक कारखाने लगाये जायेंगे। अर्थव्यवस्था का समस्त आधुनिक क्षेत्र विस्तृत होने लगेगा।

उद्योग, परिवहन, बिजली, वित्तीय संगठनों और उच्च तकनीकी शिक्षा की सुविधाओं सहित, इस क्षेत्र का विकास समस्त अर्थव्यवस्था के कायापलट और विकास के लिए महत्त्वपूर्ण रचनात्मक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। पर इस सम्बन्ध में हमें यह मानकर चलना होगा कि उक्त प्रभाव उत्पन्न करने के लिए योजनाबद्ध नीति के द्वारा इसका निर्देशन हुआ, और विशेषकर, कृषि के मुश्किल से गुजारे योग्य क्षेत्र और शहरों की गन्दी बस्तियों में श्रम के उपयोग और उत्पादकता में वृद्धि के प्रयासों के साथ इसका समन्वय किया गया।

पर नियमित रूप से यह स्थिति नहीं रही। आधुनिक क्षेत्र अधिकांशतया अलग-थलग रहता है। इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों की काम की

परिस्थितियों और सामाजिक सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की प्रेरणा से कानून बनाये गये और बनाये जायेंगे तथा इस क्षेत्र के श्रमिको की आय आस-पास की शहरी गन्दी बस्तियो अथवा खेती मे लगे श्रमिको की आय से पर्याप्त ऊंची होगी। आधुनिक क्षेत्र के कर्मचारियो की हैसियत लगभग 'मध्यम वर्ग' की हो जायेगी।

यदि इसके साथ ही श्रम-शक्ति का कम उपयोग जारी रहता है और इसके परिणामस्वरूप मुश्किल से गुजारे योग्य कृषि क्षेत्र और भूमिहीन खेत मजदूरो तथा शहरों की गन्दी बस्तियों के निवासियो की गरीबी बढती जाती है, तो छोटा-सा आधुनिक क्षत्र इस गरीबी के सागर के बीच एक टापू के समान होगा और यह स्थिति उपनिवेशी युग से भी बुरी होगी। इस समय 'प्रसार प्रभाव' कमजोर है[1] और जैसे-जैसे उच्च वर्ग और निचले वर्ग के समूहो के बीच अन्तर बढता जायेगा यह प्रभाव और कमजोर होते जायेंगे।

श्रमिकों की सुरक्षा के लिए जो नीति सम्बन्धी उपाय किये जाते हैं उनमे से कोई भी निचले वर्गों के इन समूहों की परिस्थितियो पर लागू नही होते। यदि कोई कानून बनाया भी जाता है तो उसे लागू नही किया जायेगा। इन्हे लागू किया ही नही जा सकता।

अन्ततः इस बीच परम्परागत अर्थशास्त्री और अन्तर-सरकार संगठनों के सचिवालय राष्ट्रीय-आय अथवा राष्ट्रीय-उत्पादन मे 'वृद्धि' के आँकडो के अवास्तविक योगों का समालोचनात्मक दृष्टि अपनाये बिना ही प्रयोग कर रहे है और इस बात पर ध्यान नही दे रहे हैं कि वास्तव मे किस चीज की वृद्धि हो रही है। क्या एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वास्तविक वृद्धि हो रही है अथवा नकारात्मक विकासो पर आने वाली लागतों के कारण यह हो रहा है। वे इस बात का भी ध्यान नही रखते कि उत्पादन का वितरण किस प्रकार किया जाता है, और सामान्यतया, 'गैर-आर्थिक कारकों' की भी उपेक्षा कर दी जाती है। इस प्रकार वे स्वयं अपने-आपको और जनता को इस बात से आश्वस्त कर सकते है कि 'विकासशील देश' वास्तव मे विकास कर रहे हैं (देखिए, अध्याय-8)।

कम-विकसित देशों में राजनीतिक गतिशीलता पर विचार करने से पहले मैं एक और स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना चाहूंगा। इन देशो मे आर्थिक और सामाजिक स्थिति और विकास को अक्सर शोषण कहा जाता है। अधिकांशतया इस सकल्पना को अस्पष्ट और सन्दिग्ध रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, यह कार्य उस समय होता है जब यह संकल्पना उस विशिष्ट रूप मे मूल्य के सस्थापित सिद्धान्त से सम्बन्धित नही होती जो रूप इसे मार्क्स ने प्रदान किया था।

इस सन्दर्भ मे मैं इस तथ्य की बात नही उठाता कि 'वास्तविक मूल्य' का संस्थापित सिद्धान्त—मार्क्स और रिकार्डो ने जिसकी परिभाषा देते हुए इसे किसी वस्तु के निर्माण के लिए आवश्यक श्रम के रूप मे आने वाली लागत बताया है—वेदान्तिक और नैसर्गिक—नियम के दर्शन[2] की उपज है और इस कारण से वैज्ञानिक विश्लेपण मे उपयोगी नही है। मार्क्स ने शोषण की अपनी परिभाषा

मे इसे वह—'अतिरिक्त मूल्य' बताया है जो मालिक श्रमिक को न देकर स्वयं हड़प जाता है।

पर कृषि क्षेत्र और शहरो की गन्दी बस्तियों की उस श्रम-शक्ति की स्थिति कही अधिक खराब है जिसका पूरा उपयोग नही होता। इस स्थिति की कल्पना उक्त परिभाषा अथवा श्रमिक को अपने उत्पादन के एक अंश से वंचित कर देने की किसी भी शोषण की परिभाषा के आधार पर नही की जा सकती। अल्प उपयोग वाली श्रम-शक्ति की वास्तविक कठिनाई और उनकी गरीबी का वास्तविक कारण यह है कि वे बहुत कम अथवा कुछ भी उत्पादन नही करते।

इस स्थिति में ज़मीदार, सूदखोर, और वास्तव मे, सामान्यतया उच्चवर्ग श्रमिको को बहुत कम मजदूरी देकर उनके श्रम का 'शोषण' कर सकता है और ज़मीदार अपने काश्तकारों की मामूली-सी उपज का असाधारण रूप से बडा हिस्सा अपने पास रख सकता है और गरीबो तथा शक्तिहीन लोगों की ठगायी जारी है। पर ये सब बातें श्रम-शक्ति के अल्प उपयोग की कही अधिक मूलभूत प्रवृत्ति का लक्षण मात्र हैं। गहराई तक पैठे हुए कारणों को समाप्त किये बिना इन लक्षणों पर प्रहार के द्वारा निर्धनता के विरुद्ध संघर्ष के प्रयास निरर्थक है, जैसाकि ऐसे अनेक कानूनों से पूरी तरह प्रमाणित हो गया है जिनमें कृषि क्षेत्र मे न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने और काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने के प्रयास किये गये है। इस सम्बन्ध में भारत का उदाहरण दिया जा सकता है।

कम-विकसित देशों मे जो पहले होता रहा है और आज भी हो रहा है उसे गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजी से श्रम-शक्ति मे वृद्धि और आर्थिक तथा टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के संयुक्त प्रभावो के कारण श्रम-शक्ति का अल्प उपयोग और इसके परिणामस्वरूप व्यापक निर्धनता बढ़ रही है। आर्थिक और टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तन एक अत्यन्त असमानतावादी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत हो रहे है। श्रम-शक्ति का एक बड़ा और निरन्तर बढता हिस्सा बस फालतू हो गया है अथवा फालतू होता जा रहा है।

इसी प्रकार, विकसित और कम-विकसित देशों की आय का बढ़ता हुआ अन्तर और कम-विकसित देशो की गरीबी उन घटनाओं के कारण है जिन पर इस पुस्तक के भाग दो में विचार किया गया है और इसका कारण विकसित देशो से इनके आर्थिक सम्बन्ध भी हैं जिनका विश्लेषण भाग तीन, और विशेषकर अध्याय-9 मे दिया गया है। यह सार्थक और स्पष्ट शोषण का सीधा-सादा परिणाम नही है।

वास्तविकता यह है कि यदि पूरा भारत उपमहाद्वीप अपनी जल्दी ही एक अरब हो जाने वाली आबादी सहित कल ही महासागर के तल मे जा बैठता है, तो इससे विकसित देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, उत्पादन और खपत, वेतनो और अन्य आयों, कम्पनियों की हिस्सा पूंजी के मूल्यों आदि के वक्रों मे केवल मामूली-सा ही परिवर्तन आयेगा।

विकसित देशो की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में इसका प्रभाव मुश्किल से ही दिखायी पड़ेगा। पाकिस्तान और भारत मे जो कुछ पैदा होता है उसकी विकसित देशों को प्रायः कोई आवश्यकता नहीं होती जबकि इन देशों को विकसित देशों

के उत्पादन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है।

कम-विकसित देशों की अन्य अनेक समस्याओं की तरह प्रायः इस समस्या का समानान्तर उदाहरण भी संयुक्त राज्य अमरीका की गरीबी की समस्या में मौजूद है। गन्दी बस्तियों के निवासियों को छोटे पैमाने पर ठगाई जारी है—इन लोगों से बहुत ऊँची दर पर किराया लिया जाता है और इसी प्रकार अन्य सेवाओं के लिए इन्हें ऊँचा दाम चुकाना पड़ता है और मिठाई की दुकानों आदि पर इन्हें इनके श्रम का कम भुगतान मिलता है। और स्पष्ट भेदभाव बरता जाता है, विशेषकर नीग्रो लोगों के प्रति।

अमरीका की शहरी और ग्रामीण गन्दी बस्तियों के विशाल निम्न वर्ग की बुनियादी कठिनाई यह है कि उन्हें आधुनिक अर्थव्यवस्था में होने वाली माँग के प्रभावशाली ढंग से अनुरूप बनाने के लिए शिक्षा तथा अन्य कुशलताएँ और व्यक्तित्व के गुण प्राप्त नहीं हुए है। उक्त समानान्तर उदाहरण और अधिक समीप आ जाता है: निम्न वर्ग के लोगों के काम की प्रभावशाली माँग में निरन्तर कमी की प्रवृत्ति है, जिसके परिणामस्वरूप ये लोग अधिकाधिक फालतू होते जा रहे हैं।[4]

यदि संयुक्त राज्य अमरीका में गन्दी बस्तियों के बेरोजगार और अर्द्ध-बेरोजगार नदारद हो जायं, हां, यदि गन्दी बस्तियो के समस्त निवासी नदारद हो जायं, तो कुछ संक्रमणकालीन फेरबदल करनी होगी पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कोई बड़ी क्षति नही पहुँचेगी। इस फेरबदल के बाद, अधिसंख्य अमरीका पहले की तरह ही समृद्ध बना रहेगा—वास्तव में इसकी समृद्धि और बढ़ जायेगी क्योंकि गन्दी बस्तियों और इनके निवासियो के साथ रहने के कारण जो इनके ऊपर व्यय आता है उससे छुटकारा मिल जायेगा। यह भयंकर सत्य है, चाहे सामान्य अमरीकी इसका सामना करने के लिए तैयार न हो।

इस समस्या को सुलझाने के लिए अमरीका को बहुत बड़े पैमाने पर और बहुत लम्बी अवधि के लिए अपने निम्न-वर्ग के लोगो की शिक्षा और सामान्य भलाई के लिए पूंजी निवेश करना होगा ताकि इस वर्ग के लोगो को राष्ट्रीय जीवन और श्रम की मुख्य धारा में लाया जा सके। इन लोगों की योग्यता में वृद्धि करके इनकी प्रभावशाली माँग को बढ़ाया जा सकता है। मैंने इसे अमरीका का 'गरीबों के प्रति ऋण'[5] कहा है। इस ऋण को चुकाना होगा यदि राष्ट्र को विस्फोट और विघटन से बचाना है।

मुझे इस बात में सन्देह नही है कि ये विशाल पूँजी निवेश लाभदायक सिद्ध होंगे—पर बहुत लम्बी अवधि में। और अमरीका इन निवेशों की स्थिति मे भी है। लेकिन छोटी अवधि में यह इसकी वार्षिक आय पर भार होगा।

जब साधारण अमरीकी, जिनमे उदारतावादी और प्रतिक्रियावादी दोनों शामिल हैं, अपने देश की अमीरी की डींग हांकते हैं—और ऐसे अनेक प्रकार के सार्वजनिक व्यय के लिए स्वय को स्वतन्त्र पाते है जिसका इसकी आबादी की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए कोई मूल्य नही है—तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अभी तक अपने ऊपर गरीबो के ऋण का सच्चा लेखा-जोखा नहीं लिया है।

स्वयं कम-विकसित देशों के भीतर और उनके तथा विकसित देशों के मध्य—

मे इसे वह—'अतिरिक्त मूल्य' बताया है जो मालिक श्रमिक को न देकर स्वयं हड़प जाता है।

पर कृषि क्षेत्र और शहरों की गन्दी बस्तियों की उस श्रम-शक्ति की स्थिति कही अधिक खराब है जिसका पूरा उपयोग नहीं होता। इस स्थिति की कल्पना उक्त परिभाषा अथवा श्रमिक को अपने उत्पादन के एक अंश से वंचित कर देने की किसी भी शोषण की परिभाषा के आधार पर नहीं की जा सकती। अल्प उपयोग वाली श्रम-शक्ति की वास्तविक कठिनाई और उनकी गरीबी का वास्तविक कारण यह है कि वे बहुत कम अथवा कुछ भी उत्पादन नही करते।

इस स्थिति मे जमींदार, सूदखोर, और वास्तव में, सामान्यतया उच्चवर्ग श्रमिकों को बहुत कम मजदूरी देकर उनके श्रम का 'शोषण' कर सकता है और जमींदार अपने काश्तकारों की मामूली-सी उपज का असाधारण रूप से बडा हिस्सा अपने पास रख सकता है और गरीबो तथा शक्तिहीन लोगो की ठगायी जारी है। पर ये सब बातें श्रम-शक्ति के अल्प उपयोग की कही अधिक मूलभूत प्रवृत्ति का लक्षण मात्र हैं। गहराई तक पैठे हुए कारणों को समाप्त किये बिना इन लक्षणों पर प्रहार के द्वारा निर्धनता के विरुद्ध संघर्ष के प्रयास निरर्थक हैं, जैसाकि ऐसे अनेक कानूनों से पूरी तरह प्रमाणित हो गया है जिनमें कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने और काश्तकारों को सुरक्षा प्रदान करने के प्रयास किये गये है। इस सम्बन्ध मे भारत का उदाहरण दिया जा सकता है।

कम-विकसित देशों में जो पहले होता रहा है और आज भी हो रहा है उसे गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजी से श्रम-शक्ति मे वृद्धि और आर्थिक तथा टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तनों के संयुक्त प्रभावों के कारण श्रम-शक्ति का अल्प उपयोग और इसके परिणामस्वरूप व्यापक निर्धनता बढ रही है। आर्थिक और टेक्नालॉजी सम्बन्धी परिवर्तन एक अत्यन्त असमानतावादी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली के अन्तर्गत हो रहे हैं। श्रम-शक्ति का एक बड़ा और निरन्तर बढ़ता हिस्सा बस फालतू हो गया है अथवा फालतू होता जा रहा है।

इसी प्रकार, विकसित और कम-विकसित देशो की आय का बढता हुआ अन्तर और कम-विकसित देशो की गरीबी उन घटनाओं के कारण है जिन पर इस पुस्तक के भाग दो में विचार किया गया है और इसका कारण विकसित देशों से इनके आर्थिक सम्बन्ध भी हैं जिनका विश्लेषण भाग तीन, और विशेषकर अध्याय-9 मे दिया गया है। यह सार्थक और स्पष्ट शोषण का सीधा-सादा परिणाम नही है।

वास्तविकता यह है कि यदि पूरा भारत उपमहाद्वीप अपनी जल्दी ही एक अरब हो जाने वाली आबादी सहित कल ही महासागर के तल मे जा बैठता है, तो इससे विकसित देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, उत्पादन और खपत, वेतनो और अन्य आयो, कम्पनियों की हिस्सा पूँजी के मूल्यों आदि के वक्रों मे केवल मामूली-सा ही परिवर्तन आयेगा।

विकसित देशो की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में इसका प्रभाव मुश्किल से ही दिखायी पड़ेगा। पाकिस्तान और भारत मे जो कुछ पैदा होता है उसकी विकसित देशों को प्रायः कोई आवश्यकता नही होती जबकि इन देशो को विकसित देशों

के उत्पादन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है।

कम-विकसित देशों की अन्य अनेक समस्याओं की तरह प्रायः इस समस्या का समानान्तर उदाहरण भी संयुक्त राज्य अमरीका की गरीबी की समस्या में मौजूद है। गन्दी बस्तियों के निवासियों की छोटे पैमाने पर ठगाई जारी है—इन लोगों से बहुत ऊँची दर पर किराया लिया जाता है और इसी प्रकार अन्य सेवाओं के लिए इन्हें ऊँचा दाम चुकाना पड़ता है और मिठाई की दुकानों आदि पर इन्हें इनके श्रम का कम भुगतान मिलता है। और स्पष्ट भेदभाव बरता जाता है, विशेषकर नीग्रो लोगों के प्रति।

अमरीका की शहरी और ग्रामीण गन्दी बस्तियों के विशाल निम्न वर्ग की बुनियादी कठिनाई यह है कि उन्हें आधुनिक अर्थव्यवस्था में होने वाली माँग के प्रभावशाली ढंग से अनुरूप बनाने के लिए शिक्षा तथा अन्य कुशलताएँ और व्यक्तित्व के गुण प्राप्त नहीं हुए हैं। उक्त समानान्तर उदाहरण और अधिक समीप आ जाता है: निम्न वर्ग के लोगों के काम की प्रभावशाली माँग में निरन्तर कमी की प्रवृत्ति है, जिसके परिणामस्वरूप ये लोग अधिकाधिक फालतू होते जा रहे हैं।[6]

यदि संयुक्त राज्य अमरीका में गन्दी बस्तियों के बेरोजगार और अर्द्ध-बेरोजगार नदारद हो जायँ, हाँ, यदि गन्दी बस्तियों के समस्त निवासी नदारद हो जायँ, तो कुछ संक्रमणकालीन फेरबदल करनी होगी पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कोई बड़ी क्षति नहीं पहुँचेगी। इस फेरबदल के बाद, अधिसंख्य अमरीका पहले की तरह ही समृद्ध बना रहेगा—वास्तव में इसकी समृद्धि और बढ़ जायेगी क्योंकि गन्दी बस्तियों और इनके निवासियों के साथ रहने के कारण जो इनके ऊपर व्यय आता है उससे छुटकारा मिल जायेगा। यह भयंकर सत्य है, चाहे सामान्य अमरीकी इसका सामना करने के लिए तैयार न हो।

इस समस्या को सुलझाने के लिए अमरीका को बहुत बड़े पैमाने पर और बहुत लम्बी अवधि के लिए अपने निम्न-वर्ग के लोगों की शिक्षा और सामान्य भलाई के लिए पूँजी निवेश करना होगा ताकि इस वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय जीवन और श्रम की मुख्य धारा में लाया जा सके। इन लोगों की योग्यता में वृद्धि करके इनकी प्रभावशाली माँग को बढ़ाया जा सकता है। मैंने इसे अमरीका का 'गरीबों के प्रति ऋण'[7] कहा है। इस ऋण को चुकाना होगा यदि राष्ट्र को विस्फोट और विघटन से बचाना है।

मुझे इस बात में सन्देह नहीं है कि ये विशाल पूँजी निवेश लाभदायक सिद्ध होंगे—पर बहुत लम्बी अवधि में। और अमरीका इन निवेशों की स्थिति में भी है। लेकिन छोटी अवधि में यह इसकी वार्षिक आय पर भार होगा।

जब साधारण अमरीकी, जिनमें उदारतावादी और प्रतिक्रियावादी दोनों शामिल हैं, अपने देश की अमीरी की डींग हांकते हैं—और ऐसे अनेक प्रकार के सार्वजनिक व्यय के लिए स्वयं को स्वतन्त्र पाते हैं जिसका इसकी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कोई मूल्य नहीं है—तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अभी तक अपने ऊपर गरीबों के ऋण का सच्चा लेखा-जोखा नहीं लिया है।

स्वयं कम-विकसित देशों के भीतर और उनके तथा विकसित देशों के मध्य—

इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के भीतर भी—असमानता के प्रश्न को न्याय के नैतिक दृष्टिकोण और पुर्नवितरणात्मक सुधारों की आवश्यकता के रूप में निश्चय ही देखा जा सकता है।

कम-विकसित देशों के भीतर अधिक समानता के आन्तरिक प्रश्न के सन्दर्भ मे सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली को बदल डालना चाहिए, भू-स्वामित्व और काश्तकारी के सम्बन्ध में यह कार्य विशेषरूप से किया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय समानता के प्रश्न के सम्बन्ध मे, विकसित देशों को अधिक सहायता देनी चाहिए और उन्हें कम-विकसित देशो के प्रति भेदभाव बरतने के स्थान पर ऐसी वाणिज्य नीतियाँ शुरू करनी चाहिए जो कम-विकसित देशो के हित में हों।

प्रथम तो यह कार्य मानव एकता और करुणा के आधार पर किया जाना चाहिए। विशषकर आन्तरिक समानता के प्रश्न के सम्बन्ध में, श्रम और भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए सुधारों की आवश्यकता है।

न्याय, एकता और उत्पादकता के आधार पर सुधार लागू करने की नितान्त आवश्यकता पर जोर दिया जाना चाहिए। सम्बन्धित प्रश्नो को बस उलझा दिया गया है, और इसके साथ ही यह दर्शाने की कोशिश की जाती है कि इन्हे सुलझाना बड़ा आसान है। अतिरिक्त मूल्य और शोषण के पुराने वेदान्ती सिद्धान्त का जामा पहनाकर यह काम किया जाता है।

उदाहरण के लिए कम-विकसित देशो में पूंजी लगाने वाले विदेशी अक्सर यह कह सकते हैं कि बाजार की चालू दर की तुलना में वे बहुत ऊँचे वेतन दे रहे हैं। पर यह मुद्दा साफ किये बिना ही उक्त बात कही जाती है कि क्या पूंजी लगाने वाले विदेशियों की मौजूदगी और उनके कार्य सचमुच कम-विकसित देशों के लिए लाभप्रद है।

इस पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में विस्तार से इन विषयों का प्रतिपादन हुआ है। मेरी प्रमुख मान्यता यह है कि विकास की परिभाषा परस्पर निर्भर परिस्थितियो की एक सम्पूर्ण प्रणाली की ऊर्ध्व गति के रूप में दी जा सकती है, जिसमें से 'आर्थिक प्रगति' संयोगवश परस्पर निर्भर परिस्थितियो की अनेक श्रेणियो मे से एक है, बशर्ते इसकी उचित रूप से परिभाषा दी जा सकती हो और पैमाइश की जा सकती हो।[6] अन्य परिस्थितियों, जिन्हें सामान्यतया 'सामाजिक परिस्थितियाँ' कहा जाता है, का सुधार रुक जाने से और इनमे सचमुच गिरावट आने से इन नवोदित राष्ट्रो के विघटन की प्रवृत्ति शुरू हो जायेगी। यदि वर्तमान प्रवृत्तियों को जारी रहने दिया जाता है तो जल्दी या देर से समस्त विकास प्रक्रिया बेहद धीमी और अव्यवस्थित हो जायेगी तथा अन्ततः सामान्य प्रतिगमन शुरू हो जायेगा।

कम-विकसित देशों की विकास समस्याओं के बारे मे पूर्वाग्रहग्रस्त दूसरे महायुद्ध के बाद के दृष्टिकोण के उपयोग के द्वारा इन्हीं बातों को छिपाने का प्रयास किया गया है (देखिए, अध्याय-1)। हाल मे स्टॉकहोम मे संयुक्त राष्ट्र की एक विशषज्ञ समिति की बैठक मे प्रस्तुत रिपोर्ट मे[7] यह तर्क दिया गया है और मैं

यहाँ इस रिपोर्ट का पहला पैराग्राफ उद्धृत कर रहा हूँ।

"अतीत में एक ओर 'आर्थिक' तो दूसरी ओर 'सामाजिक' घटनाक्रम के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने, सामाजिक विकास को आर्थिक विकास के विपरीत दर्शाने, आर्थिक लक्ष्यों को सामाजिक लक्ष्यों के और आर्थिक कारकों को सामाजिक कारको के विपरीत दर्शाने आदि का प्रयास किया गया है। इसका आशिक कारण विकास प्रक्रिया के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाना है, जो अर्थ-शास्त्र में पुरानी विचारधारा की विशेषता है और यह विचारधारा अत्यधिक समुच्चित चरों वाले सरलीकृत अर्थमितीय नमूनों पर अत्यन्त निर्भर करता है। इस विचारधारा वाले लोगो ने (विकासशील देशों में) राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन के तरीको और विधियो को प्रभावित किया है, और इस क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के कार्य और अधिक विस्तृत पैमाने पर आर्थिक प्रक्षेपणो को प्रभावित किया है। इस दृष्टिकोण में आसानी से मात्रात्मक स्वरूप दिये जा सकने योग्य चरों के अपेक्षाकृत सरल नमूनों का इस्तेमाल किया गया है, जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन, पूंजी विनियोग, निर्यात और आयात। यह दृष्टिकोण विकास प्रक्रिया के कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण कारको और पहलुओं की उपेक्षा करा देने में सहायक बनता है। इस प्रकार आय और रहन-सहन के स्तर के अन्तर से सम्बन्धित सब मामलो की उपेक्षा हो जाती है जैसे विभिन्न वर्गों, धर्मों, क्षेत्रो, उम्रसमूहों, शहर और गाँव, मानव विकास सम्बन्धी मामलों—स्वास्थ्य, शिक्षा, बच्चे, खपत सम्बन्धी मामले, पौष्टिक अहार, आवास, सामाजिक सेवाओं की। इन उपेक्षित कारकों के साथ सामाजिक स्तरीकरण की महत्त्वपूर्ण समस्या और सकीर्ण आर्थिक नमूनो के क्षेत्र के बाहर के अन्य पहलुओं को भी जोड़ा जाना चाहिए, विशेषकर श्रम के अत्यधिक अल्प उपयोग को। विकास प्रक्रिया के लिए इन पहलुओं के अत्यधिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, समिति ने आशा प्रकट की कि अब समय आ गया है कि विकास विश्लेषण और आयोजन के प्रति आर्थिक दृष्टिकोण को एक ऐसे सामाजिक दृष्टिकोण से एकीकृत करना होगा जो स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और आगामी दशक मे विकासशील देशों की समस्याओ के लिए अधिक उपयुक्त होगा।

अध्याय : 14

# दक्षिण एशिया में राजनीतिक गतिशीलता

अध्याय-13 में कम-विकसित देशों में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों का व्यापक सर्वेक्षण हुआ है। विभिन्न देशों के बीच बहुत अधिक अन्तर है। इसके बावजूद, मेरा विश्वास है कि मैंने जिन विकासो का चित्रण किया है, वे मोटे तौर पर ऐसे विकास हैं, जिन्हें कम-विकसित देशों का एक बहुत बड़ा बहुमत आजकल अनुभव कर रहा है—और यदि बुनियादी रूप से परिवर्तित नीतियों के द्वारा इस प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं किया जाता तो यह अनुभव इसी रूप में जारी रहेगा।

यद्यपि आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियां तथा परिस्थितियां अधिकांशतया समान है, राजनीतिक घटनाओं के इस प्रकार समान होने की अपेक्षा नही की जा सकती। एशियन ड्रामा मे, दक्षिण एशिया के अनेक देशो के राजनीतिक विकासों के अपने सर्वेक्षण मे, मैंने यह देखा है कि अन्य क्षेत्रो की तुलना में राजनीतिक विकासों के सन्दर्भ मे अन्तर कहीं अधिक बड़े हैं।[1] मैंने भारत मे राजनीतिक विकास के अध्ययन के लिए जो नमूना अपने सामने रखा,[2] वह इस क्षेत्र के अन्य देशों के इसी किस्म के विकास के विश्लेषण से केवल बहुत कम साम्य रखता है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि कम-विकसित देशो में राजनीतिक विकास के अध्ययन के लिए अत्यन्त सरलीकृत सामान्य नमूनो का प्रायः कोई उपयोग नही था, जिन्हे राजनीतिक वैज्ञानिकों के एक नये सम्प्रदाय ने अर्थ-शास्त्रियों का अनुसरण करते हुए तैयार किया था।

इन नमूनो की भविष्यकथन की दृष्टि से कोई कीमत नहीं है। मैं पहले ही *अपनी सुविचारित राय व्यक्त कर चुका हूँ कि यह भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं* है कि अब से पांच वर्ष बाद किस कम-विकसित देश मे किस प्रकार की सरकार होगी।

इन देशों में भावी राजनीतिक विकास सम्बन्धी विचारो में इसके स्थान पर विविध प्रकार की वैकल्पिक सम्भावनाओं को ध्यान मे रखना होगा और इस बात पर भी विचार करना होगा कि इनमें से किस सम्भावना के साकार होने के क्या परिणाम हो सकते हैं। यह सच है कि कुछ सामान्य प्रवृत्तियां भी हैं—उदाहरण के लिए, सैनिक संस्थानो का निरन्तर बढ़ता हुआ महत्त्व। लेकिन यह प्रवृत्ति, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों की प्रवृत्तियों की तरह विभिन्न देशो मे अमल मे लायी जाने वाली नीतियों के अनुसार भिन्न प्रभाव उत्पन्न करेगी।

समस्त सामाजिक अनुसन्धान में यह प्रवृत्ति निहित रहती है कि शक्तियों के व्यापक स्वरूपों के सन्दर्भ मे विकास का विश्लेपण किया जाये। पर जिस समय राजनीतिक विकासों पर विचार किया जाये, हमे स्वयं को इस बात का स्मरण दिलाना चाहिए कि इतिहास पूर्व निश्चित नियति नही होता, बल्कि इसका निर्माण स्वयं मनुष्य करता है और यह भी कि इसकी दिशा का निर्धारण वे निर्णय और कार्य करेंगे जिन्हे अभी लेना शेष है। व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूह अक्सर महत्त्वपूर्ण स्थिति में पहुँच जाते हैं, जहां उनके कार्यों का चुनाव बहुत गहरे और चिरस्थायी प्रभाव छोड़ता है और यह प्रभाव राजनीतिक क्षत्र के बाहर भी होता है।

भारत मे जवाहरलाल नेहरू की राजनीतिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली स्थिति थी और आरम्भ मे उनकी राजनीतिक स्थिति के समक्ष प्राय: कोई चुनौती नहीं थी, विशेपकर सरदार वल्लभभाई पटेल की मृत्यु के बाद। जवाहरलाल नेहरू ने सदा सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका कहना था कि अंग्रेजी राज से राजनीतिक मुक्ति प्राप्त हो जाने के बाद यह क्रान्ति ो होनी चाहिए। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाओ मे उस दिशा का उल्लेख किया, स दिशा मे आमूल परिवर्तन वाले सुधार होने चाहिए और उन्हें राष्ट्रीय ग्रेस की बुनियादी परिवर्तन चाहने वाली शाखा सहित इन सुधारो को कांग्रेस " प्रस्तावो मे स्वीकार कराने मे सफलता मिली।

यदि जवाहरलाल नेहरू उस समय कांग्रेस पार्टी में फूट पड जाने का खतरा तक उठाते और केवल अपने भाषणों में ही आमूल परिवर्तनवादी आदर्शों का निरन्तर विवरण प्रस्तुत करने भर से सन्तोष प्राप्त न कर लेते और सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को स्थगित न करते जाते, बल्कि इसके स्थान पर इस क्रान्ति को साकार करने के लिए तेज और प्रभावशाली राजनीतिक कार्रवाई करते, तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता।[3]

यदि महात्मा गांधी की हत्या भारत की स्वतन्त्रता के युग के समारम्भ के तुरन्त बाद न कर दी जाती और यदि उनमें अपनी पहले जैसी शक्ति मौजूद रहती तो क्या होता, यह भी विचार का विषय है। इसी प्रकार हम इस प्रश्न के बारे में भी केवल अनुमान-भर लगा सकते हैं कि देशव्यापी सांठगांठ और भ्रष्टाचार के आधार पर भूमि और काश्तकारी सम्बन्धी सुधार को निरन्तर स्थगित रखने के विरुद्ध वे क्या कार्रवाई करते।

यदि पाकिस्तान में अयूब खान, सन् 1958 मे सफल और आशापूर्ण समारम्भ के बाद,[4] अपने अत्यन्त गरीब और असमानता पर आधारित देश मे सामाजिक और पुनर्वितरण सम्बन्धी सुधारों के बारे में सूझबूझ और जागरूकता दिखाते, और यदि वे भ्रष्टाचार को समाप्त कर देते और सबसे पहले स्वयं अपने-आपको और अपने परिवार को भ्रष्ट तरीकों से दूर रखते, तो वे आज भी पाकिस्तान मे सत्तारूढ होते। और पाकिस्तान का पिछले दशक का और आने वाले दशको का भी इतिहास बहुत भिन्न होता।[5]

मैं यहां जो बात स्पष्ट करना चाहता हूँ वह यह है कि यद्यपि कुछ मोटी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां तथा प्रवृत्तियां मौजूद हैं—जैसी श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग की समस्या, जिस पर पिछले अध्याय में विचार हुआ है — पर

इनसे मुख्यतया राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय लोगों के लिए ही समस्याएँ उत्पन्न होती है, अथवा इनसे उनकी सम्भावित उपलब्धि पर अंकुश लगता है या इसकी सीमा निर्धारित होती है।

मैंने इन सब चेतावनियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना आवश्यक समझा। जिस प्रमुख मुद्दे पर जोर देने की आवश्यकता है, वह यह है कि राजनीतिक गतिशीलता के क्षेत्र में कम-विकसित देशों के बारे में समस्त साधारणीकरण का स्वरूप अत्यन्त भंगुर है।

इस पुस्तक के विश्लेषण का एक निष्कर्ष यह है कि समस्त अथवा अधिकांश कम-विकसित देशों मे आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है और यदि गाँवों और शहरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले निर्धन जन-समुदाय के श्रम के अल्प-उपयोग की बढती हुई खतरनाक प्रवृत्ति को बदलना है, तो यह तात्कालिक आवश्यकता है कि इन सुधारों को अंगीकार किया जाये और तेजी से लागू किया जाये।

आवश्यक सुधारों को इस पुस्तक के दूसरे भाग में विस्तार से बताया गया है। ये सुधार असमानतावादी और कठोर आर्थिक तथा सामाजिक स्तरीकरण को तोड डालने पर केन्द्रित है। कृषि के क्षेत्र में भूमि-सुधार सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। जन-समुदाय में सन्तति-निरोध का प्रसार करना होगा। शिक्षा की दिशा को बुनियादी तौर से फिर निर्देशित करना और वयस्क शिक्षा का सशक्त अभियान चलाना आवश्यक होगा। भ्रष्टाचार को मिटाना होगा और कठोर सामाजिक अनुशासन लागू करना होगा।

इस दिशा मे सुधार नीति सम्बन्धी तर्कसम्मत विकल्प ही होंगे। इन विकल्पों को तेजी से लागू करने का अर्थ, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति होगा।

नीति के क्षेत्र में क्या वास्तविक विकल्प मौजूद हैं, इस बात पर टिप्पणी करने से पहले, तथ्यों और तथ्यगत सम्बन्धो की सैद्धान्तिक समस्या पर विचार करना आवश्यक होगा : एक परम्परावादी समाज परिवर्तनों के समक्ष क्या आचरण करता है, जब ये परिवर्तन उसके ऊपर थोप दिये जाते हैं तब क्या होता है ? विकास के समस्त तर्कसम्मत आयोजन में इस प्रश्न का उत्तर निर्णायक महत्त्व का होगा।

अधिक सूक्ष्म रूप में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वर्तमान दृष्टि-कोणों और संस्थाओं के विरुद्ध बडे पैमाने पर और तेज कार्रवाई इतना शक्ति-शाली और निरन्तर कायम प्रतिरोध उत्पन्न करती है कि केवल छोटे और धीरे-धीरे होने वाले सुधारों को लागू करना ही एकमात्र विकल्प रह जाता है ?[8]

दुर्भाग्यवश, इस महत्त्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में अब तक प्रायः नहीं के बराबर अनुभवजन्य अनुसन्धान हुआ है। कुछ आधुनिक नृवंश विज्ञानी यह कार्य करने की तैयारी कर रहे हैं, वे एक ऐसे पुराने सम्प्रदाय के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं जिसने एक गतिहीन दृष्टिकोण का उपयोग करने की प्रवृत्ति दिखायी और परिवर्तन को कायम सन्तुलन को भग करने का ही माध्यम माना।

बेंजामिन हीगिन्स ने मारगरेट मीड का उद्धरण देते हुए एडमिरेलिटी द्वीपों के मैनुस द्वीप की दूसरी बार यात्रा के उनके निष्कर्षों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। दूसरे महायुद्ध में बड़े पैमाने पर अमरीकी सेनाएँ इन द्वीपों पर तैनात रहीं। मारगरेट मीड का कहना है कि यदि आधुनिकीकरण का प्रवाह पर्याप्त सशक्त हो तो परम्परागत समाज को बहुत तेजी से और उसके लाभ के लिए परिवर्तित किया जा सकता है और इस कार्य मे प्रतिरोध और प्रतिक्रिया की सशक्त लोकप्रिय शक्तियों का सामना न करना होगा।[7]

हीगिन्स का अपना विचार है :

"हमें निश्चित रूप से ऐसी किसी बात का ज्ञान नही है, जिससे हमारे ऊपर यह स्पष्ट होता हो कि 'बड़ा प्रयास', जिसमें शिक्षा और पुनर्शिक्षा के विशाल प्रयास भी शामिल हैं, असफल रहेगा, अथवा यह किसी समाज के लिए विशेष रूप से कष्टप्रद सिद्ध होगा। दूसरी ओर, इस आशय का पर्याप्त प्रमाण है कि धीरे-धीरे परिवर्तन लाने का प्रयास असफल रहेगा और यह अनेक विकासशील देशों मे बहुत कष्टप्रद प्रक्रिया सिद्ध होगी;···विकास प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले अर्थशास्त्रियों को ऐसे प्रत्येक तर्क का डटकर विरोध करना चाहिए, जिसके आधार पर विकास नीति के आधार के रूप में धीरे-धीरे विकास करने की स्थिति को स्वीकार करने की आशंका हो।"[8]

दक्षिण एशिया की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के अपने अध्ययन में मैं इस परिकल्पना के यथार्थ से निरन्तर अधिकाधिक आश्वस्त होता गया हूँ कि धीरे-धीरे बहुत से छोटे-छोटे परिवर्तन करने के स्थान पर एक बडा और तेज परिवर्तन लाना कठिन होने के स्थान पर अधिकांशतया अधिक आसान होता है—ठीक उस प्रकार जिस प्रकार 'ठंडे पानी में छलांग लगाया जाना धीरे-धीरे पानी मे घुसने से कम कष्टप्रद होता है।'

तो सुधारों को लागू करने के लिए क्या नीतियाँ उपलब्ध समझी जाती हैं? दृढ़ संकल्प के साथ उन संस्थाओं को बदलकर, जिनके भीतर लोग रहते और काम करते है, बडे और अधिक तीव्र परिवर्तन लाये जा सकते हैं। यह कार्य उस समय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपायों से दृष्टिकोणो में परिवर्तन आरोपित करने के प्रयास के द्वारा नही किया जा सकता, जब संस्थाओं को परिवर्तित दृष्टिकोणों के अनुसार स्वयं को ढाल लेने के लिए छोड़ दिया गया हो।

लेकिन संस्थाओं को—उदाहरण के लिए भूस्वामित्व का पुनर्वितरण—सामान्यतया केवल उन उपायों के द्वारा ही बदला जा सकता है, जिन्हें दक्षिण एशिया मे अनिवार्य रूप से लागू बाध्यताएँ कहा जाता है—अर्थात् कानून बनाकर कुछ लोगों के ऊपर दायित्व डालना और कुछ अन्य को अधिकार देना, और इन परिवर्तनो को राज्य की शक्ति के द्वारा समर्थन देना।

धीरे-धीरे कार्रवाई के अन्तर्गत उठाये गये पहले कदम के विरोध मे जो प्रतिरोध जुटाया जायेगा वह दूसरे कदम के प्रतिरोध में इससे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से गठित किया जायेगा, जबकि इस बात की बहुत कम सम्भावना रहती है कि यदि परिवर्तन तेज और बडे पैमाने पर हो तो प्रतिरोध निरन्तर कायम रह सके। यह बात उस स्थिति में विशेषरूप से सत्य सिद्ध होती है, जब छोटे-छोटे परिवर्तनों को आधे मन से लागू किया जाता है और जब आर्थिक परिवर्तन

अथवा प्रलोभन, उपदेश अथवा धमकी के द्वारा उत्पन्न अप्रत्यक्ष प्रभावों पर अधिक भरोसा किया गया हो। उस स्थिति में प्रतिरोध करने वाली शक्तियाँ अधिक पुष्ट और उग्र हो जाती हैं।

इससे भी बुरी वह कार्य-प्रणाली है, जो कम-विकसित देशों में सामान्य रूप से अपनायी जाती है और जिसके अन्तर्गत यह नाटक रचा जाता है कि वे आमूल परिवर्तनवादी सुधार लागू करने के उपाय कर रहे हैं, यह घोषणा की जाती है कि वे बड़े पैमाने पर संस्थागत सुधारों के लिए कानून बना रहे हैं, और कभी-कभी ये कानून बनाये भी जाते है, लेकिन इन्हें लागू नही किया जाता। इससे दूसरों के कष्टों के प्रति भयंकर उदासीनता को जन्म मिलता है, इस सम्बन्ध में अनिश्चितता उत्पन्न होती है कि वास्तव में संस्थापित कानून क्या है और सुधार लागू करने और उन्हें जारी रखने के समक्ष और अधिक प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के बाद मैं बड़े तेज परिवर्तनों के मुकाबले धीरे-धीरे होने वाले छोटे परिवर्तनों के प्रश्न को आगे नहीं बढाऊँगा। पर इस प्रश्न पर और आगे अध्ययन की आवश्यकता है। इस अध्ययन में परिवर्तनों के स्वरूप, सम्भव अग्रिम—सामाजिक, राजनीतिक और प्रशासनिक—तैयारी, सुधार लागू करने की बात कहने वाले नेतृत्व के स्वरूप आदि का ध्यान रखा जाना चाहिए।

सिद्धान्त रूप में, खतरनाक प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारो को शान्तिपूर्वक लागू किया जा सकता है।

आमूल परिवर्तनवादी सुधारो को लागू करने की आवश्यकता को प्रायः सब स्वीकार करते हैं—पर एक अमूर्त प्रस्ताव में रूप में। वास्तव में, राजनीतिक और विचारधाराओं के नेता प्रायः प्रत्येक कम-विकसित देश में—ब्राजील में और भारत मे भी—सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता के बारे में खुलकर बहुत बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं। वे अक्सर उन नीतियो को भी यही जामा पहनाने की कोशिश करते है, जो वास्तव में वे लागू करते हैं।

इस पुस्तक के अध्याय-3 में हमने उस शब्दावली के बारे में विचार किया है, जिसका इस्तेमाल इस उद्देश्य के लिए किया जाता है और जिसमें आमूल परिवर्तन चाहने वाले सुधारों के बारे में बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं। सब सरकारें यह दर्शाती है कि वे अधिक समानता की हामी हैं, जबकि वास्तव में विकास दूसरी दिशा में ही होता है।

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मैंने भयावह प्रवृत्तियों को उलटने के लिए आवश्यक जिन सुधारों की बात कही है, उन्हें उस दृढ़ता से लागू करने का कम-विकसित देशों में प्रयास नही किया जाता, जिस दृढ़ता की आवश्यकता है—इस सम्बन्ध मे इनमें से कुछ देशों में सन्तति-निरोध को जन-सामान्य मे फैलाने के कार्यक्रम को एक आंशिक अपवाद कहा जा सकता है। यद्यपि सामान्य घोषणाएँ आमूल परिवर्तनवादी और अक्सर क्रान्तिकारी होती हैं, लेकिन जिन नीतियों को अपनाया जाता है उनके अन्तर्गत बहुत धीरे-धीरे और टुकड़ों में

कार्यक्रमो को लागू किया जाता है, और यह स्थिति आयोजन के चरण तक मे होती है। व्यवहार मे अधिकांशतया इन्हें विकृत बना दिया जाता है और इसके परिणामस्वरूप समृद्ध लोगों की समृद्धि बढी है और असमानता में वृद्धि हुई है।

इन घटनाओ को कम-विकसित देशों की सत्ता की स्थिति को स्पष्ट करके समझाया जा सकता है। आबादी सम्बन्धी नीति के आंशिक अपवाद को हम इस बात पर ध्यान देकर समझ सकते हैं कि यद्यपि इस नीति को लागू करना बड़ा कठिन है, लेकिन इस पर कोई खास लागत नही आती और इस कार्यक्रम के लिए उच्च वर्ग के समूहों को कोई बलिदान नहीं करना पड़ता।

इस सम्बन्ध में उन देशो मे जहाँ संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना करने और उसे कायम रखने मे सफलता मिली है और उन देशों मे जहाँ 'क्रान्ति' के परिणाम-स्वरूप किसी न किसी प्रकार की निरकुश सरकार की स्थापना हुई है, कोई अन्तर नही है। प्रायः सदा सत्ता उच्च वर्ग के विभिन्न गुटों के हाथ मे रही है, यहाँ उच्च वर्ग का प्रयोग व्यापक अर्थों मे किया गया है और इसमें तथाकथित मध्यम वर्ग को शामिल कर लिया गया है।

वर्ग और सत्ता की शब्दावली और सन्दर्भ मे तर्क करते हुए, मै यह नही मानता कि वर्गगत एकजुटता है, विशेषकर सजग इरादे के स्तर पर तो यह बेहद कम है। बड़े अफसरो, पैसे वाले व्यापारियो और अक्सर अपनी जमीदारी से दूर रहने वाले बड़े जमीदारो का उच्च-उच्च वर्ग अपने सामान्य हितों की रक्षा के लिए प्रकट रूप से संस्थागत सहयोग के आधार पर काम नही करता।

'मध्यम वर्ग' मे 'गाँवो के बड़े आदमी' शामिल होते हैं—इनमें गाँवो मे रहने वाले भूस्वामी, सूदखोर, व्यापारी और अन्य बिचौलिये तथा स्थानीय अधिकारी शामिल होते है। एक समूह के रूप में ये लोग राष्ट्रीय समुदाय के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी तत्त्वों मे होते है।

शहरों मे 'मध्यम वर्ग' की एक बड़ी विविध श्रेणी होती है। इसमे छोटे व्यापार, उद्योगपति तथा बडी औद्योगिक और व्यापारिक कम्पनियो के अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारी, तथा मध्यम श्रेणी के अफसर ही शामिल नही होते बल्कि गैर-सरकारी सेवाओ मे काम करने वाले सफेदपोशों का निम्न स्तर भी शामिल होता है। इसी 'मध्यम वर्ग' मे अध्यापक भी शामिल होते है, विशेषकर माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजो के अध्यापक, विद्यार्थी और अन्य 'बुद्धिवादी।' इनमे केवल वे समुदाय शामिल नहीं होते जो उच्च-उच्च वर्ग मे पहुँच चुके है।

वास्तव में, इन विविध समूहों में भयंकर गरीबी से ग्रस्त जन-समुदाय से अपनी दूरी के अलावा अन्य कोई समानता नही होती और यह जन-समुदाय सामान्यतया उपयोगी साक्षरता तक से वंचित होता है। अपनी माँगों को प्रभाव-शाली ढंग से उठाने में अक्षम जन-समुदाय के हितों को यह मध्यम वर्ग अपने हित नही मानता, अपनी चिन्ता का विषय नहीं समझता। अपने देश की दृश्यावली के एक अंग के अलावा वह इस जन-समुदाय को अन्य कुछ नही समझता।

जन-समुदाय की उदासीनता और निष्क्रियता के कारण ही यह सम्भव है। मैं जिस दृष्टिकोण और रवैये को स्पष्ट करने की कोशिश कर रहा हूँ, वह उच्च वर्ग के यथास्थिति को बनाये रखने के अपने सामान्य हितो के बारे मे है। यद्यपि इस स्थिति को बनाये रखने के लिए उनका प्रकट रूप से कोई सामूहिक प्रयास

नही है और यह वर्ग इस कारण से यथास्थिति कायम रखना चाहता है, क्योंकि जन-समुदाय की तुलना में इसे विभिन्न सीमाओं तक विशेषाधिकार प्राप्त हैं और अधिकाश कम-विकसित देशो मे हाल के दशकों में इसकी स्थिति और बेहतर हुई है, विशेषकर शहरी इलाको में। सामान्यतया जन-समुदाय के हितों की किस प्रकार उपेक्षा की जाती है, इस बात की ओर इस जन-समुदाय का ध्यान प्रभावशाली ढग से आकृष्ट नही किया जाता।

लेकिन, जैसाकि अध्याय-3 में कहा जा चुका है, इस उच्च वर्ग का उच्चतम स्तर आधुनिकीकरण के आदर्शों को लाने में सहायक बना है, जिनमें समानता की स्थापना का प्रयास भी शामिल है। धीरे-धीरे, यह आदर्श उच्च वर्ग के निचले स्तरों पर भी पहुंचा, यद्यपि 'गाँवों के बड़े आदमियो' पर इसका सबसे कम प्रभाव हुआ है। इन आदर्शों पर, विभिन्न सीमाओ तक, सब 'शिक्षितो' ने विश्वास प्रकट किया है और इन देशों मे शिक्षा ही विभिन्न वर्गों को अलग करने वाली प्रमुख विभाजन रेखा है।

उच्च वर्ग के वे बड़े लोग जो अपने नीति सम्बन्धी दृष्टिकोणो को बौद्धिकता का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं, उनमें दो अत्यन्त विरोधी दृष्टिकोण एक साथ दिखायी पड़ते हैं। एक ओर तो वे आमूल परिवर्तनवादी सुधारो की आवश्यकता को देखते हैं, जो अत्यन्त दूरगामी होने चाहिए और जिन्हे तुरन्त लागू किया जाना चाहिए। इससे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए मचाये जाने वाले सामान्य शोर का स्पष्टीकरण मिल जाता है। दूसरी ओर, वे इस विश्वास का भी सहारा लेते हैं कि परिवर्तन अत्यन्त सतर्कता के साथ आना चाहिए, ताकि सामाजिक सम्बन्धों के विरासत मे प्राप्त स्वरूप में गडबड़ न हो जाये।[9]

अपने इस बाद के विचार को स्पष्ट करने के लिए, जो उनके वास्तविक नीति सम्बन्धी विकल्पों पर छाया रहता है, वे जन-समुदाय के परम्परागत कट्टरपन्थी दृष्टिकोण और धार्मिक निषेधों का उल्लेख करते है। इस सम्बन्ध में वे उस विचारधारा से चिपके रहते हैं, जिसे उपनिवेशी शक्तियों ने उन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के समर्थन में अपनी निर्बन्ध नीति के आधार पर प्रतिपादित किया था, जो अब परम्परागत बन गयी हैं। वास्तव में यह एक प्रकार का 'नव-उपनिवेशवाद' है। यद्यपि इस नव-उपनिवेशवाद का अनुसरण इन देशों के उच्च वर्ग के समूह कर रहे हैं, जो अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर सकते है और जिन्होंने विदेशी शासन से मुक्ति के बाद सत्ता पर अधिकार कायम रखने मे सफलता प्राप्त की है।

सिद्धान्त रूप मे आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता को स्वीकार करने और व्यवहार में इन्हे लागू करने की आनाकानी के बीच मौजूद विरोधाभास को एक आवश्यकता से अधिक आशावादी मान्यता के आधार पर पाटा जाता है। यह आशावादी मान्यता आधुनिक उद्योगों मे होने वाले विकासों के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर और तेज़ी से फैलने वाले प्रभावों के बारे में है।[10] इस

मान्यता में विश्वास, जो मार्क्स की विचारधारा पर आधारित है, पश्चिम के देशों और कम-विकसित देशो के अर्थशास्त्रियों मे बड़े पैमाने पर व्याप्त है, यद्यपि सामान्यतया इस विचार के उद्‌गम को स्वीकार नही किया जाता।

इस मान्यता को ऐसे किसी भी प्रमाण के अभाव मे कि यह यथार्थवादी है, नीति मे प्रविष्ट कर दिया जाता है। वास्तव मे, अधिकाशतया इस मान्यता को एक निहित अर्थ के रूप मे छोड दिया जाता है। यह मान्यता ऐतिहासिक अनुभव से मेल नही खाती और वास्तव मे जो कुछ हो रहा है और जिसकी हमे जानकारी है, उससे भी इसका कोई सामंजस्य नही है।[11] श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग की प्रवृत्ति, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, यह दर्शाती है कि उद्योगीकरण के ऐसे प्रसारगत प्रभाव बहुत मामूली हैं और अन्य शक्तियाँ इन्हें आसानी से प्रभावहीन बना देती है।

धीरे-धीरे परिवर्तन लाने के समर्थन मे, पश्चिम के देशो में हुए ऐतिहासिक विकास के भी उदाहरण दिये जाते हैं। यह करते समय वे लोग इस बात को अपने दिमाग से एकदम निकाल देते हैं कि इन देशों की आरम्भिक स्थिति मे कितने बुनियादी अन्तर थे (देखिए, अध्याय-2)। यह इस कारण से और अधिक आसानी से हो जाता है, क्योकि अनुसन्धान और आयोजन मे पश्चिम के पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण को सामान्य रूप से अपनाया जाता है और पश्चिम का यह पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण उनका ध्यान उन सामाजिक और आर्थिक तथ्यो से दूर हटा देता है, जो आरम्भिक स्थिति के अन्तरो को प्रकट करते हैं।

आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू करने से दूर रहने के लिए लोकतन्त्र के आदर्श तक को सफाई मे पेश किया जाता है और यह कार्य दक्षिण एशिया मे विशेष रूप से होता है। उस समय यह मान लिया जाता है कि उच्च वर्ग इसका प्रतिरोध करेगा। इस प्रतिरोध को तोडना होगा और इसके लिए बाध्यताएँ लागू करनी होंगी, बाध्यताओ को साम्यवाद और समूहवादी शासन-प्रणाली से सम्बद्ध माना जाता है।

आज अक्सर यह कहा जाता है कि समूहवादी सरकार के अन्तर्गत आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू किया जा सकता है, जिन्हे एक लोकतन्त्र के अधीन लागू करना सम्भव नही है। लोकतन्त्र सम्बन्धी यह दृष्टिकोण वास्तव मे मुक्ति आन्दोलनों की परम्परा और इन आन्दोलनों के दौरान दिये गये वचनों के विपरीत है, कम-से-कम भारत के बारे मे तो यह कहा ही जा सकता है। वहाँ यह माना गया था कि जनता की इच्छा पर सरकार को आधारित करने का समस्त राष्ट्रीय समुदाय के सामाजिक और आर्थिक गठन पर तुरन्त प्रभाव होगा (नीचे देखिए)। यह नही हुआ और वास्तव मे साम्यवाद के विरोध को समस्त सुधारो के विरोध में एक तर्क के रूप मे इस्तेमाल किया जाता रहा है। यह तर्क ऐसे सुधारों के रूप मे विशेष रूप से दिया गया है, जो किसी भी रूप में उच्च वर्ग के समूहो के हितो को प्रभावित करते हैं। इस तर्क का उपयोग उन देशो मे किया गया है, जो अपनी सरकारो के आधार के लिए चुनाव पर निर्भर करते है और उन देशो मे भी जहाँ निरकुश शासन है।

साम्यवाद विरोधी तर्क की संयुक्त राज्य अमरीका मे बड़ी मोहक गन्ध मानी जाती थी और पश्चिम के अन्य अधिकाश देशो मे भी, यद्यपि इतनी अधिक सीमा

तक नहीं। ऐसे कानूनों और नियमों को लागू करने के लिए भी प्रयास नही किये गये, जिनकी घोषणा की जा चुकी थी और इन्हें लागू करने के प्रयास के अभाव को बिना किसी खास आलोचना के चुपचाप स्वीकार कर लिया गया।

उदाहरण के लिए, पश्चिमी संसार भ्रष्टाचार पर अपनी आँखें बन्द रखने के लिए अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेता है। जैसाकि हम देख चुके हैं कि यह अवसरवादी उदारता अर्थशास्त्रियों और अन्य समाज-विज्ञानियों के लेखन तक को प्रभावित करती है।

इससे भी अधिक सामान्य रूप से इस तथ्य का उल्लेख किया जा सकता है कि समस्त क्रूरता, मनमाने आचरण और व्यक्तिगत सत्ता के दुरुपयोग के बावजूद कम-विकसित देशो में ऐसे सामाजिक नियन्त्रणों को लागू करने के प्रति आश्चर्यजनक सीमा तक उदासीनता है, जिनका पश्चिम के लोकतन्त्रों में बहुत खुलकर और सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है। एक दृष्टि से 'नरम राज्य' की परिभाषा यह हो सकती है कि प्रभावशाली ढंग से लागू किये गये नियमों का अपेक्षाकृत अभाव इन राज्यों का लक्षण है, जिसके परिणामस्वरूप लोग अधिकाशतया जो चाहें करने के लिए और अपनी शक्ति के अनुसार जो चाहें करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।[13]

तात्कालिक आवश्यकता और महत्त्व के आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के अभाव को किस प्रकार तर्कसम्मत बताया जाता है और विचारधारा के माध्यम से किस प्रकार इस स्थिति का समर्थन करने का प्रयास किया जाता है, इसका विवेचन करने में मैंने प्रमुख रूप से दक्षिण एशिया को ही अपने समक्ष रखा है, जहाँ कम-विकसित देशों की अधिकांश जनता रहती है और जिनकी परिस्थितियों का मैंने अधिक गहराई और व्यापकता से अध्ययन किया है। लेटिन अमरीका की अपेक्षाकृत भिन्न परिस्थितियों पर परिशिष्ट में विचार हुआ है।

मैंने उच्च वर्ग के अधिक विचारशील सदस्यो के मन-मस्तिष्क में पैठे सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी दो परस्पर विरोधी विचारों का उल्लेख किया है: आमूल परिवर्तनवादी विचारो को लागू करने की तात्कालिक आवश्यकता और अत्यन्त सतर्कता से आगे बढ़ने की आवश्यकता। कुछ लोगों के सम्बन्ध में तो इन दोनों विचारों ने—क्रान्तिकारी और धीरे-धीरे परिवर्तन सम्बन्धी विचारों मे—अन्तराबन्ध (शाइज़ोफ्रेनिया) जैसा स्वरूप तक ग्रहण कर लिया है।

उदाहरण के लिए [illegible]
होगी, विशेषकर यदि व [illegible]
इस देश को विकास [illegible]
इस बात का उसके राजनीतिक आचरण पर कोई असर नही पड़ता और वस्तुत: इसके साथ ही यह बात उसे धीरे-धीरे परिवर्तन के दर्शन का विवेचन करने और स्वतन्त्र तथा हस्तक्षेप से मुक्त निजी व्यापार की आवश्यकता का बखान करने से भी नही रोकती।

भारत मे, जहाँ दक्षिण एशिया में ही नहीं, बल्कि वस्तुत: कम-विकसित

संसार मे सर्वाधिक परिष्कृत सार्वजनिक बहस होती है, इस उद्देश्य से विशेष आयोगों की नियुक्ति करने का रिवाज हो गया है कि ये आयोग ठोस रूप से यह बतायें कि किन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है। पर इन आयोगों की रिपोर्टों में नीति सम्बन्धी जो सुझाव दिये जाते हैं, उन्हें लागू नही किया जाता और बहुत जल्दी उन्हें भुला दिया जाता है।

उदाहरण के लिए, भूमि सुधार, शिक्षा और भ्रष्टाचार की समाप्ति के बारे मे अनेक ऐसे आयोगो की स्थापना हो चुकी है। ऐसे आयोगो को बार-बार नियुक्त करना और उन्हें आमूल परिवर्तनवादी सुधारों का प्रतिपादन करने के लिए निर्देश देना, इस बात को स्पष्ट करता है कि इन आयोगों का उद्देश्य, इस कार्रवाई का उद्देश्य, राष्ट्रीय जीवन के एक कार्य को पूरा करना भर है. बस आदर्शों को जीवित रखना, चाहे इन्हें व्यवहार मे लागू न किया जाये।

जवाहरलाल नेहरू ने यदाकदा आदर्शों के प्रतिपादन के ऐसे कार्य की आवश्यकता का सकेत किया है, चाहे इन्हे व्यवहार में लागू न भी किया जाये।[13] और अपने भाषणों मे, अक्सर दिन मे कई बार उनका भाषण होता था, उन्होने हर अवसर का लाभ उठाकर इस प्रकार आधुनिकीकरण के आदर्शों का बार-बार उल्लेख किया, उससे भी इसी दिशा मे संकेत मिलता है।[14] इस बात में सन्देह नही है कि नेहरू ने बहुत ईमानदारी और निष्ठा से यह काम किया था। वे परिवर्तन के लिए वातावरण तैयार करने मे लगे थे, सावधानी से इन सुधारो को लागू करने से बचने की कोशिश मे नही।

इस कार्य में नेहरू अकेले नही थे। ऐसी ही भावनाएँ अन्य अनेक भारतीय राजनीतिज्ञों और बुद्धिवादी नेताओं को प्रेरित करती है। भारतीय समाचारपत्रों में इनके भाषणो को इतना अधिक स्थान दिया जाता है कि ऐसा लगता है कि समाचारपत्र भी अपने पाठको को आधुनिकीकरण के आदर्शो के बारे मे प्रबुद्ध करने में लगे हैं।

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद स्थापित परम्परा मे, इसी उद्देश्य के लिए अवसर कानून का भी उपयोग किया गया, यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि व्यवहार में इन कानूनों के इरादों और भावनाओ को प्रभावहीन बना दिया गया। पंचवर्षीय योजनाओं में सामान्य रूप से सुधार सम्बन्धी ऐसे लक्ष्यो का प्रतिपादन किया गया, जो इनमें निहित व्यावहारिक प्रस्तावों से बहुत दूर थे और योजनाओं को लागू करने से तो और भी दूर।

कांग्रेस पार्टी के वार्षिक सम्मेलनो मे, और यदाकदा संसद् में भी ऐसे प्रस्तावों को स्वीकार कराया गया, जो वास्तविक नीतियो से बहुत आगे के थे। इस सामान्य विचारधारा सम्बन्धी गतिविधि में, नेहरू के युग मे और आज भी, प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट, आमूल परिवर्तनवादी वचनों की ओर अधिक थी, जबकि व्यावहारिक नीतियाँ यथार्थवादी और अक्सर पुरातनपन्थी दिशा मे ही सचालित होती रही।

भारत की स्थिति केवल इसकी विशाल आबादी के कारण ही विशेष रूप से दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि सार्वजनिक रूप से विचार करने की स्वतन्त्रता के कारण भी। भारत में इस स्वतन्त्रता की, संसदीय शासन-प्रणाली सहित जो सार्वभौम मताधिकार पर आधारित है. बड़े उत्साह से रक्षा की गयी है।

फिलहाल भारत की कांग्रेस पार्टी—कम-से-कम फिलहाल—दो भागों में विभाजित हो गयी है, जो अप्रत्याशित नहीं था।[15] जनसंख्या का वह वर्ग जो अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखता है, बड़ी जबर्दस्त बहस में लगा हुआ है और भारतीय समाचारपत्रों में विस्तार से इसके समाचार दिये जा रहे हैं। देश में क्या हो रहा है इस बात की जानकारी देने की दृष्टि से ये समाचार बड़े उच्च कोटि के हैं। यह बहस किस बात पर केन्द्रित है ?

कांग्रेस पार्टी की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी की शाखा अधिक आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोण का दावा कर रही है। इसके प्रतीक रूप में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उल्लेख किया जाता है। लेकिन कांग्रेस पार्टी के दो भागों में विभाजित हो जाने से पहले ही इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार हो चुका था।

व्यवहार में हो सकता है कि इससे कोई विशेष अन्तर न पड़े। श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग और जन-समुदाय की गरीबी को समाप्त करने के लिए भारत को जिन बड़े आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की आवश्यकता है, बैंक राष्ट्रीयकरण की गणना उनमें मुश्किल से ही की जा सकती है।

विरोधी गुट, जिसका नेतृत्व तथाकथित 'सिण्डीकेट' करती है, सिद्धान्त रूप में इस बात के विरुद्ध नहीं था कि बैंकों के ऊपर और अधिक प्रभावशाली नियन्त्रण लगाये जायें, लेकिन उसने जल्दबाजी में कोई कार्रवाई करने के विरुद्ध सलाह दी थी। अन्य दृष्टियों से यह गुट भी जवाहरलाल नेहरू की परम्परा में व्यापक आमूल परिवर्तनवादी घोषणाओं में दूसरे गुट से होड़ करने मे लगा है।

कांग्रेस के इन दोनों प्रतियोगी गुटों के पास भूमि-सुधार के बारे में अधिक कहने को कुछ भी नहीं है। ये इस समस्या पर ठोस और व्यावहारिक तरीके से विचार करने की नाममात्र की इच्छा भी प्रकट नहीं करते। कोई भी व्यक्ति अधिक करों, विशेषकर भूमिकर, अथवा करों की चोरी अथवा टैक्स न देने के बारे में बात ही नहीं करता।

सन् 1966 में शिक्षा आयोग ने जो सच्चे अर्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट दी थी, उसके प्रस्तावों को चुपचाप दफना दिया गया है और इन दोनों में से कोई भी गुट इन प्रस्तावों को लागू करने की बात नहीं कहता। इसी प्रकार सार्वजनिक चिकित्सा व्यवस्था में सुधार के महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों को भी भुला दिया गया है। सार्वजनिक विचार-विमर्श में परिवार नियोजन तक अब महत्त्वपूर्ण विषय नहीं रह गया है। यद्यपि इस क्षेत्र में जिन लक्ष्यों को प्राप्त करने की घोषणा की गयी थी, उन्हें पूरा नहीं किया जा सका और उनमें गम्भीर कमी रही।

राजनीतिज्ञों और अधिकारियों के मध्य भ्रष्टाचार के जिन मामलों का पता चलता है, दोनों गुट बड़ी तत्परता से अपने राजनीतिक शत्रुओं का नाश करने के लिए उनका उपयोग करने में लग जाते हैं। लेकिन बड़े पैमाने पर कुछ करने और भ्रष्टाचार को विधिवत समाप्त कर डालने की इच्छा मर चुकी है, जो सन् 1964 की भ्रष्टाचार निवारक समिति की बहुत अच्छी रिपोर्ट के परिणाम-स्वरूप कुछ समय के लिए सार्वजनिक दिलचस्पी का विषय बनी थी।

सन् 1966 से भारत के आयोजन की स्थापित परम्परा की प्रायः समाप्ति किसी भी गुट की चिन्ता का विषय नहीं दिखायी पड़ती। विरोधी गुट ने चौथी

पंचवर्षीय योजना के पिछले वर्ष के मसौदे को फिर तैयार करने की मांग की है—जो तीन वर्ष तक बिना किसी योजना के बाद प्रस्तुत किया गया था—ताकि और अधिक लोगों को रोजगार दिया जा सके। लेकिन यह गुट इससे अधिक कोई ठोस प्रस्ताव नहीं कर पा रहा है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे व्यापक मुद्दों में दिलचस्पी का अभाव है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन किस प्रकार किया जा सकता है।

हम बस यह देखते हैं कि सामान्य घोषणाएँ की जाती हैं, जिनमें किसी बात का वचन नहीं होता—ये घोषणाएँ 'समाजवादी ढंग के समाज' अथवा ऐसी ही बातों के बारे में होती है—और ये घोषणाएँ ऐसी सामान्य होती हैं कि इस पर प्रत्येक व्यक्ति सहमत हो सकता है। राष्ट्रव्यापी स्वरूप के ऐसे ठोस प्रस्तावों और मुद्दों से बचा जाता है, जिनसे विरोध उत्पन्न हो सकता है।

यदि संकीर्ण 'मध्यम वर्ग' सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए कोई विशेष प्रस्ताव पेश किया जाता है तो दोनों गुट स्वयं को इसके पक्ष में जताने की कोशिश में लग जाते हैं, यद्यपि वे इसके साथ ही इस प्रस्ताव को छोटी अथवा लम्बी अवधि के लिए स्थगित रखने की भी कोशिश करते हैं। हाल में एक ऐसा ही उदाहरण भूतपूर्व राजाओं के प्रिवीपर्सों की समाप्ति के बारे में सामने आया। बैंकों के राष्ट्रीयकरण की तरह यह निश्चय ही महत्त्वहीन बात नहीं है। इसी प्रकार अधिक आमूल परिवर्तन चाहने वाली शाखा के नेताओं का यह प्रस्ताव भी कि विदेश व्यापार के एक बड़े हिस्से का, विशेषकर आयात व्यापार का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए।

दस वर्ष से अधिक समय पहले अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने का ठोस निर्णय लिया गया था। इस निर्णय को लागू करने के लिए केवल आंशिक आधे मन से और अधिकांशतया निरर्थक प्रयास किये गये है। अब आमूल परिवर्तन की अधिक मांग करने वाली शाखा ने इस प्रश्न को फिर उठाया है, लेकिन उनके प्रयासों में यह दृढ़ता प्रकट नहीं हुई है कि वे जमींदारो, सूदखोरों और बिचौलियों के निहित स्वार्थों के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक कार्य करने को तैयार है और उनमें यह काम पूरा करने की क्षमता भी है।

इन परिस्थितियों में राजनीतिक संघर्ष अनावश्यक रूप से अवास्तविक सैद्धान्तिक मतभेदों पर केन्द्रित हो जाता है और विभिन्न व्यक्तित्वों पर भी और कभी-कभी इन व्यक्तित्वों या राजनीतिक गुटों के अस्थिर गठजोड़ के ऊपर भी अथवा ऐसे मामलों पर जो प्रवाद या अफवाहों का आधार बन सकती है। भारत की अन्य राजनीतिक पार्टियाँ इससे अधिक भिन्न रूप में काम नहीं करतीं।

कम्युनिस्ट पार्टी तीन गुटों में विभाजित है और इन गुटों का सोवियत संघ और चीन के प्रति अलग-अलग ढंग से लगाव और रुझान है। ये गुट विचार-धारा सम्बन्धी विषयों पर अधिकांश बहस जारी रखते है और यह बहस इनके नेताओं को लेकर ही चलती है। इस बीच वे बेरोजगारी में कमी करने की आवश्यकता और उद्योगों तथा विदेश व्यापार के राष्ट्रीयकरण जैसे सामान्य विषयों पर जोर देते रहते हैं।

इन परिस्थितियों में पार्टियों के भीतर प्रबल मतभेद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में कोई योगदान नहीं करता।

इसके विपरीत यह एक उत्तेजनापूर्ण नाटक की भूमिका भर निभाता है, जो इस समय भारत के समक्ष मौजूद वस्तुतः महत्त्वपूर्ण समस्याओं से ध्यान बँटाता है। इसके परिणामस्वरूप स्थगित विकास कार्यों को भुला देना सम्भव हो जाता है और विकास के अभाव का साहसपूर्ण और तर्कसम्मत योजनाबद्ध राजनीतिक कार्रवाई के द्वारा सामना करने की बात को भुला देने में भी यह स्थिति अधिक सहायक बनती है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण करना महत्त्वपूर्ण है कि एक राष्ट्र के रूप में भारत का अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से पेश करने वाला समुदाय कितना छोटा है और यह मुख्यतया उच्च वर्ग तक ही सीमित है, जिसके अन्तर्गत तथाकथित मध्यम वर्ग भी आता है। स्वीडन जैसे अत्यन्त समृद्ध और अत्यन्त एकीकृत देश में, जिसकी आबादी भारत की आबादी के एक प्रतिशत से कुछ ही अधिक है, सम्भवत. राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध लोगों की संख्या भारत के ऐसे लोगों की सख्या के बराबर है। और स्वीडन में ये लोग इससे अत्यन्त बड़े पैमाने पर प्रभावशाली ढंग से गठित हैं और इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक कार्यों में उद्देश्यपूर्ण हिस्सा बँटाते है।

भारत मे इस बात की कमी है कि सामान्य जन-समुदाय का नीचे से सगठित दवाव नहीं पड़ता, जो स्वयं अपने हितों की रक्षा और अपने हितों को आगे बढ़ाने की दिशा में प्रभावशाली ढंग से संचालित हो। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी राजनीतिक स्थिरता सम्भव हुई है, जो तात्कालिक आवश्यकता और महत्त्व के आर्थिक और सामाजिक सुधारों की दृष्टि से गतिहीनता के समान है।[16] हाल में जो घटनाएँ घटी हैं, और जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके परिणामस्वरूप इस राजनीतिक स्थिरता को खतरा उत्पन्न हो सकता है, लेकिन आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के युग का समारम्भ नही होगा।

दक्षिण एशिया के अन्य देशों में जिस प्रकार की राजनीतिक 'क्रान्ति' के परिणामस्वरूप अधिक निरंकुश सरकारें सत्तारूढ हुई है, वैसी ही किसी सरकार की भारत में स्थापना की सम्भावना को नजरअन्दाज नही किया जा सकता। लेकिन अनेक कारणों से ऐसी सरकार की स्थापना की बहुत कम सम्भावना है: संसदीय लोकतन्त्र का सम्मान और अब तक पर्याप्त व्यवधान के बिना इसके 'चालू रहने' मे सफलता; सेना का विशेष स्वरूप, विशेषकर इसका राजनीति से कम सम्पर्क (उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तानी सेना भारतीय सेना से राजनीति से कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रही); अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र में अधिक विकसित राष्ट्रीय मजदूर संघ प्रणाली; और, वास्तव में, देश का आकार और विविधता, कम-से-कम उस समय तक जब तक यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित नहीं हो जाता।

यदि संसदीय प्रणाली समाप्त हो जाती है और भारत में अधिक निरंकुश सरकार की स्थापना होती है, तो यह कृषि के क्षेत्र में और शहरों की गन्दी बस्तियों मे रहने वाले विशाल निर्धन वर्ग के संगठित और केन्द्रीभूत राजनीतिक

गतिविधि के परिणामस्वरूप नही होगी और इससे दूरगामी आर्थिक और सामाजिक सुधारों की सम्भावना मे प्राय. कोई वृद्धि नही होगी—यद्यपि इससे इस सम्भावना में कमी भी नही आयेगी। अन्य देशो की तरह ही, इसका अर्थ उच्च वर्ग के सत्ताधारी लोगो के किसी नये गुट का सत्ता पर अधिकार होगा, और इसके परिणामस्वरूप उच्च वर्ग के उन बहुत-से लोगों की आज जैसी भूमिका निभाने की स्वतन्त्रता सीमित हो जायेगी और स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक बहस तथा अधिकाशतया अप्रतिबन्धित नागरिक स्वतन्त्रताओ का वलिदान दे दिया जायेगा।

भारत जैसे देश में जन-समुदाय का भाग्यवाद और उदासीनता अत्यन्त महत्व का विषय है और यही बात अधिकाश कम-विकसित देशो पर लागू होती है। इसके परिणामस्वरूप वह समुदाय अत्यन्त छोटा हो जाता है, जिसमे राजनीतिक गतिशीलता उत्पन्न होती है और यह समुदाय केवल उच्च वर्ग तक ही अथवा उच्च वर्ग में इस बात के प्रति रुझान रखनेवाले लोगों तक ही सीमित रहता है। राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय लोग जन-समुदाय को केवल नीति सम्बन्धी एक लक्ष्य-भर मानकर चल सकते है और जन-समुदाय का असहयोग ही इनकी नीतियों का प्रतिरोध कर सकता है।

दिलचस्प प्रश्न यह है कि क्या जन-समुदाय की इस निष्क्रियता और उदासीनता को बदला जा सकता है—और क्या इसके बाद यह आशा की जा सकती है कि जन-समुदाय स्वयं अपने हितों के अनुरूप तर्कसम्मत सुधारो की मांग करेगा? जन-समुदाय को केवल सक्रिय बनाना निरर्थक हो सकता है अथवा इसके परिणामस्वरूप वास्तव मे प्रतिक्रिया का जन्म हो सकता है, यदि जन-समुदाय को सन्तति-निरोध, गोहत्या के विरोध, अधिक सामाजिक अनुशासन के प्रयासो के विरुद्ध और वास्तव में स्वयं तर्कसम्मत सुधारों के विरोध के लिए गठित किया जाने लगे। जन-सामान्य को स्वय अपना हित समझने के लिए शिक्षित किया जाना चाहिए।

मैंने भारत के गाँव को एक ऐसा जटिल अणु बताया है, जिसके भीतर परमाणुओ के समूहों में प्रबल तनाव उत्पन्न हो चुका है।[17] लेकिन यह तनाव इस प्रकार एक-दूसरे को काटता और सन्तुलन कायम रखता है कि सामाजिक प्रणाली जहाँ-की-तहाँ स्थिर रहती है। पर इस अणु का विस्फोट किया जा सकता है, जिसका अर्थ परमाणुओ की पुनर्व्यवस्था होगा और इसके परिणामस्वरूप ग्राम-समुदाय के कुछ सदस्य अथवा सब सदस्य मिलकर काम कर सकेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यह कार्य किस प्रकार किया जा सकता है और इसके क्या परिणाम होंगे?

ऐसा विस्फोट स्वयं भीतर से प्रज्वलित किया जा सकता है। लेकिन यह बाहर से डाले गये प्रबल दबाव के द्वारा भी किया जा सकता है, जो स्थानीय समुदाय के भीतर एकत्र प्रज्वलनशील दबावों को सक्रिय कर सके। जन-समुदाय की शान्तिपूर्ण निष्क्रियता समाप्त होने का प्रायः सामान्य नमूना यह

है कि धार्मिक उन्माद अथवा जातीय ईर्ष्या के आधार पर दंगे शुरू हो जाते हैं और इन दंगों के पीछे अपने पड़ोसी का माल चुरा लेने के अवसर का लाभ उठाने की भावना भी मौजूद रहती है।

अंग्रेजों के अधीन भारत के भारत संघ और पाकिस्तान में विभाजन के परिणामस्वरूप दोनों देशों में बड़े पैमाने पर हत्याओं और लूटपाट की लहर आयी। इसके बाद, हाल के वर्षों में भारत में इस प्रकार के सामूहिक दंगे, जिनमें हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ भड़काया जाता है, कुछ अधिक हुए हैं। हाल में गुजरात में ऐसे ही धार्मिक दंगे हुए, जिनमें कई सौ लोगों की जानें गयी।

मलयेशिया में चीनियों के विरुद्ध मलय लोगों के दंगे भी इसी प्रकार के हैं। मलय और अन्य जाति-समूहों के आकार के मुश्किल से कायम सन्तुलन के कारण तथाकथित गठबन्धन समाप्त हो गया है। यह गठबन्धन मलयेशिया के तीन प्रमुख जातीय समूहों के अमीर नेताओं का है, जिसने इस समय तक चुनावों पर आधारित शासन-प्रणाली को चलने दिया। अब यह देश यथार्थ में एक निरंकुश सरकार के अधीन है और सत्ता मलय लोगों के हाथों में है।[18]

अफ्रीका के स्वतन्त्र देशों में सब लक्षण निरन्तर विद्रोह और जातीय आधार पर युद्धों की ओर संकेत करते हैं और अफ्रीका महाद्वीप के अनेक भागों में लम्बे अरसे तक ये राजनीतिक विकास को पूरी तरह से प्रभावित करते रहेंगे।

वर्तमान सन्दर्भ में, प्रमुख मुद्दा यह है कि जन-समुदाय की इस किस्म की राजनीतिक गतिविधि केवल विवेकपूर्ण नीति सम्बन्धी लक्ष्यों से ही रहित नहीं होती, बल्कि इससे जन-समुदाय का वास्तविक मुद्दों से ध्यान हटता है और वे अपने वास्तविक और सामान्य हितों के लिए कार्य नहीं कर पाते।

पर ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप जन-समुदाय द्वारा अपने हितों के लिए उद्देश्यपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से दबाव डालने के लिए एकता में वृद्धि होनी चाहिए। एक ऐसी ही प्रवृत्ति या वस्तु शिक्षा का प्रसार है।

श्रीलंका और मलाया जैसे देशों में, जहाँ अब प्रायः ऐसी स्थिति आ गयी है कि प्रायः सब बच्चों को कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा मिलती है[19], युवा पीढ़ी में प्रायः सार्वभौम साक्षरता आ चुकी है और यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे जन-समुदाय में चेतना उत्पन्न करने में सहायक बनेगी; विशेषकर उस स्थिति में यदि वयस्क शिक्षा पर भी जोर दिया जाये। लेकिन भारत और इससे भी अधिक पाकिस्तान अब इस स्थिति में नहीं पहुँच पाया है। जैसाकि अध्याय-6 में बताया जा चुका है, इन दोनों देशों में शिक्षा-प्रणाली विभिन्न वर्गों के बीच की खाई को कायम रखने में सहायक बन रही है और शायद इसमें वृद्धि करने में भी।

सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर संसदीय प्रणाली का संचालन, जैसाकि भारत और श्रीलंका में है, अपने-आपमें एक शिक्षा-प्रक्रिया सिद्ध होना चाहिए और इसके परिणामस्वरूप राजनीति पर प्रत्यक्ष रूप से ध्यान केन्द्रित होगा। प्रोधन ने कहा था कि जन-सामान्य को वोट का अधिकार देना,

राजनीतिक डाइनामाइट है। मोहनदास गांधी और नेहरू तथा कांग्रेस के पूरे आमूल परिवर्तनवादी गुट का यह दृढ़ विश्वास था कि स्वाधीनता प्राप्त होने के बाद और भारत के लोगों के हाथ मे सत्ता आ जाने के बाद आमूल परिवर्तनवादी सामाजिक और आर्थिक सुधार अनिवार्य हैं।[20] पर स्वतन्त्रताप्राप्ति ने अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का समारम्भ नही किया। लेकिन क्या यह विश्वास करना सम्भव नही है कि कुछ विलम्ब से ही सही पर चुनाव और चुनावो पर आधारित प्रणाली का राजनीतिक क्रम-विकास धीरे-धीरे जन-समुदाय को सजग बना देगा?

यह सच है कि चुनाव अभियान अधिकाशतया कम विवेकपूर्ण मुद्दों पर केन्द्रित रहते हैं—जैसे जाति, भाषा अथवा क्षेत्रीय गठबन्धन अथवा प्रतिद्वन्द्वियों का व्यक्तित्व—अथवा ये किसी-न-किसी प्रकार की रिश्वत के रूप मे चलते है। पर इसके बावजूद – और सामाजिक स्तर, सत्ता और अधिकार का जन-समुदाय के मतदान के स्वरूप पर चाहे कितना भी असर क्यो न होता हो—निम्न और निर्धन वर्गों के लोगो के मन में धीरे-धीरे यह विचार अवश्य पैठ जायेगा कि मतदान की गुप्त प्रणाली ने उनके हाथों में जबर्दस्त ताकत दे दी है और वे जिसे चाहे सत्तारूढ़ कर सकते हैं।

इससे वंचित जन-समुदाय के भीतर दिखायी पड़नेवाले गम्भीर असन्तोष को राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय किया जा सकता है। ट्रांजिस्टर, रेडियो और बाहरी संसार से अन्य सम्पर्क इस बात की और अधिक प्रेरणा देंगे कि जन-समुदाय को अपनी स्थिति में सुधार के लिए अपने वोट का प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल करना चाहिए।

भारत में, पंचायतो के चुनावों में निम्न वर्ग के राजनीतिक आचरण का विशेष रूप से गहरा अध्ययन किया गया है। ऐसे अनेक अध्ययनों को समस्याओ के प्रति अत्यधिक सजग 'इकॉनामिक वीकली' में, जिसका नाम अब 'इकॉनामिक एण्ड पालीटिकल वीकली' हो गया है, प्रकाशित किया गया है। मुख्य प्रश्न यह रहा है कि ये मतदाता किस सीमा तक परम्परागत राजनीतिक आचरण का अनुसरण करते रहे, ऊपर के अपने नेताओं के आदेशो का पालन-भर करते रहे, अथवा उन्होंने नये अवसरों का लाभ उठाकर स्वयं अपने वर्ग के सदस्यो को निर्वाचित करना शुरू किया।

ऐसे अन्तिम परिणाम नही निकाले जा सके हैं, जिन्हे पूरे देश पर लागू किया जा सके। लेकिन वंचित लोगो द्वारा स्वतन्त्र रूप से कार्रवाई करने की प्रवृत्ति यदाकदा दिखायी पड़ी है।[21] लेकिन इन मामलों में भी, ठोस सुधारो की माँग करने के लिए उद्देश्यपूर्ण तरीके से संगठन बनाने का सामान्यतया कोई प्रयास दिखायी नही पड़ता।

इस प्रकार सकारात्मक कारकों का—शिक्षा और विभिन्न प्रकार के चुनावो मे भाग लेने का—पर्याप्त लम्बी अवधि मे ही कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलने की आशा की जा सकती है।

भारत मे, और इसी प्रकार दक्षिण एशिया के शेष भाग में, उदाहरण के लिए, भूमि-सुधार का प्रश्न जिस प्रकार स्थानीय, राज्य और राष्ट्रीय चुनावों मे मृत हो चुका है उसी प्रकार राजनीतिक और बौद्धिक नेताओं के बीच सार्वजनिक

विचार-विमर्श मे और अर्थशास्त्रियों के मध्य भी मृत हो गया है।[22] यदि सामान्य जन-समुदाय के लिए बुनियादी महत्त्व के प्रश्नो मे राजनीतिक आमूल परिवर्तनवाद बड़े और लोकप्रिय पैमाने पर वास्तव में प्रभावशाली हो उठे, तो इससे एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहाँ अधिक निरंकुश सरकार सत्ता मे आ जाये और उस स्थिति मे चुनावों को ही समाप्त कर दिया जाये जब ये उच्च वर्ग के लिए खतरनाक बन जायें।

लेकिन ऐसा जोश कही भी नजर नही आता। यदि ऐसा होता है तो यह इस क्षेत्र मे एक अपवाद ही होगा।

एक और प्रश्न उठाना आवश्यक है : क्या शहर की गन्दी बस्तियो में निम्न वर्ग के लोगों की विशाल संख्या समानतावादी सुधारो की माँग को जन्म देगी ?

यह भी दिखायी नहीं पडता। यह निम्न वर्ग अपनी निरन्तर बढती संख्या के बावजूद देहाती इलाको से आनेवाले विस्थापित गरीब लोगों का समुदाय ही बना हुआ है और इसका उन शहरों से एकीकरण नही हुआ है, जहाँ यह रहता है।

युद्ध के बाद कुछ दंगो के अलावा देहाती इलाकों मे भूमि-सुधार का कोई लोकप्रिय आन्दोलन नही हुआ[23], अतः शहरों की गन्दी बस्तियाँ आश्चर्यजनक सीमा तक शान्त बनी रही। उदाहरण के लिए, पुरानी दिल्ली की गन्दी बस्तियों के निवासियों के एक अध्ययन से यह पता चला कि इनकी बहुत बड़ी संख्या, जिसकी औसत मासिक आय प्रति व्यक्ति लगभग 30 रुपया है, अपनी वर्तमान स्थिति को 'सुरक्षित' मानती है।[24]

इसके बावजूद भविष्य के लिए ऐसी अनेक अनिश्चितताएँ है, जिनका विशेष रूप से उल्लेख किया जाना चाहिए। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि कोई राष्ट्रीय नेता अथवा कई राष्ट्रीय नेता भारतीय राजनीति के छोटे विचारो पर आधारित स्वरूप से ऊपर उठकर ऐसे व्यावहारिक लेकिन आमूल परिवर्तन-वादी सुधार कार्यक्रम तैयार करेंगे, जिसकी भारत को अपनी श्रम-शक्ति के निरन्तर बढते हुए अल्प-उपयोग और निरन्तर बढती हुई व्यापक गरीबी से बचाने के लिए आवश्यकता है।

इनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे नेताओं को उच्च कोटि का राष्ट्रव्यापी सम्मान प्राप्त हो। वर्तमान राजनीतिक निराशा की स्थिति में यह सम्मान प्राप्त करना आसान नहीं है।

उच्च वर्ग के समूह ऐसे नेताओं को समर्थन नही देंगे अथवा यहाँ तक कि इन्हें बर्दाश्त तक नही करेंगे, कम-से-कम उस समय तक जब तक ये नेता नीचे से पर्याप्त दबाव उत्पन्न करने में सफल नहीं होते। सामान्य लोगों तक पहुँचना और इसके साथ ही उच्च वर्ग के समूहों मे अपने अनुयायियों को कायम रखना, आज के किसी भी राष्ट्रीय नेता के लिए गांधी की तुलना में कही अधिक कठिन होगा, क्योंकि स्वतन्त्रता के संघर्ष के दौरान मुद्दा एकदम स्पष्ट था और शत्रु को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था।

सम्भवत: एक जवाहरलाल नेहरू यह कर सकते थे, स्वतन्त्रता के बाद के पहले वर्षों में जब समय अत्यन्त अनुकूल था। लेकिन उन्होंने सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को स्थगित रखना बेहतर समझा।

युद्ध के बाद के आर्थिक दृष्टिकोण के जबर्दस्त प्रभाव के अन्तर्गत वे 'आर्थिक' विकास के प्रसार सम्बन्धी प्रभावों के ऊपर आवश्यकता से अधिक निर्भर रहे। 'आर्थिक' विकास के प्रसार-प्रभावों का अर्थ आधुनिक बड़े उद्योगों की स्थापना और प्रसार तथा आधुनिक टेक्नोलॉजी का उपयोग है। अन्य लोगों की तरह बहुत बड़े पैमाने पर आबादी की वृद्धि से वे आश्चर्यचकित रह गये और इसके सम्पूर्ण प्रभावों को वे नहीं समझ सके। उन्होंने गाँवो के आर्थिक और सामाजिक स्तर के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के गम्भीर महत्व को नहीं समझा। [illegible] भी था और [illegible] अनावश्यक [illegible]

क्या वे आज भी यह कर सकते थे? नेहरूजी इस समस्या से चिन्तित नहीं थे कि उनके बाद क्या होगा? उनका विश्वास था, और उनके सब मित्र भी यह जानते थे, कि जब बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं, तो इन कठिनाइयों पर विजय पानेवाले स्त्री-पुरुष भी सामने आ जाते हैं। इससे भी अधिक गहरा उनका विश्वास अत्यन्त कम-विकसित देश में लम्बी अवधि में लोकतन्त्रीय संस्थाओं के विकास पर था और उन्हें आशा थी कि कालान्तर में गरीब लोग भी अधिकाधिक आवाज उठायेंगे और स्वयं अपने हितों की जबर्दस्त माँग करने के लिए शिक्षित हो जायेंगे।

नेहरूजी के जीवन के अन्तिम वर्षों में और उनकी मृत्यु के बाद भी जो वास्तविक राजनीतिक घटनाएँ घटीं, उनसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो गयी कि सामान्य जन-समुदाय का राजनीतिक कार्यों में हिस्सा लेना कितना आवश्यक है। ऐसे किसी परिवर्तन का माध्यम कौन अब बन सकता है?

विचारधारा सम्बन्धी प्रश्नों और व्यक्तिगत दावपेंच मे व्यस्त कम्युनिस्ट पार्टियों ने गाँवों और यहाँ तक कि शहरों के निर्धन वर्ग को संगठित करने में आश्चर्यजनक सीमा तक उदासीनता अथवा अयोग्यता दिखायी है। जब देश के कुछ भागों में कम्युनिस्ट पार्टी गाँवों मे पहुँची तो उसने भूमि-सुधार का सवाल उठाकर एक वर्गगत मोर्चा बनाने का शायद ही कभी प्रयास किया और अक्सर जाति की राजनीति खेलने और अपनी आवाज उठाने में अधिक सक्षम 'मध्यम वर्ग' के समूहों की शिकायतों को समर्थन दिया। पर हो सकता है कि अब इस स्थिति में परिवर्तन आ रहा हो।

इसके अलावा, यह सम्भावना भी है कि स्थानीय नेता सामने आयें और वे रचनात्मक प्रश्नो के आधार पर अपने आन्दोलन का संचालन करते हुए गाँवरूपी जटिल और निष्क्रिय अणु में विस्फोट उत्पन्न कर दें। अन्ततः विद्रोहियों के बीच व्यापक क्षेत्र में सहयोग स्थापित हो और इसमें उच्च वर्ग के विद्रोही नेता भी शामिल हो जायें। भारत में इस प्रकार के स्थानीय आन्दोलन पैदा हुए हैं और हो सकता है कि अब इनमें वृद्धि हो जाये।

यह कल्पना की जा सकती है कि विश्वविद्यालय कुछ ऐसे बुद्धिवादियों को

जन्म दें, जो अपने व्यक्तिगत शान्त आचरण अथवा जन-सामान्य की स्थिति के प्रति उदासीनता तथा गाँववालों और उनके विषम जीवन के प्रति वितृष्णा को त्यागकर गाँवों में जायें और जन-समुदाय को राजनीतिक कार्रवाई के लिए तैयार करें। अब तक—गृह-युद्ध की अवधियों को छोड़कर जैसाकि हाल में इन्दोनेशिया में हुआ—दक्षिण एशिया के देशों के विद्यार्थियों ने राजनीतिक गतिविधि के क्षेत्र में अपना विद्रोह नहीं किया और न ही कुछ स्पष्ट रूप से व्यक्त लक्ष्यों को सामने रखकर विद्रोह किया।[26]

दक्षिण एशिया के विद्यार्थियों द्वारा किये जानेवाले दंगे अधिकांशतया झूठे और नगण्य कारणों के आधार पर ही हुए हैं: सरल परीक्षाओं अथवा बस के कम किराये की माँग करते हुए अथवा नस्ल और जातिगत शत्रुओं को लेकर एक प्रकार से ये दंगे स्वरूप की दृष्टि से वैसे ही दंगे हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। लेकिन यह हो सकता है कि यह स्थिति सदा न बनी रहे।

लेकिन इस बात की बड़ी स्पष्ट सम्भावना है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि इस बात की सम्भाव्यता है कि भारत में अथवा दक्षिण एशिया के अधिकांश भाग में न तो अधिक क्रम-विकास होगा और न ही क्रान्ति।

यदि सुधार के क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कार्य नहीं किया जाता, तो इसके राजनीतिक परिणाम क्या होंगे, जबकि इसके साथ ही श्रमशक्ति का अल्प-उपयोग बढ़ता जाये और इसके साथ ही जन-सामान्य की गरीबी में भी निरन्तर वृद्धि होती जाये, मेरी विश्लेषण-क्षमता के बाहर की बात है। इस सन्दर्भ में जनगणना-विशेषज्ञों की इस उक्ति का उल्लेख किया जा सकता है कि आबादी की वृद्धि न रुकने पर माल्थूसियनवादी अंकुशों के फिर सक्रिय होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

क्या निर्धन और कष्टपूर्ण जीवन की ऐसी कोई सीमा है, जिसके भीतर मनुष्य विद्रोह किये बिना परिस्थितियों को बर्दाश्त करता रह सकता है? अथवा ऐसी कोई सीमा नहीं है? गाँवों में और अनेक शहरी इलाकों में लोग जिन अत्यन्त कष्टपूर्ण परिस्थितियों में जीवननिर्वाह कर रहे हैं, उन्हें देखकर यह लगता है कि शायद ऐसी कोई सीमा नहीं है।

लेकिन क्या यह स्थिति उच्च वर्ग के कुछ समूहों की आत्मा को आन्दोलित करेगी, विशेषकर विद्यार्थियों और बुद्धिवादियों की? क्या वे आमूल परिवर्तन-वादी सुधारों के लिए और कृतसंकल्प आवाज उठाने को प्रेरित होंगे? क्या वे अपनी माँगों को प्रभावशाली बनाने के लिए गरीब लोगों के मध्य काम करने के लिए बाहर निकलेंगे, ताकि इन लोगों को शिक्षित बनाया जा सके और संगठित किया जा सके? इसमें उन्हें क्या सफलता मिलेगी? मैं नहीं जानता।

इसके अलावा मुझे ऐसे व्यक्तियों और व्यक्तियों के समूहों के आत्म-प्रेरित, अप्रत्याशित और अनुमान की परिधि के बाहर के तत्त्वों के सामान्य व्यवहार के विपरीत आचरण पर जोर देने की आवश्यकता है। मैं ऐसी वैकल्पिक राजनीतिक घटनाओं को देखता हूँ, लेकिन मैं यह भविष्यवाणी करने के लिए तैयार नहीं हूँ

कि भारत की राजनीति में वास्तव में क्या होगा—अगले पाँच वर्षों तक नहीं और लम्बी अवधि में तो इससे भी कम।

दक्षिण एशिया के अन्य देशों के बारे में भी मैं यही अनुभव करता हूँ—यद्यपि इन देशों में अत्यन्त और निरन्तर बढ़ती हुई निर्धनता की सम्भावना अपेक्षाकृत बहुत कम है अथवा यह स्थिति बहुत आगे चलकर आने की सम्भावना हो सकती है। भारत, पाकिस्तान और यहाँ तक कि बर्मा के विपरीत ये देश मलाया और श्रीलंका है।

दक्षिण एशिया के अन्य देशो की तुलना मे विएतनाम में आमूल रूप से भिन्न राजनीतिक घटनाक्रम दिखायी पड़ता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ जन-समुदाय अब राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय नही है, कम-से-कम उस प्रकार समग्र रूप से निष्क्रिय नही है, जैसी उस क्षेत्र के शेष देशों मे स्थिति है। और वे उन सुधारो को लागू करने के लिए कृतसंकल्प है जो उनके अपने हित में है।

जैसाकि मैंने अध्याय-3, अनुभाग-2 में उल्लेख किया है, इसका स्पष्टीकरण प्रथमत: फ्रांस के उपनिवेशी शासन के भिन्न स्वरूप और फिर दूसरे महायुद्ध के बाद फ्रास के उपनिवेशी युद्ध में निहित है। इस दूसरे युद्ध मे फ्रांस को संयुक्त राज्य अमरीका का समर्थन प्राप्त हुआ था—अपनी मृत्यु से पहले राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट ने ऐसे किसी युद्ध मे हिस्सा लेने के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विचार प्रकट किया था—और सन् 1954 के बाद इस युद्ध का सचालन अमरीका ने पूरी तरह से अपने हाथ मे ले लिया था और इस क्षेत्र की कुछ नाममात्र के लिए स्वतन्त्र सरकारें भी इसमे शामिल हुई थीं। अब इस युद्ध को चौथाई शताब्दी से अधिक समय हो गया है।

अधिकाधिक विएतनामियों के लिए यह मुक्तियुद्ध बन गया और विशेषकर एक विदेशी, श्वेत और अमीर देश के सैनिक अतिक्रमण के विरुद्ध संघर्ष बन गया—पहले फ्रांसीसियों के विरुद्ध और आगे चलकर निरन्तर बढ़ते हुए पैमाने पर, अमरीकियों के विरुद्ध।[27]

एक क्रोधपूर्ण राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। जैसाकि अध्याय-3 में कहा गया है, ऐसी भावनाएँ, आधुनिकीकरण के आदर्शों में से किसी भी आदर्श से अधिक, जन-समुदाय में आसानी से व्याप्त हो जाती है।

यहाँ से आगे बढ़कर जन-समुदाय मे आमूल परिवर्तनवादी सुधारों मे अपने हित के अनुरूप आर्थिक और सामाजिक चेतना उत्पन्न हुई। इन सुधारों में बुनियादी सुधार भूमि सम्बन्धी था कि फ्रास के अधीन और आगे चलकर युद्ध के अमरीकी दौर मे अतिक्रमण करनेवालों ने विशेषाधिकारप्राप्त उच्च वर्ग से ही समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया और शीतयुद्ध के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे भी इसके परिणामस्वरूप जन-सामान्य एक प्रकार के राष्ट्रवादी साम्यवाद की ओर झुक चला।

संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध हार चुका है। उनकी गलती यह थी कि उन्होने जन-समुदाय की इस जागृति को नही देखा और इस बात पर भी विचार नहीं

किया कि उनके सैनिक हस्तक्षेप ने इस जागृति को किस प्रकार प्रेरित किया है। संयुक्त राज्य अमरीका ने, एक के बाद एक राष्ट्रपति के शासनकाल मे, दक्षिण विएतनाम की कठपुतली सरकारो पर भरोसा रखा, जबकि इन सरकारो को मुख्यतया विशेषाधिकारप्राप्त उच्च वर्ग के समूहो से ही समर्थन प्राप्त था।

जब संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने, अपने प्रतिद्वन्द्वियों के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, भूमि-सुधार के लिए दबाव डालना और आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की शब्दावली में बोलना शुरू किया, जैसाकि आइजनहावर और दिएम के शासनकाल में हुआ था, दक्षिण विएतनाम सरकार और इसके अफसरों तथा समर्थकों ने इस कार्य में नियमित रूप से बाधा डालना शुरू कर दिया—और वास्तव में, दक्षिण एशिया के देशों में अन्य सत्तारूढ समूहो ने भी यही किया। लेकिन विएतनाम मे क्रुद्ध राष्ट्रवाद के प्रभाव के अन्तर्गत अब जन-सामान्य निष्क्रिय नही रह गया था।

पश्चिमी हस्तक्षेप, विशेषकर जब यह सैनिक कार्रवाई का रूप ले लेता है, किसी कम-विकसित देश में जन-सामान्य में उच्च स्तर की राजनीतिक चेतना और गतिविधि का प्रेरक बन सकता है। राष्ट्रवाद, पश्चिम के विरोध और, वस्तुतः, श्वेत लोगों के विरोध का स्वरूप धारण कर लेता है। शीतयुद्ध की स्थिति में, जहाँ इन देशों को केवल कम्युनिस्ट देशों से ही सहायता मिल सकती है, राष्ट्रवाद आसानी से साम्यवाद से भी सम्बद्ध हो जाता है।

इंदोनेशिया में भी एक ऐसी ही प्रक्रिया हुई थी, जहाँ से डच लोग शान्तिपूर्ण तरीके से नही गये थे। सन् 1965 की वसन्तऋतु के भयंकर नरसंहार में इसे कुचल डाला गया था, जिसे पश्चिम के समाचारपत्रों में बड़ी शान्ति के साथ साम्यवाद के ऊपर विजय बताया गया था।

इंदोनेशिया के भावी राजनीतिक विकास के बारे मे सन्देह की स्थिति के अनेक कारण हैं।[28] यदि जन-सामान्य में जागृति फैलाना कठिन है, तो एक बार इनके जागृत हो जाने के बाद इन्हें शान्त कर देना भी उतना ही कठिन है। सब लोगों को न तो मारा जा सकता है और न ही सदा के लिए जेलों में डाला जा सकता है।

अफ्रीका के दक्षिणी क्षेत्र में—दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका, रोडेशिया और पुर्तगाली उपनिवेशों में—एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो रही है, जहाँ बहुसंख्यक अश्वेतों को श्वेत अल्पसंख्यकों ने बलपूर्वक दबा रखा है और उन्हे इस कार्य में संयुक्त राज्य अमरीका और प्रायः पूरे पश्चिमी संसार से समर्थन मिल रहा है। इस स्थिति पर अध्याय-3, अनुभाग-2 में विस्तार से विचार हुआ है।

कुछ कम-विकसित देशों में श्वेत-विरोधी और पश्चिम-विरोधी भावनाओं का यह विकास, अन्य ऐसे कम-विकसित देशों में फैलता हुआ दिखायी पड़ता है, जो अधिकांशतया अश्वेत हैं। इन भावनाओं का विकास श्वेत लोगो की सैनिक और पुलिस शक्ति के प्रहार के अनुभव और इस शक्ति को प्राप्त पश्चिम के समर्थन के कारण हुआ। इस पुस्तक मे मूल्यों सम्बन्धी जिन मान्यताओं का अनुशीलन किया

गया है, उन्हें ध्यान में रखते हुए यह अत्यन्त भयावह बात लगती है कि विकसित और कम-विकसित देशों के पारस्परिक सम्बन्ध चमड़ी के रंग के आधार पर दूषित हो जायेंगे।

पश्चिम के दृष्टिकोण से, कम-विकसित देशों का साम्यवाद के प्रति रुझान और साम्यवादी देशों से सहयोग इसी प्रकार दुर्भाग्यपूर्ण लगता है, और इसमे उस शीतयुद्ध मे एक नया आयाम और एक अन्य कारण जुड़ जाता है, जो विशाल पैमाने पर हथियारों पर खर्च का कारण बना है और शान्ति के लिए भी खतरा बन चुका है।

प्रबोधन काल की महान् उदारतावादी परम्परा के एक विद्यार्थी के नाते मेरे लिए यह और अधिक बुनियादी तौर पर घृणापूर्ण अनुभव है कि मुझे यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य होना पड़े कि जन-सामान्य की जागृति और उनका अपने हितों के प्रति जागरूक होना तथा विकास के लिए आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारों के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार होना एक ऐसी विश्व-राजनीतिक स्थिति में होगा, जहाँ इन लोगों को राष्ट्रीय साम्यवाद के एक आन्दोलन के रूप में प्रदर्शित किया जायेगा।

इस विकास का बुनियादी कारण पश्चिमी देशों और, सबसे पहले, संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा तथ्यों को अत्यन्त गलत रूप में समझना और अपने आदर्शों के साथ विश्वासघात है। यदि हम अधिक दूरदर्शिता से काम लेते, और हमें अधिक सही जानकारी प्राप्त होती और यदि हम अपने आदर्शों के प्रति अधिक निष्ठावान होते तो—दक्षिण अफ्रीका अथवा वियतनाम में—यह स्थिति उत्पन्न न होती। अध्ययनों और कुछ राजनीतिक अनुभव ने मुझे इस बात को अधिक स्पष्टता से समझने का अवसर दिया है कि उक्त घटनाक्रम के लिए मूर्खता और विश्व-इतिहास का अज्ञान किस सीमा तक उत्तरदायी सिद्ध हुआ। ये खामियाँ शुद्ध अज्ञान पर भी आधारित नहीं हैं, इन्हें निहित स्वार्थों वाले लोगों ने अवसर-वादी तरीके से प्रयुक्त किया है और यह हित अक्सर अपेक्षाकृत मामूली और कम अवधि के हित रहे हैं। 'यथार्थवादी' और विनम्र अनुसन्धान के प्रति पूर्वाग्रहों के कारण ये प्रभावित हुए हैं। यही कारण है कि हमे अपनी विचारधारा के पूर्वाग्रहों को समाप्त कर देने के प्रयास को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए।

यह एक कटुतापूर्ण विचार है कि विश्व-इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम की अन्य सरकारों ने जो दमनकारी और शत्रुतापूर्ण रवैये अपनाये है, उनके परिणामस्वरूप जन-सामान्य में अपने हितों के प्रति जागृति उत्पन्न हुई है। यह जागृति सुधार की एक बुनियादी शर्त है और, लम्बी अवधि में, विकास की भी। क्या संसार के अमीर और विकसित देश इन लोगों को अपने लक्ष्य पर पहुँचने में सहायता देने के लिए इससे अधिक प्रभावशाली और कम-विनाशकारी साधन ढूँढ निकालने मे सफल नहीं हो सकते थे ?

यह प्रश्न ऐतिहासिक है, जिस प्रकार किसी समाज-विज्ञानी के प्रश्न अक्सर होते हैं। विकसित देशों और, विशेषकर, संयुक्त राज्य अमरीका का लक्ष्य यह नहीं रहा कि जन-समुदाय में जागृति उत्पन्न हो ताकि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना हो सके और आवश्यक आमूल परिवर्तनवादी सुधारों को लागू किया जा सके। इनकी सहानुभूति सदा कम-विकसित देशों के विशेषाधिकारप्राप्त वर्गों के

प्रति रही, भयंकर गरीबी से ग्रस्त सामान्य जन-समुदाय के प्रति नहीं। वे कम-विकसित देशों में सुधारों को लागू करने के प्रति बड़ी तत्परता से आँख बन्द करने को तैयार रहते थे अथवा सुधारों को विकृत रूप से लागू करने के प्रयासों के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण रहता था। वे स्थिरता को अधिक महत्त्व देते थे—वास्तव में, वे उपनिवेशी तौर-तरीकों को जारी रखने में सहायक बनते थे।

अन्त में, मैं एक और बात पर जोर देना आवश्यक समझता हूँ। जैसा कि एशियन ड्रामा में स्पष्ट किया गया है और इस पुस्तक के अध्याय-3 में भी इस बात पर चर्चा हुई है, मैं अपने अध्ययन के फलस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की तैयारी के सम्बन्ध में, इस बात में विशेष अन्तर नहीं है कि भारत जैसे देश में, जहाँ सार्वभौम मताधिकार और व्यापक नागरिक स्वतन्त्रताओं पर आधारित संसदीय प्रणाली की सरकार मौजूद है और एक ऐसे देश में, जहाँ अधिक निरंकुश शासन है, कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों मामलों में उच्च वर्ग के समूहों और गुटों के हाथ में सत्ता है और इसके साथ ही जन-समुदाय में निष्क्रिय बने रहने की प्रवृत्ति है।

यह बात तथ्यों पर आधारित है। इसी प्रकार यह भी हो सकता है—पर यह आवश्यक नहीं है—कि किसी निरंकुश शासन का नेतृत्व ऐसे सुधारों को लागू करने को तैयार हो जाये, जिनके बारे में 'लोकतन्त्री' शासन के अन्तर्गत कानून नहीं बनाये गये थे। मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से, यह स्थिति उस समय अधिक ग्राह्य होगी।

मेरे अनुसन्धान के ये निष्कर्ष मेरे मन के विरुद्ध हैं, यद्यपि इन्हें स्वीकार करने के अलावा मेरे समक्ष कोई चारा नहीं है। जहाँ तक लोकतन्त्र का सम्बन्ध है, मैं इस सम्बन्ध में कभी तटस्थता का अनुभव नहीं कर सकता[29] और मेरे मन में दक्षिण एशिया के देशों में आम चुनावों और स्वतन्त्र विचार-विमर्श के कुछ सम्भावित लाभों पर जोर देने की सदा व्यग्रता रही है।

लोकतन्त्र और, विशेषकर, चुनाव कालान्तर में जन-समुदाय को अधिक सतर्क और अधिक शिक्षित बनाने में सहायक हो सकते हैं। एक लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली में अपने विचार व्यक्त करने और कार्यों की स्वतन्त्रता उच्च वर्ग के कुछ व्यक्तियों और समूहों को आमूल परिवर्तनवादी सुधारों का समर्थन करने और जन-समुदाय में चेतना फैलाने का प्रोत्साहन दे सकती है। कम-से-कम इन लोगों और समूहों को यह कार्य करने से रोका तो नहीं जायेगा।

इतना ही नहीं, निरंकुश शासनवाले देशों में सार्वजनिक विचार-विमर्श का अभाव सरकार को उपयोगी जानकारी से वंचित कर सकता है। उदाहरण के लिए, मेरा यह विश्वास है कि बर्मा की सैनिक सरकार को अपनी सामाजिक और आर्थिक नीतियों में किस कारण से कोई भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकार की आलोचना से सुरक्षा थी।[30]

अध्याय : 15

# अर्थशास्त्र का दायित्व

नीति सम्बन्धी विकल्पों की समस्या के दो आयाम हैं। एक आयाम यह है कि नीति सम्बन्धी विकल्प मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के निष्कर्षों के रूप मे उपलब्ध होते है और इन मान्यताओं के उपयोग से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जाते है। इन विवेकसम्मत नीति सम्बन्धी विकल्पों की व्याख्या अध्याय-3 से लेकर अध्याय-11 तक की गयी है। दूसरा आयाम राजनीतिक विकास से सम्बन्धित है और यह इस बात का निर्धारण करता है कि वास्तव मे किन नीति सम्बन्धी विकल्पो को चुना जायेगा।

इस समस्या के ये दो आयाम एक-दूसरे से सम्बन्धित है। समाज-विज्ञानी विवेकसम्मत और वास्तविक नीति सम्बन्धी विकल्पो के बीच की मुख्य कड़ी का प्रतिनिधित्व करते है। इन विज्ञानियों में हम अर्थशास्त्री, योजनाकारो तथा जनता और उनकी सरकारों के सलाहकारों के रूप मे, इनके पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करते है।

एक ओर हम लोग स्वयं अपने देशों की राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित होकर कम विकसित देशो की विकास सम्बन्धी समस्याओ के प्रति पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित हुए है।

इस पुस्तक के अध्याय-1 में मैंने इस पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के सामान्य स्वरूप के बारे में बताया है। आगे के अध्यायो में मैंने निरन्तर यह दर्शाया है कि ये पूर्वाग्रह किस प्रकार अनेक विशिष्ट समस्याओं में प्रकट हुए।

इसके साथ ही, हम अर्थशास्त्री वास्तविक राजनीति और नीति सम्बन्धी विकल्पों पर निःसन्देह प्रभाव डालते हैं। जॉन मेनार्ड कीन्स का यह प्रेक्षण कि लोग ऐसे सिद्धान्तो से प्रभावित हो जाते हैं, जिनके अस्तित्व का लोप हो चुका है, केवल इस सीमा तक गलत है कि लोग अपेक्षाकृत नये और वर्तमान सिद्धान्तो से भी प्रभावित होते है, कम-से-कम आंशिक रूप से और कुछ समय के बाद, जो आवश्यक नही कि बहुत लम्बा हो।

वास्तव में, कीन्स को मुद्रा और सम्बन्धित नीतियों के क्षेत्रो में संसार-भर में, अधिकाशतया मृत्यु के बाद, जो सफलता मिली है, वह इस बात का प्रमाण की है। इससे पहले स्वीडन मे, इन्हीं क्षेत्रों में वास्तविक नीतियों की इसी प्रकार की पुनर्व्यवस्था ने नुट विकसेल और उनके स्वीडनवासी अनुयायियो के सिद्धान्तों के व्यावहारिक महत्त्व की पुष्टि की। विकसेल और उनके अनुयायियों ने कीन्स से कही पहले यही विचार प्रकट किये थे।

इससे आगे बढ़ने से पहले, मैं अत्यन्त निष्ठापूर्वक एक बात याद दिलाना और इस बात पर विशेष रूप से जोर देना चाहता हूँ। जब मैं अपने साथी अर्थशास्त्रियों के ऊपर परम्परागत विचारधारा का अनुसरण करते हुए, क्रम-विकसित देशों के विकास की समस्याओं के प्रति अत्यन्त पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण अपनाने का आरोप लगाता हूँ, तो मेरा तात्पर्य उनकी व्यक्तिगत बेईमानी से नहीं होता।

अपनी युवावस्था से ही मैं अध्येताओं के विश्वव्यापी समाज का सदस्य रहा हूँ। अनेक देशो मे मुझे अर्थशास्त्र के अध्येताओ के मध्य सैकड़ों लोगों की घनिष्ठता और मित्रता प्राप्त करने का अवसर मिला है। इनमें कुछ गिने-चुने लोगों ने ही अपने काम में दूसरे लोगों के कष्टों के प्रति संवेदनहीनता का दृष्टिकोण अपनाया था। इससे भी कम लोग ऐसे थे, जिन्हें मैंने जान-बूझकर अपने लेखन को अपने स्वार्थों के अनुरूप ढालते हुए देखा।

इस दृष्टि से मेरा विश्वास है कि हमारा समस्त पेशा, और विशेषकर वे लोग जिन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, संस्थापित अर्थशास्त्रियों की महान् परम्परा का अनुसरण करते रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में एक बार एलफ्रेड मार्शल ने इन शब्दों मे अपनी भावनाएँ व्यक्त की थी :

"वास्तविकता यह है कि आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रायः सब संस्थापक भद्र और सहानुभूतिपूर्ण स्वभाववाले व्यक्ति थे, और मानवता के प्रति उनके मन में उत्साह का भाव था। स्वयं अपने लिए धन बटोरने के प्रति उन्हें प्रायः कोई चिन्ता नही थी; वे व्यापक जन-समुदाय में सम्पदा के अधिकतम बँटवारे के प्रति चिन्तित रहते थे···इन लोगों ने, बिना किसी अपवाद के, इस बात पर जोर दिया और इस सिद्धान्त के प्रति निष्ठा प्रकट की कि व्यक्तिगत प्रयत्नो और सार्वजनिक नीति का अन्तिम लक्ष्य सब लोगों की भलाई होना चाहिए···इन महान् बुद्धिमान लोगों ने, जिन्होंने अर्थशास्त्र को जन्म दिया, सम्पत्ति के अधिकार के प्रति कोई श्रद्धा नही दिखायी।"[1]

पर मार्शल ने इन महान् अर्थशास्त्रियो की उस उदासीनता का भी उल्लेख किया, जो उन्होने वितरणात्मक सुधारों को अपना समर्थन देने मे दिखायी और इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि ये अर्थशास्त्री गरीबों की आवश्यकताओं के प्रति 'संवेदनाहीन' दिखायी पड़ते थे। उन्होंने इस बात को इस प्रकार समझाया : "उस युग के महानतम मनीषियों के विचारों की उदारता और व्यापकता कुछ दृष्टियों से आधुनिक युग के सर्वाधिक शिक्षित लोगों के विचारों से संकीर्ण थी।"

यहाँ मार्शल इस बात की ओर संकेत कर रहे हैं कि डेढ शताब्दी पहले इंग्लैण्ड की प्रमुख राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित होने के कारण संस्थापित अर्थशास्त्र में पूर्वाग्रह उत्पन्न हो गये थे। मेरे मन मे इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नही है कि यदि ये अर्थशास्त्री अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाते और पूर्वाग्रहो से दूर रहते, तो इसका व्यावहारिक राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता।

कार्ल मार्क्स ने स्वयं को रिकार्डो की पूर्वाग्रहग्रस्त असफलता से मुक्त किया और इसी कारण से वे स्वयं अपने मूल्य-सिद्धान्त में निहित आमूल परिवर्तनवादी निष्कर्षों पर पहुँच सके।[2] और निश्चय ही मार्क्स का संसार के राजनीतिक विकास पर महान् प्रभाव पड़ा, और इस प्रभाव मे उनके अधिशेष-मूल्य और

शोषण के सिद्धान्त का बहुत बड़ा स्थान रहा।

अब क्योंकि संस्थापित मूल्य-सिद्धान्त, मार्क्स और रिकार्डो दोनों के तत्सम्बन्धी प्रतिपादनों में, नैसर्गिक नियम के दर्शन से प्रभावित होने के कारण बुनियादी तौर पर परिणामपरक सिद्धान्त जैसा वेदान्ती विचार बन गया, अतः हम उनके दृष्टिकोणों का कोई खास लाभ नहीं उठा सकते और यही बात मार्क्स के अन्य अनेक सिद्धान्तों पर लागू होती है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मार्क्स और रिकार्डो की रचनाओं में ऐसे प्रेक्षण और विश्लेषण के अंश मौजूद नहीं हैं, जिनका आज भी महत्त्व है।

और आज भी हमें उनकी रचनाओं की इसलिए जानकारी होना जरूरी है ताकि हम स्वयं अपनी विचारधारा के बारे में ऐतिहासिक दृष्टि से समालोचनात्मक दृष्टिकोण अपना सकें। मैंने पिछले अध्यायों में अक्सर यह बताया है कि आज के अर्थशास्त्री किस प्रकार उस समय अपने ज्ञान के अभाव का प्रदर्शन करते हैं, जब वे गैर-विवेचनात्मक तरीके से और अक्सर निहित अर्थ के रूप में, मार्क्स द्वारा दिखाये गये रास्ते पर आगे बढ़ते है।

आज के परम्परावादी अर्थशास्त्री जब पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोणों को व्यवहार में लाते हैं, तो वे सापेक्ष दृष्टि से आरम्भिक युगों के अपने पूर्ववर्तियों के समान ही निष्ठाहीन नहीं होते। लेकिन स्वयं अपने अनुसन्धान की तार्किकता के बारे में उनमें बचकानापन है।

एक दृष्टि से और एक सीमा तक, अपने पीढ़ियों पहले के पूर्ववर्तियों से वे अधिक बचकानापन प्रदर्शित करते हैं। जब एफ० आई० एजवर्थ और हैनरी सिजविक जैसे लोगों ने अपने कल्याण-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, तो उनमें निरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करने की क्षमता थी और वे मूल्य सम्बन्धी 'मान्यताओं के रूप में इनके ऊपर अपने सिद्धान्तों को आधारित कर सकते थे। उन्हें एक ऐसे आधार से, ऐसी नींव से अलग हटने की आवश्यकता नहीं थी जैसाकि आधुनिक कल्याण-सिद्धान्तकार करते है।[3] इस दृष्टिकोण ने निःसन्देह एजवर्थ और सिजविक की तार्किकता को कम जटिल और कम तर्कविहीन बनाया।[4]

*परम्परावादी अर्थशास्त्रियों और सामान्यतया समाजविज्ञानियों के मध्य* व्यापक बचकानापन, जो दो पीढ़ियों से बढ़ रहा है, समाजविज्ञान और समाजविज्ञानियों के समाजशास्त्र के प्रतिपादन की आवश्यकता को अधिक महत्त्वपूर्ण और तात्कालिक आवश्यकता की वस्तु बना देता है।[5] अर्थशास्त्रियों के समक्ष यह खतरा बना रहता है कि वे इस बात से अनभिज्ञ रहकर कि अपने चारों ओर के समाज से वे किस प्रकार प्रभावित होते हैं, अपने अनुसन्धान जारी रखते हैं—और उनके अनुसन्धानों पर परम्परा का तथा उनके व्यक्तिगत रुझानों का क्या प्रभाव पड़ता है, वे इस बात से भी इसी प्रकार अनभिज्ञ रहते हैं।

हमारे कार्य को आधार बनाकर यह सामाजिक अनुसन्धान किया जा सकता है। अन्य अधिकांश सामाजिक अनुसन्धान से यह अनुसन्धान अपेक्षाकृत

आसान होगा। अनुसन्धानकर्त्ता के समक्ष पूरी विषयवस्तु को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह विषयवस्तु हमारे प्रकाशित लेख और पुस्तकें ही हैं।

तर्कसम्मत आलोचना के द्वारा इस कार्य को आगे बढाया जा सकता है और इस प्रकार असंगत तथा मनमानी मान्यताओं को दर्शाया जा सकता है। इस आलोचना को बहुत व्यापक और अन्तर्भूत बनाना होगा, क्योकि अधिकाश मान्यताओं को अन्तर्निहित मानकर छोड़ दिया जाता है। जब तार्किकता सम्बन्धी इन खामियो को एक निश्चित दिशा मे आगे बढ़ता हुआ देखा जाये, तो इसे इस बात का संकेत समझ लेना चाहिए कि कार्यकारण की शब्दावली मे उस सामाजिक प्रभाव को समझाने के लिए सामाजिक अनुसन्धान की आवश्यकता है, जिसका यह परिणाम हुआ है।

इस समाजशास्त्रीय अनुसन्धान का निर्देशक सिद्धान्त वह प्रमुख प्रश्न होना चाहिए, जिसे प्रत्येक जासूसी के कार्य में पूछा जाता है: की बोनो? इस कार्य से किन निहित स्वार्थों को लाभ हुआ? ये हित शायद ही कभी सम्बन्धित अनुसन्धानकर्ता के हित होते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि ये स्वयं उसके हित नही होते, बल्कि उन शक्तियों के हित होते हैं जो उसके चारों ओर व्याप्त समाज में प्रभावशाली बनी हुई हैं।

यदि अनुसन्धान पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होता, तो यह सामूहिक सत्ता के हितों की सेवा करनेवाला अवसरवादिता पर आधारित अनुसन्धान बन जाता है और इस अनुसन्धान मे उन्ही हितों का ध्यान रखा जाता है, जिन्हें यह सामूहिक सत्ता अपना हित मानती है और जो इसके नीति सम्बन्धी विकल्पों का निर्धारण करते हैं। इस कार्य का क्या परिणाम होगा, यह बात अनुसन्धानकर्त्ता के सचेतन ज्ञान की परिधि से बाहर ही रहती है। जैसाकि मैं पहले कह चुका हूँ, अनुसन्धानकर्त्ताओं ने जान-बूझकर पूर्वाग्रहो को नही अपनाया है।

अधिक गहन विश्लेषण से यह प्रकट हो जाता है कि सामूहिक सत्ता के हितों की जो कल्पना की जाती है, वह अधिकांशतया तार्किकता पर आधारित नहीं होती। विशेष रूप से, ये हित लम्बी अवधि के न होकर छोटी अवधि के होते हैं और अवसर छोटी अवधि के हितो की दृष्टि से भी अविवेक पर आधारित होते हैं।

विज्ञान और वैज्ञानिकों के समाजशास्त्र की मांग इस आवश्यकता से प्रेरित है कि अनुसन्धानकर्त्ता को स्वयं अपने कार्य के प्रति कम अबोध बनाया जा सके और उसे इस बात के प्रति अधिक सजग किया जा सके कि अनुसन्धान कितनी आसानी से अविवेक से प्रभावित हो जाता है। इस पुस्तक मे जिस प्रकार तर्क-सम्मत समालोचना की गयी है, उसे इस दिशा में सहायक बनना चाहिए।

यह बात उस स्थिति में अधिकतम सीमा तक प्रभावशाली होगी, यदि यह अनुसन्धानकर्त्ता को उन मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ को स्पष्ट रूप से व्याख्या करने के लिए प्रेरित करे, जो उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करती हैं अर्थात् अनुसन्धान में प्रयुक्त उसका दृष्टिकोण क्या है, वह क्या प्रश्न उठाना चाहता

है और वे संकल्पनाएँ क्या हैं, जिनका वह अपने विश्लेषण मे उपयोग करता है।

आर्थिक अनुसन्धान में पूर्वाग्रह के कारणों और विज्ञान और वज्ञानिकों के समाजशास्त्र तथा विज्ञान की तार्किकता के नये और व्यापक विश्लेषण की आवश्यकता पर विचार को राजनीतिक गतिशीलता के अध्याय के बाद विशेष उद्देश्य से रखा गया है। इस बात में सन्देह नही है कि आर्थिक अनुसन्धान का राजनीति के विकास पर प्रभाव होता है और उन नीति सम्बन्धी विकल्पो पर भी, जिन्हें कम-विकसित और विकसित दोनो प्रकार के देशो में अपनाया जा रहा है। अतः राजनीतिक विकास के लिए एक ऐसा नमूना अपनाना, जिसमे इस बात की उपेक्षा की गयी हो कि हम अर्थशास्त्रियों की रचनाओं का क्या प्रभाव हो रहा है, यथार्थ से पूरी तरह मेल नहीं खायेगा।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आर्थिक अनुसन्धान से पूर्वाग्रह की समाप्ति के परिणामस्वरूप, ऐसे नीति सम्बन्धी निष्कर्ष निकलेंगे, जिनमें कम-विकसित देशों में आमूल परिवर्तनवादी सुधारों और विकसित देशो में सहायता और व्यापार सम्बन्धी नीतियों मे आमूल परिवर्तन की माँग होगी। इन परिवर्तनों का विशेष रूप से उल्लेख इस पुस्तक के पहले के अध्यायों में हो चुका है। कम-विकसित और विकसित देशो में जो हजारो अर्थशास्त्री अनुसन्धान कर रहे हैं, यदि उसकी दिशा को इस प्रकार पुर्नार्निर्देशित किया जाता है तो इस अनुसन्धान का राजनीति पर निश्चय ही असर होगा। यह तथ्य भी सामाजिक यथार्थ का एक अश है कि लोग अपने नीति सम्बन्धी चुनावों में विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत बनना चाहते हैं।

कम-विकसित देशों की विकास सम्बन्धी समस्याओं का मूल्य सम्बन्धी मान्यताओ के दृष्टिकोण से अध्ययन करना काल्पनिक और राजनीतिक दृष्टि से 'अयथार्थवादी' दिखायी पड़ सकता है, यद्यपि ये मान्यताएँ अन्यत्र व्यक्त आदर्शों के अनुरूप होती है। इन आदर्शों के प्रति सत्तारूढ व्यक्तियो की वास्तविक आस्था और सहमति नही होती और वे इन आदर्शों को व्यवहार में लाने के लिए बलिदान करने के लिए तैयार नही होते। और यह बात कम-विकसित और विकसित दोनों देशों के बारे में सही है।

इस सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर जोर देना आवश्यक है कि इन आदर्शों को लागू करने की दिशा में आगे बढने का प्रयास करना भी वाछनीय है। इसी प्रकार, विपरीत दिशा मे आगे बढ़ना अवांछित है। इस समय जो प्रवृत्ति मौजूद है, उसे बदलने के लिए प्रयास करना और आदर्शों को अधिक बेहतर तरीके से व्यवहार मे लाने की दिशा में आगे बढने की गति को तेज करना राजनीतिक दृष्टि से एकदम 'अव्यावहारिक' करार नही दे दिया जाना चाहिए। वास्तव में, एक ऐसे परिवर्तन के लिए प्रयास करना नीति सम्बन्धी अध्ययन का स्पष्ट उद्देश्य होना चाहिए और यह अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से तर्कसम्मत तरीके से किया जाना चाहिए।

इसके अलावा यह मानकर चलना कि आज जो स्थिति है, जिसमें सामाजिक परिवर्तन के प्रति लोगों का दृष्टिकोण भी शामिल है, वही कायम रहेगी, एक यथार्थवादी विचार नही है। लोगो के दृष्टिकोण बदल सकते हैं, और इसी प्रकार संस्थाओं और सत्ता के स्वरूप को उनके दृष्टिकोणो से जो समर्थन मिलता है,

उसमें भी परिवर्तन हो सकता है। और इन दृष्टिकोणों को बदलने के लिए प्रेरित भी किया जा सकता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में बड़े और अचानक किये जानेवाले प्रेरित परिवर्तनों को छोटे और धीरे-धीरे लागू किये जानेवाले परिवर्तनों से कम लोकप्रिय प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। (देखिए, अध्याय-14)।

नीति सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं के अलावा इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि स्पष्ट रूप से परिभाषित मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के दृष्टिकोण से *कम-विकसित देशों की समस्याओं का अध्ययन बुनियादी तौर पर एक ऐसा* तर्कसम्मत कार्य है, जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक यथार्थ के अध्ययन को पूर्वाग्रहग्रस्त होने से बचायेगा और इस प्रकार दोषपूर्ण होने से भी। तथ्यों की स्थापना के सन्दर्भ में इस प्रकार पूर्वाग्रह और दोषपूर्ण निष्कर्षों से बचा जा सकेगा।

एशियन ड्रामा मे व्यक्त विचारों को अक्सर 'निराशावादी' कहा गया है और इन्ही विचारो को इस पुस्तक में भी फिर दोहराया गया है। मैं इस आलोचना को स्वीकार नही करता। इसके विपरीत मैं यह दावा करता हूँ कि मेरे इन और अन्य अध्ययनो मे कार्यविधि सम्बन्धी जिस सिद्धान्त को अपनाया गया है, वह तार्किकता द्वारा प्रस्तुत एकमात्र ऐसा तरीका है, जिसके आधार पर यथार्थ की प्राप्ति हो सकती है।

*अधिकाश आर्थिक साहित्य में प्रदर्शित अधिक 'आशावाद' अनुसन्धान के* प्रति उनके दृष्टिकोणों के अत्यधिक पूर्वाग्रहग्रस्त होने का परिणाम है—यही आशावाद सरकारी संस्थाओ के आर्थिक सचिवालयों के अनेक अध्ययनों मे ही नही दर्शाया गया है, बल्कि अन्तरसरकार-संगठनों में भी इसे प्रकट किया गया है और इन विभागों और संगठनों के अन्तर्गत काम करनेवाले विशेषज्ञों की विशेष रिपोर्टों में भी यह आशावाद प्रकट हुआ है।

यह तथ्य इस पुस्तक के पिछले अध्यायों में पर्याप्त स्पष्ट कर दिया गया है। परम्परागत अर्थशास्त्री अपने पूर्वाग्रहों के प्रति सजग नही है। वह यह विश्वास करता है कि वह 'निरपेक्ष' तरीके से और 'तथ्यों पर आधारित' तरीके से काम करता है। इस कारण से वह पूर्वाग्रह की समस्या पर विचार करने के लिए भी एकदम राजी नही होता। इस कारण से मैंने इस पुस्तक में इस कर्तव्य को *अपने समक्ष रखा है कि सामान्य पूर्वाग्रहों पर चर्चा करूँ और इन्हें स्पष्ट रूप से* व्यक्त करूँ।

अर्थशास्त्र की दिशा के इस प्रकार पुनर्निर्देशित होने के सम्बन्ध में मैं निराश नहीं हूँ। आजकल व्याप्त पूर्वाग्रहों से ग्रस्त अनुसन्धानकर्त्ताओं में पूरी *चेतना उत्पन्न होने से पहले ही और इस स्थिति से पहले भी कि वे अपनी मूल्य* सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करके मूल्यांकन करने के लिए तैयार हों, आंशिक रूप से यह परिवर्तन आयेगा।

एक सीमा तक, समस्त निष्ठापूर्ण अनुसन्धानो के भीतर अपने-आपको स्वस्थ बनाने अथवा अपनी खामियों को दूर करने की क्षमता होती है।[6] *जैसाकि* एक बार नुट्विकसेल ने कहा था कि वैज्ञानिक स्वयं अपने द्वारा चुने गये दृष्टि-कोण से श्रेष्ठ होता है। उसके समक्ष ऐसे सत्य आ खड़े होते हैं, वह ऐसे सत्यों का

अनुसन्धान कर लेता है, जिनके अनुसन्धान में वह नही लगा था।

अब यहाँ आकर हमे इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इससे पहले के अध्यायो में मैंने जो आलोचना की है, वह तार्किकता पर आधारित रही है तथा इसका सम्बन्ध अत्यन्त कठोर वैज्ञानिक प्रेक्षण, विश्लेषण और सतर्कता की अपेक्षा से रहा है। मैंने वैज्ञानिक दृष्टिकोणों की उन खामियों की ओर संकेत किया है, जिनका कोई भी अर्थशास्त्री, यदि मेरी आलोचना सही है, समर्थन नही कर सकता; चाहे वह मेरे इस सामान्य निष्कर्ष से सहमत हो अथवा नही कि ये खामियाँ पूर्वाग्रहो के कारण उत्पन्न होती हैं।

कठोरता और सतर्कता के अभाव के बारे में ऊपर जो मूल्यांकन किया गया है, वह विश्लेषण को कथित 'आर्थिक कारकों' तक सीमित रखने और अन्य कारकों की उपेक्षा कर देने की हमारी प्रवृत्ति पर लागू होता है—यद्यपि इन अन्य कारकों के महत्त्व की अक्सर सामान्य घोषणा की जाती है। यह उन संकल्पनाओं के दुरुपयोग पर लागू होता है, जो हमारी पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं के विश्लेषण मे तो उपयोगी होती है, लेकिन कम-विकसित देशो के आर्थिक यथार्थ से अधिकांशतया मेल नही खाती—उदाहरण के लिए, 'वेरोजगार' और 'रोजगार की कमी' जैसी सकल्पनाएँ। यह उन समग्र योगों और बाजार की शब्दावली के उपयोग पर लागू होता है, जिनका राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे उल्लेख किया जाता है, जवकि इन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओ मे या तो अधिकाशतया बाजारों का अस्तित्व होता ही नही अथवा ये अत्यधिक अपूर्ण होते है।

इसके साथ ही आँकड़ों के उपयोग के सिलसिले में अग्राह्य लापरवाही दिखायी जाती है, उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय से सम्बन्धित आँकड़ों के उपयोग के बारे मे, और इस सम्बन्ध मे इस बात की जाँच नही की जाती कि कम-विकसित देशो मे इन शब्दो की क्या परिभाषा दी जाती है अथवा इनकी गणना के क्या प्रेक्षणात्मक आधार है। इस बात का स्पष्टीकरण दिये बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं, परम्परागत अर्थशास्त्री उत्पादन की परिवर्तन-दर अथवा आय को 'विकास' का समरूप मान लेते हैं।

यह कार्य अक्सर वितरण सम्बन्धी पहलू और इससे भी कम उन अन्य 'गैर-आर्थिक' कारको के महत्त्व का उल्लेख किये बिना ही किया जाता है, जो कम-विकसित देशों की विकास-प्रक्रिया मे सहायक होते हैं। यह लापरवाही पूर्वाग्रह की प्रवृत्ति के उद्देश्य की पूर्ति करती है, अन्यथा उस रूप मे आँकडों का इस्तेमाल सम्भव नहीं हो सकता जिस रूप मे अक्सर इनका इस्तेमाल किया जाता है।

इससे भी अधिक सामान्य रूप से, आँकड़ो का प्रेक्षण और सग्रह ऐसी श्रेणियों के उपयोग के द्वारा किया जाता है, जो कम-विकसित देशो की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है। इसके परिणामस्वरूप आँकडे अत्यन्त भ्रामक और अक्सर निरर्थक बन जाते हैं। राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय के आँकड़ो के अलावा, यही बात 'बचत' के कुल योगो और, विशेष रूप से 'वेरोजगारी' और 'रोजगार की कमी' के आँकड़ों पर लागू होती है।

आँकड़ो की खामियाँ सामान्यतया अवसरवादी पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण के अनुरूप होती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य, उदाहरण के लिए, भू-स्वामित्व और काश्तकारी सम्बन्धी तथ्य, केवल दोषपूर्ण ही नही हैं, बल्कि अक्सर इन तथ्यो को एकत्र करने के मार्ग मे बाधा डाली जाती है, अथवा जब इन्हें एकत्र कर भी दिया जाता है, तो इनकी जानकारी नही दी जाती और यह कार्य शक्तिशाली निहित स्वार्थों के प्रभाव के द्वारा होता है।

जैसाकि मैंने इस पूरी पुस्तक मे, पर विशेषकर अध्याय-6 में कहा है, अन्य आँकड़े भी, उदाहरण के लिए, साक्षरता और स्कूलों में भर्ती सम्बन्धी आँकड़े, आलोचनाविहीन दृष्टि से तैयार और इस्तेमाल किये गये। अब क्योंकि इन आँकड़ों में शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों को सामान्य रूप से बढ़ा-चढाकर दर्शाया गया है, ये आँकड़े 'आशावादी' पूर्वाग्रहों के उद्देश्यों की भी पूर्ति करते हैं।

यूनेस्को सचिवालय ने इन आँकडों की जाँच करने अथवा इनमें सुधार करने का कोई गम्भीर प्रयास भी नही किया है, यद्यपि यह कार्य बहुत अधिक कठिन नही होता। यूनेस्को कुछ चुने हुए जिलो मे वास्तविक साक्षरता की स्थिति और वास्तव में स्कूल जानेवाले बच्चो की संख्या की गणना करके, इसका गहराई से प्रेक्षण करके और इनकी तुलना जनगणनाओं और स्कूलो सम्बन्धी आँकड़ों में दी गयी संख्याओं से करके सही निष्कर्ष निकाल सकता है। अन्तरसरकार-संगठनो के किसी भी सचिवालय ने और इन आँकड़ों का उपयोग करनेवाले अध्येताओं में से भी किसी ने यह सुझाव नही दिया है कि यूनेस्को यह कार्य करे। इन आँकड़ों को जैसे-का-तैसा स्वीकार कर लेने से, इनकी वैधता अथवा सहीपन के बारे मे शंका उठाये अथवा जाँच किये बिना ही इनका उपयोग करने से उनके सामान्य और पूर्वाग्रहग्रस्त उद्देश्यों की पूर्ति होती रही है।

हम लोगों ने विकसित देशों से कम-विकसित देशो को प्राप्त होनेवाली सार्वजनिक सहायता अथवा पूँजी के आगमन सम्बन्धी आँकड़ों की सचमुच भयंकर गड़बड़ की अनुमति दी है और यह कार्य इस तथ्य के बावजूद हुआ है कि कम-विकसित देशों की तुलना में विकसित देशों मे आँकड़े कही अधिक सही और पूर्ण रूप से उपलब्ध हैं और तथ्यों के बारे में ईमानदारी पर आधारित और सही विवरण दे पाना सम्भव होना चाहिए। इससे विकसित देशों में यह अनुभव करने का अवसरवादी हित दिखायी पडता हैं कि उन्होने बहुत अधिक बलिदान दिये हैं, जबकि वास्तव में उन्होंने कम-विकसित देशो को उनके विकास के लिए सहायता देने में वास्तव में इस सीमा तक बलिदान नही किया।

हम लोगों ने अक्सर अपनी वैज्ञानिक शब्दावली के ऊपर लोकप्रिय, और राजनीतिक दृष्टि से प्रभावित विचार-विमर्श में प्रयुक्त अभिव्यक्तियों का हमला होने दिया है। उदाहरण के रूप में इन अभिव्यक्तियों के अन्तर्गत प्रयुक्त 'विकासशील देश' और 'स्वतन्त्र संसार' जैसे शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। जब हमारा अभिप्राय एक कम-विकसित देश से होता है तब हम 'विकासशील देश' का इस्तेमाल करते हैं अथवा जब हम गैर-कम्युनिस्ट संसार का उल्लेख करना चाहते हैं तो 'स्वतन्त्र संसार' जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग करने लगते हैं। मुझे यह महत्त्वहीन और अनजाने में किया गया भाषा सम्बन्धी कार्य दिखायी नही पड़ता, बल्कि मुझे इसमें एक अत्यन्त गहन पूर्वाग्रह का संकेत दिखायी पड़ता है। और तर्क के

आधार पर भी ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग चिन्ताजनक होना चाहिए।

मैं इस बात पर विश्वास ही नहीं कर सकता कि आज कम-विकसित देशों की समस्याओं के बारे में तथा विकसित देशों से इनके सम्बन्धों के बारे में जो बड़े पैमाने पर अनुसन्धान-कार्य हो रहा है, एक के बाद एक मुद्दे पर अर्थशास्त्र की इन अत्यन्त बड़ी खामियों को देख-समझ नहीं सकता और इसमें सुधार नहीं किया जा सकता। किसी कम-विकसित देश में शिक्षा की समस्या के किसी भी गहन अनुभवजन्य अध्ययन से 'मनुष्य में नियोजन' की शब्दावली में इस समस्या के प्रति वित्तीय दृष्टिकोण में जो सतही और गलत धारणाएँ प्रदर्शित की गयी हैं, वे स्पष्ट हो जायेंगी।

और कृषि-समस्या का कोई भी गहन अध्ययन—कृषि में लगी श्रम-शक्ति का अल्प-उपयोग और यह खतरा कि आबादी में वृद्धि और कृषि-टेक्नोलॉजी की हाल की प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप इसमें और वृद्धि होगी—भूमि-सुधार की समस्या को स्पष्ट रूप से प्रकट करेगा, जिसे हाल में विकसित और कम-विकसित दोनों देशों में प्रायः पूरी तरह भुला दिया गया है।

जब एक के बाद एक अर्थशास्त्री उन गलतियों के प्रति सजग हो जायेगा, जो वह स्वयं और अन्य अर्थशास्त्री देख और सुधार रहे हैं और जब यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये गलतियाँ विधिवत् और एक सामान्य हित के अनुरूप होती हैं, तो प्रत्येक अर्थशास्त्री यह सवाल पूछने के लिए बाध्य होगा : क्यों और कैसे ? उस समय प्रत्येक अर्थशास्त्री उन पूर्वाग्रहों को देखने और उनकी जाँच-पड़ताल करने की स्थिति में पहुँच जायेगा, जो अब प्रेरक शक्ति बने हुए हैं।

इसके बाद मूल्यांकन स्पष्ट रूप से मैदान में आ जायेंगे। और एक अनुसन्धान-कर्त्ता के रूप में अर्थशास्त्री अपनी स्थिति की तार्किकता से प्रेरित होकर यह पूछने के लिए बाध्य होगा कि स्वयं उसकी मूल्य सम्बन्धी मान्यताएँ क्या हैं ? यह अर्थशास्त्र और सामान्यतया समाजविज्ञानों की सच्ची और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 'मूल्य' सम्बन्धी समस्या है।

यह हो जाने के बाद, वह ऐसा प्रकाश प्राप्त कर चुका होगा जो उसे अर्थशास्त्र की खामियों का पता लगाने और इन खामियों को सुधारने की दिशा में

कि मैंने अध्याय-1 में सामान्य दार्शनिक समालोचना तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा, बल्कि इस समालोचना को अनेक समस्याओं की दिशा में आगे बढ़ाया और एक के बाद एक समस्या को उठाया।

मैं विशेष रूप से कम-विकसित देशों में आँकड़ों में सुधार करने की आवश्यकता पर जोर देना चाहता हूँ। इस कार्य के लिए, हम अर्थशास्त्रियों को प्राथमिक जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए; क्योंकि हम ही अपने विश्लेषणों

में इन आँकड़ों के प्रमुख उपभोक्ता है और संकल्पनाओं की परिभाषा करनेवाले लोग भी हम ही है और इसी प्रकार प्रश्न उठानेवाले व्यक्ति भी हम ही हैं। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विरुद्ध मेरा आरोप यह है कि उन लोगों ने प्रभावहीन आँकड़ों से अपनी पुस्तकों को भर डाला है और इन आँकड़ों के आधार पर ही अपने निष्कर्ष निकाले है और यह कार्य इन आँकड़ों की समालोचनात्मक जांच के बिना ही किया गया है, जबकि वैज्ञानिक होने के नाते हमें यह जाँच अवश्य करनी चाहिए थी।

जब हम मात्रा की बात पर आते है, तो हमारा ज्ञान अत्यन्त कमजोर सिद्ध होता है। ऐसा कोई भी गम्भीर अनुसन्धानकर्त्ता, जो प्रकाशित आँकड़ों को तैयार करने के तरीकों की जाँच करेगा, इनकी अत्यन्त अविश्वसनीयता को देखे बिना नही रह सकता। यह बात भारत जैसे देश के बारे में भी सही है, जहाँ, अत्यन्त छोटे बुद्धिवादी विशिष्ट वर्ग के मध्य, अत्यन्त स्वतन्त्र रूप से और अत्यन्त ऊँचे तथा परिष्कृत स्तर पर विचार-विमर्श होता रहा है। ये आँकड़े विश्वास-योग्य नही है।

आँकड़ों सम्बन्धी अपूर्णता का एक कारण यह है कि प्रेक्षण और आँकड़ो को एकत्र करने का कार्य उन श्रेणियों के आधार पर किया जाता है, जो कम-विकसित देशों के यथार्थ के अनुरूप नही हैं। इसके परिणामस्वरूप जो आँकड़े एकत्र होते है, वे अत्यन्त भ्रामक होते है अथवा निरर्थक। दूसरा कारण प्रश्नो की परिभाषा मे प्रदर्शित अत्यन्त असावधानी है और वास्तविक बुनियादी प्रेक्षणों को पूरा करने में भी यही असावधानी दिखायी गयी है।

कम-विकसित देशों में प्राथमिक आवश्यकता बहुत बडी संख्या में अत्यन्त सूक्ष्म किस्म के सांख्यिकी सिद्धान्तकारों की नही है, क्योकि यह कार्य तुरन्त एकत्र किये जानेवाले आँकड़ों की सीमा के बाहर दिखायी पड़ता है। आवश्यकता ऐसे अच्छी तरह प्रशिक्षित लोगों की है, जिन्हें कम-विकसित देशों की परिस्थितियों का ठोस ज्ञान हो और जो इन देशों के सामाजिक यथार्थ के अनुरूप तत्त्वो के बारे में प्रश्न निर्धारित करने की विवेचनात्मक क्षमता रखते हों। उन लोगों को यह जानना चाहिए कि किस प्रकार वे अपने प्रेक्षणो को प्रभावशाली ढंग से निर्देशित और संगठित कर सकते हैं और इसके साथ ही उन्हे आँकड़ों की जाँच करने के तरीकों और कुछ अन्य साधारण सांख्यिकी सम्बन्धी तरीकों का प्राथमिक ज्ञान होना चाहिए।

कम-विकसित देशों में ऐसे पेशेवर प्रशिक्षित कर्मचारियों को तैयार करने में सहायता देना एक ऐसा कार्य है, जिसे विकसित देशों को तकनीकी सहायता के अन्तर्गत उच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। यह बात स्वाभाविक होगी यदि संयुक्त राष्ट्रसमूह के अन्तरसरकार-संगठनो की सांख्यिकी सेवाओं को यह विश्वव्यापी तकनीकी सहायता देने का कार्य प्रमुख रूप से सौंपा जाये। इन संगठनों को यह निर्देश दिया जाना चाहिए कि ये—सम्बन्धित सरकारो के अनुरोध पर—आँकड़ो को एकत्र करने के कार्य के गठन, शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए विशेषज्ञो को इन देशों मे भेजेंगे। और उन्हें इन कार्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक धनराशि भी दी जानी चाहिए।

पर यह कार्य करने और इन नयी माँगों को पूरा करने का प्रयास करने से

पहले, इन्हें स्वयं अपने घर की सफाई करना जरूरी होगा। इन लोगों को यह अनुभव कराना होगा कि कम-विकसित देशों के बारे में फिलहाल इन संगठनों ने स्वयं जो आँकड़े तैयार किये हैं, वे अक्सर पुराने, अनुपयोगी और दोषपूर्ण हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह संगठन उस समय तक अर्थ-शास्त्र के अपेक्षित मानकों के अनुरूप कार्य करने का नाटक नही रच सकते, जब तक वे सरकारों से प्राप्त आँकड़ों को बिना किसी विवेचन के स्वीकार करते रहेंगे और इन्हें जैसे-का-तैसा प्रस्तुत करते रहेगे। कम-विकसित देशों में आँकड़ों में सुधार करने का प्रयास करने के क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करने का प्रयास करने की पहली शर्त यह है कि वे उन आँकड़ों की आलोचना शुरू करें जो उन्हें दिये जाते हैं। और इन संगठनों को उस आपसी भाईचारे को भी त्याग देना चाहिए, जो इन्हें एक-दूसरे के प्रकट रूप से दोषपूर्ण आँकडो को जैसे-का-तैसा प्रस्तुत करने की प्रेरणा देता है और इससे भी अधिक अक्सर यह होता है कि वे स्वयं अपने संगठनों के महत्त्वपूर्ण विभागों को अपने विश्लेषणों मे इन्ही आँकड़ो का उपयोग करने देते है (देखिए, अध्याय-10)।

मुझे इस बात मे सन्देह नहीं है कि इन संगठनों की सांख्यिकी सेवाओं में इस बात का अधिकाधिक अहसास कि 'विज्ञान आलोचना ही है' और विशेष रूप से आँकड़ों में सुधार करने के वास्तविक प्रयासों के परिणामस्वरूप वे सांख्यिकी के कार्य में उच्च योग्यताप्राप्त व्यक्तियो को अपने यहाँ भर्ती कर सकेंगे। इसके परिणामस्वरूप कम-विकसित देशों में आँकडों में सुधार का कार्य गतिशील होगा, जिसके लिए मैं निरन्तर अनुरोध कर रहा हूँ।

मैं यह कह चुका हूँ कि हम अर्थशास्त्री विवेकसम्मत नीति सम्बन्धी विकल्पों और वास्तविक विकल्पों के बीच की प्रमुख सम्पर्क-कड़ी हैं। और हमारे ऊपर विश्लेपणकर्त्ताओं तथा नीतिनिर्धारण के क्षेत्र के परामर्शदाताओं के रूप में प्रमुख जिम्मेदारी आती है।

लेकिन हम लोग बौद्धिक शून्य में कार्य नही कर रहे हैं। हम लोग विकसित और कम-विकसित देशों के अपने विचारों को व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले लोगों का एक हिस्सा-भर हैं। ये लोग ही उस बौद्धिक पर्यावरण का निर्माण करते है, जिसमे हम रहते और कार्य करते हैं। ये लोग भी, हमारी तरह ही, कार्यकारण की शब्दावली मे, लक्ष्यों और साधनों की शब्दावली में तर्क करते हैं। विज्ञान अत्यन्त उच्च तार्किकता पर आधारित सामान्य सूझबूझ के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है।

ये लोग, जो निश्चय ही हमारे विचारक्रम का अनुसरण करते हैं, कम-विकसित देशों के शासक वर्ग के लोग हैं और इनमें इनके पीछे चलने वाले लोग भी शामिल हैं। और यह समूह उन समस्त विचारशील लोगों का समूह है, जो शासन से सम्बन्धित है, चाहे इनका वर्तमान प्रभाव कुछ भी क्यों न हो। विकसित देशों में ये लोग मतदान करते हैं, कानून बनाते और शासन करते हैं। जनमत को स्वरूप और अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, और यह जनमत अपने विचारों को

व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले लोगों के भावों और विचारों से ही निर्मित है।

जो अर्थशास्त्री नीति सम्बन्धी विकल्पों को प्रभावित करना चाहता है, उसे अन्ततः जनसामान्य को अपने विचारों से आश्वस्त करना होगा, अर्थशास्त्र के अपने सहयोगियों भर को नहीं। यही कारण है कि मैंने इस पुस्तक को यथासम्भव सरल शब्दावली में लिखा है। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि सरलता के लिए मुझे तार्किक कठोरता का बलिदान नहीं करना पड़ा।

मैं इस बात के प्रति भी सजग हूँ कि अर्थशास्त्र में जो पूर्वाग्रह हैं, उनके विरुद्ध संघर्ष उस स्थिति में अधिक सफल हो सकेगा यदि बुद्धिमान लोगों के मध्य, चाहे वे अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हों अथवा नहीं, हमारे सोचने के तरीकों पर विचार करने तथा उनकी आलोचना करने में तेजी से सफलता प्राप्त होगी। जो सामाजिक शक्तियां आर्थिक अनुसन्धान को प्रभावित करती हैं और इन्हें पूर्वाग्रह के गर्त में धकेल देती हैं, वे उस स्थिति में पर्याप्त रूप से कमजोर हो जायेंगी।

# लेटिन अमरीका की विस्फोटक स्थिति

एशियन ड्रामा पूरे संसार के कम-विकसित देशों की विकास की समस्याओं पर लिखी गयी पुस्तक नहीं थी। जैसाकि मैंने बार-बार दोहराना अपना कर्तव्य समझा, इसका सम्बन्ध दक्षिण एशिया से रहा, क्योंकि कम-विकसित ससार का यही एकमात्र ऐसा भाग था जिसका मैंने बड़ी गहराई से अध्ययन किया।

लेकिन जब प्रस्तुत पुस्तक के उद्देश्य से मुझे अन्य क्षेत्रों की परिस्थितियो की ओर ध्यान देना पडा, तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि समस्त प्रकट अन्तरों के बावजूद, जिनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी अन्तर भी महत्त्वपूर्ण था, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत समान थी और इनके परिणामस्वरूप नीति सम्बन्धी समस्याएँ भी समान रूप से उत्पन्न हुई थीं।

अधिकांश कम-विकसित देशों में अत्यन्त सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का समान स्वरूप दिखायी पडता है और यह लगता है कि प्रायः सर्वत्र असमानताएँ बढ रही हैं। इन अधिकाश देशो का शासन, चाहे इनकी सरकार का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, छोट-छोटे यद्यपि बदलते रहनेवाले समूहों के हाथ में है। प्रायः बिना किसी अपवाद के ये सब नरम राज्य हैं, भ्रष्टाचार व्याप्त है और सामान्यतया इसमे वृद्धि हो रही है।

भूमि-सुधार को प्रायः नियमित रूप से नाकाम बना दिया जाता है। उन स्थानों पर भी, जहां इसकी घोषणा नीति के एक बड़े लक्ष्य के रूप में की जाती है। समस्त कम-विकसित देशों के समक्ष आबादी की एक-सी ही समस्या है। इन सब देशों को जन्म-दर-नियन्त्रण की नीति की ओर बढते हुए देखा जा सकता है, यद्यपि ये देश इस कार्य को एक निश्चित सरकारी कार्यक्रम का रूप देने की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थितियों में हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी, समस्याएँ आश्चर्यजनक सीमा तक समान दिखायी पड़ती हैं। गैर-कम्युनिस्ट संसार में प्रौढ़ शिक्षा की बड़े अविवेकपूर्ण तरीके से उपेक्षा की गयी है। शिक्षा के प्रसार अर्थात् मात्रा पर बहुत अधिक जोर दिया गया है अर्थात् कितने अधिक बच्चे और युवक स्कूलो मे पढ़ते हैं, इस बात पर अधिक जोर दिया गया है और शिक्षा के स्तर और प्रकार की उपेक्षा कर दी गयी है। प्रायः सर्वत्र बीच मे ही पढ़ाई छोड़ देनेवाले और परीक्षाओं मे असफल होनेवाले विद्यार्थी प्राथमिक शिक्षा की प्रभावशालिता को गम्भीर रूप से क्षति पहुँचा रहे हैं। सामान्य रूप से जिन कार्यक्रमों को विज्ञापित किया जाता है, उसके विपरीत, माध्यमिक और कालेज शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के ऊपर तरजीह दी जाती है, यद्यपि माध्यमिक स्कूलों और कालेज की शिक्षा कही

अधिक व्ययसाध्य है। सब स्तरों के स्कूल आवश्यकता से अधिक 'शास्त्रीय' और 'सामान्य' है, और इनकी शिक्षा व्यावहारिक, विभिन्न व्यवसायों अथवा पेशों की आवश्यकताओं के अनुरूप नही है।

इन मूलभूत समानताओं के समक्ष विभिन्न देशों के बीच और इससे भी अधिक विभिन्न क्षेत्रों के बीच असमानताएँ मौजूद हैं। ये समानताएँ विशेषकर राजनीतिक विकास से सम्बन्धित हैं।

लेटिन अमरीका में राजनीतिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। यह क्षेत्र 20 से अधिक भिन्न देशों में विभाजित है, इनमें से कुछ देश बहुत छोटे है, तो कुछ काफी बड़े। पूरे लेटिन अमरीकी क्षेत्र की आबादी भारत की आबादी की आधी है। लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में इसका महत्व अधिक है।

एक बात तो यह है कि लेटिन अमरीका में राजनीतिक विकास एक ऐसे चरण में प्रवेश कर गया है, जहाँ विचारों और कार्यों दोनों के स्तर पर उग्र मुठभेड़ होती है। इससे उस राजनीतिक स्थिरता की अपेक्षा नही की जा सकती, जो राजनीतिक स्थिरता गरीबी से ग्रस्त भारत, कम-से-कम अब तक, दर्शाने मे सफल हुआ है।

इसके अलावा लेटिन अमरीका के देश भौगोलिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका के समीप है। एक शताब्दी से अधिक समय से संयुक्त राज्य अमरीका इन देशों से अत्यधिक विशेष सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा करता रहा है और उसे ये सम्बन्ध स्थापित करने मे सफलता भी मिली है। लेटिन अमरीका की अधिकांश राजनीतिक गतिशीलता, इन्ही सम्बन्धों के आधार पर निर्धारित हुई है।

इन देशों में आर्थिक परिस्थितियों और जातीय गठन की दृष्टि से बहुत बड़े अन्तर हैं। इन देशों के निर्धनतम लोगों के रहन-सहन का आर्थिक स्तर सामान्यतया भारत के प्रायः किसी भी राज्य से ऊँचा है, सम्भवतः पंजाब इसका अपवाद हो सकता है। लेकिन लेटिन अमरीका के अधिकांश देशों की गाँवों और शहरों की गन्दी बस्तियों की गरीबी भयावह है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि असमानताएँ भारत की तुलना मे यहाँ कही अधिक है। अनेक नगरों के कुछ हिस्से समृद्धि और आधुनिकता का विशिष्ट उदाहरण दिखायी पड़ते है। और यहाँ पूरी तरह से जमे-जमाये उच्च-उच्च वर्ग के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन और संघर्षशील 'मध्यम वर्ग' के पर्याप्त आरामदेह जीवन के दर्शन होते हैं—इन दोनो समूहो का जीवन गन्दी बस्तियो के उन निवासियों के जीवन से अत्यन्त भिन्न है, जो इनके चारों ओर रहते हैं और जिनकी संख्या निरन्तर बढ रही है। इस बात मे सन्देह है कि लेटिन अमरीका के अधिकांश देशों मे गरीबों के तिहाई, अथवा पूरे देश के आधे हिस्से की स्थिति में हाल के दशको मे कोई खास सुधार हुआ है अथवा किसी भी रूप मे इनके रहन-सहन मे बेहतरी आयी है—या इनके 'जीवन के प्रकार और स्तर में' सुधार हुआ है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसका प्रयोग रॉकफेलर रिपोर्ट[1] में किया गया है।

लेटिन अमरीका के यदि सब नहीं तो अधिकांश देशों में, विशेषकर कुछ बड़े देशों में, भारत की तुलना में अधिक आधुनिक उद्योग हैं, जो उपभोक्ता माल बनाते हैं। लेकिन ये उद्योग और इनकी अर्थव्यवस्थाओं का समस्त आधुनिक क्षेत्र इससे भी कहीं अधिक अलग-थलग पड़ा है।

मुख्यतया उपभोक्ता माल और सेवाओं का उत्पादन और विक्रय उक्त क्षेत्र के भीतर होता है, यह इसके विकास की माँग और इसके भीतर रहनेवाले लोगों की आवश्यकताओं को ही पूरा करता है और क्षेत्र के बाहर इसका कोई खास विकासात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इससे भी अधिक कमी इस बात की है कि उद्योगीकरण को शेष अर्थव्यवस्था के लाभ की दृष्टि से संचालित करने के लिए कोई तर्कसम्मत आयोजन नहीं किया गया है। अतः यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि लेटिन अमरीका के सम्बन्ध में विशेषज्ञता प्राप्त अमरीकी अर्थशास्त्री 'असन्तुलित विकास' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे।[3]

श्रम-शक्ति के अल्प-उपयोग और शहरों तथा गाँवों की गन्दी बस्तियों में गरीबी में वृद्धि की जिन भयावह सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का विवरण अध्याय-13 में प्रस्तुत किया गया है, वे प्रवृत्तियाँ लेटिन अमरीका में अधिक तेजी से आगे बढ़ रही हैं।

आबादी में वृद्धि अधिक तेजी से हो रही है, और कुछ निरर्थक और अधिकांशतया निजी प्रयासों के अलावा जन-सामान्य में अत्यधिक तेजी से बढ़ती हुई जन्म-दर के नियन्त्रण के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया जा रहा है। इसके साथ ही बड़े-बड़े खेतों में मजदूरों के स्थान पर मशीनों का इस्तेमाल और अधिक बढ़ा है। भूमि-सुधार को प्रभावशाली तरीके से लागू नहीं किया जा रहा है (अध्याय-4, अनुभाग-2)।

शहरीकरण और अधिक हुआ है और इसकी गति फिलहाल तेज हो रही है। लेटिन अमरीका के अनेक देशों में अब आधे से काफी कम आबादी खेती में लगी है। और इसके बावजूद गाँवों की आबादी अभी भी बढ़ रही है, यद्यपि यह वृद्धि भारत से कहीं अधिक कम तेजी से हो रही है।

लेटिन अमरीका के अधिकांश आर्थिक जीवन पर विदेशी, अधिकांशतया अमरीकी व्यापारियों का प्रभाव है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, संयुक्त कम्पनियों अथवा अन्य व्यवस्थाओं के द्वारा, संयुक्त राज्य अमरीका के बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों का लेटिन अमरीका के 70 से लेकर 90 प्रतिशत तक कच्चे माल के साधनों पर नियन्त्रण है अथवा निर्णायक प्रभाव है। और सम्भवतः इसके आधे से अधिक आधुनिक उत्पादक उद्योगों, बैंकों, वाणिज्य और विदेश-व्यापार तथा इसकी सार्वजनिक सुविधाओं पर भी इनका नियन्त्रण है। यह अनुमान मोटे तौर पर दिये गये हैं, पर ये सम्भवतः सच्चाई से अधिक दूर नहीं हैं।

यह बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है कि लेटिन अमरीका की अर्थव्यवस्था में जो भी गतिशीलता है—अथवा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तनों के बिना हो सकती है—वह मुख्यतया उद्योगीकरण और

खनिज साधनों के उपयोग के परिणामस्वरूप हुई है और इस कारण से इस पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विदेशियों का नियन्त्रण कायम हो जाता है, अधिकांशतया संयुक्त राज्य अमरीका का। इतना ही नहीं, पुराने किस्म के बागानों का संचालन भी, जिनका उत्पादन निर्यात के लिए होता है, विदेशियों के मुनाफे के लिए ही हो रहा है। यूनाइटड फ्रूट कम्पनी का ही विदेशी आय के आधे से अधिक भाग पर नियन्त्रण है और इस प्रकार लेटिन अमरीका के छह देशों के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर भी इसका नियन्त्रण कायम हो जाता है।

कृषि उपज और खनिजों के रूप में उत्पादित प्राथमिक पदार्थों का लेटिन अमरीका के निर्यात में 90 प्रतिशत हिस्सा है। लेटिन अमरीका के उन देशों मे जहाँ पूरक अर्थव्यवस्था नही है, वहाँ इन वस्तुओं की खपत निश्चय ही बहुत कम होगी।

इसके अलावा आधुनिक उपभोक्ता उद्योग का विकास संरक्षण के आधार पर हुआ है और इसमे केवल वही सामान बनता है, जिसकी खपत सम्बन्धित देश में होती है। आज भी इस क्षेत्र के विभिन्न देशों के बीच व्यापार नगण्य है।

आधुनिक उपभोक्ता उद्योग ही केवल ऐसा क्षेत्र है जिसका स्वतन्त्र व्यापार संघ अथवा साझा बाजार बनाने में प्रबल हित है, जिसके परिणामस्वरूप एक बड़े सुरक्षित बाजार में इसके माल की बिक्री की सुविधा प्राप्त हो सके। अब क्योंकि इस क्षेत्र पर विदेशी हितों का प्रभुत्व है, स्वयं लेटिन अमरीकियों के मध्य आर्थिक एकीकरण के प्रति अधिक उत्साह नही रहा। केवल उन लेटिन अमरीकियों को छोडकर, जो विदेशी हितों से सम्बन्धित रहे। वर्तमान राष्ट्रवादी युग में एकीकरण का आन्दोलन अधिक आगे क्यो नही बढ़ सका, इसके स्पष्टीकरण का यह एक अंश है।

लेटिन अमरीका के किसी भी देश मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जिसे बहुमुखी अर्थव्यवस्था से मिलती-जुलती बात कहा जा सके। इनमे से अधिकाश देशों मे केवल एक वस्तु कुल निर्यात व्यापार का 40 प्रतिशत या इसके भी अधिक होती है।

लेटिन अमरीका के अधिकाश देश दामों में वृद्धि के विरुद्ध असफल संघर्ष कर रहे हैं। एक वर्ष में दामों में 20 से 30 प्रतिशत तक और यदाकदा इससे भी अधिक वृद्धि हो जाती है। इसके कारण समस्त आर्थिक गणनाएँ अत्यधिक कठिन हो जाती हैं, व्यापार में सट्टेबाजी की प्रवृत्ति को बढावा मिलता है और इसका कम आयवाले वर्ग पर बुरा असर पड़ता है।

लेटिन अमरीका मे आरम्भ में बड़े पैमाने पर अमरीकियों ने जो कम्पनियाँ शुरू की थी और जो निर्यात के लिए कृषि और खनिजों का उत्पादन करती थी और जिनमे तेल भी शामिल था, उन्होंने अत्यधिक अनुचित व्यापार के तरीको की स्मृति यहाँ छोड़ी हैं। इन कम्पनियों ने लेटिन अमरीका के इन देशों में भूमि और अन्य रियायतें प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो अनुचित लाभ उठाये, उनकी कटु स्मृति आज भी बनी हुई है।

इस बात का निरन्तर कायम रहनेवाला महत्त्व है, क्योंकि इस प्रकार

प्राप्त सम्पत्ति का अधिकार विदेशियों और मुख्यतया अमरीकियों के हाथ में ही रह जाता है। इन अधिकारों और रियायतों को पहले चुनौती दी गयी है, आजकल भी दी जा रही है, और इस बात की पूरी सम्भावना है कि भविष्य में इससे भी अधिक दी जायेगी।

लेटिन अमरीका में व्यापार करनेवाले एक अमरीकी व्यापारी ने अमरीका के समाचारपत्र 'यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट' के प्रतिनिधि को बताया :

*"इस समस्या का एक हिस्सा यह है''' कि विदेशी कम्पनियों को यह कहा जा रहा है कि वे उस बात का स्पष्टीकरण दें, जिसे लेटिन अमरीका के लोग यदाकदा अमरीका के व्यापार का 'भयंकर लूटमारवाला इतिहास' कहते हैं।"*[3]

इस बात में सन्देह नहीं है कि इस इतिहास ने एक ऐसी परम्परा का निर्माण किया, जो आज भी लेटिन अमरीका में संचालित कुछ अमरीकी व्यापार प्रतिष्ठानों की व्यापार सम्बन्धी नीतियों को सत्तारूढ़ लोगों से ऐसी साँठगाँठ करने के लिए प्रेरित करती है, जो किसी भी परख के समक्ष टिक नहीं सकती।

इस हानिप्रद विरासत का आंशिक स्पष्टीकरण यह है कि लेटिन अमरीका के देश बहुत अधिक समय पहले स्वतन्त्र हुए, पर स्वतन्त्रताप्राप्ति के पहले इनके ऊपर स्पेन और पुर्तगाल का एक ऐसे दौर में शासन था, जब ये दो कैथोलिक राष्ट्र पिछड़ते जा रहे थे और यूरोप में उदारतावाद तथा सशक्त और भ्रष्टाचार से मुक्त राज्य की स्थापना की दिशा में व्यापक विकास हो रहा था। लेटिन अमरीका के इन देशों को, भारत की तरह, ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील तत्त्वों का लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

उपनिवेशवाद के सकारात्मक योगदान को देखने के लिए यह आवश्यक नहीं [illegible] कर दी जाये, जैसाकि भारत में ब्रिटिश [illegible] अध्याय में मैं भारत की तुलना लेटिन [illegible] से करूंगा, क्योंकि भारत कम-विकसित संसार का ही एक हिस्सा है।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद भारत को सार्वभौम मताधिकार और व्यापक नागरिक अधिकारों के आधार पर संसदीय सरकार बनाने में सफलता मिली और कठिनाइयों के बावजूद वह लेटिन अमरीका के प्रायः अधिकांश देशों की तुलना में इन राजनीतिक संस्थाओं को कहीं अधिक दृढ़ता से कायम रख सका। आंशिक रूप से इसका कारण वे बातें हैं जो भारतीयों ने अपने अंग्रेज शासकों से सीखीं। और भारत छोड़ने से पहले जिन्हें अंग्रेजों ने अमल में लाना भी शुरू कर दिया था। *इस बात को प्रत्येक विचारशील भारतीय बुद्धिवादी तत्परता से* स्वीकार करेगा चाहे वह ब्रिटिश शासन का कैसा भी आलोचक क्यों न हो।

इतना ही नहीं, प्रायः आरम्भ से और विशेषकर उन्नीसवीं और 20वीं शताब्दियों की अवधि में ब्रिटेन की उपनिवेशी सरकार और भारतीय सिविल सर्विस, जो निश्चय ही ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की उपेक्षा नहीं करती थीं, यह अनुभव करने लगी कि स्वयं ब्रिटेन के और अन्य देशों के व्यापारियों के अत्यन्त आपत्तिजनक व्यापारिक तरीकों को रोका जाये।

लेटिन अमरीका के देशों को उपनिवेशी शासन का यह अच्छा प्रभाव प्राप्त नहीं हुआ। अपना प्रभाव निरन्तर बढ़ानेवाले अमरीकी व्यापारी प्रतिष्ठानों

और संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार का प्रभाव लेटिन अमरीका की संस्थाओं में व्याप्त इस कमजोरी को समाप्त करने में सहायक नहीं बन सका, क्योंकि स्वयं संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन और उत्तर-पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना मे व्यापारिक प्रतिष्ठानों और सरकारी अधिकारियों के बीच व्याप्त भ्रष्टाचार और धांधली से कम मुक्त था और आज भी है (देखिए, अध्याय-7)।

लेटिन अमरीका मे 'मध्यम वर्ग' की वृद्धि को 'स्थायित्व' की शक्ति के एक विकल्प के रूप में देखा जा रहा है। यह स्थायित्व इस शब्द के अमरीकी अर्थों में है (व्याख्या के लिए आगे देखिए), जिसमें सतर्कतापूर्ण और धीरे-धीरे संचालित आन्तरिक सुधार की गतिविधि भी सम्भवतः शामिल है, अथवा इसे राष्ट्रवादी विद्रोह की एक शक्ति के रूप में भी देखा जा सकता है। सम्भवतः सच्चाई यह है कि यह इनमे से कुछ भी नही है—अथवा यह कहा जा सकता है कि विभिन्न परिस्थितियों में इसके कुछ हिस्से इनमें से कोई रूप धारण करते हैं।

अधिकांश अन्य कम-विकसित क्षेत्रों की तरह लेटिन अमरीका में भी 'मध्यम वर्ग' आवश्यकता से अधिक विभिन्नता से भरा है और विभाजित है। कही भी यह दिखायी नही पडता कि यह वर्ग सामुदायिक हितों का अनुभव करनेवाले, समान विचारोंवाले संगठित और आत्मचेतना से युक्त लोगों का समूह हो।

'मध्यम वर्ग' के लोग आश्चर्यजनक सीमा तक व्यक्तिवादी हैं। समग्र दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में भी अधिक व्यक्तिवादी हैं। इन लोगों का स्वाभाविक रुझान एक साथ मिलकर अपने सामान्य हितों की रक्षा करना नही है।

'मध्यम वर्ग' का अधिकांश भाग, विशेषकर पुरानी पीढ़ी के लोग, व्यक्तिगत रूप से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से आगे बढने के काम में पूरी तरह से जुटे हुए हैं। ये लोग जमीदारो और देशी उद्योगपतियों अथवा बड़े व्यापारियो के उच्च-उच्च वर्ग से ईर्ष्या करते है, यद्यपि इन्हें इस उच्च-उच्च वर्ग की सेवा करनी पड़ती है, ताकि अवसर इनके हाथ से न निकल जाये और अक्सर ये लोग बड़ी वफादारी की भावना से यह सेवा करते हैं।

अक्सर इन्हें यह देखने को मिलता है कि अमरीकी कम्पनियाँ अथवा अधिकाश अमरीकी पूँजीवाली कम्पनियाँ इन लोगों को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से आगे बढने की इनकी महत्त्वाकाक्षा पूरी करने में सहायता देती हैं और अवसर प्रदान करती हैं। इस कथन का यह अभिप्राय नही है कि इन कम्पनियों में काम करनेवाले लेटिन अमरीकी आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद से सहमत नही हैं अथवा इसमें हाथ नही बँटाते। लोगो का मस्तिष्क यदाकदा ही तर्कसम्मत तरीके से काम करता है।

कम उम्र में 'मध्यम वर्ग' के सदस्य विद्रोहपूर्ण विचारो का अनुसरण करते हैं और यह बात विश्वविद्यालयों में निरन्तर बढ़ते असन्तोष से प्रकट होती है। ये युवा जीविका कमाने और व्यक्तिगत रूप से आगे बढने के संघर्ष मे फँसने से पहले इन विचारों का अनुसरण करते हैं। स्वयं इन आन्दोलनों पर इन लोगों के

व्यक्तिवाद का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि लेटिन अमरीका में कही भी 'मध्यम वर्ग' के लोगो ने शहरी अथवा देहाती गन्दी बस्तियों मे जाकर जन-समुदाय को अपने हितो को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक गतिविधि में शामिल होने के लिए प्रेरित और संगठित करने की इच्छा अथवा योग्यता प्रदर्शित नही की। जो लोग शहरी अथवा देहाती गुरिल्ला टोलियों में शामिल होते हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

आधुनिक उत्पादक उद्योग में काम करनेवाले श्रमिकों की एक छोटी-सी संख्या, जो श्रम सघन नही है, अन्य कम-विकसित देशों की तरह 'मध्यम वर्ग' से सम्बद्ध रहती है और इनकी आय शहरी गन्दी बस्तियो में रहनेवाले गरीब जन-समुदाय से पर्याप्त ऊँची होती है। लेटिन अमरीका के अनेक देशों में इन लोगों ने शहरीकरण की प्रायः सब व्यावहारिक सम्भावनाओ का लाभ उठाया है। इन लोगो को अपने हितो के लिए लड़ने के लिए तैयार किया जा सकता है। लेकिन ये देहाती और शहरी गन्दी बस्तियों के वास्तविक निर्धन लोगों के हितों से एक-जुटता का प्रायः कभी अनुभव नही करते।

यही बात खनिज निकालनेवाले विशाल उद्योग के श्रमिकों के बारे मे भी कही जा सकती है, अन्तर केवल इतना है कि ये श्रमिक कृषि बागानों के श्रमिकों की तरह, अक्सर एक वास्तविक सर्वहारा वर्ग के रूप में, 'मध्यम वर्ग' के स्तर से बहुत नीचे रहते हैं।

यदि लेटिन अमरीका में 'मध्यम वर्ग' के लोगों को बड़ी संख्या मे विद्रोह करने अथवा यहाँ तक कि क्रान्तिकारी तरीके से सोचने तक के लिए तैयार किया जा सके, तो यह कार्य केवल आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद के प्रसार और उग्रता के परिणाम-स्वरूप ही होगा। लेटिन अमरीका में आक्रोशपूर्ण राष्ट्रवाद का अर्थ संयुक्त राज्य अमरीका का विरोध मात्र होता है।

इस प्रकार के राष्ट्रवाद से उच्च-उच्च वर्ग भी पूरी तरह से सुरक्षित नही हैं। कुछ लोगो का यह समझना उचित ही दिखायी पड़ता है कि अमरीकी प्रतियोगिता उनके हितों के विपरीत है, यद्यपि ये लोग विशाल अमरीकी व्यापारिक प्रतिष्ठानों से सहयोग करने की कोशिश करते हैं और इससे उन्हें लाभ भी होता है। सामान्य रूप से ये लोग राजनीतिक 'स्थिरता' मे अमरीकी दिलचस्पी से भी सहमत होते हैं और इस स्थिरता की उनकी व्याख्या अमरीकियों जैसी ही होती है। इसके बावजूद, उच्च-उच्च वर्ग के विशाल हिस्सों मे अमरीका-विरोध की भावना व्याप्त है।

निरन्तर बढते अमरीका-विरोध पर विचार करने से पहले, यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि लेटिन अमरीका के देशों में अक्सर जो 'क्रान्तियाँ' होती है, और हाल के वर्षों में जो नियमित रूप से सैनिक गुटों द्वारा सरकार का तख्ता उलटने और सत्ता पर अधिकार करने की कार्रवाइयाँ रही, और अब निरन्तर बढ़ती हुई हिंसा की प्रवृत्ति, उससे हमें इस धोखे में नहीं पड़ जाना चाहिए

कि जन-समुदाय अधिक सक्रिय हो गया है अथवा सक्रिय हो रहा है। पश्चिम यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका के, उग्र क्रान्तियों के प्रति रूमानी उत्साह रखनेवाले, वामपन्थी बुद्धिवादियों में बहुत-से लोग इस भ्रान्ति से ग्रस्त हैं।

शुरू में ही यह कहा जा सकता है कि जन-सामान्य का राजनीतिक गतिविधि मे हिस्सा लेना आश्चर्यजनक सीमा तक कम है। यद्यपि कुछ सीमा तक राजनीतिक लोकतन्त्र कायम हो चुका है और चुनावों का आयोजन किया जाता है। यह बात मानकर चला जा सकता है कि जो लोग मतदान मे हिस्सा नहीं लेते, उनमें अधिकांश निर्धन वर्ग के लोग होते हैं।

अक्सर मतदाता-सूची मे नाम लिखाने के लिए साक्षर होना जरूरी होता है। इसके अलावा शहरों की गन्दी बस्तियों में रहनेवाले लोगों का कोई पता भी नही होता। मतदाता-सूची में नाम दर्ज कराने का तरीका बडा जटिल है। लेकिन यह स्पष्ट है कि अधिकाश गरीब लोग वोट डालने की चिन्ता नही करते। जब कभी वे मतदान करते हैं तो उन पार्टियो के उम्मीदवारों के लिए जिनके ऊपर कुछ लोगों का आधिपत्य है और जो भ्रष्ट हैं और जिन्हें गरीबो के हितो की कोई चिन्ता नही है।

गाँवों में अक्सर वे जमीदारों के हुक्म के अनुसार वोट डालते हैं, क्योंकि वे उन जमीदारों पर निर्भर रहते हैं। ये जमींदार लोग मतदाताओं को डराने-धमकाने और पूरी तरह से अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिए भारत की तुलना मे कही अधिक नृशंस तरीके अपनाते हैं। पर इन कार्यों के विरुद्ध शायद ही कभी कोई विरोध-आन्दोलन छेडा जाता हो।

अपवाद अवश्य हैं। लेकिन सामान्यतया चुनावों के समय निम्न वर्गो के लोगो का आचरण इस मान्यता को गलत प्रमाणित नही करता कि जन-समुदाय अपने राजनीतिक हितो और गतिविधि के प्रति सजग नही हुआ। वैसे लेटिन अमरीका मे स्वयं चुनाव भी दुर्लभ होते हैं।

अनेक गुरिल्ला आन्दोलनो का जन-समुदाय में व्यापक रूप से फैलने में असफल रहना—आजकल कोलम्बिया, बोलीविया, ग्वाटेमाला और वेनेजुएला में विशष रूप से और यदाकदा अर्जेनटीना, ब्राजील, पेरू और इक्वाडोर मे ये गुरिल्ला आन्दोलन हो रहे हैं—केवल यह कहकर स्पष्ट नही किया जा सकता कि अमरीका द्वारा समर्थित और अक्सर अमरीकी अफसरों के नेतृत्व में संचालित सेनाएँ और पुलिस संगठन बड़े प्रभावशाली हैं, जैसाकि विएतनाम का अनुभव स्पष्ट कर देता है।

यह बात सच है कि मजदूरों और अत्यन्त छोटे-छोटे किसानों ने बेहतर परिस्थितियों को प्राप्त करने के लिए अपने संघ बनाने का छिटपुट प्रयास किया है। मजदूर सघ गठित करने में बुनियादी कठिनाई श्रम के अल्प-उपयोग और श्रमिकों की बड़ी संख्या प्रस्तुत करती है। पर इसके बावजूद ऐसे प्रयास उत्तर-पूर्वी ब्राजील के अत्यन्त निर्धन जिले तक में हुए हैं।

अक्सर नेतृत्व पादरियों से प्राप्त होता है। कैथोलिक पादरियों की एक छोटी-सी संख्या, जिसमें वृद्धि हो रही है, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से आमूल परिवर्तन की माँग कर रही है और कभी-कभी तो ये क्रान्तिकारी भी हो उठते हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति लेटिन अमरीका और शेष संसार में भी

महत्त्वपूर्ण हो सकती है, क्योंकि रोम से भी घटनाक्रम के इसी दिशा में आगे बढने के संकेत मिल रहे है।

लेकिन मुख्य आभास नि.सन्देह यही मिलता है कि शहरी और देहाती गन्दी बस्तियों में रहनेवाले निर्धन वर्ग में जबर्दस्त निष्क्रियता है। इनमें से अधिकाश लोगों को उपयोगी साक्षरता का लाभ प्राप्त नही है, ये लोग पौष्टिक आहार से वंचित और शारीरिक दृष्टि से कमजोर हैं, और उन लोगों का लालन-पालन अत्यन्त पाशविक दमन के अधीन हुआ है और वे आज भी इन्ही परिस्थितियों मे रह रहे हैं। अतः उनकी इस उदासीनता और निष्क्रियता पर अधिक आश्चर्य नही किया जाना चाहिए।

भारत से भी कम सीमा तक लेटिन अमरीका में क्या इन अनुभवों का यही अनिवार्य अर्थ होता है कि किसी भी परिस्थिति में जन-समुदाय को विद्रोह के लिए प्रेरित नही किया जा सकता ? लोकतन्त्री तरीके से विद्रोह का सूत्रपात और संचालन करना सम्भव नही होगा, क्योकि इस प्रक्रिया को बलप्रयोग द्वारा रोक दिया जायेगा।

कई दशक तक डोमिनिकन रिपब्लिक पर राफेल त्रुजिलो का भयंकरतम किस्म का तानाशाही शासन रहा। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने बडी संजीदगी से अन्त तक इसका समर्थन किया। यह समर्थन उसी समय बन्द हुआ, जब यह स्वयं अमरीका के हितों के लिए खतरा बन गया। इसके बाद डोमिनिकन रिपब्लिक से आयात होनेवाली चीनी पर विशेष तटकर लगाया गया और सन् 1960 मे संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने त्रुजिलो शासन से अपने सम्बन्ध तोड़ लिये। इस समय तक अमरीकी सरकार गुप्त रूप से गतिविधि करनेवाले विपक्ष से सम्पर्क कायम कर चुकी थी। अगले वर्ष त्रुजिलो की हत्या कर दी गयी।

उस समय से संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार इस देश के मामले मे प्राय' हर सम्भव तरीके से उलझी रही। राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी के शासनकाल मे संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने जुआन बोश को समर्थन का प्रस्ताव किया, जो सन् 1962 में एक सुधार पार्टी के नेता के रूप में सत्तारूढ हुआ था। लेकिन उसे सात महीने के भीतर ही अपदस्थ कर दिया गया।

जब सन् 1965 की वसन्त ऋतु में सैनिक गुट की सरकार के विरुद्ध विरोध संगठित हो रहा था, तो इसे राष्ट्रपति लिंडन बी० जॉन्सन के आदेश पर अमरीकी सेना के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा कुचल डाला गया। जुआन बोश पेरिस मे बैठा हुआ एक पुस्तक लिख रहा है और उसने अपने अनुभवों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि लेटिन अमरीका की वर्तमान परिस्थितियों में आम चुनाव और विधिवत् संचालित लोकतन्त्र सुधार का रास्ता नही कहा जा सकता। वह इसके स्थान पर जनता द्वारा समर्थित तानाशाही शासन की सिफारिश करता है।[4]

इस प्रस्ताव तक का महत्त्वपूर्ण अंश और निष्कर्ष यह है कि सामान्य जन-समुदाय एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन के समर्थन के लिए उठ खडा होने में

अधिकाशतया आवश्यकता से अधिक निष्क्रियता दिखाता है, जो आन्दोलन स्वयं जन-सामान्य की मदद और भलाई करने की कोशिश कर रहा हो। कम-से-कम आरम्भ में तो यही होता है।

क्यूबा की क्रान्ति को जन-सामान्य के विद्रोह के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नही किया जा सकता। पर यह क्रान्ति यह बात सिद्ध कर सकती है कि एक सफल क्रान्ति के बाद, यदि इसे तुरन्त कुचल नही दिया जाता, सुधार लागू करनेवाली सरकार को व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हो सकता है, यदि जन-सामान्य से प्रभावशाली अपील की जाय और उनके हित के लिए नीतियाँ घोषित की जायँ और उन्हे लागू किया जाय।

स्पष्टतः इस प्रतिपादन में यह मानकर चलना होगा कि नयी सरकार का देश की प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों और/अथवा अमरीकी हस्तक्षेप द्वारा आरम्भ में ही तख्ता न उलट दिया जाय। क्रान्ति हो जाने के बाद जन-सामान्य का समर्थन प्राप्त करने की सम्भावना अधिक होगी, यदि जनता अपेक्षाकृत कम गरीब है।

क्यूबा लेटिन अमरीका के समृद्धतम देशों में था, यद्यपि हाल के दशको मे इसकी अर्थव्यवस्था का विकास धीमा हो गया था। अत्यधिक असमानताओं के बावजूद निम्न स्तर के लोगों को भी शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त होने लगी थीं। क्यूबा में लेटिन अमरीका के किसी भी अन्य देश से अधिक सशक्त और बेहतर संगठित मजदूर संघ आन्दोलन था।

जब फीडल कास्त्रो का आन्दोलन शुरू हुआ तो उन्हें 'मध्यम वर्ग' का पर्याप्त समर्थन प्राप्त नही था। यह अत्यधिक विभाजित था जैसाकि लेटिन अमरीका में अक्सर होता है। कास्त्रो को आरम्भ में संगठित मजदूरों का भी समर्थन प्राप्त नही था। मजदूरों ने उनकी आम हड़ताल की अपील पर कोई ध्यान नही दिया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने, जो लेटिन अमरीका के अन्य किसी भी देश की कम्युनिस्ट पार्टी से अधिक शक्तिशाली और बेहतर संगठित थी, केवल तभी अपना समर्थन देना शुरू किया जब कास्त्रो की विजय होने लगी थी।

आरम्भ मे उन्हें किसानों और खेत-मजदूरों अथवा शहरों की गन्दी बस्तियों के लोगों के असंगठित निम्न वर्गों से भी कोई संगठित समर्थन नही मिला चाहे उनके गुरिल्लाओ को उन देहाती इलाकों के गरीब लोगों ने भोजन दिया और यदाकदा छिपने की जगह दी, जिन इलाकों में ये गुरिल्ला सबसे पहले काम शुरू किया था। जन-सामान्य के परिणामस्वरूप कास्त्रो की क्रान्ति नहीं हुई थी। उनके गुरिल्लाओं की संख्या कभी भी दो सौ से अधिक नही हुई, जिनमे अधि-काशतया विद्यार्थी और बुद्धिवादी के तथा गिने-चुने श्रमिक थे। ये सब लोग अपने व्यक्तिगत आधार पर कास्त्रो से आ मिले थे उनके उद्देश्यों के व्यापक आकर्षण के कारण नही। इन लोगों की विचारधारा, और कास्त्रो की भी, अस्पष्ट थी लेकिन इसे सामान्यतया आमूल परिवर्तनवादी उदार विचारधारा की कोटि में रखा जा सकता था।

कास्त्रो बहुत बाद में 'समाजवादी खेमे' में शामिल हुए। इस समय तक

क्रान्ति सफल हो चुकी थी। कास्त्रो और संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियो के परिणामस्वरूप जो पारस्परिक प्रतिक्रिया हुई और इस स्थिति मे सोवियत संघ से जो समर्थन प्राप्त हुआ उसके सामूहिक प्रभावो के परिणामस्वरूप कास्त्रो 'समाजवादी खेमे' मे शामिल हुए थे। सोवियत समर्थन एक ऐसे समय प्राप्त हुआ था जब संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा क्यूबा की नाकेबन्दी के कारण इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। वास्तव मे बातिस्ता शासन की समाप्ति पर आरम्भ में अमरीका में बहुत सहानुभूति प्रकट की गयी थी।

इस विलम्ब के परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका क्यूबा की क्रान्ति को जन्म लेते ही समाप्त करने मे असफल रहा। एक आरम्भिक दौर मे यह बात असम्भव नही थी, क्योंकि गुवान्टानामो की खाडी मे अमरीका की सेना तैनात थी। आगे चलकर सी. आई. ए. द्वारा निर्देशित और भद्दे तरीके से तैयार बे आफ पिग्ज *(सूअरों की खाड़ी)* का आक्रमण असफल रहा क्योंकि इस समय तक कास्त्रो अपने शासन को मजबूत बना चुके थे।

क्यूबा की क्रान्ति आधुनिक इतिहास की एक सर्वाधिक विलक्षण घटना के रूप मे सदा स्मरण की जायेगी। मुझे इस बात में सन्देह है कि संयुक्त राज्य अमरीका अथवा अन्यत्र कही भी किसी भी व्यक्ति ने इसकी पूर्वकल्पना की हो अथवा इसकी पूर्वकल्पना की जा सकती हो। पर एक बुनियादी परिस्थिति निस्सन्देह यह थी कि संयुक्त राज्य अमरीका के आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व के परिणामस्वरूप व्यापक राष्ट्रवादी रोष उत्पन्न हुआ था और यह लोगो को एकता के सूत्र मे बाँधने की शक्ति बना था। इसके परिणामस्वरूप उच्च वर्ग द्वारा किया जाने वाला प्रतिरोध कमजोर पड़ गया था, शासन का मनोबल टूट गया था और अमरीका से मिलने वाला सम्भावित समर्थन भी कमजोर पड़ गया था। ये बहुत विशेष परिस्थितियाँ थीं और मुझे सन्देह है कि आज लेटिन अमरीका के किसी अन्य देश में एक ऐसी ही क्रान्ति का आसानी से अनुसरण किया जा सकता है। फीडेल कास्त्रो और उनके कुछ साथियों के असाधारण व्यक्तिगत गुणों ने भी सचमुच एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

ऊपर जो बातें कही गयी हैं उन्हें क्यूबा की क्रान्ति, कठिनाइयो अथवा आयोजित आर्थिक परिवर्तनो और दूरगामी सामाजिक सुधारो के सन्दर्भ मे इसकी उपलब्धियो का क्रम-विकास नही समझना चाहिए। इस सन्दर्भ मे मेरी दिलचस्पी केवल इस बात तक सीमित थी कि आरम्भ मे क्रान्ति किस प्रकार संयोगवश सफल हुई।

संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने क्यूबा की घटनाओं से अनेक निष्कर्ष काले। ये अंशत: परस्पर विरोधी थे।

राष्ट्रपति जॉन एफ कैनेडी और उनके उदारतावादी सलाहकारो के नेतृत्व मे क ओर तो यह अनुभव किया गया कि संयुक्त राज्य की सरकार को लेटिन रीका की सरकारों को उन सुधारों के लिए तैयार करने के लिए अपने प्रभाव इस्तेमाल करना चाहिए, जिनके द्वारा लेटिन अमरीका के देशो के अत्यधिक

असमान सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण को बदला जा सके। जैसाकि अध्याय-4 में कहा गया है, भूमि-सुधार और अधिक समान तथा प्रभावशाली कराधान पर जोर दिया गया, लेकिन शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारों को भी उच्च नीति सम्बन्धी प्राथमिकता दी गयी। ऐसे सामाजिक और आर्थिक सुधारों को अधिक सम्भव बनाने के लिए अमरीका की सहायता नीतियों में वांछित परिवर्तन करना था। इसके परिणामस्वरूप प्रगति के लिए सन्धि नामक कार्यक्रम का जन्म हुआ, जिस पर लेटिन अमरीका की सरकारों ने 1961 में पुन्ता देल एस्त के घोषणापत्र में अपनी सहमति दी।

प्रगति के लिए सन्धि के घोषणापत्र में जिन सिद्धान्तों को अंगीकार किया गया था, लेटिन अमरीका की अधिकांश सरकारों ने आधे मन से उनका पालन किया। यहाँ तक हुआ कि इन देशों के शासक गुटों के कुछ सदस्यों ने तो कैनेडी को 'कम्युनिस्टों से प्रेरित' तक बताया। भूमि-सुधारों को किस प्रकार प्रभावशाली ढंग से भीतर घात के द्वारा असफल बना दिया गया उस पर अध्याय-4, अनुभाग-3 में विचार किया गया है। अन्य क्षेत्रों में भी कोई खास प्रगति नहीं हुई।

लेटिन अमरीका में व्यापार कर रही अमरीकी कम्पनियों को भी इन नये उदारतावादी इरादों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, विशेषकर इस कारण से कि सुधारों की माँग के प्रति शासक समूहों का अच्छा रुख नहीं था और अमरीकी कम्पनियों को इन्हीं शासक समूहों से सहयोग करना पड़ता था। अंशत: इसके परिणामस्वरूप और इस स्थिति के प्रभाव के कारण, संयुक्त राज्य अमरीका की संसद सहायता के उन वचनों को पूरा नहीं कर सकी जो सन्धि के घोषणापत्र में निहित थे।

राष्ट्रपति जॉनसन के शासनकाल में उन सामाजिक और आर्थिक सुधारों का निरन्तर कम से कम उल्लेख हुआ जिन पर घोषणापत्र में जोर दिया गया था। प्रगति के लिए सन्धि को असफलता ही अधिक समझा जाने लगा। रॉकफेलर रिपोर्ट में घोषणापत्र के लक्ष्यों के अनुरूप जो अस्पष्ट प्रस्ताव किये गये उनमें स्पष्ट रूप से प्रगति के लिए सन्धि का उल्लेख नहीं हुआ। इसके अलावा ये प्रस्ताव ऐसे भी नहीं हैं कि इन्हें सक्रिय रूप से लागू करने की निकसन सरकार से आशा की जाय।

क्यूबा की घटना के परिणामस्वरूप जो गहरा भावनात्मक आघात पहुँचा था उसके आधार पर निकलने वाले अन्य निष्कर्ष उस उदारतावादी विचारधारा के अनुरूप नहीं थे जिसने अमरीकी सरकार को प्रगति के लिए सन्धि के लिए मूलत: प्रेरित किया था। इसके विपरीत, ये निष्कर्ष सन्धि की असफलता के दायित्व में भी हिस्सा बटाते हैं।

क्यूबा की घटनाओं से अमरीका के इस रुझान की पुष्टि मान ली गयी कि एक कट्टरपन्थी अथवा शुद्ध रूप से प्रतिक्रियावादी सरकार के विरुद्ध सब विद्रोहों का परिणाम साम्यवाद होता है—इतना ही नहीं इन सब विद्रोहों को शुरू से ही कम्युनिस्टों की प्रेरणा होती है।

इसके अलावा संयुक्त राज्य अमरीका किसी भी ऐसी सरकार के विरुद्ध हस्तक्षेप करने के लिए तैयार हो गया जिसके साम्यवाद की तरफ झुकने की

आशका हो सकती थी। सुधारों में अमरीका की अक्सर घोषित दिलचस्पी के बावजूद 'स्थिरता' को सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त थी, और स्थिरता का अक्सर अर्थ स्पष्ट प्रतिक्रिया होता था।

ये विचार संयुक्त राज्य अमरीका के लिए नये नही थे, यद्यपि इन्हें क्यूबा के अनुभव से और अधिक बल मिला। सन 1954 में संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने गाटेमाला में संवैधानिक तरीकों से निर्वाचित और सुधारो में विश्वास रखने वाली सरकार का तख्ता उलटने की व्यवस्था की, जबकि इस सरकार ने विचारों और समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता प्रदान की थी, कानून सम्मत मजदूर-संघ बनाने की अनुमति दी थी और भूमि-सुधारों की घोषणा की थी। गाटेमाला की सरकार का तख्ता उलटने के लिए गुप्त तरीकों का इस्तेमाल किया गया था और पड़ौसी देशों को इन गुप्त गतिविधियों और गाटेमाला के विरुद्ध कार्रवाई का अड्डा बनाया गया था। युनाइटेड फ्रूट कम्पनी ने बेहद बेशर्मी से इन कार्रवाइयों में मदद दी थी, यद्यपि भूमि-सुधार से इस कम्पनी की उस थोडी बहुत जमीन पर असर पड़ता जिसमें खेती नहीं हो रही थी। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सन् 1965 में संयुक्त राज्य अमरीका सरकार ने अत्यन्त साधारण कारणों को बहाना बनाकर डोमिनीकन रिपब्लिक में सैनिक हस्तक्षेप किया।

लेटिन अमरीका के देशों के आन्तरिक मामलों मे संयुक्त राज्य अमरीका के हस्तक्षेप के इन अत्यन्त स्पष्ट प्रमाणों के परिणामस्वरूप समस्त लेटिन अमरीका में अमरीकाविरोधी राष्ट्रवादी रोष उत्पन्न हुआ और निरन्तर उग्र होता गया। ये प्रमाण उन अनेक कम नाटकीय हस्तक्षेपों और दबावों को भी उजागर करते थे जो संयुक्त राज्य अमरीका सरकार और अमरीका की बड़ी-बड़ी व्यापारी कम्पनियां अक्सर साथ मिलकर, लेटिन अमरीका के सब देशों मे करती थी।

संयुक्त राज्य अमरीका को पूरे संसार मे और विशेषकर पश्चिम यूरोप मे यह महान प्रतिष्ठा और अत्यधिक सच्ची लोकप्रिय सहानुभूति एक ऐसे महान् और सहृदय लोकतन्त्री देश के रूप में प्राप्त थी, जिसने संसार को फासिस्ट आक्रमण से बचाया और मार्शल योजना के माध्यम से पश्चिम यूरोप के पुनर्निर्माण में सहायता दी। सद्भावना की नैतिक पूंजी तेजी से बर्बाद होने लगी और लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका की नीति इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। यह विचार फैलने लगा कि संयुक्त राज्य अमरीका साम्राज्यवादी है और उसे इस बात की परवाह नही है कि वह कमजोर देशों में अपने व्यापारिक हितो को आगे बढ़ाने के लिए क्या तरीके अपनाता है।

वास्तव में गाटेमाला और आगे चलकर वियतनाम में संसार-भर में अमरीका के विरुद्ध जन-सामान्य के शत्रुभाव में वृद्धि की। अब क्योंकि अधिकाश सरकारें वित्तीय और सैनिक दृष्टि से अमरीका पर निर्भर थीं अत: अमरीकी जनता को जनमत मे हुए इस परिवर्तन की अधिक जानकारी प्राप्त नही हो सकी। अमरीका के उन बहुत अच्छे पत्रकारों ने, जिनका अमरीका की जनता और सरकार को विदेशी समाचारों से अवगत कराने पर एक सीमा तक एकाधिकार है, इस ओर

अन्य क्षेत्रो मे जनमत में परिवर्तन की जानकारी देने में स्पष्ट अकार्यकुशलता प्रदर्शित की।

इसका यह कारण नहीं था कि इन्हे जान-बूझकर यह काम करने से रोक दिया गया था। यह तो उनकी आश्चर्यजनक सीमा तक इस दिलचस्पी के अभाव का परिचायक है कि विदेशों मे अधिकारियो के अलावा अन्य लोग क्या सोचते है, और अन्य अमरीकी भी इसी तरह विदेशों के जनमत के प्रति उदासीन हैं। वे लोग जिन पूर्वाग्रहग्रस्त लोगो से बात करते हैं और लोगों का यह दायरा अक्सर अंग्रेजी बोलने मे सक्षम लोगों तक ही सीमित रहता है अतः वे समालोचनात्मक मूल्यांकन नहीं कर पाते। मैंने एशिया के देशो से भेजी गयी बड़ी विचित्र रिपोर्टों को देखा है, उदाहरण के लिए भारत मे क्या 'जनमत' है और 'थाई राष्ट्र" विभिन्न मसलों पर क्या सोचता है। इसी प्रकार मैंने पश्चिम यूरोप के देशों में अमरीकी नीतियो के प्रति जनता की प्रतिक्रिया के बारे मे ऐसी ही विचित्र रिपोर्टें पढी है, जबकि इन देशो के लोग समग्र रूप से राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध हैं।

पश्चिम यूरोप में जिस पीढ़ी को दूसरे महायुद्ध में फासिस्ट विजय के भय की व्यक्तिगत स्मृतियो और इस विजय को असफल बनाने मे संयुक्त राज्य अमरीका के योगदान का परिचय नही है वह अमरीका विरोधी भावनाओं से सबसे अधिक प्रभावित हो जाती है। इस पीढ़ी में ये भावनाएँ आसानी से सैद्धान्तिक पूँजीवाद विरोध और विशेषकर, अमरीकी पूँजीवाद के विरोध मे बदल जाती हैं। इस पीढ़ी के लोग यह देखते हैं कि बडी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के हित संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार की विदेश नीति की दिशा निर्धारित करते हैं, और इस सम्बन्ध मे गाटेमाला एक बड़ा मार्मिक उदाहरण सिद्ध हुआ। पर वियतनाम इस दृष्टि से इतना बड़ा उदाहरण सिद्ध नही हुआ।

सातवें दशक के मध्य मे अमरीका के उत्तरी नगरो मे जो जातीय दंगे हुए उनके परिणामस्वरूप अमरीका विरोधी भावनाओं में और वृद्धि हुई और इसका प्रसार प्राय: हर स्तर के लोगों में हुआ।[5] इस बार भी इसका दोष सामान्यतया अमरीकी पूँजीवाद को दिया गया पर इस समस्या के सम्बन्ध में यह एक संदिग्ध सिद्धान्त लगता है।

संयुक्त राज्य अमरीका अब कभी भी लेटिन अमरीका की आन्तरिक और इससे परस्पर सम्बन्धित समस्याओं के बारे मे 'अमरीकी गोलार्द्ध' की समस्याओं के रूप में कार्रवाई नही कर पायेगा। इनका विश्वव्यापी प्रभाव होना अनिवार्य है।

अधिकांश अमरीकी जिनमें उदारतावादी और कट्टरपन्थी दोनों शामिल हैं, इससे बचकानेपन की सीमा तक अनभिज्ञ हैं। रॉकफेलर रिपोर्ट समस्याओं को 'अमरीकी गोलार्द्ध' तक सीमित रखने की सम्भावना में उक्त विश्वास का एक विशिष्ट, अथवा आवश्यकता से अधिक विशिष्ट उदाहरण है।

अत्यधिक आलंकारिक भाषा के प्रयोग की प्राचीन अमरीकी परम्परा के अनुसार, जो हाल के दशकों में दूसरो की ओर से लिखने वाले गुप्त लेखकों के उपयोग के परिणामस्वरूप और अधिक बेलगाम हो गयी है, रिपोर्ट का समारम्भ इस करुणाजनक घोषणा से होता है : "हम पड़ौसियों से भेंट करने गये और हमें अपने भाई मिल गये। हम अपने सहयोगी गणराज्यों के प्रवक्ताओ के विचार

सुनने गये और हमें एक गोलार्द्ध की आवाजें सुनने को मिली।" इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि गवर्नर रॉकफेलर और उनके साथियो का लेटिन अमरीका के देशों मे जो स्वागत हुआ था, इस तरीके से बात कहना केवल निष्ठाहीन ही नही बल्कि हास्यास्पद तक लगेगा। यह प्रतिक्रिया केवल लेटिन अमरीका मे ही नही बल्कि संसार के शेष भाग मे इससे भी अधिक होगी।

समस्त 'स्वतन्त्र संसार' में आश्रित सरकारो द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका सरकार से अपने सम्बन्ध बिगाडने की समझे जाने योग्य अनिच्छा और स्वदेश मे तात्कालिक महत्त्व की समस्याओं से उलझे रहने के कारण अमरीकी जनता और सरकार को यथार्थवादी तरीके से यह नही समझने देगी कि लेटिन अमरीका के देशो के प्रति उसकी नीतियाँ किस प्रकार लोगों के मन मे संयुक्त राज्य अमरीका के बारे मे भावनाओं और विचारों को प्रभावित करती हैं।

इस बात का सम्बन्ध विदेशों मे संयुक्त राज्य अमरीका की 'तस्वीर' से है। एक ऐसा देश जिसे विश्व नेतृत्व प्रदान करना चाहिए और जो यह करना भी चाहता है, वह एक निश्चित सीमा तक विदेशो की जनता की आस्था और सद्-भावना पर निर्भर करता है। यह बात अध्याय-11 के अन्त में जोर देकर कही गयी थी।

लेटिन अमरीका के देशों में क्रुद्ध राष्ट्रवाद का उदय एक प्रकार से वियतनाम मे घटी घटनाओं और अब दक्षिणी अफ्रीका में घट रही घटनाओ का समानान्तर रूप है, यद्यपि लेटिन अमरीका में पश्चिम विरोधी प्राय कोई भावना नही है और श्वेत विरोधी भावना तो एकदम ही नही है। यह अधिक सरल और निश्चित रूप से अमरीका विरोधी है।

इसी प्रकार शीत युद्ध से भी इसका अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, यद्यपि क्रुद्ध राष्ट्रवाद का किसी-न-किसी प्रकार के साम्यवाद से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। क्यूबा को समर्थन देने में सोवियत संघ पर बहुत भार आ पड़ा है और यह मामला बड़ा व्ययसाध्य सिद्ध हुआ है। सोवियत संघ को किसी भी वामपन्थी विद्रोह की सम्भावित सफलता में प्रकट रूप से कोई विश्वास दिखायी नही पडता, कम-से-कम निकट भविष्य में। सोवियत संघ को इस बात की भी आशंका हो सकती है कि ऐसा कोई विद्रोह अमरीका को आवश्यकता से अधिक चिन्तित कर सकता है और इसके परिणामस्वरूप एक और महायुद्ध का खतरा उत्पन्न हो सकता है। सोवियत संघ लेटिन अमरीका में सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी सरकारों तक से राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध कायम करने में अधिक दिलचस्पी लेती हुई दिखायी पडती है। उसकी यह दिलचस्पी किसी ऐसी सरकार के विरुद्ध क्रान्ति को समर्थन देने से अधिक दिखायी पडती है। लेटिन अमरीका की अत्य-धिक कमजोर कम्युनिस्ट पार्टियाँ कुछ देशों में गुरिल्ला आन्दोलनों से दूर रहने अथवा इनके प्रति सहानुभूति तक दिखाने से बचने के लिए सामान्यतया बड़ी सावधानी दिखाती हैं।

तीसरा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अमरीका विरोधी

भावनाएँ मुख्यतया उच्च वर्ग तक ही सीमित हैं। फिलहाल ये भावनाएँ शहरों और गाँवों के सामान्य लोगों में प्रभावशाली ढंग से और गहराई से नहीं पहुँच पा रही है, जो सामान्यतया बड़े उदासीन और निष्क्रिय है। लेकिन संसार के दूसरे हिस्सों से प्राप्त जानकारी के आधार पर हम यह जानते हैं कि क्रुद्ध राष्ट्रवाद आसानी से सामान्य लोगों में फैल सकता है।

लेटिन अमरीका में सर्वत्र और सब वर्गों में अमरीका-विरोधी भावनाएँ—मूक निम्न वर्ग के विशाल हिस्सों को छोड़कर—अब इतनी उग्र हो गयी हैं कि लेटिन अमरीका की कोई भी सरकार इन भावनाओं का आदर न करने का साहस नही कर सकती। यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, जिसके ऊपर अमरीका के विरुद्ध होने का सन्देह नही किया जा सकता, का एक और उद्धरण समीचीन होगा.

"आजकल लेटिन अमरीका मे संयुक्त राज्य अमरीका के व्यापारियो का बुरा हाल है—वाम और दक्षिणपन्थी राजनीतिज्ञो, सेना और यहाँ तक कि पादरियों तक का प्रहार इन पर हो रहा है।…अमरीकी कम्पनियों के अधिकारी इस सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से चिन्तित हैं…(कोलम्बिया की) राजधानी बोगोटा स्थित एक अमरीकी कम्पनी का अधिकारी स्पष्ट रूप से कहता है कि इस देश में निजी व्यवसाय को बुरी नजर से देखा जाता है। 'और हम इस सम्बन्ध में चिन्तित हैं।'…ब्राजील और समस्त लेटिन अमरीका मे अमरीकी कम्पनियो के अधिकारियो मे यह भय बैठा हुआ है कि उन्हें संयुक्त राज्य अमरीका सरकार अथवा उसके प्रति अत्यन्त मित्रभाव रखने वाली किसी स्थानीय सरकार की कार्रवाइयों के लिए बदले की कार्रवाइयों का सामना करना पड़ेगा।"[6]

निक्सन प्रशासन की ओर से लेटिन अमरीका की हिंसा के कारण असफल यात्रा के बाद लौटने वाले गवर्नर नेलसन ए० रॉकफेलर और उनके विशेषज्ञो तथा सलाहकारों ने यह निष्कर्ष निकाला :

"पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य देशों से संयुक्त राज्य के ऐतिहासिक दृष्टि से जो विशेष सम्बन्ध थे उन्हें बुरी तरह बिगड़ने दिया गया है।…राष्ट्रवादी भावनाओं में सामान्य वृद्धि हो रही हैं।…यदि वर्तमान संयुक्त राज्य अमरीका विरोधी प्रवृत्ति जारी रहती है तो उस समय की पूर्वकल्पना की जा सकती है जब संयुक्त राज्य अमरीका राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से पश्चिमी गोलार्द्ध के एक हिस्से अथवा अधिकांश हिस्से से अलग-थलग पड़ जायगा।…पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के बहुत अधिक और सम्भवत: अधिकांश नागरिक संयुक्त राज्य अमरीका के निजी पूँजी निवेश को एक प्रकार का शोषण अथवा आर्थिक उपनिवेशवाद समझते हैं।…संयुक्त राज्य अमरीका की कम्पनियों के प्रभुत्व की आशंका अक्सर व्यक्त की जाती है।"[7]

यह मानकर कि लेटिन अमरीका के निवासियो के ये विचार 'गलत' हैं—और यह मानकर कि जब संयुक्त राज्य अमरीका का पूँजी निवेश लेटिन अमरीका में और अधिक बढ़ जायगा तो इन विचारो में सुधार हो जायगा—रिपोर्ट मे सिफारिश की गयी है कि 'संयुक्त राज्य अमरीका को पूरे गोलार्द्ध में निजी पूँजी निवेश को अधिकतम प्रोत्साहन देना चाहिए'।[8]

राजनीतिक दृष्टिकोण से यह एक विचित्र निर्णय दिखायी पड़ेगा। अध्याय-

10, अनुभाग-3 में मैंने केवल यही तर्क नही दिया कि भूमि, प्राकृतिक साधनों और सार्वजनिक सुविधाओं में लगी विदेशी पूँजी का और अधिक राष्ट्रीयकरण होने की आशा की जानी चाहिए, बल्कि यह भी कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका को अपने हित की दृष्टि से विनिर्माण उद्योग में लेटिन अमरीका में नये पूंजी निवेश की गति धीमी कर देनी चाहिए। इसके साथ ही उन अन्य देशों के पूंजी निवेश का स्वागत किया जो लेटिन अमरीका के लोगों के मन में विदेशी प्रभुत्व का ऐसा भय उत्पन्न नही करते।

सम्भवत: यह रिपोर्ट अन्य किसी भी दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका सरकार और इसके व्यापारिक प्रतिष्ठान की राय अधिक निश्चित रूप से प्रकट नही करती। यहाँ हम एक महान् देश को एक ऐसे रास्ते पर आगे बढ़ते रहने के लिए कटिबद्ध देखते हैं जो इसे पहले ही एक प्राय: विनाशकारी मोड़ पर पहुँचा चुका है।

अपने समस्त अन्तरों के बावजूद यह दिखायी पड़ता है कि लेटिन अमरीका मे पूँजी निवेश को तेजी से बढ़ाने का संयुक्त राज्य अमरीका का निर्णय 1965 के आरम्भ में उस समय वियतनाम युद्ध को तेज करने के अमरीका सरकार के निर्णय से भिन्न नही है, जबकि वियतनाम युद्ध बुरे दौर से गुजर रहा था। अमरीका सरकार यह बात नही देख पायी अथवा इसने इस बात के पूरे महत्त्व को नहीं समझा कि संगौन सरकार के विरुद्ध विद्रोह किस सीमा तक उसके अमरीका के सैनिक समर्थन पर पूरी तरह निर्भर रहने के कारण है।

लेटिन अमरीका के देशों के आर्थिक जीवन पर अमरीकी कम्पनियों का अत्यधिक प्रभाव और उन्हें अमरीका सरकार से प्राप्त समर्थन ही इन देशो में अमरीकी शक्ति का एक मात्र माध्यम नही है। पाँचवें दशक के अन्त मे शीतयुद्ध के समारम्भ और तीव्र होने के समय से सैनिक सहायता संयुक्त राज्य अमरीका की विश्वव्यापी विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण अंग रही है।

सैनिक सहायता के एकदम सटीक आंकडे बता पाना कठिन है लेकिन हाल में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था ने यह पुष्टि की है कि 'सैनिक सहायता, प्रतिरक्षा समर्थन और आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए अन्य सम्बन्धित व्यय' सन् 1950 से 1967 तक सब देशों को दी गयी सहायता के बजट का एक बड़ा हिस्सा था।[9] सैनिक सामान की खरीद के लिए निर्यात-आयात बैंक द्वारा दिये गय ऋणों की राशि भी इसी अनुमान में जोड़ी जानी चाहिए और सी०आई०ए० पर होने वाला खर्च भी इसमे निश्चय ही जोड़ा जाना चाहिए, जिसकी राशि सम्भवत: 3 अरब डालर प्रतिवर्ष है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान लेटिन अमरीका के देशों को सैनिक सहायता दी जाने लगी। हाल के वर्षों में इसमें कमी हुई है। लेटिन अमरीका के देशों की सरकारों को और परिष्कृत तथा आधुनिक हथियार देने के प्रति प्रगतिशील अमरीकी संसद सदस्यो ने वाशिंगटन में विरोध प्रकट किया है और संसद ने तो यहाँ तक शर्त लगाने की बात कही है कि इन देशो को अन्य प्रकार की सहायता

तभी दी जाये जब ये पश्चिम यूरोप के देशों से हथियार खरीदने पर अपने साधन बर्बाद करना बन्द करें।

सन् 1961 में प्रगति के लिए सन्धि पर सहमति हो जाने के बाद से सोलह सैनिक विद्रोह हुए हैं और इनके परिणामस्वरूप सैनिक सरकारों की स्थापना हुई जो लेटिन अमरीका के अधिकांश लोगों के ऊपर शासन कर रही है। संयुक्त राज्य अमरीका से इन देशों को मिलने वाली सैनिक सहायता ने, जिसमें चाहे इन्हें दूसरे महायुद्ध के समय के अथवा दूसरे तत्काल बाद बने हथियार ही क्यों नहीं दिये गये, सैनिक गुटों द्वारा सत्ता हथियाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह तथ्य स्पष्ट और निर्विवाद है।

इसके बावजूद, निक्सन प्रशासन यह कहकर इसके विरुद्ध तर्क पेश करने की कोशिश कर रहा है[10], *कि यह सैनिक सहायता संयुक्त राज्य अमरीका के अन्य* सब विषयों के अनुरूप है : सामाजिक और आर्थिक सुधार जिनके परिणामस्वरूप हमारे लेटिन अमरीकी पड़ोसियों का जीवन बेहतर और अधिक सुखमय हो जायगा[11]।

उक्त दोनों प्रकार की सहायताओं के बीच *यह सम्बन्ध बताया जाता है* कि सैनिक सहायता 'लेटिन अमरीका की राष्ट्रीय क्षमताओं को कम्युनिस्टों द्वारा संचालित अथवा समर्थित विद्रोहों का मुकाबला करने के लिए मजबूत बनाकर, अस्थिरता' को समाप्त करने में सहायक बनती है[12]। प्रायः बचकानेपन से आचरण करते हुए इस सम्बन्ध में जरा भी सन्देह प्रकट नहीं किया जाता कि इस प्रकार की 'स्थिरता' संयुक्त राज्य अमरीका की व्यक्त चिन्ता के विषय सामाजिक और आर्थिक सुधार को रोकने में भी सहायक बन सकती है।

अमरीकी सैनिक सहायता के अनेक स्वरूप हैं। जहाँ तक लागत का सवाल है, हथियार देने और संयुक्त राज्य अमरीका में इनकी खरीद के लिए सुविधाएँ प्रदान करने पर जो व्यय होता है वह वास्तव में सबसे छोटा है। लेटिन अमरीका के अफसरों को संयुक्त राज्य अमरीका में अथवा पनामा नहर क्षेत्र में फोर्ट गुलिक में स्थित संयुक्त राज्य दक्षिणी कमान स्कूल में प्रशिक्षण देना सैनिक सहायता की एक और मद है। इस प्रशिक्षण को हाल के वर्षों मे अमरीका के वियतनाम सम्बन्धी अनुभव का लाभ उठाते हुए लेटिन अमरीका की सेनाओं और पुलिस की विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की क्षमता को बढ़ाने के लिए संचालित किया जा रहा है।

लेटिन अमरीका के बड़े देशों में संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वयं अपनी सेनाओं की सहायता और प्रशिक्षण के लिए नियमित सैनिक सेवा मिशन स्थापित किये। लेटिन अमरीका के सब देशों में—जिस प्रकार संसार-भर में अन्य देशों मे यह हो रहा है—गुप्त रूप से काम करने वाले संगठन सक्रिय हैं जो सी० आई० ए० के अधीन काम करते है। कभी-कभी यह कार्य विदेश विभाग और इसके मन्त्रालयों तथा पेंटागन (अमरीका का सर्वोच्च सैनिक संगठन) तक की जानकारी के बिना किया गया। लेटिन अमरीका में ये संगठन राष्ट्रीय सरकारों के समर्थन, अथवा जहाँ आवश्यक हुआ इनका विरोध, करने के लिए अत्यधिक सक्रिय रहे। सामान्यतया ये गुरिल्लाओं के खिलाफ लड़ाई मे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

अमरीका के शिक्षाजगत में एक नयी और निरन्तर बढती प्रवृत्ति यह दिखायी पडी है कि सैनिक संगठन विदेश विभाग, अथवा सी० आई० ए० विशेष इकाइयों द्वारा लेटिन अमरीका की समस्याओ के बारे मे अनुसन्धान के लिए धन देता है। ये अनुसन्धान विश्वविद्यालयों में अथवा उनके बाहर होते हैं। ये अनुसन्धान चाहे लेटिन अमरीका के देशों मे अथवा संयुक्त राज्य अमरीका मे किये जायें पर इनका लक्ष्य 'अमरीकी हितों की रक्षा' और विशेषकर, उस क्षेत्र में 'राष्ट्रीय सुरक्षा' के बारे में होते हैं। अक्सर इस अनुसन्धान कार्य का इन देशों में सी० आई० ए० की गतिविधियो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

जनवरी 1969 में संयुक्त राज्य अमरीका स्थित लेटिन अमरीकी विशेषज्ञों की एक तदर्थ समिति ने एक घोषणा की जिस पर 273 प्रोफेसरों, अनुसन्धान-कर्त्ताओं, और लेटिन अमरीका सम्बन्धी अध्ययन के स्नातक विद्यार्थियों ने हस्ताक्षर किये। इस घोषणा में स्वतन्त्र वैज्ञानिक और विद्वत् कार्य के इस प्रकार भद्दे दुरुपयोग के विरुद्ध विरोध प्रकट किया गया। इन लोगों ने कहा कि यह अनुसन्धान सम्बन्धी गतिविधि अमरीका के विद्वत् जगत के आदर्शों के विरुद्ध है, और "उस समय तक लेटिन अमरीका और संसार के अन्य भागों में अमरीकी बुद्धिवादियों के प्रति अविश्वास समाप्त नही होगा जब तक यह स्पष्ट नही हो जाता कि अमरीकी विद्वानों और उनके व्यावसायिक संगठनों ने संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के संगठनो की हस्तक्षेपपूर्ण गतिविधियों से स्वय को पूरी तरह अलग कर लिया है।"[13]

यह हो सकता है कि लेटिन अमरीका के देशों की सरकारो ने, विशेषकर सैनिक सरकारों ने, इन सैनिक, पुलिस और अनुसन्धान सम्बन्धी प्रकट अथवा गुप्त अनुसन्धानों का स्वागत किया हो जिनके बारे में संयुक्त राज्य सरकार की दिलचस्पी अक्सर विद्रोह के दमन के बारे मे थी, विद्रोह के बारे मे नही। पर अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखने वाले वर्गों मे निःसन्देह अमरीका विरोधी भावनाओं में वृद्धि हुई।

अन्त में, अमरीका द्वारा दी जाने वाली विकास सहायता आती है। प्रगति के लिए सन्धि के घोषणापत्र मे यह माना गया था कि इस विकास सहायता का लक्ष्य बड़े पैमाने पर आन्तरिक सुधार, विशेषकर कराधान और भूमि-सुधार होंगे और सहायता को इनसे समन्वित भी किया जायेगा।

लेटिन अमरीका मे प्रभावशाली शक्तियों, जिनमें वहाँ व्यापार करने वाली अमरीकी कम्पनियाँ, संयुक्त राज्य अमरीकी सरकार और संसद भी शामिल है, के बीच होने वाली खींचतान से प्रगति के लिए सन्धि किस प्रकार तेजी से प्रभावहीन बन गयी, इसके बारे मे ऊपर टिप्पणी की जा चुकी है।

रॉकफलर रिपोर्ट में, जिसका मै लेटिन अमरीका की स्थिति के समग्र मूल्यांकन के सबसे हाल के उपलब्ध अधिकृत अमरीकी प्रयास के रूप मे उद्धरण दे रहा हूँ, लेटिन अमरीका की वर्तमान घटनाओं के बारे मे बडा भयावह दृष्टिकोण प्रकट किया गया है:

"अमरीका महाद्वीप में अराजकता, आतंक और तोड़-फोड़ की शक्तियाँ सक्रिय हैं।··· पश्चिमी गोलार्द्ध के स्वतन्त्र राष्ट्रों की प्रणालियों के शत्रुओं को जो हथियार उपलब्ध हैं उनमे मुद्रा स्फीति, शहरी आतंकवाद, जातीय संघर्ष, अत्यधिक आबादी, गरीबी, हिंसा और गाँवों में विद्रोह शामिल हैं। ये शक्तियाँ अपने हितसाधन के लिए लोकतन्त्री सरकारों के द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं का तुरन्त अनुचित लाभ उठाती हैं।····"[14]

खेदजनक तथ्यो के बारे में यह रिपोर्ट सही है, यद्यपि 'शक्तियो', 'राष्ट्रो', और लोकतन्त्री सरकारों द्वारा प्रदत्त 'स्वतन्त्रताओ' के सन्दर्भ मे जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह बड़ा गड़बड है। इस रिपोर्ट में यह चेतावनी दी गयी है :

"इस समय गोलार्द्ध के छब्बीस राष्ट्रों मे केवल एक कास्त्रो है, भविष्य में और भी हो सकते हैं। और मुख्य भूमि पर स्थित कोई कास्त्रो, जिसे कम्युनिस्ट संसार का सैनिक और आर्थिक समर्थन प्राप्त हो, पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा के लिए गम्भीरतम खतरा और संयुक्त राज्य अमरीका के लिए अत्यधिक कठिन समस्या उपस्थित करेगा।"[15]

इन परिस्थितियों में रिपोर्ट यह 'भविष्यवाणी' करना सम्भव होने के कारण कि 'सेना द्वारा सत्ता अपने हाथ मे लेने की प्रवृत्ति जारी रहेगी'[16], आश्वासन प्राप्त करती है यद्यपि, भविष्यवाणी सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए कुछ शर्तों के साथ यह बात कही गयी है। कोई भी अमरीकी गम्भीर आत्मिक दुविधा के बिना सैनिक तानाशाही कायम होने की प्रवृत्ति का स्वागत नही कर सकता, और इस रिपोर्ट मे भी सही ढंग से, और मैं समझता हूँ ईमानदारी से, यह बात जोर देकर कही गयी है :

"प्रतिनिधि उत्तरदायी लोकतन्त्री सरकार के प्रति निष्ठा अमरीकी जनता की सामूहिक राजनीतिक चेतना में गहराई से पैठी हुई है। हम आदर्शवादी और व्यावहारिक दोनो कारणो से गोलार्द्ध के अन्य राष्ट्रो मे शक्तिशाली प्रतिनिधि सरकारों की स्थापना होते देखना पसन्द करेंगे।"[17]

इस रिपोर्ट मे भी अमरीका विरोध की बढती हुई प्रवृत्ति[18] की पूर्वकल्पना की गयी है और निश्चय ही यह बात अमरीका के नीति निर्माताओं के समक्ष सर्वाधिक कठिन समस्या प्रस्तुत करेगी।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा और अधिक मात्रा में पूंजी विनियोग के अलावा, जिसके बारे में मैंने गम्भीर सन्देह प्रकट किये हैं, रिपोर्ट में उन प्रस्तावों का सुझाव दिया गया है जिनके द्वारा लेटिन अमरीका में बने सामान को अधिक आसानी से अमरीकी बाजारो में निर्यात किया जा सके।[19] यह ठोस सलाह है। विशेषकर उस स्थिति में यदि विश्वव्यापी पैमाने पर यह कार्रवाई की जा सके और अन्य कम विकसित देशों के निर्यात को भी इसी प्रकार तरजीह दी जाय, तो यह एक सही दिशा में कदम होगा (देखिए अध्याय-9)। यदि संयुक्त राज्य अमरीका सरकार इस सलाह के अनुसार काम करने को तैयार हो जाती है तो उसे स्वदेश में शक्तिशाली निहित स्वार्थों का सामना करना होगा। यह विश्वास कर पाना सम्भव

नहीं है कि निकट भविष्य में कम-विकसित देशों के प्रति संयुक्त राज्य की वाणिज्य नीतियों में कोई परिवर्तन होगा।

रिपोर्ट का तीसरा प्रस्ताव लेटिन अमरीका के देशों को विकास सहायता में वृद्धि करने, इस कार्य के लिए बहुदेशीय आधार पर सहायता देने वाली संस्थाओं के अधिकाधिक उपयोग, ऋणों के लिए ब्याज की दर में कमी और ऋण परिशोधन की अवधियों और अन्य आवश्यकताओं के बारे मे सहमति के बारे में है।[20] ये सब बहुत अच्छे प्रस्ताव हैं, लेकिन इस बात में सन्देह है कि अमरीका सरकार और संसद किस सीमा तक इन्हे लागू करेगी।

जहाँ तक सैनिक सहायता[21] का सम्बन्ध है, रिपोर्ट मे वर्तमान रवैये को उलट देने की सिफारिश करते हुए कहा गया है कि सुरक्षा सेनाओं के प्रशिक्षण के लिए अधिक सहायता दी जानी चाहिए और इस प्रशिक्षण को निरन्तर बढ़ रही तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों से सुरक्षा की निश्चित दिशा मे निर्देशित किया जाना चाहिए। इसके साथ ही इस रिपोर्ट में कुछ देशों मे मौजूद स्थायी सैनिक मिशनों को वापस बुलाने की सिफारिश को 'आवश्यकता से अधिक जाहिर कार्रवाई' बताया गया है।

यद्यपि इस रिपोर्ट मे, संयुक्त राज्य अमरीका के सामान्य रुझान के अनुसार, लेटिन अमरीका के देशो की सेनाओं को बुनियादी तौर पर आन्तरिक तोड़-फोड़ के विरुद्ध कार्रवाई करने का साधन ही समझा गया है पर लेटिन अमरीका के सैनिक प्रतिष्ठानों की आधुनिक, परिष्कृत हथियार, जैसे जेट विमान और ऐसे ही अन्य उपकरण, प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा के प्रति बहुत उदारता दिखायी गयी है। यद्यपि यह प्रस्ताव और अन्य सैनिक सहायता देने की इस रिपोर्ट की माँग निक्सन सरकार के इरादो के अनुरूप है[22], पर संसद का वर्तमान स्वरूप रहते इसका सम्भवतः विरोध होगा।

यह प्रस्ताव अपने-आपमे ठोस है कि संयुक्त राज्य सरकार यह नाटक करना छोड़ दे कि वह केवल लोकतन्त्री सरकारों से ही राजनयिक सम्बन्ध कायम करना चाहती है। "इसे यह समझ लेना चाहिए कि राजनयिक सम्बन्ध व्यावहारिक सुविधाओं का माध्यम भर हैं, नैतिक मूल्यांकन के उपाय नही।"[23] यदि संयुक्त राज्य अमरीका अपनी संसारव्यापी राजनयिक गतिविधियो के लिए इस प्राचीन सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाय जो नेपोलियन से हुए युद्धो के बाद वियना सम्मेलन मे स्वीकार हुआ था, और आज भी जिसका पालन ब्रिटेन और अमरीका जैसी अधिक कट्टरपन्थी सरकारें कर रही हैं, तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बहुत सरल हो जायेंगे। जहाँ तक लेटिन अमरीका के देशो से इसके सम्बन्धों का प्रश्न है, इसके परिणामस्वरूप वर्तमान नीतियो मे कोई परिवर्तन नही होगा—केवल सैनिक शासक गुटों को और खुल्लमखुल्ला समर्थन दिया जाने लगेगा।

रॉकफेलर रिपोर्ट की नीति सम्बन्धी सिफारिशो पर नजर डालते समय और यह विचार करते समय कि किस सीमा तक इनके लागू होने की सम्भावना है, यह विश्वास कर पाना कठिन हो जाता है कि ये सिफारिशें निराशापूर्ण प्रवृत्तियों को समाप्त कर डालेंगी जबकि रिपोर्ट में पर्याप्त यथार्थवादी तरीके से इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन किया गया है।

रिपोर्ट की यह भविष्यवाणी कि सैनिक-सरकारों की स्थापना की प्रवृत्ति जारी रहेगी, विशेष रूप से सही सिद्ध होने की सम्भावना है।

सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में हर देश में सैनिक संस्थान की शक्ति बहुत विशाल है और नये-नये हथियारों के निर्माण और सैनिक टेक्नोलॉजी के विकास के साथ इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है।

लेटिन अमरीका में प्रायः कहीं भी सच्चे लोकतन्त्र अथवा सेना पर असैनिक नियन्त्रण की दृढ़ परम्परा नहीं है। अतः सैनिक संस्थान की राजनीतिक शक्ति का उपयोग बहुत कम निषेधों और व्यवधानों के बिना किया जा सकता है।

इतना ही नहीं, सरकारें और राजनीतिक पार्टियाँ सामान्य रूप से अकार्य-कुशल हैं और अक्सर भ्रष्ट भी होती हैं। इस दृष्टि से सेना द्वारा सत्ता अपने हाथ में लेने का समर्थन करना आसान है कि प्रभावशाली और भ्रष्टाचार से मुक्त सरकार बनाना तथा सामाजिक अनुशासन कायम करना जरूरी है। पर अक्सर यह परिणाम प्राप्त नहीं होगा, यह दूसरी बात है।

जन-सामान्य के निष्क्रिय रहने के कारण यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि कम-से-कम निकट भविष्य में छिटपुट चलने वाले गुरिल्ला आन्दोलन प्रभावहीन बने रहेंगे। पर उनका अस्तित्व मात्र चाहे यह छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो, अशान्ति और अनिश्चय की भावना पैदा करेगा। और इससे सैनिक सरकारों की स्थापना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा।

जैसाकि अक्सर देखा जाता है, लेटिन अमरीका के कुछ देशों में शहरी जिलों में गुरिल्ला गतिविधियों में वृद्धि की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। किसी शहर का आकार और आबादी की घनता तथा इसके जीवन की जटिलता ऐसे 'जंगल' उपलब्ध कराती है, जिनकी आड़ में गम्भीर क्षति पहुंचायी जा सकती है और भयंकर दंगे शुरू किये जा सकते हैं।

यह स्थिति ब्राज़ील में पूरी तरह विकसित हो चुकी है और लेटिन अमरीका के दूसरे देशों में भी इसमें वृद्धि हो रही है। छोटे-छोटे गिरोह जिनका आपस में सहयोग नहीं है, बैंकों को लूटकर अपनी गतिविधियों के लिए धन जुटाते है। सार्वजनिक सुविधाओं को नष्ट कर दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय के लिए अव्यवस्था फैल जाती है। यहाँ तक हुआ कि सम्बन्धित देशों अथवा अमरीका के अधिकारियों को ये गिरोह उड़ा ले जाते हैं और उनकी रिहाई के लिए धन माँगते हैं अथवा उन्हें मार डालते हैं।

इसका एक प्रायः निश्चित प्रभाव यह हुआ है कि पुलिस और सुरक्षा सेनाएं गुरिल्लाओं के विरुद्ध कार्रवाई में विवेक से काम नहीं लेती। कम-से-कम ब्राज़ील में पुलिस और सुरक्षा सेनाओं की कुछ ऐसी टुकड़ियाँ बन गयी है, जो गुरिल्ला गुटों अथवा उन लोगों का अत्यन्त क्रूरता से पीछा करती हैं जिनपर सन्देह भर है। उन कार्रवाइयों में ऐसे तरीके अपनाये जाते हैं जिन्हें सामान्यतया क्षम्य नहीं माना जाता अथवा जिनका आदेश उनके वरिष्ठ अधिकारी अथवा सरकार नहीं देती।

पुलिस और सुरक्षा सेनाओं तथा इन गुरिल्ला गिरोहों के बीच एक ऐसी लड़ाई की पूर्व-कल्पना की जा सकती है, जो धीरे-धीरे गम्भीर रूप धारण कर लेगी और जिसके परिणामस्वरूप नागरिक जीवन पर असाधारण प्रतिबन्ध लगाये

रॉकफेलर रिपोर्ट सुझाव देती है और न ही निक्सन प्रशासन इरादा रखता है। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा खुला सैनिक हस्तक्षेप भी असम्भव नहीं है—यद्यपि वियतनाम के अनुभव के बाद ऐसी कार्रवाइयों के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमरीका में विरोध बढ़ रहा है।

सुधारों के लिए कृतसंकल्प एक सैनिक सरकार का तख्ता उलटने के लिए यही नियमित तरीका अपनाया जा सकता है कि सैनिक प्रतिष्ठान में फूट के बीज बोये जायें। इसका बस यही अर्थ होगा कि एक और सैनिक विद्रोह होगा—अन्तर केवल इतना होगा कि इस बार यह एक असैनिक सरकार के विरुद्ध नहीं होगा।

यह कार्य जन-समुदाय को अथवा नागरिक आबादी को छेड़े बिना ही किया जा सकता है। इसका परिणाम होगा सुधार के मोर्चे पर पीछे हटना—यदि बढ़ते हुए दबाव के समक्ष पहले ही यह काम नहीं हो चुका है।

•

संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिम यूरोप में अमरीकी नीतियों के आलोचकों के मध्य व्याप्त एक अन्य किस्म की भ्रामक कल्पना कि लेटिन अमरीका में सरकारों और शासक समूहों के विरुद्ध सामान्य जन-समुदाय विद्रोह करेगा, उसी प्रकार अव्यावहारिक है, जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका की सरकारी नीति। यह कल्पना हिंसा को विचित्र तरीके से गौरवशाली बात मानने से सम्बद्ध हो गयी है।

कोई भी मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति केवल हिंसा के लिए हिंसा को उचित नहीं बता सकता। दूसरी ओर यदि लेटिन अमरीका में शासक समूहों का तख्ता हिंसा के द्वारा उलटा जा सकता है, तो इसके लिए आवश्यक हिंसा का औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जा सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह हिंसा जरूरी थी। कुछ दशक पहले मैक्सिको की क्रान्ति में दस और बीस लाख के बीच लोगों की जान गयी थी। दो सौ वर्ष पहले अमरीका की क्रान्ति भी हिंसा के बिना नहीं हुई थी।

इतना ही नहीं, लेटिन अमरीका की वर्तमान स्थिति में गरीब लोगों को दबाकर रखने के लिए उनके विरुद्ध लगातार भयंकर हिंसा की जाती है। श्रम का अल्प-उपयोग जारी रखने और जन-सामान्य को गरीबी के गर्त में डाले रखने वाली समस्त आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को उचित रूप से 'संस्थाकृत हिंसा' कहा जा सकता है।

कुछ वर्ष पहले प्रकाशित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी : लार्ड एण्ड पेजेंट इन दि मेकिंग ऑफ दि माडर्न वर्ल्ड' में, जिसका मैं एशियन ड्रामा में उपयोग नहीं कर सका, बैरिंगटन मूर जूनियर ने यह विचार प्रकट किया है : "जिस रूप में प्रायः समस्त इतिहास लिखा गया है वह क्रान्तिकारी हिंसा के विरुद्ध असीम पूर्वाग्रह को जन्म देता है... दलित लोगों द्वारा अपने भूतपूर्व मालिकों के विरुद्ध बल प्रयोग प्रायः सार्वभौम भर्त्सना का लक्ष्य बना है। जबकि 'सामान्य' समाज का दिन-प्रतिदिन

का दमन इतिहास की अधिकांश पुस्तकों में पृष्ठभूमि में ही पड़ा रहता है।"[27] और वे आगे यह दर्शाते हैं कि 'क्रान्ति के अभाव में' मनुष्य के जीवन और गुण के रूप में कितनी विशाल कीमत चुकानी पड़ती है। यही तर्क रॉबर्ट एल० हीलब्रोनर और अन्य लेखकों ने भी प्रस्तुत किया है।

पर सब कुछ इन दो प्रश्नों पर निर्भर करता है : क्या जन-समुदाय विद्रोह करेगा और क्या इसके सफल होने की गुंजाइश है। हिंसा का उदात्तीकरण, जो लेटिन अमरीका सम्बन्धी वामपन्थी लेखन में अब बहुत लोकप्रिय बन चुका है, यह मानकर चलता है कि इन दोनों प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक ही है। इस समय लेटिन अमरीका के अनेक देशों में जो गुरिल्ला आन्दोलन चल रहे हैं, उनके महत्त्व को जिस प्रकार असावधानी और उत्साह से बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया जाता है, उसमें यह बात सर्वाधिक स्पष्टता से प्रकट हो जाती है।

इन दो मुद्दों पर मेरी सहमति नहीं है। पहली बात तो यह है कि [illegible] बहुत उदासीन और निष्क्रिय है। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि [illegible] सक्रिय बनाने के प्रत्येक प्रयास को आरम्भ में ही सेना और पुलिस की [illegible] शक्ति का मुकाबला करना होगा, जिसे अपने प्रभावशाली उच्च वर्ग के [illegible] और संयुक्त राज्य का समर्थन प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमरीका [illegible] करता है कि वह क्यूबा के अनुभव से सबक सीख चुका है।

मुझे लेटिन अमरीका के देशों के आर्थिक, सामाजिक और [illegible] के वर्तमान ढांचे के विरुद्ध किसी भी बड़े और सफल विद्रोह की [illegible] नहीं पड़ती। केवल ऐसे अपवाद हो सकते हैं, पर उनकी [illegible] है, कि कोई सैनिक सरकार अपने देश के प्रभावशाली [illegible] कम्पनियों—तथा जल्दी ही अमरीका सरकार से भी—[illegible] और जनता को अपने समर्थन के लिए बाध्य कर दे। [illegible] के नेतृत्व में संचालित होने किसी विद्रोह के लिए [illegible] नहीं होगी।

धीरे स्थापना के लिए कृतसंकल्प हो।

अर्जेन्टीना जैसे अपेक्षाकृत अमीर देश मे, अथवा चिली जैसे आम चुनावों की पूर्व परम्परा जैसे देश में अथवा मैक्सिको जैसे सच्ची क्रान्ति की पृष्ठभूमि वाले देश मे, जहाँ अब इस क्रान्ति की गतिशीलता समाप्त हो गयी है, ऐसी घटना सम्भव हो सकती है। किसी ऐसी घटना के अन्तर्गत किसी खास चरण में जनता का विद्रोह भी उपयोगी भूमिका निभा सकता है। हर स्थिति में इसके लिए नीचे से और अधिक दबाव की आवश्यकता होगी, जो इन तथा कुछ अन्य देशों में सम्भव हो सकता है।

तीसरी और सम्भवतः सर्वाधिक सम्भावित बात यह हो सकती है कि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रहें। दक्षिण एशिया की तरह इसका यह अर्थ होगा कि न तो क्रम-विकास होगा और न ही क्रान्ति। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कुछ और शायद अनेक देशों में, अथवा यहाँ तक कि इन सब देशों मे, किसी-न-किसी प्रकार के लेटिन अमरीकी फासिस्टवाद का उदय होगा, जिसकी रक्षा के लिए एक प्रबल पुलिस और सैनिक शक्ति सन्नद्ध रहेगी।

इसे संयुक्त राज्य अमरीका सरकार भी अपना समर्थन देगी—अमरीकी नीति में मूलभूत परिवर्तन होने पर ही इसके विपरीत स्थिति हो सकती है। लेटिन अमरीका में फासिस्ट सरकारें ही संयुक्त राज्य अमरीका को साम्यवाद का एकमात्र विकल्प दिखायी पड़ेगा।

यूरोप में हिटलर, मुसोलिनी, फ्रांको और सलाजार के प्रति यही आकर्षण रहा। जैसाकि हम सबको याद है, इनके शासनों को कुछ सीमा तक अच्छा समर्थन और पर्याप्त विश्वसनीयता प्राप्त हुई, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका में—जैसाकि आज ग्रीस की सैनिक सरकार को प्राप्त है। हमें यह भी याद है कि किस प्रकार फासिस्ट सरकारों को प्रशासन की कुशलता का श्रेय दिया गया और किस प्रकार यहाँ तक कहा गया कि वे जनहित में प्रगतिशील सुधार लागू करने के लिए कृतसंकल्प हैं—यह बात रॉकफेलर रिपोर्ट की लेटिन अमरीका की सैनिक सरकारों के प्रति उत्साहपूर्ण आशावादिता जैसी ही थी।

जब फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट और अन्य उदारतावादियों को अमरीकी जनता को यूरोप में फासिस्टवाद के प्रति इस अत्यन्त सरलीकृत भावनाओं से मुक्त करने में सफलता मिली, उस समय तक मैकार्थी-डलेस युग का आज भी प्रभाव कायम नहीं हुआ था। और उन्हें इस कार्य में इस निरन्तर बढ़ती चेतना से सहायता मिली कि फासिस्टवाद के परिणामस्वरूप महायुद्ध होगा—और अन्ततः यह हुआ भी।

लेटिन अमरीकी फासिस्टवाद का लेटिन अमरीका के भीतर चाहे कितना भी पतनकारी प्रभाव क्यों न हो, पर इसके परिणामस्वरूप उस उप-महाद्वीप के बाहर युद्ध की प्रायः कोई सम्भावना दिखायी नहीं पड़ती, विशेषकर इस कारण से क्योंकि सोवियत संघ इसका विरोध करने की कोई रुचि नहीं दिखा रहा है। इन परिस्थितियों में संयुक्त राज्य अमरीका के उदारतावादियों के लिए यह अत्यन्त कठिन कार्य होगा कि वे लेटिन अमरीका के फासिस्ट शासनों को सहयोग देना बन्द करने के लिए अपनी सरकार को राजी कर सकें।

पर मैं इस सम्भावना की पूरी तरह उपेक्षा नहीं कर देना चाहता कि

अमरीकी राष्ट्र की प्रिय उदारतावादी परम्पराओं के अनुरूप लेटिन अमरीका के देशों के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों की पुनर्व्याख्या करनी होगी। हमें इसके लिए संघर्ष भी करना है।

नीतियों की यह पुनर्व्याख्या उस नयी 'व्यावहारिकता' के प्रायः एकदम विपरीत होगी, जो अमरीकी प्रशासन का आशादीप बनी हुई है। इसका अर्थ लेटिन अमरीका के अनेक देशों की प्रगतिशील शक्तियों से सहयोग और प्रतिगामी सरकारों की उपेक्षा होगा। इसका अर्थ प्रगति के लिए सन्धि के सिद्धान्तों को अंगीकार करना होगा, जिसमें इसकी सफलता के लिए अधिक बलिदान करने की तत्परता शामिल है।

इसका अर्थ लेटिन अमरीका के देशों को हथियार और इनके अफसरों को ट्रेनिंग देने की संयुक्त राज्य अमरीका की नीति पर कठोर और सूक्ष्म नज़र डालनी होगी। सी. आई. ए. के माध्यम से गुप्त गतिविधियाँ और दूतावासों द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप अन्ततः सब लोगों के मन में अमरीका विरोधी भावनाएँ भड़काने का निश्चित साधन हैं। इस तरीके से केवल वे ही लोग विरोधी नहीं बनते जिन्हें इस प्रकार के समर्थन से प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। 'संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा' की दृष्टि से अनुसन्धान कार्यों का दिशा निर्देश करना, जिसका ऊपर उदाहरण दिया गया है निश्चय ही उल्टा असर करता है।

नीतियों की इस पुनर्व्याख्या का यह भी अर्थ होगा कि लेटिन अमरीका में संयुक्त राज्य अमरीका के पूँजी निवेश की समस्या पर एकदम नये सिरे से विचार किया जाये। संयुक्त राज्य को बड़े पैमाने पर अमरीकी प्रतिष्ठानों के राष्ट्रीयकरण को बर्दाश्त करने के लिए तैयार होना होगा, विशेषकर भूमि, प्राकृतिक साधनों, सार्वजनिक सुविधाओं और कुछ विनिर्माण उद्योगों तक के राष्ट्रीयकरण को।

वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका को अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक के सहयोग से ऐसे राष्ट्रीयकरणों को वित्तीय दृष्टि से सम्भव बनाने के लिए सक्रिय होना चाहिए। इसके परिणामस्वरूप मुआवजा देने की बात पर इस प्रकार सहमति हो सकेगी जो स्थायी द्वेष को जन्म नहीं देती।

उदारतावादी दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं है कि लेटिन अमरीका मे राजनीतिक विकास अमरीका-विरोध की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रबल प्रभाव के ही अन्तर्गत हो। वस्तुतः संयुक्त राज्य अमरीका के लिए नीति का निर्धारण करना सम्भव है जो असह्य बलिदानों के बिना ही समान लक्ष्यों की पूर्ति के लिए घनिष्ठ और भिन्नतापूर्ण सहयोग की स्थापना कर सके।

यहाँ लेटिन अमरीका की राजनीतिक गतिशीलता पर विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। अपने विवेचन के अन्त मे भविष्य के बारे मे अत्यधिक अनिश्चितता पर जोर देना आवश्यक है।

सम्भवतः मेरे अस्थायी निष्कर्ष नकारात्मक होते समय अधिक विश्वसनीय हैं। यह कहते समय कि क्या न होने की सम्भावना है ये अधिक विश्वसनीय है।

सकारात्मक दृष्टि से वैकल्पिक सम्भावनाओं का एक क्रम हमारे समक्ष मौजूद रहता है, जिनमें से केवल कुछ को ही पूरी तरह से असम्भावित कहा जा सकता है। लेटिन अमरीका के कई देशों में अन्तिम परिणाम बहुत भिन्न हो सकता है।

मेरे अन्वेषण की मूल्य सम्बन्धी प्रमुख मान्यता, दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय-14 की तरह, आमूल परिवर्तनवादी सुधारों की तात्कालिक आवश्यकता रही है। यदि इन सुधारों को लागू नहीं किया जाता तो मैं यह भविष्य कथन करूंगा कि केवल सामान्य विकास में ही ठहराव नहीं आ जायगा बल्कि, विशेषकर, असमानता और गरीबी और बढ़ेगी।

अपेक्षाकृत लम्बी अवधि में राजनीतिक दृष्टि से इसके क्या प्रभाव होंगे यह मेरी मूल्यांकन क्षमता के बाहर की बात है—उन्हीं कारणों से जिनका मैंने दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय-14 के अन्त में उल्लेख किया है।

लेटिन अमरीका के देशों के राजनीतिक विकास का अध्ययन राजनीति विज्ञानियों को न्यूनतम अवसरवादी पूर्वाग्रह के साथ करना चाहिए—अर्थात् इस सम्बन्ध में उन प्रचलित और सरकारी विश्वासों के अनुरूप अनुसन्धान कार्य को नहीं ढालना चाहिए कि संयुक्त राज्य अमरीका और इन देशों के शासक समूहों के हित क्या हैं।

इस बीच, हम अर्थशास्त्रियों को इन देशों की राजनीतिक गतिशीलता के मोटे तथ्यों से अवगत कराने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा इन देशों की विकास समस्याओं का अध्ययन करने का प्रत्येक प्रयास निश्चय ही पूर्णतया सतही और भ्रामक होगा। इस परिशिष्ट और दक्षिण एशिया सम्बन्धी अध्याय लिखने का यही कारण है।

सम्भवतः यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि कैथोलिक धर्मावलम्बी फिलीपीन, स्पेन के उपनिवेशी शासन की कई शताब्दियों की विरासत और आधी शताब्दी के संयुक्त राज्य अमरीका के प्रभुत्व के कारण अनेक कारणों से दक्षिण एशिया की अपेक्षा लेटिन अमरीका का देश अधिक है। पर इसका विकास लेटिन अमरीका की अनेक वर्तमान प्रवृत्तियों से एक पहले के युग का है।[29]

अमरीकी युग में नियमित चुनावों और इन चुनावों के परिणामों के आधार पर भविष्य की सरकार के निर्णय फिलीपीन में लेटिन अमरीका के प्रायः किसी भी देश से अधिक दृढ़ता से कायम हो गया। यद्यपि अब तक इन चुनावों में उन मुद्दों को नहीं उठाया गया है जो जन-सामान्य के लिए वस्तुतः महत्वपूर्ण हैं, पर इसका यह निश्चित अर्थ नहीं होता कि इस दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकता। इसके बाद सुधार, और आमूल परिवर्तनवादी सुधार, शान्तिपूर्ण तरीके से हो सकते हैं। पर यह निश्चित नहीं है।

लेटिन अमरीका की तरह ही अमरीका विरोध बढ़ रहा है और मोटे तौर पर इसका वही आधार है, यद्यपि अभी तक यह बहुत कमजोर है। यहां एक बार फिर एक ऐसे अमरीकी साप्ताहिक—यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट—का उद्धरण देना आवश्यक होगा जिसके ऊपर अमरीका के व्यापारिक प्रतिष्ठानों

अथवा वर्तमान प्रशासन का आलोचक होने का सन्देह नहीं किया जा सकता :

"ऐसे लक्षण अधिकाधिक मात्रा में दिखायी पड़ रहे हैं कि एशिया में पूर्व और पश्चिम की सर्वाधिक चिरस्थायी साझेदारी—फिलीपीन और संयुक्त राज्य अमरीका के घनिष्ठ सम्बन्ध—समाप्ति की ओर बढ रही है। ... अब आपको राष्ट्रपति फर्डिनाण्ड मार्कोस से लेकर छोटे-से-छोटा फिलीपीनी नेता यह कहता हुआ सुनायी पड़ेगा कि अमरीकियों को यहाँ अपने वायुसेना और नौसेना के अड्डे छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए, जो सन् 1945 से एशिया में अमरीका की सैनिक कार्रवाइयों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहे हैं। ...कुछ अधिकारी तो संयुक्त राज्य अमरीका से हुई सब सन्धियों की 'सूक्ष्म समीक्षा' करने की माँग कर रहे हैं, जिनमें फिलीपीन द्वीप समूह में विशाल अमरीकी निजी पूँजी निवेश की सुरक्षा की सन्धियाँ शामिल हैं।"[30]

पर अमरीकी सैनिक अड्डों और वहाँ तैनात सैनिकों से फिलीपीन की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग पाँच प्रतिशत प्राप्त होता है, जो इसकी निर्यात आय का लगभग अट्ठारह प्रतिशत है।

अत: यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि कम-से-कम निकट भविष्य में फिलीपीन सरकार निरन्तर बढ़ रही अमरीका विरोधी भावनाओं का उपयोग संयुक्त राज्य अमरीका सरकार के ऊपर इस दृष्टि से दबाव डालने के लिए करेगी कि वह फिलीपीन को और अधिक लाभ पहुँचाने में उदारता बरते।

# सन्दर्भ

## प्राक्कथन

1. इस पुस्तक में दक्षिण एशिया और जिन अन्य क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है, उनकी परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा : एन इन्क्वायरी इन टू दि पावर्टी आफ नेशन्स (एलेन लेन दि पेनगुइन प्रेस एण्ड पेनगुइन बुक्स, 1968), अध्याय-1, अनुभाग-1, पृष्ठ 41

## अध्याय 1

### दृष्टिकोणों को पूर्वाग्रहों से मुक्त करने का प्रयास

1. पिछड़ेपन और विकास की परिभाषाओं के लिए, देखिए, एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-1 (पृष्ठ 1839 और आगे) तथा परिशिष्ट-2, अनुभाग 5-7 (पृष्ठ 1859 और आगे), 12 (पृष्ठ 1878 और आगे)। विकास के लिए आयोजन की समस्याओं पर अध्याय-15 और परिशिष्ट-2, खण्ड-3 और 4 में विचार किया गया है।
2. इस पहले अध्याय के विचार के पूर्ण विवेचन के लिए देखिए, एशियन ड्रामा, आमुख, अध्याय-2
3. मिर्डल, आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च (न्यूयार्क : पोन्थियन बुक्स, 1969) और वे अन्य सन्दर्भ जिनका इस पुस्तक में उल्लेख हुआ है।
4. एशियन ड्रामा, अध्याय-21, अनुभाग 6-7 (पृष्ठ 977 और आगे)
5. वही, आमुख, अनुभाग-2 (पृष्ठ 8 और आगे)
6. वही, अध्याय-21, अनुभाग-8 (पृष्ठ 984 और आगे, विशषकर पृष्ठ 989)
7. वही, आमुख, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 10 और आगे)
8. वही, परिशिष्ट-1 (पृष्ठ 1839), 'शब्दावली के माध्यम से राजनय'। राजनयिक शब्दावली का यही एकमात्र उदाहरण नहीं है। कभी-कभी आवश्यकता से अधिक बोझिल 'स्वतन्त्र संसार' जैसे प्रचारात्मक शब्द वैज्ञानिक साहित्य में घुस आते हैं; देखिए, एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-4 (पृष्ठ 12 और आगे)
9. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-5 (पृष्ठ 16 और आगे)
10. वही, आमुख, अनुभाग-7 (पृष्ठ 24 और आगे)
11. एशियन ड्रामा में मैंने 'आधुनिक दृष्टिकोण' शब्द का इस्तेमाल किया है (अध्याय-21, अनुभाग-1, पृष्ठ 961 और आगे) और इसका प्रयोग यही भाव प्रकट करने के लिए किया गया है।

12. वही, अध्याय 21 और परिशिष्ट-6
13. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-5 (पृष्ठ 16 और आगे), अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे); परिशिष्ट-2, अनुभाग 8-11 (पृष्ठ 1870 और आगे), अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे); परिशिष्ट-3, अनुभाग-3, (पृष्ठ 1946 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1912 और आगे)
15. वही, आमुख, अनुभाग-6 (पृष्ठ 20 और आगे)
16. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 20-21 (पृष्ठ 1903 और आगे)
17. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 1878 और आगे); परिशिष्ट-3, विशेषकर अनुभाग-8 (पृष्ठ 1961 और आगे)
18. वही, अध्याय-21; परिशिष्ट-6; परिशिष्ट-2, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1901 और आगे)
19. वही, अध्याय-21, अनुभाग 10-13 (पृष्ठ 995 और आगे)
20. वही, अध्याय-21, खण्ड-3
21. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
22. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1903 और आगे)
23. वही, अध्याय-24, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 1184 और आगे); अध्याय-25, अनुभाग-5, (पृष्ठ 1225 और आगे)
24. वही, अध्याय-21, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 981 और आगे, 989 और आगे)
25. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ 677 और आगे) परिशिष्ट-10
26. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे)
27. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डिवेलप्ड रिजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी 1957) संयुक्त राज्य अमरीका में रिचलेंड्स एण्ड पूअर (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958) शीर्षक से प्रकाशित, पृष्ठ 129 और आगे (यह और बाद के पृष्ठों के उद्धरण इंग्लैण्ड में प्रकाशित संस्करण की पृष्ठसंख्या के अनुसार दिये गये हैं।)
28. एशियन ड्रामा, भूमिका; आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
29. एशियन ड्रामा में दो ऐसी बातों पर विशेष रूप से जोर दिया गया है, जिनसे इस पुस्तक का अध्ययन कुछ कठिन हो सकता है। लेकिन ये ऐसी बातें थी, जो लेखक के लिए अनिवार्य थी और इनमें संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण और उपलब्ध आँकड़ों की आलोचना प्रस्तुत की गयी है; ये दोनों बातें उन कारणों से जिनका पुस्तक में उल्लेख किया गया है, एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, देखिए, वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-4 (पृष्ठ 474 और आगे); अध्याय-12, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 529 और आगे); अध्याय-13, अनुभाग-1 (पृष्ठ 581 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग-1 (पृष्ठ 674 और आगे); अध्याय-17, अनुभाग 1-3 (पृष्ठ 799 और आगे); अध्याय-18, अनुभाग-1 (पृष्ठ 849 और आगे); अध्याय-19, अनुभाग-1 (पृष्ठ 902 और आगे); अध्याय-21; अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे); अध्याय-29, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1533 और आगे); अध्याय-30; अनुभाग-1 (1553 और आगे); और परिशिष्ट 1-8

30. सामाजिक अनुसन्धान में निरपेक्षता, अनुभाग-8
31. एशियन ड्रामा, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 26 और आगे)
32. वही, अध्याय-29, अनुभाग-4-7 (पृष्ठ 1540 और आगे)
33. वही, परिशिष्ट-4; देखिए, परिशिष्ट-2, अनुभाग-22 (पृष्ठ 1919 और आगे)
34. वही, परिशिष्ट-2, खण्ड-2
35. वही, परिशिष्ट-2, विशेषकर अनुभाग 5-11, 19-21 (पृष्ठ 1859 और आगे 1901 और आगे)
36. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 31 और आगे)
37. देखिए, वही, परिशिष्ट-2 और 3
38. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-19 और 20 (पृष्ठ 1901 और आगे); परिशिष्ट-3, विशेषकर अनुभाग-3 (पृष्ठ 1946 और आगे)
39. वही, आमुख, अनुभाग-9 (पृष्ठ 31 और आगे); अध्याय-2, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 50 और आगे)। मैंने सामाजिक अनुसन्धान मे निरपेक्षता मे निहित प्रमुख विचारों को विशेषकर अनुभाग 11-14 में सरल शब्दावली मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और अपनी पहले की रचनाओ का हवाला दिया है।
40. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 54 और आग); खण्ड-4
41. अपने व्यक्तिगत मूल्यांकनो के आधार पर लेखक को यह चिन्ताजनक लगता है कि उसके निष्कर्ष के अनुसार राजनीतिक लोकतन्त्र आधुनिकीकरण के आदर्शों का एक आवश्यक तत्त्व नही है। अन्य मूल्य सम्बन्धी मान्यताओं के विपरीत यह आदर्श एक ऐसी प्रणाली के लिए अनिवार्य नही है, जिसमे अन्य सब आधुनिकीकरण आदर्श मौजूद हो। लेकिन इसका यह अभिप्राय नही है कि लोकतन्त्री शासन के स्थान पर एकतन्त्री शासन की स्थापना इस बात का अधिक आश्वासन प्रदान करती है कि नीतियो को इन आधुनिकीकरण आदर्शों की प्राप्ति की दिशा में निर्देशित किया जायेगा अथवा इस प्रकार निर्देशित होने की स्थिति में ये अधिक प्रभावशाली हो सकेंगे। देखिए, एशियन ड्रामा, पृष्ठ 67 और आगे।
42. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग-3 (पृष्ठ 54 और आगे)
43. वही, पुनश्च: अनुभाग-2 (पृष्ठ 1834 और आगे)
44. मैंने सामान्य शब्द 'मूल्य' का उन कारणों से प्रयोग नहीं किया है, जिनका स्पष्टीकरण एशियन ड्रामा, पृष्ठ 32, पाद टिप्पणी-2 में दिया गया है।
45. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-1 (पृष्ठ 71 और आगे)
46. वही, अध्याय-3, विशेषकर अनुभाग-2 (पृष्ठ 74 और आगे)
47. वही, अध्याय-3, अनुभाग-3 (पृष्ठ 81 और आगे); अध्याय-33, अनुभाग-3, 4, 6 (पृष्ठ 1728 और आगे, 1743 और आगे, 1768 और आगे)

## अध्याय 2
## परिस्थितियों का अन्तर

1. 'निषेध' और 'अवरोध' की परिभाषा के लिए और विकास के किसी नमूने

में इन दोनों संकल्पनाओं के योगदान के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-1 (पृष्ठ 71 और आगे); परिशिष्ट-2, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1878 और आगे)

2. एशियन ड्रामा, अध्याय-14, अनुभाग-5 (पृष्ठ 688 और आगे)
3. वही, अध्याय-14, अनुभाग-9 (पृष्ठ 700 और आगे)
4. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ *676 और आगे*); *अध्याय-11, अनुभाग-*7 (पृष्ठ 510 और आगे)
5. वही, अध्याय-14, अनुभाग-2 (पृष्ठ 677 और आगे); परिशिष्ट-10
6. वही, अध्याय-14, अनुभाग-3 (पृष्ठ 681 और आगे)
7. वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1389 और आगे); परिशिष्ट-11
8. वही, अध्याय-28, अनुभाग-1-3 (पृष्ठ 1464 और आगे)
9. इसके लिए देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-14, अनुभाग-4 (पृष्ठ 682 और आगे); अध्याय-13, विशेषकर अनुभाग 1, 5, 6 (पृष्ठ 581 और आगे, 595 और आगे, 603 और आगे)
10. एशियन ड्रामा, अध्याय-10, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 442 और आगे)
11. वही, अध्याय-13, अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 640 और आगे)
12. वही, अध्याय-13, अनुभाग-14 (पृष्ठ 649 और आगे)
13. वही, अध्याय-13, अनुभाग-16 (पृष्ठ 661 और आगे)
14. वही, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे); अध्याय-19, अनुभाग-7 (पृष्ठ *926* और आगे); अध्याय-24, अनुभाग-2 (विशेषकर 1158 और आगे परिशिष्ट-8, खण्ड-1)
15. वही, अध्याय-14, अनुभाग 6-7 (पृष्ठ 691 और आगे)
16. वही, अध्याय-14, अनुभाग 8-9 (पृष्ठ 697 और आगे)
17. वही, अध्याय-14, अनुभाग 9 (पृष्ठ 700 और आग)
18. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग 19-20 (पृष्ठ 1901 और आगे)
19. वही, अध्याय-14, अनुभाग-1 (पृष्ठ 674 और आगे)
20. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1847 और आगे)
21. वही, आमुख, अनुभाग-6 (पृष्ठ 22)

## अध्याय 3
## समानता का प्रश्न

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-10 (पृष्ठ 769 और आगे)
2. दक्षिण एशिया की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के सम्बन्ध मे देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12 विशेषकर *अनुभाग 7-8* (पृष्ठ *563* और आगे), परिशिष्ट-14, अध्याय-15, अनुभाग-8 (पृष्ठ 737 और आगे), अध्याय-16, अनुभाग 6-10 (पृष्ठ 756 और आगे), अध्याय-18 विशेषकर अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे), अध्याय-19, अनुभाग 6 (पृष्ठ 926 और आगे), अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1052 और आगे), अध्याय-26, अनुभाग 12-20 (पृष्ठ 1301 और आगे), अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1790 और आगे)

3. मैंने इस विषय पर विस्तार से विचार 'दि पालीटिकल एलीमेंट इन दि डेवेल्पमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी' (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953, संयुक्त राज्य अमरीका में 1965 में हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित), और इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डिवेल्प्ड रिजन्स के खण्ड-2 (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957, संयुक्त राज्य अमरीका में 1969 में हार्पर एण्ड रो द्वारा रिचलैंड्स एण्ड पूअर नाम से प्रकाशित) में किया है। देखिए, आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च, अनुभाग 17-23
4. (बियांड दि वैलफेयर स्टेट डकबर्थ एण्ड कम्पनी, 1960), खण्ड-1

4क. गुस्ताव आर० पापानेक, पाकिस्तान डेवेल्पमेण्ट : सोशल गोल्स एण्ड प्राइवेट इन्सेंटिव्स (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968), पृष्ठ 178, 242

5. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-3 (पृष्ठ 745 और आगे)
6. वही, अध्याय-16, अनुभाग-1 (पृष्ठ 741 और आगे)
7. वही, अध्याय-15, अनुभाग-2 (पृष्ठ 712 और आगे)
8. वही, अध्याय-16, अनुभाग-2 (पृष्ठ 743 और आगे)
9. जवाहरलाल नेहरू, दि डिस्कवरी आफ इंडिया (चौथा संस्करण, मेरीडियन बुक्स, 1956), पृष्ठ 513
10. 'स्ट्रेटेजी आफ दि थर्ड प्लान', प्राब्लम्स इन दि थर्ड प्लान—ए क्रिटीकल मिसलेनी (नई दिल्ली, 1961), पृष्ठ 50
11. ऊपर उद्धृत
12. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-4, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 2005 और आगे)
13. वही, अध्याय-16, अनुभाग-3 (पृष्ठ 745 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1912 और आगे)
15. 'रिसेन्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट, खण्ड-19, संख्या-1 (जून 1968), पृष्ठ 58
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-22, अनुभाग-5, 10 (पृष्ठ 1052 और आगे, 1083 और आगे)
17. एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग-7 (पृष्ठ 567 और आगे)
18. वही, पृष्ठ 1806
19. वही, अध्याय-3, अनुभाग 5-7 (पृष्ठ 93 और आगे)
20. वही, अध्याय-16, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 741 और आगे)
21. 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एक डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया' ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 57
22. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)
23. दक्षिण एशिया में विकास के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 563 और आगे); अध्याय 16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे); और सर्वत्र; देखिए, इस अध्याय की पाद टिप्पणी संख्या-2
24. वही, अध्याय-16, अनुभाग-8 (पृष्ठ 763 और आगे)
25. उदाहरण के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे); अध्याय-22, अनुभाग-5, पृष्ठ 1052 और आगे)
26. उदाहरण के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-18-20 (पृष्ठ

1334 और आगे); देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', ऊपर उद्धृत, विशेषकर पृष्ठ 49 और आगे
27. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)
28. वही, अध्याय 16, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 761, 765 और आगे)
29. वही, अध्याय-6
30. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12, (पृष्ठ 1301 और आगे)
31. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 779 और आगे)
32. वही, अध्याय-8, अनुभाग 3-6, (पृष्ठ 315 और आगे)
33. देखिए, गुस्ताव एफ० पापानेक, पाकिस्तान्स डेवेलपमेण्ट : सोशल गोल्स एण्ड प्राइवेट इनसेण्टिव्ज़
34. जोसिफ लेलीवेल्ड, 'डिफीकल्टीज इन पाकिस्तान काज़ रिएसेसमेण्ट आफ हर "सक्सेस",' न्यूयार्क टाइम्स, 9 मार्च 1969
35. एशियन ड्रामा, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
36. वही, अध्याय-8, अनुभाग-3 (पृष्ठ 315 और आगे)
37. वही, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
38. वही, अध्याय-4, अनुभाग-12 (पृष्ठ 169 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
39. वही, अध्याय-4, अनुभाग-4, 5, 7, 13 (पृष्ठ 138 और आगे, 149 और आगे, 173 और आगे)
40. वही, अध्याय-7, अनुभाग 3-7, (पृष्ठ 273 और आगे); देखिए अध्याय-4,
41. वही, अध्याय-4, अनुभाग-11 (पृष्ठ 162 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-11-12 (पृष्ठ 213 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-9-10 (पृष्ठ 373 और आगे)
42. वही, अध्याय-9, अनुभाग-10 (पृष्ठ 376 और आगे)
43. व्रॉन फेन व्रेनर, 'दि अपील आफ कनफिसकेशन इन इकानामिक डेवेलपमेण्ट', इकानामिक डेवेलपमेण्ट एण्ड सोशल चेंज, अप्रैल 1955
44. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-9, (पृष्ठ 2112 और आगे)
45. न्यूज वीक, 30 दिसम्बर 1968
46. एशियन ड्रामा, अध्याय-17, अनुभाग-9, विशेषकर पृष्ठ 823, पाद टिप्पणी-4
47. वही, अध्याय-16, अनुभाग-1, 2, 4, 5 (पृष्ठ 741 और आगे, 749 और आगे)
48. वही, अध्याय-16, अनुभाग-6 (पृष्ठ 756 और आगे)
49. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स, खण्ड-2
50. आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च, अनुभाग 3-5
51. दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में उदाहरणों के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-7 (पृष्ठ 761 और आगे) देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 49 और आगे
52. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-9 (पृष्ठ 765 और आगे)

## अध्याय 4
### खेती

1. जहाँ तक दक्षिण एशिया का सम्बन्ध है, इस अध्याय की पृष्ठभूमि एशियन ड्रामा, अध्याय-22, 26 में मिल सकती है।
2. वही, अध्याय-10, अनुभाग-2 (पृष्ठ 417 और आगे)
3. खाद्य और कृषि संगठन, दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (रोम, 1968) रेखाचित्र 3-3, पृष्ठ 78; खाद्य और कृषि संगठन की अन्य वर्षों की रिपोर्टें भी देखिए जो इसी नाम से प्रकाशित हुई हैं।
4. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 546 और आगे); अध्याय-10, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 442 और आगे); अध्याय-17, अनुभाग-3 (पृष्ठ 808 और आगे)
5. वही, अध्याय-26, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1278 और आगे)
6. वही, अध्याय-26, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1244 और आगे)
7. वही, पृष्ठ 1245, पाद टिप्पणी-5
8. खाद्य और कृषि संगठन, दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 9 और आगे
9. वही, पृष्ठ 75 और आगे
10. वही,
11. दक्षिण एशिया के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-12, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 568 और आगे, अध्याय-30, अनुभाग-11, पृष्ठ 1602 और आगे) शेष कम-विकसित संसार के लिए दि स्टेट आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर के विभिन्न वर्षों की रिपोर्टों के अलावा खाद्य और कृषि संगठन के अन्य अनेक प्रकाश देखिए विशेषकर थर्ड वर्ल्ड फूड सर्वे (रोम, 1963 और अमरीकी राष्ट्रपति की विज्ञान सलाहकार समिति द्वारा तैयार अत्यधिक उपयोगी रिपोर्ट द वर्ल्ड फूड प्राब्लम, वाशिंगटन, 1967) जो एशियन ड्रामा के लेखन के समय उपलब्ध नहीं थी।
12. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग 11-13 (पृष्ठ 1602 और आगे)
13. वही, अध्याय-3, अनुभाग-5 (पृष्ठ 93 और आगे); अध्याय-30, अनुभाग-11, 13 (पृष्ठ 1602 और आगे, 1616 और आगे)
14. मिर्डल, 1965 के मैकडोगल स्मारक भाषण में उद्धृत। यह भाषण 24 नवम्बर 1965 को रोम में खाद्य और कृषि संगठन के सम्मेलन में हुआ था।
15. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968) पृष्ठ 78 और आगे
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 1-3 (पृष्ठ 1241 और आगे, 1251 और आगे) अध्याय-10, अनुभाग 3-5 (पृष्ठ 417 और आगे)
17. श्रम के कम उपयोग और यहाँ वर्णित अन्य संकल्पनाओं की परिभाषा के लिए देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय 21, विशेषकर अनुभाग-15 (पृष्ठ 1012 और आगे), वही, परिशिष्ट-6
18. एशियन ड्रामा, अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
19. वही, अध्याय-22

20. वही, परिशिष्ट-2, अध्याय-1 और 2
21. वही, अध्याय-29, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1251 और आगे)
22. वही, अध्याय-21, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1007 और आगे); परिशिष्ट-6, अनुभाग-6-7 (पृष्ठ 2050 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग-3, 11 (पृष्ठ 1251 और आगे, 1294 और आगे)
23. वही, अध्याय-26, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1356 और आगे)
24. वही, अध्याय-26, अनुभाग-11 और अनुभाग 6-10 (पृष्ठ 1294 और आगे, 1261 और आगे)
25. लेटिन अमरीका आर्थिक आयोग, इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका 1966 (संयुक्त राष्ट्र संघ, न्यूयार्क, 1968), खण्ड-3, विशेषकर पृष्ठ 351 और 352
26. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 11-25 (पृष्ठ 1294 और आगे, 1377 और आगे)
27. वही, अध्याय-26, अनुभाग-6-11 (पृष्ठ 1261 और आगे)
28. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1150 और आगे)
29. वही, परिशिष्ट-1
30. वही, अध्याय-24, अनुभाग-2, 11 (पृष्ठ 1155 और आगे, 1202 और आगे)
31. वही, अध्याय-17, अनुभाग-6-10, 14, 15 (पृष्ठ 715 और आगे, 840 और आगे)
32. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1153 और आगे); परिशिष्ट-6, विशेषकर अनुभाग-10 (पृष्ठ 2061)
33. वही, अध्याय-24, अनुभाग-1, 5 (पृष्ठ 1153 और आगे, 1172 और आगे)
34. वही, अध्याय-24, अनुभाग-5, 10, 11
35. वही, अध्याय-24, अनुभाग-6; अध्याय-21, अनुभाग-1
36. वही, अध्याय-10, अनुभाग-11
37. वही, अध्याय-11, अनुभाग-4; अध्याय-23, अध्याय-4-9; अध्याय-26 अनुभाग-1
38. वही, अध्याय-23, अनुभाग-4-5 (पृष्ठ 1112 और आगे)
39. इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका, 1966, तालिका 283, पृष्ठ 326
40. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-2 (पृष्ठ 444 और आगे); परिशिष्ट-4, अनुभाग-2 (पृष्ठ 2008 और आगे)
41. वही, परिशिष्ट 2, अनुभाग-18, 20 (पृष्ठ 1897 और आगे)
42. वही, अध्याय-24, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1168 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग-6 (पृष्ठ 691 और आगे)
43. वही, अध्याय-25, विशेषकर अनुभाग-3, 5-9 (पृष्ठ 1217 और आगे, 1225 और आगे)
44. वही, अध्याय-26, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1241 और आगे)
45. वही, अध्याय-14, अनुभाग-7 (पृष्ठ 696 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1251 और आगे)

46. वही, अध्याय-26, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1253 और आगे); अध्याय-14, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 696 और आगे)
47. वही, अध्याय-21; अध्याय-22, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 1070 और आगे)
48. वही, अध्याय-26, अनुभाग-10 (पृष्ठ 1288 और आगे)
49. वही, अध्याय-22, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1047 और आगे)
50. वही, अध्याय-22, विशेषकर अनुभाग-5, 11 (पृष्ठ 1052 और आगे)
51. 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेलपमेण्ट्स इन एशिया', इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फार ईस्ट, जिल्द 19, संख्या-1 (जून 1968), पृष्ठ 51
52. इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमरीका, 1966, खण्ड-3 (संयुक्त राष्ट्र, न्यूयार्क, 1968)
53. वही, पृष्ठ 312
54. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 12-17 (पृष्ठ 1301 और आगे)
55. इकानामिक सर्वे आफ लेटिन अमरीका 1967, पृष्ठ 334 और आगे
56. वही, पृष्ठ 338
57. वही, पृष्ठ 353 और आगे
58. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग 18-20 (पृष्ठ 1334 और आगे); देखिए अध्याय-18 भी, विशेषकर अनुभाग-12-13 (पृष्ठ 883 और आगे); देखिए 'रीसेण्ट सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेल्पमेण्ट्स इन एशिया', पृष्ठ 52
59. 'सोशल ट्रेंड्स एण्ड डेवेलपमेण्ट्स इन एशिया', पृष्ठ 52
60. एशियन ड्रामा, अध्याय-18, विशेषकर अध्याय-12 (पृष्ठ 883 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग 18-19 (पृष्ठ 1334 और आगे)
61. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1339 और आगे)
62. भारत सम्बन्धी कुछ अनुमानों के लिए देखिए एशियन ड्रामा, पृष्ठ 1344, पाद टिप्पणी-4
63. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-25 (पृष्ठ 1377 और आगे)
64. वही, अध्याय-22
65. वही, अध्याय-19
66. वही, पृष्ठ 1352, 1382 और आगे
67. वही, अध्याय-26, अनुभाग 22-24 (पृष्ठ 1366 और आगे)
68. वही, अध्याय-26, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1346 और आगे)
69. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1255 और आगे)
70. वही, अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
71. वही, अध्याय-21, अनुभाग-12-14 (पृष्ठ 1001 और आगे); परिशिष्ट-6, अनुभाग 8-9 (पृष्ठ 2055 और आगे)
72. वही, अध्याय-25, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1210 और आगे) अध्याय-26, अनुभाग-21 (पृष्ठ 1356 और आगे)
73. वही, अध्याय-26, अनुभाग 22-24 (पृष्ठ 1356 और आगे)
74. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1304, पाद टिप्पणी-2)
75. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1255 और आगे)
76. वही, अध्याय-26, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1259 और आगे)

77. वही, अध्याय-26, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1257 और आगे) और अध्याय-22, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1064 और आगे)
78. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 81 और आगे
79. ऊपर उद्धृत
80. 'अब तक विभिन्न किसानों द्वारा बीज के चुनाव पर निर्भरता का यह अर्थ होता था कि एक ही फसल उगाने वाले आसपास के खेतों में एक ही फसल की दो या इससे अधिक किस्में उगाई जाती थी। एक ही फसल की किस्मों की यह विविधता पौधों के व्यापक रोगों से स्वाभाविक सुरक्षा प्रदान करती थी, क्योंकि पौधों की सब किस्मों पर एक ही रोग का समान प्रभाव नहीं होता। लेकिन जहाँ कहीं एक ही किस्म के पौधे बहुत बड़े इलाके में लगातार बोये जाते हैं, वहाँ रोग के फैलने का बहुत अधिक खतरा मौजूद रहता है ··· एक ऐसे किसी भी बड़े रोग के लिए दोष भाग्य को नहीं, बल्कि अद्भुत बीज उगाने वालों और इसे बोने की सिफारिश करने वालों को दिया जायेगा जो हजारों किसानों की फसल को बर्बाद कर डाले। इस स्थिति में कृषि विकास अनेक दशक पीछे पड़ जायेगा।' (विलपटन आर० व्हार्टन, जूनियर, 'दि ग्रीन रिवोल्यूशन, कोनूकोपिया और पण्डोरोज़ बाक्स' फारेन अफेयर्स, अप्रैल 1969, पृष्ठ 468 और आगे)
80क. दि स्टेट ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर (1968), पृष्ठ 81 और आगे
81. हेरोशी किनामरा 'इकानामिक सिचुएशन इन एशिया' इकानामिक बुलेटिन फार एशिया एण्ड दि फारइस्ट, खण्ड-19, अंक-1 (जून 1968), पृष्ठ 41
82. लेस्टर आर ब्राउन, 'न्यू डायरेक्शन इन. वर्ल्ड एग्रीकल्चर,' स्टडीज इन फैमिली प्लानिंग अंक-31 (जून 1968) लीले शर्टेज चैलेन्ज ऑफ दि सैबेनटीज: इम्प्रूव एग्रीकल्चर इन दि लैस डिवेल्प्ड कन्टरीज, संयुक्त राज्य सरकार का कृषि विभाग (पृष्ठ 435-69) 11 फरवरी 1969, साइक्लोस्टाइल प्रति।
83. 'दि एग्रीकल्चरल रिवोल्यूशन इन एशिया', फारेन एफेयर्स, जिल्द 46, अंक-4, जुलाई 1968
84. एशियन ड्रामा, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1342 और आगे)
85. वही, अध्याय-26, अनुभाग-19 (पृष्ठ 1345 और आगे)
86. इस सम्मेलन में पढ़े गये लेखों को डेवेलपमेण्ट एण्ड चेंज इन ट्रेडिशनल एग्रीकल्चर: फोकस आन साउथ एशिया (साइक्लोस्टाइल प्रति) शीर्षक से प्रकाशित किया गया है (ईस्ट लांसिंग, मिशिगन, नवम्बर 1968)
87. वही, पृष्ठ 59
88. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था, प्राइमर आन टाइटिल-9 ऑफ दि यूनाइटेड स्टेटस फारेन असिस्टेन्स एक्ट वाशिंगटन, 1968
89. दि रोल आफ पापुलर पार्टिसिपेशन इन डेवेलपमेण्ट, अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र, मेसाचूसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी (कैम्ब्रिज, मेसाचूसेट्स): नवम्बर 1968
90. वही, पृष्ठ 1
91. गुन्नार मिर्डल, चेलेंज ऑफ एफ्लूएंस (न्यूयार्क: पानथियन बुक्स, 1963;

विनटेज बुक्स संस्करण, 1965), अध्याय-10, विशषकर पृष्ठ 144। यह और बाद की पृष्ठ संख्याएँ विंटेज संस्करण के अनुसार हैं।
92. देखिए, रिपोर्ट आफ दि वर्ल्ड लैण्ड रिफार्म कान्फ्रेंस, 1966, संयुक्तराष्ट्र 1968, विशेषकर भाग 3, 'एन एनेलाइसिस ऑफ दि मेन इशूज आफ दि कान्फ्रेंस' लेखक इरिच एच० जैकोबी और जान हिग्ज़।
93. संयुक्त राष्ट्र का खाद्य और कृषि संगठन, प्रोविजनल, इन्डीकेटिव वर्ल्ड प्लान फार एग्रीकल्चरल डेवेलपमेण्ट ए सिन्थेसिस एण्ड एनीलासिस ऑफ फैक्टर्स रेलीवेंट टू वर्ल्ड, रिजनल एण्ड नेशनल एग्रीकल्चरल डेवेलपमेण्ट, रोम, अगस्त, 1969, 3 खण्ड। प्रमुख रिपोर्ट के अलावा पश्चिम एशिया, लेटिन अमरीका, सहारा के दक्षिण के अफ्रीका के देश, और दक्षिण तथा पूर्व एशिया के बारे मे प्रायः इतने ही बृहद चार और अध्ययन भी।
94. 1965 रिपोर्ट आन दि वर्ल्ड सोशल सिचुएशन (संयुक्तराष्ट्र, न्यूयार्क 1966)
95. वही, पृष्ठ 79 और आगे
96. संयुक्तराष्ट्र, 1963, साइक्लोस्टाइल प्रति, ए।7248, ई। सी एन० 5।417

## अध्याय 5
## आबादी

1. देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-27 और 28। आबादी की सम्भावनाओं और आबादी सम्बन्धी नीति के लिए
2. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, विशेषकर अनुभाग-1 (पृष्ठ 474 और आगे)
3. वही, अध्याय-12, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 529 और आगे)
4. अध्याय-21 और परिशिष्ट-6
5. वही, अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे)
6 वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1389 और आगे)
7. वही, अध्याय-27, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1448 और आगे)
8. वही, अध्याय-27, अनुभाग-4-6 (पृष्ठ 1402 और आगे)। अध्याय-30, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 1567 और आगे)
9. वही, अध्याय-27, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1402 और आगे)
10. वही, अध्याय-27, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1408 और आगे)
11. वही, अध्याय-27, अनुभाग-7-11 (पृष्ठ 1422 और आगे)
12. वही, अध्याय-27, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1443 और आगे)
13. वही, अध्याय-27, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1391 और आगे)
14. वही, अध्याय-28, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1470)
15. वही, अध्याय-30, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1554 और आगे)
16. वही, अध्याय-28, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1496 और आगे)
17. उदाहरण के लिए देखिए जान टिनबर्जेन, दि डिजाइन आफ डेवेल्पमेण्ट (बाल्टीमोर, जान हापिकन्स प्रेस, 1958), पृष्ठ 14
18. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-7, अनुभाग-1 (पृष्ठ 2063 और आगे)
19. पापुलेशन ग्रोथ एण्ड इकानामिक डेवेलपमेण्ट इन लो इनकम कंट्रीज (आक्स-

फोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1958
20. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1464 और आगे)
21. वही, अध्याय-28, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1465 और आगे)
22. वही, पृष्ठ 1469, पाद टिप्पणी I
23. 1968 एनुअल मीटिंग आफ दि बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, समरी प्रोसीडिंग्स (वाशिंगटन, 1969)
24. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1467 और आगे)
25. वही, परिशिष्ट-11
26. वही, अध्याय-28, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1471 और आगे)
27. वही, परिशिष्ट 7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 2066 और आगे)
28. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1513 और आगे)
29. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे)
30. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1523)
31. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे)
32. वही, अध्याय-28, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1505 और आगे)
33 वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1474 और आगे)
34. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1507 और आगे)
35. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1515 और आगे); परिशिष्ट-12
36. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1512 और आगे)
37. वही, अध्याय-28, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1518 और आगे)
38. इन्टरनेशनल प्लाड पेरेंटहुड फेडरेशन, फैमिली प्लानिंग इन फाइव कांटीनेंट्स (लन्दन : अगस्त 1969)
39. *एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-15 (पृष्ठ 1526 और आगे)*; परिशिष्ट-12, अनुभाग-4 (पृष्ठ 2161)
40. वही, अध्याय-28, अनुभाग-15 (पृष्ठ 1526 और आगे); पुनश्च:, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831 और आगे)
41. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1582 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1593 और आगे)
42. वही, पुनश्च:, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831)। देखिए सजलवसु और शंकरराय भी, इम्पैक्ट ऑफ इन्ट्रा-यूटेरीन कन्ट्रासेप्टिव डिवाइसेज़, इकानामिक एण्ड पालिटिकल वीकली (8 जून 1968)
43. एशियन ड्रामा, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1473 और आगे) उपनिवेशी युग के लिए देखिए, अनुभाग 6-8 (पृष्ठ 1480 और आगे)
44. वही, अध्याय-28, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1475 और आगे)
45. वही, अध्याय-28, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1489-95, विशेषकर पृष्ठ 1494 और आगे)
46. वही, अध्याय-28, अनुभाग-13 (पृष्ठ 1507-13), विशेषकर पृष्ठ 1509
47. कार्ल ई० टेलर, 'हेल्थ एण्ड पापुलेशन', फारेन एफेयर्स (अप्रैल 1965) और 'फाइव स्टेजेज़ इन ए प्रैक्टिकल पापुलेशन पालिसी,' इन्टरनेशनल डेवेलपमेण्ट रिव्यू (दिसम्बर, 1968)

## अध्याय 6
## शिक्षा

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1670 और आगे)
2. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (रेखाचित्र 32–2, पृष्ठ 1677 और पृष्ठ 1671, पाद टिप्पणी-2)
3. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1671, पाद टिप्पणी-3)
4. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1714 और आगे)
5. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1715, पाद टिप्पणी 4 और 6)
6. वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-2 (विशेषकर तालिका 11-1, पृष्ठ 477); परिशिष्ट 13, (पृष्ठ 2165 और आगे)
7. वही, अध्याय-29, अनुभाग-4 (विशेषकर पृष्ठ 1544)
8. वही, अध्याय-29, अनुभाग 4-7 (पृष्ठ 1540 और आगे)
9. वही, परिशिष्ट-3, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1956 और आगे)
10. वही, अध्याय-29, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1567 और आगे)
11. इन अध्यायों के 250 से अधिक पृष्ठों में मैंने दक्षिण एशिया में शिक्षा की समस्याओं के नये विश्लेषण का प्रयास किया है। ये अध्याय मेरे अध्ययन का एक ऐसा अंग हैं, जिनके बारे में मेरा विचार है कि मैंने कोई 'सिद्धान्त' प्रस्तुत करने और एक भिन्न दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने से कहीं अधिक गहराई से इस विषय का अध्ययन किया है। यदि शिक्षा विशेषज्ञों का ध्यान इस ओर नहीं जाता, तो मुझे निराशा होगी। यदि उनका ध्यान केवल इस कारण से इस ओर नहीं जाता कि यह हिस्सा एक ऐसी पुस्तक का अन्तिम भाग है, जिसकी विषयवस्तु अधिक सामान्य है और जिसका शीर्षक भी इसी प्रकार व्यापक अर्थ रखता है, और जिसका लेखक एक अर्थशास्त्री है, तो मुझ निराशा होगी।
12. एशियन ड्रामा, अध्याय-31, अनुभाग-3-4 (पृष्ठ 1632-1650)
13. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1632 और आगे)
14. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1641) और अनुभाग-4
15. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1757 और आगे)
16. वही, अध्याय-10, अनुभाग-9 (पृष्ठ 454 और आगे)
17. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1640 और आगे); अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1806 और आगे)
18. वही, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1653 और आगे)
19. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1659); अध्याय-33, अनुभाग-8, (पृष्ठ 1810 और आगे)
20. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1703 और आगे; विशेषकर तालिका 33-2)
21. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1703 और आगे), विशेषकर तालिका 33-3)
22. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1670 और आगे, विशेषकर तालिका

32-3, पृष्ठ 1672 पर)
23. वही, अध्याय-11, अनुभाग 1-2 (पृष्ठ 474-492)
24. इस पुस्तक मे मैंने निरन्तर मलाया का हाल में निर्मित एक कही वड़ी इकाई मलयेशिया के एक अधिक हमवार भाग के रूप मे उल्लेख किया है।
25. एशियन ड्रामा, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1655 और आगे)
26. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
27. वही, अध्याय-32, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1666 और आगे)
28. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1687)
29. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
30. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1685 और आगे)
31. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1724 और आगे) और अनुभाग-7 (पृष्ठ 1801 और आगे)
32. डब्लू एस वोयतिन्स्की, इण्डिया : दि अवेकनिंग जायंट (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1957, पृष्ठ 137)
33. एशियन ड्रामा, अध्याय-23, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1124-1131)
34. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (विशेषकर पृष्ठ 1690 और आगे)
35. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1657 और आगे)
36. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (विशेषकर तालिका 32-1, पृष्ठ 1660); अध्याय-33, अनुभाग-4, 6 (पृष्ठ 1743 और आगे, 1768 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1778 की तालिका), और 7 (पृष्ठ 1803 और आगे)
37. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1666)
38. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1665 और आगे)
39. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1712 और आगे, विशेषकर तालिका 33-4 पृष्ठ 1718 पर) देखिए अनुभाग 4, 6 (पृष्ठ 1743 और आगे 1768 और आगे)
40. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (विशेषकर पृष्ठ 1659)
41. वही, अध्याय-33, अनुभाग-2 और 7 (पृष्ठ 1791 और आग)
42. भारत के लिए देखिए नयी दिल्ली विश्वविद्यालय के कृषि अर्थशास्त्र अनुसन्धान केन्द्र का प्रकाशन प्राइमरी एजुकेशन इन रूरल इण्डियन : पार्टीसीपेशन एण्ड वेस्टेज, नयी दिल्ली, मई 1968 (साइक्लोस्टाइल प्रति)
43. एशियन ड्रामा, अध्याय-33, अनुभाग-2 (विशेषकर पृष्ठ 1724 और आगे)
44. वही, अध्याय-33, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1702 और आगे) और 2 (पृष्ठ 1725 और आगे)
45. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1728 और आगे)
46. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1730 और आगे) और 5 (पृष्ठ 1766 और आगे) देखिए, अध्याय-31, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1644 और आगे)
47. वही, अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1741 और आगे); अध्याय-3, अनुभाग-3 (पृष्ठ 81 और आगे)
48. वही, अध्याय 3, अनुभाग 3 (पृष्ठ 81 और आगे)
49. वही, अध्याय-32, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1655 और आगे) और अध्याय-33,

अनुभाग-3 (पृष्ठ 1737 और आगे)
50. वही, अध्याय-33, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1743 और आगे)
51. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1756 और आगे)
52. वही, अध्याय-31, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1642 और आगे)
53. 'शिक्षित बेरोजगारों' की सामाजिक समस्या के बारे में देखिए एशियन ड्रामा, अध्याय-23, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1124 और आगे)
54. एशियन ड्रामा, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1768 और आगे)
55. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1781 और आगे)
56. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1784 और आगे)
57. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1774 और आगे)
58. वही, अध्याय-33, अनुभाग 6 (पृष्ठ 1776 और आगे)
59. वही, अध्याय-33, अनुभाग 6 (विशेषकर रेखाचित्र 33-5, पृष्ठ 1778)
60. वही, अध्याय-33, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1760, अन्यत्र भी) अनुभाग-6 (पृष्ठ 1776 और आगे) अनुभाग-7 (पृष्ठ 1792 और आगे)
61. वही, अध्याय-9, अनुभाग-5-9 (पृष्ठ 360)
62. वही, अध्याय-30, अनुभाग-4 (पृष्ठ 1565 और आगे); अध्याय ३१, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1633 और आगे); अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1691 और आगे); और अध्याय-33, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1739)
63. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1798 और आगे)
64. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1774 और आगे)
65. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1801 और आगे) इसी अध्याय के पहले अनुभागों में अन्यत्र भी।
66. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 113 और आगे); अध्याय-15, अनुभाग-6 (पृष्ठ 730) अध्याय 16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 781 और आगे) तथा अनुभाग-19 (पृष्ठ 796)
67. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1827 और आगे)
68. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1810 और आगे)
69. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1811 और आगे)
70. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1813 और आगे)
71. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1658 और आगे) और अध्याय-33, अन्यत्र भी, विशेषकर अनुभाग-8 (पृष्ठ 1814 और आगे)
72. वही, अध्याय-33, अनुभाग-८ (पृष्ठ 1816 और आगे)
73. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1814 और आगे तथा पृष्ठ 1826)
74. वही, अध्याय-32, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1685 और आगे) और अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1809)
75. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1822 और आगे)
76. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1820 और आगे)
77. वही, अध्याय-33, अनुभाग-8 (पृष्ठ 1824 और आगे)
78. वही, अध्याय-32, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1659 पाद टिप्पणियों सहित)
79. वही, अध्याय-31, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1622 और आगे)

## अध्याय 7
## नरम राज्य


1. एशियन ड्रामा, अध्याय-2, अनुभाग-4 (पृष्ठ 66 और आगे); अध्याय-3, *अनुभाग-8 (विशेषकर पृष्ठ 117 और आगे); अध्याय 16, अनुभाग-13* (पृष्ठ 779 और आगे); अध्याय-18, अनुभाग-13 और विशेषकर अनुभाग-14 (पृष्ठ 895 और आगे); परिशिष्ट 2, अनुभाग-20 (विशेषकर पृष्ठ 1908 और आगे)
2. वही, परिशिष्ट-2, भाग 2 (पृष्ठ 1859 और आगे)
3. वही, अध्याय-8, अनुभाग-4-9 (पृष्ठ 319 और आगे)
4. वही, अध्याय-9, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 365 और आगे)
5. वही, अध्याय-16, अनुभाग 12-13 (पृष्ठ 775 और आगे), विशेषकर पृष्ठ 780
6. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-6 (विशेषकर पृष्ठ 1866), अन्यत्र भी
7. वही, अध्याय-18, अनुभाग-5 (पृष्ठ 859 और आगे), अनुभाग-१४ (पृष्ठ 895 और आगे), देखिए *अध्याय-22* और 23 भी *(तथा अन्यत्र भी)*
8. वही, अध्याय-18, अनुभाग-14 (पृष्ठ 897 और आगे)
9. वही, अध्याय-18, (अन्यत्र भी), देखिए, अध्याय-2, अनुभाग-2, (पृष्ठ 51 और आगे)
10. वही, अध्याय-19, अनुभाग-3 (विशेषकर 1910 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 1912 और आगे)
11. वही, अध्याय 16, अनुभाग-7 (पृष्ठ 761 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग-18-20 (पृष्ठ 1334 और आगे); अन्यत्र भी
12. वही, अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे)
13. वही, अध्याय-18, अनुभाग-13 (पृष्ठ 891 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 894 और आगे)
14. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-20 (पृष्ठ 1903 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 1909 और आगे)
15. वही, अध्याय-16, अनुभाग-8 (पृष्ठ 763 और आगे); अध्याय-7, *अनुभाग-5 (पृष्ठ 292 और आगे)*
16. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1303 और आगे); अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1052 और आगे)
17. *वही, अध्याय-26, अनुभाग 12-17 (पृष्ठ 1301 और आगे)*
18. वही, परिशिष्ट-8, अनुभाग-8 और 9 (पृष्ठ 2096 और आगे), विशेषकर (पृष्ठ 2098 और आगे)
19. वही, अध्याय-15, अनुभाग-8 (पृष्ठ 737 और आगे); *अध्याय 1-6*, अनुभाग 7-8 (पृष्ठ 761 और आगे); अध्याय-26, अनुभाग 12-20 (पृष्ठ 1301 और आगे) तथा अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 883 और आगे)
20. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 780 और आगे)

21. वही, अध्याय-19, अनुभाग-4 (पृष्ठ 916 और आगे) ; अध्याय-23, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1103 और आगे)
22. वही, अध्याय-10, अनुभाग-7 (पृष्ठ 445); अध्याय-11, अनुभाग-5 (पृष्ठ 506 और आगे)
23. वही, अध्याय-11, अनुभाग-9 (पृष्ठ 521 और आगे)
24. सकारात्मक नियन्त्रणों—अथवा प्रलोभनों—और नकारात्मक नियन्त्रणों—अथवा प्रतिबन्धों और कटौतियों के बीच अन्तर करता हूँ। नियन्त्रण अधिकारियों के विवेक पर आधारित हो सकते हैं। यह उस स्थिति में होगा, जब प्रशासनिक अधिकारियो के व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर ही उन्हे लागू करने अथवा लागू न करने की बात हो। ये नियन्त्रण उस समय किसी के विवेक पर आधारित नहीं होंगे, जब किसी निश्चित नियम के अनुसार इनका स्वतः पालन करना अनिवार्य हो अथवा दामों मे प्रेरित परिवर्तनों, तटकर अथवा उत्पादनशुल्क लगाकर यह कार्य किया जाना हो अथवा इस सम्भावना के बिना कि किसी खास कम्पनी के साथ पक्षपात किया जायेगा, उद्योग की किसी शाखा को सहायता दी जाये। यह अन्तिम अन्तर समग्र दृष्टि से, 'प्रत्यक्ष' अथवा 'भौतिक' के बीच तथा नियन्त्रणो और 'अप्रत्यक्ष' नियन्त्रणों के बीच है, जैसाकि सम्बन्धित साहित्य में विवरण दिया गया है। देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-19, अनुभाग-1 (पृष्ठ 903 और आगे)।
25. एशियन ड्रामा, अध्याय-19, अनुभाग-2 (पृष्ठ 905 और आगे)
26. वही, परिशिष्ट-5 (पृष्ठ 2031)
27. वही, अध्याय-19, अनुभाग 5-6 (पृष्ठ 919 और आगे, अन्यत्र भी); परिशिष्ट-8 (पृष्ठ 2077 और आगे) ; परिशिष्ट-5 (पृष्ठ 2031 और आगे)
28. वही, अध्याय-19, अनुभाग-4 (पृष्ठ 918 और आगे)
29. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-23 (पृष्ठ 1923 और आगे)
31. वही, अध्याय-19, अनुभाग-7 (पृष्ठ 926 और आगे); परिशिष्ट-8 (पृष्ठ 2077, अन्यत्र भी)
32. वही, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे) तथा अध्याय-24, अनुभाग-2, (पृष्ठ 1158 और आगे)
33. देखिए, विशेषरूप से वही, अध्याय-19, अनुभाग-7 (पृष्ठ 930, पाद टिप्पणी 6)
34. वही, अध्याय-20, (पृष्ठ 937 और आगे)
35. वही, अध्याय-20, अनुभाग-1 (पृष्ठ 939)
36. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 951 और आगे)
37. सैकेण्ड पब्लिक सर्विसेज इन्टरनेशनल एशियन रिजनल कान्फ्रेंस, 14 नवम्बर, 1968, साइक्लोस्टाइल प्रति
38. एशियन ड्रामा, अध्याय-20, अनुभाग-2 (पृष्ठ 940 और आगे)
39. वही, अध्याय-20, अनुभाग-3 (पृष्ठ 942 और आगे)
40. वही, अध्याय-20, अनुभाग-4 (पृष्ठ 947 और आगे)
41. वही, अध्याय-18, अनुभाग-5 (पृष्ठ 869 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 861);

अध्याय-20, अनुभाग-3 (पृष्ठ 949, पाद टिप्पणी-3)
42. वही, अध्याय-20, अनुभाग-2 (पृष्ठ 941)
43. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 951 और आगे)
44. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 953 और आगे)
45. वही, अध्याय-20, (पृष्ठ 937 और आगे)
46 वही, आमुख, अनुभाग-9 (पृष्ठ 31 और आगे)
47 मिर्डल, एन अमरीकन डीलेमा, दि नीग्रो प्राब्लम एण्ड माडर्न डेमोक्रेसी, लन्दन (हार्पर एण्ड रो, 1962), अध्याय-1, अनुभाग 6-12 (पृष्ठ 12 और आगे) मैंने दूसरे अध्यायों में भी इस समस्या पर फिर विचार किया है।
48. मिर्डल एन इन्टरनेशनल इकानामी, प्राब्लम्स एण्ड प्रासपेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1956), पृष्ठ 204 और आगे, बियांड दि वैलफेयर स्टेट (न्यू हावेन : येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1960), पृष्ठ 99 और आगे
49. मिर्डल, चैलेंज टू एफलुएंस (न्यूयार्क : विंटेज बुक्स, 1965), पृष्ठ 96 और आगे ; देखिए अमेरीकन डीलेमा, अध्याय-33 (पृष्ठ 709 और आगे)
50. एशियन ड्रामा, अध्याय-11, अनुभाग-4 (पृष्ठ 502 और आगे) ; अध्याय-23, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1145 और आगे) ; अन्यत्र भी
51. वही, अध्याय-20, अनुभाग-5 (पृष्ठ 953 और आगे)
52. एशियन ड्रामा, अध्याय-20, अनुभाग-6 (पृष्ठ 955 और आगे)

## अध्याय 8

### अन्यत्र स्थिति की दलील नहीं वल्कि एक चुनौती

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-30 (पृष्ठ 1553 और आगे)
2. वही, अध्याय 24-25 (पृष्ठ 1149 और आगे)
3. वही, परिशिष्ट-2, खण्ड-2, विशेषकर 5 (पृष्ठ 1859 और आगे) और अनुभाग-7 (पृष्ठ 1866 और आगे)
4. वही, परिशिष्ट-2, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1868 और आगे)
5. वही, अध्याय-11, अनुभाग-1 (पृष्ठ 447 और आगे)
6. वही, अध्याय-11, अनुभाग 3-4 (पृष्ठ 392 और आगे)
7. वही, अध्याय-12, अनुभाग-2 (पृष्ठ 530 और आगे)
8. वही, अध्याय-11, अनुभाग-1 (पृष्ठ 482); परिशिष्ट-13 (पृष्ठ 2165 और आगे)
9. वही, आमुख, अनुभाग-8 (पृष्ठ 30 और आगे)
10. वही, अध्याय-27, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1387 और आगे)
11. मोर्गनस्टर्न, आन दि एकुरेसी ऑफ इकानामिक आब्जरवेशन्स (दूसरा संस्करण ; आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1965)
12. वही, पृष्ठ 282
13. वही, पृष्ठ 300
14. 'कम्पेरेटिव सोशल रिसर्च इन दि यूनाइटेड नेशन्स' कम्पेयरिंग नेशन्स : दि यूज आफ क्वांटिटिव डाटा इन क्रास-नेशनल रिसर्च, सम्पादन मेरिट और

रोवकन (लन्दन : येल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1966) पृष्ठ 528, 535

## अध्याय 9

## व्यापार और पूँजी का प्रवाह

1. यहाँ जो अत्यधिक सरलीकृत तर्क दिया गया है, उसे मेरी पुस्तक इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957) मे अधिक विस्तार से विकसित किया गया है। अमरीका मे इस पुस्तक का प्रकाशन रिचलैण्ड्स एण्ड पुअर (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958) शीर्षक से हुआ है। विशेपरूप से देखिए, अध्याय-1 (पृष्ठ 3 और आगे) और 11 (पृष्ठ 147 और आगे)। यहाँ और इसके बाद पाद टिप्पणियों में जो पृष्ठसख्या दी गयी है, वह अग्रेजी संस्करण के अनुसार है।
2. इकानामिक थ्योरी, अध्याय-10 (पृष्ठ 135 और आगे)
3. वही, अध्याय-1 और 11
4. वही, अध्याय-3 (पृष्ठ 23 और आगे)
5. वही, अध्याय-2 (पृष्ठ 11 और आगे) और विशेपकर अध्याय 5 (पृष्ठ 50 और आगे)
6. एशियन ड्रामा, अध्याय-5, अनुभाग-4 (पृष्ठ 188 और आगे)
7. एशियन ड्रामा, में वस्तुत: दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में अधिक विशिष्ट प्रेक्षण किये गये हैं। देखिए, विशेपकर अध्याय-10, अनुभाग-7-9 (पृष्ठ 442 और आगे)
8. कम-विकसित देशों के विदेश व्यापार का सयुक्त राष्ट्र के विश्व आर्थिक सर्वेक्षणों, क्षेत्रीय आर्थिक आयोगों, व्यापार और तटकर सम्वन्धी सामान्य करार और इधर संयुक्त राष्ट्र के विकास और व्यापार सम्मेलन के सचिवालय द्वारा किये गये अनेक अध्ययनों में विस्तार से विश्लेपण किया गया है।

   निर्यात और आयात, अन्य आर्थिक संकल्पनाओ, जैसे राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन, बचत आदि की तुलना मे कही अधिक स्पष्ट संकल्पनाएँ हैं। इनके बारे में सांख्यिकी सम्बन्धी प्रेक्षण भी अधिक सही और व्यापक हैं। देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-1 (पृष्ठ 583)

   दक्षिण एशिया के देशो के व्यापार के विकास और उसकी सम्भावनाओं के बारे में देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13 (पृष्ठ 581 और आगे) विशेपकर अनुभाग-5 (पृष्ठ 595 और आगे) और अनुभाग 12-15 (पृष्ठ 640 और आगे)
9. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-5 (पृष्ठ 595 और आगे); अनुभाग-12 (पृष्ठ 640 और आगे)
10. दक्षिण एशिया के लिए देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-13,14, 15 (पृष्ठ 643 और आगे)
11. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-17 (पृष्ठ 669 और आगे); अध्याय-24, अनुभाग-3 (पृष्ठ 1160 और आगे);, परिशिष्ट-8, अनुभाग-3
12. वही, अध्याय-13, अनुभाग-9 (पृष्ठ 621 और आगे) और अनुभाग-16,

पृष्ठ 661 और आगे)

13. उदाहरण के लिए देखिए, संयुक्त राष्ट्र, प्रावलम्ज आफ पालीसीज ऑफ फाइनेंसिंग, संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन, दूसरा अधिवेशन, नयी दिल्ली, खण्ड-4 (न्यूयार्क, 1968, पृष्ठ 28 और आगे)
14. वही, पृष्ठ 33, देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-16 (पृष्ठ 664 और आगे)
15. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी : प्राब्लम्स एण्ड प्रासपेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, *1956*), अब हारपर टार्च बुक द्वारा प्रकाशित (*1969*) अध्याय-13, (विशेषकर पृष्ठ 288 और आगे)
16. मिर्डल, बियाण्ड दि वैलफेयर स्टेट (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1960), अध्याय-5 (पृष्ठ 77 और आगे); देखिए इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प रीजन्स भी, अध्याय-4, (विशेषकर पृष्ठ 47 और आगे)
17. मिर्डल, बियांड दि वैलफेयर स्टेट, अध्याय-10 (पृष्ठ 77 और आगे), अन्यत्र भी
18. मिर्डल, चैलेंज टू एफलूएंस; (न्यूयार्क : विन्टेज बुक्स, 1965), अध्याय-7, (पृष्ठ 95 और आगे); मिर्डल, एन अमेरिकन डीलेमा (लन्दन : हारपर एण्ड रो 1962), अध्याय 33
19. संयुक्त राष्ट्र, *दि सिगनीफिकेंस आफ दि सैकण्ड सेशन आफ दि यूनाइटेड* नेशन्स कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डेवेलपमेंट, सम्मेलन के महामन्त्री की रिपोर्ट (न्यूयार्क 1968, पृष्ठ 1)
20. वही, पृष्ठ 20
21. परिणाम के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए वही और ब्रामिस्लाव गोसोविक, संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन : नार्थ-साउथ एनकाउण्टर, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए कारनेगी संस्थान की अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव पुस्तकमाला के अन्तर्गत प्रकाशित (मई 1968), संख्या 568, (पृष्ठ 51 और आगे)
22. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-15 (पृष्ठ 656 और आगे)
23. संयुक्त राष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवेलपमेंट, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क 1968), प्रस्ताव 23 (2), पृष्ठ 51
24. वही, प्रस्ताव 27 (2), पृष्ठ 38
25. वही, प्रस्ताव 29 (2), पृष्ठ 40 और आगे
26. वही, प्रस्ताव 30 (2) और 31 (2), पृष्ठ 42 और आगे
27. वही, प्रस्ताव 32 (2)
28. एल्विन हानसेन, दि डालर एण्ड दि इन्टरनेशनल मानीटरी सिस्टेम (न्यूयार्क : मैक्ग्रा-हिल बुक कम्पनी, 1965); विशेषरूप से देखिए, गुन्नार मिर्डल द्वारा लिखित भूमिका (पृष्ठ 9 और आगे; देखिए मिर्डल, *1965* मैकडागल मेमोरियल लेक्चर, रोम : खाद्य और कृषि संगठन *1965*), पृष्ठ 10 और आगे
29. संयुक्तराष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज कान्फ्रेंस आन एड एण्ड डिवेल्पमेंट, दूसरा

अधिवेशन, ऊपर उद्धृत प्रस्ताव 16 (2), 17 (2), 18 (2), 19 (2), 20 (2), पृष्ठ 34 और आगे
30. वही, प्रस्ताव 2 (2), 14 (2), पृष्ठ 45 और आगे
31. वही, प्रस्ताव 9 (2), पृष्ठ 30
32. दि सिगनीफीकेंस आफ दि सैकण्ड सैशन आफ दि यूनाइटेड नेशन्ज कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवलेपमेंट, सम्मेलन के महासचिव की रिपोर्ट, ऊपर उद्धृत पृष्ठ 3
33. संयुक्त राष्ट्र, यूनाइटेड नेशन्ज कान्फ्रेंस आन ट्रेड एण्ड डिवलेपमेंट, दूसरा अधिवेशन, ऊपर उद्धृत प्रस्ताव 21 (2), पृष्ठ 38
34. जब संसद के चुनाव के दौरान युवक-युवतियों की एक टोली ने प्रधानमन्त्री और अन्य पार्टियों के नेताओं से इस सम्बन्ध में सवाल पूछा तो यही उत्तर दिया गया, डाजेन्स नीहेतेर, 6 सितम्बर 1968

## अध्याय 10

### सहायता सम्बन्धी आँकड़ों का अवसरवादी उपयोग : 'वित्तीय प्रवाहों' का प्रश्न

1. स्टाकहोम इन्टरनेशनल पीस रिसर्च इन्स्टीट्यूट (एस० आई० पी० आर० आई) एस० आई० पी० आर० आई ईयर बुक आफ वर्ल्ड आर्मामेंट्स एण्ड डिस आर्मामेंट्स 1966।9 (स्टाकहोम : आक्विस्ट एण्ड विकसेल्ज, 1969)
2. आर्गानाइजेशन और इकानामिक कोआपरेशन एण्ड डेवेलपमेंट, डेवेलपमेंट असिस्टेंट कमेटी, स्टेटिस्टीकल टेबल्स फार दि 1969 एनुअल एंड रिव्यू, पेरिस, 17 जुलाई, 1969
3. स्वीडन के वित्त मन्त्रालय का समाचारपत्रों को भेजा गया समाचार, 14 फरवरी, 1969
4. वही,
5. विकास सहायता समिति (69) 32, पेरिस, 4 जून 1969
6. स्वीडन—और स्विट्जरलैंड ने भी,—लम्बे अरसे तक विकास सहायता समिति में हिस्सा नही लिया। स्वीडन इस सिद्धान्त पर कायम था कि *विकास सहायता की समस्याओं का समाधान क्षेत्रीय और विश्वव्यापी* संगठनों के अन्तर्गत किया जाना चाहिए, जहाँ स्वय कम-विकसित देश अपनी आवाज उठा सकते हैं। इसने विकास सहायता समिति की गतिविधियों की आलोचना की और विशेषकर उन आंकडो की जिनका संकलन समिति का सचिवालय करता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, स्वीडन ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ विकास समिति के आंकड़ों की आलोचना की जाती है। यह आलोचना लोकप्रिय पत्रिकाओं और दैनिक समाचारपत्रों में भी होती है। इस प्रकार और अन्य दृष्टियों से भी, स्वीडन एक अपवाद है।

*विकास सहायता समिति के आंकड़ों के प्रति कम-विकसित देशों की* प्रतिक्रिया के लिए आगे देखिए।

7. मिर्डल, 'दि इन्टर गवर्नमेंटल आर्गानाइजेशन्स एण्ड दि रोल आफ देयर सेक्रेटेरियट्स,' कैनेडियन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, 1969
8. इस शृंखला के अन्तिम प्रकाशन में जिसे इन्टरनेशनल फ्लो आफ लागटर्म कैपीटल एण्ड आफिशियल डोनेशन, 1962-1966 (न्यूयार्क 1968) उपशीर्षक से प्रकाशित किया गया है, एक अध्याय 'उलटे प्रवाह की समस्या' शामिल किया गया है, देखिए, पृष्ठ 50 और आगे।
9. यूनीवर्सिटी आफ मेरीलैंड समर स्कूल में 22 जुलाई, 1969 को सिनेटर चार्ल्स मैक मेथियाज जूनियर का भाषण हुआ।
10. संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन, व्यापार और विकास मण्डल, रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन इनविजिवल्स एण्ड फाइनेंसिग रिलेटेड ट्रेड, परिशिष्ट संख्या 2 (संयुक्त राष्ट्र, न्यूयार्क, 1969), परिशिष्ट डी, दो, पृष्ठ 20
11. जार्ज डी० वुड्स, संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के समक्ष भाषण, 9 फरवरी 1968, पृष्ठ 12; देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-9, (पृष्ठ 623 और आगे)
12. संयुक्त राष्ट्र, संयुक्त राष्ट्र का व्यापार और विकास सम्मेलन, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड 1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क, 1968), प्रस्ताव 33 (2, पृष्ठ 44 और आगे)
13. सयुक्त राष्ट्र पैनल आन फारेन इनवेस्टमेंट इन डेवेल्पिंग कन्ट्रीज, एम्स्टर्डम 16 (20) फरवरी 1969 (न्यूयार्क 1969)
14. चार्ल्स ए मीयर, 'लेटिन अमरीका, व्हट आर योर प्रायरटीज ?,' दि डिपार्टमेंट आफ स्टेट बुलेटिन, खण्ड-60, संख्या 1561 (26 मई 1969), पृष्ठ 442
15. पैनल आन फारेन एनवेस्टमेंट इन डवेल्पिग कन्टरीज, पृष्ठ 5
16. एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-9 (पृष्ठ 621 और आगे)
17. मीयर, लेटिन अमरीका, व्हट आर योर प्रायरटीज ? ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 440
18. क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरीकाज, पश्चिमी गोलार्द्ध सम्बन्धी अमरीकी राष्ट्रपति के एक प्रतिनिधिमण्डल की रिपोर्ट, नेलसन ए० रॉकफेलर, 1969 (साइक्लोस्टाइल प्रति, पृष्ठ 80)
19. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, प्राब्लम्स एण्ड प्रास्पैक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1965, पृष्ठ 117)
20. हाल में पाल स्ट्रीटन ने 'सेरीज,' खाद्य और कृषि संगठन द्वारा प्रकाशित पत्रिका, खण्ड-2, संख्या, 2 (मार्च-अप्रैल 1969) में 'इम्प्रूविंग दि क्लाइमेट,' शीर्षक लेख में इस बात पर फिर विचार किया है।
21. उदाहरण के लिए देखिए, भारत के योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल का वक्तव्य, एशियन ड्रामा, अध्याय-17, अनुभाग-9 (पृष्ठ 823 और आगे, पाद टिप्पणी 4)

## अध्याय 11

### सहायता

1. इस अध्याय में लेखक ने जो दृष्टिकोण अपनाया है और जिन समस्याओं पर विचार किया है, उनका विस्तार से अनुशीलन 'एन इन्टरनेशनल इकानामी . प्रॉब्लम्स एण्ड प्रास्पेक्ट्स (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1956) में किया गया है । यह पुस्तक 1954 में लिखित एक प्रबन्ध पर आधारित है। हार्पर टार्चबुक के रूप में 1969 में इसका पुनरप्रकाशन हुआ। देखिए, पृष्ठ 111 और आगे; 119 और आगे । दि अमेरिकन स्कालॅर, खण्ड 26, अंक 2 (वसन्त 1957), में प्रकाशित लेख 'ट्रेड एण्ड एड' भी देखिए पृष्ठ, 137 और आगे; देखिए, 'चैलेन्ज टू एफ्लुएन्स' (न्यूयार्क; विण्टेज बुक्स, 1965), पृष्ठ 193 और आगे
2. गुन्नार एडलर-कार्लसन, वेस्टर्न इकानामिक वारफेयर 1947-1967 ए केस स्टडी इन फारेन इकानामिक पालिसी (स्टाकहोम : आमक्विस्ट एण्ड विकसेल, 1968), भूमिका, पृष्ठ 11, अन्यत्र भी
3. वही
4. वही
5. दक्षिण एशिया के सम्बन्ध में देखिए, एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग 10-11 (पृष्ठ 625 और आगे), अन्यत्र भी । एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9 (पृष्ठ 119 और आगे) भी देखिए ।
6. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9 (पृष्ठ 124 और आगे); एशियन ड्रामा, अध्याय-13, अनुभाग-11 (पृष्ठ 635) भी देखिए ।
7. टेलर, दि स्ट्रगल फार मास्टरी इन यूरोप, 1918-1948 (ऑक्सफोर्ड : क्लारेनडन प्रेस, 1954)
8. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-7 (पृष्ठ 398 और आगे), देखिए, अध्याय-4, अनुभाग-12 (पृष्ठ 169 और आगे) और अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे)
9. यूजीन स्टेली, दि फ्यूचर ऑफ अन्डर डेवेल्ड कन्ट्रीज (लन्दन : हार्पर एण्ड रो, 1961), पृष्ठ 362 और आगे
10. एडली ई० स्टीवेनसन, कॉल टू ग्रेटनेस (न्यूयार्क · हार्पर एण्ड रो, 1954), पृष्ठ 92
11. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
12. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-9, पृष्ठ 127
13. वही, पृष्ठ 329
14. देखिए, मिर्डल एन इन्टरनेशनल इकानामी, अध्याय-8 (पृष्ठ 112 और आगे)
15. सेरीस, खाद्य और कृषि संगठन की समीक्षा, खण्ड-2, अंक 2 (मार्च-अप्रैल 1969)
16. हाल में वीना देल मार, चिली में मन्त्री-स्तर पर एक बैठक हुई, जिसमे लेटिन अमरीका के मंत्रियों ने यह निर्णय लिया कि वे संयुक्त राज्य अमरीका की वाणिज्य और वित्त नीतियों के प्रति समान रूप से विरोध प्रकट करेंगे ।

देखिए, दि लेटिन अमेरिकन कन्सेन्सस ऑफ वीना देल मार, 7 मई 1969, माइक्लोस्टाइल प्रति।
17. डेवेल्पमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, रिपोर्ट ऑफ दि प्रेसिडेन्ट्स जनरल एडवाइजरी कमेटी ऑन फॉरेन एसिस्टेन्स प्रोग्राम्स, 25 अक्तूबर 1968, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था द्वारा पुनर्मुद्रित (वाशिंगटन, 1969) पृष्ठ 1। जेम्स ए पर्किन्स इस समिति के अध्यक्ष थे।
18. 'डेवेलपमेण्ट—ए बैलेन्स शीट', विदेश विभाग की बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1540 (30 दिसम्बर 1968), पृष्ठ 705
19. विलियम एस० गाड, 'फारेन एड : व्हट् इट इज; हाउ इट वर्क्स; व्हाई वी प्रोवाइड इट', विदेश विभाग की बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1537 (9 दिसम्बर 1968), पृष्ठ 605
20. डेवेलपमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ 1
21. वही, पृष्ठ 6
22. विलियम एस० गाड, 'फारेन एड : व्हट इट इज; हाउ इट वर्क्स; व्हाई वी प्रोवाइड इट', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 603
23. डेवेलपमेण्ट एसिस्टेन्स इन दि न्यू एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ 6
24. न्यूज बुलेटिन, यूनाइटेड स्टेट्स इन्सर्मेशन सर्विस, स्टाकहोम कार्यालय, 2 जून 1969
25. ओवरसीज़ डेवेल्पमेण्ट (नवम्बर 1768) में प्रकाशित, पृष्ठ 9
26. सर्वे आफ इन्टरनेशनल डेवेलपमेण्ट, खण्ड-6, अंक-1 (15 जनवरी 1969)
27. संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के समक्ष 9 फरवरी 1968 को नई दिल्ली मे विश्व बैंक समूह के अध्यक्ष जार्ज डी० वुड्स का भाषण।
28. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-2, अनुभाग-18 (पृष्ठ 1897 और आगे); अनुभाग-3 (पृष्ठ 1847 और आगे) भी देखिए
29. टुअर्ड ए प्रिडामिनेण्टली मल्टीलेटरल एण्ड प्रोग्राम (वाशिंगटन, डी सी : दि ब्रूकिंग्स इंस्टिट्यूशन, मार्च 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति
30. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, पृष्ठ 133 और आगे
31. स्वीडन सरकार का विधेयक सख्या 100, स्टाकहोम, 1962
32. एशियन ड्रामा, अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 398 और आगे)
33. यूनाइटेड नेशन्स कान्फेरेन्स आन ट्रेड एण्ड डेवेलपमेण्ट, दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-1, रिपोर्ट और परिशिष्ट (न्यूयार्क : यूनाइटेड नेशन्स, 1968), प्रस्ताव-24 (2), पृष्ठ 54
34. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक, 1968 की संचालक मण्डल की बैठक, संक्षिप्त विवरण (वाशिंगटन, 1968), पृष्ठ 11
35. विकासशील देशो में सबसे कम-विकसित देशों का पता लगाने की समस्या : संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के सचिवालय की रिपोर्ट (टी डी/17/परिशिष्ट-1), दूसरा अधिवेशन नई दिल्ली, खण्ड-5, स्पेशल प्राब्लम्स इन दि वर्ल्ड एण्ड डेवेलपमेण्ट (न्यूयार्क : संयुक्त राष्ट्र, 1968)
36. विकासशील देशो मे से सबसे कम विकसित देशों के हित के लिए की जाने वाली विशेष कार्रवाई : संयुक्त राष्ट्र के व्यापार और विकास सम्मेलन के

*सचिवालय की रिपोर्ट; दूसरा अधिवेशन, नई दिल्ली, खण्ड-5, स्पेशल* प्राब्लम्स इन वर्ल्ड ट्रेड एण्ड डेवेल्पमेण्ट (न्यूयार्क : संयुक्त राष्ट्र, 1968)
37. टू वुड्स ए प्रिडोमिनेण्टली मल्टीलेटरल एण्ड प्रोग्राम, पृष्ठ 2
38. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक, यूजीन आर० ब्लैक का विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था के संचालक मण्डल समक्ष 28 सितम्बर 1962 को वाशिंगटन मे भाषण, पृष्ठ 8
39. जे० विलियम फुलब्राइट, दि एरोगेन्स आफ पावर (जोनायन केप, 1967), पृष्ठ 238 और आगे
40. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की 1968 की संचालक मण्डलो की वार्षिक बैठकें, संक्षिप्त विवरण, वाशिंगटन (1968), पृष्ठ 91 और आगे
41. मिर्डल, चैलेन्ज टू एफलुएन्स, पृष्ठ 131 और आगे
42. मिर्डल, एन इन्टरनेशनल इकानामी, पृष्ठ 130 और आगे
43. टूवर्ड ए प्रिडोमिनेण्टली मल्टीलेटरल एड प्रोग्राम, पृष्ठ 1
44. मिर्डल, एन अमेरिकन डिलेमा : दि नीग्रो प्राब्लम एण्ड माडर्न डेमोक्रेसी (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1944), पृष्ठ 1020

## अध्याय 12

## एक बोझिल भ्रान्ति

1. एशियन ड्रामा, अध्याय-16, अनुभाग-19 (पृष्ठ 795 और आगे)
2. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 114 और आगे); अध्याय-16 अनुभाग-19 (पृष्ठ 795 और आगे); अन्यत्र भी
3. वही, अध्याय-16, अनुभाग-13 (पृष्ठ 780 और आगे)
4. वही, अध्याय-16, अनुभाग-19 (पृष्ठ 796 और आगे)

## अध्याय 13

## एक निर्णायक घटना

1. एरिच एच० जैकोबी इन दिनों इसी दृष्टिकोण से स्टाकहॉम विश्वविद्यालय की अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र अध्ययन संस्था में एक अध्ययन मे लगे है। मैन एण्ड लैण्ड, दि की इश्यू इन डेवेल्पमेण्ट शीर्षक से इसका प्रकाशन लन्दन में आन्द्रे दूयुश करेंगे। उनका इरादा लेटिन अमरीका की परिस्थितियो पर विशेष ध्यान देने का है।
2. वही, अध्याय-24, अनुभाग-9 (पृष्ठ 1196 और आगे), अन्यत्र भी
3. मिर्डल, दि पॉलिटिकल एलिमेण्ट इन दि डेवेल्पमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953), अध्याय-3 (पृष्ठ 61 और आगे)
4. मिर्डल, चैलेन्ज टू एफलुएन्स (न्यूयार्क : विण्टेज बुक्स, 1965), अध्याय-3 (पृष्ठ 40 और आगे), अन्यत्र भी, और एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड : दि रेशियल क्राइसिस इन पर्सपेक्टिव (न्यूयार्क : पान्थियन बुक्स, 1970)
5. एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड
6. वही, परिशिष्ट-2, भाग दो (पृष्ठ 185 और आगे)

7. यूनाइटेड नेशन्स, सामाजिक नीति और आयोजन के विशेषज्ञ मण्डल की बैठक की रिपोर्ट, इक्कीसवाँ अधिवेशन, जिनीवा, 4-10 मार्च 1970 (ई/सी एन 5/445, 21 अक्टूबर 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति

## अध्याय 14

## दक्षिण एशिया में राजनीतिक गतिशीलता

1. एशियन ड्रामा, अध्याय 7-9 (पृष्ठ 257 और आगे)
2. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 280)
3. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 273 और आगे); अनुभाग-6 (पृष्ठ 296 और आगे)
4. वही, अध्याय-8, अनुभाग-7 (पृष्ठ 325 और आगे)
5. वही, अध्याय-8, अनुभाग-9 (पृष्ठ 338 और आगे)
6. वही, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 115), परिशिष्ट-2, अनुभाग-18-20 (पृष्ठ 1897 और आगे; विशेषकर पृष्ठ 1910, पाद टिप्पणी-1)
7. बेंजामिन हिगिन्स, इकानामिक डेवेल्पमेण्ट : प्रिंसिपल्स, प्राब्लम्स, एण्ड पालिसीज, संशोधित संस्करण (कान्स्टेबल एण्ड कम्पनी, 1968), पृष्ठ 262
8. वही, पृष्ठ 265 और आगे
9. एशियन ड्रामा, अध्याय-3, अनुभाग-8 (पृष्ठ 116 और आगे)
10. वही, अध्याय-24, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1184 और आगे); अन्यत्र भी
11. वही, अध्याय-24, अनुभाग 7-9 (पृष्ठ 1184 और आगे); अन्यत्र भी
12. वही, अध्याय-18, अनुभाग-14 (पृष्ठ 895 और आगे)
13. वही, अध्याय-18, अनुभाग-12 (पृष्ठ 885, पाद टिप्पणियाँ 3 और 4)
14. वही, अध्याय-7, अनुभाग-6 (पृष्ठ 296 और आगे)
15. वही, अध्याय-7, अनुभाग-7 (पृष्ठ 301 और आगे); पुनश्च:, अनुभाग-1 (पृष्ठ 1831 और आगे)
16. वही, अध्याय-7, अनुभाग 3-7, (पृष्ठ 273 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 295 और आगे)
17. वही, अध्याय-22, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1061 और आगे)
18. वही, अध्याय-9, अनुभाग-11 (पृष्ठ 381 और आगे)
19. वही, अध्याय-33, अनुभाग-7 (पृष्ठ 1791 और आगे); देखिए अनुभाग-2 (पृष्ठ 1716 और आगे)
20. वही, अध्याय-17, अनुभाग-16 (पृष्ठ 86 और आगे); देखिए अनुभाग-5 (पृष्ठ 51 और आगे)
21. वही, अध्याय-7, अनुभाग-6 (पृष्ठ 299 और आगे)
22. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1301 और आगे)
23. वही, अध्याय-26, अनुभाग-12 (पृष्ठ 1301 और आगे); देखिए, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1311 और आगे)
24. वही, अध्याय-23, अनुभाग-5 (पृष्ठ 1121 और आगे)
25. वही, अध्याय-7, अनुभाग-3 (पृष्ठ 273 और आगे); अन्यत्र भी

26. वही, अध्याय-33, अनुभाग-6 (पृष्ठ 1787 और आगे)
27. वही, अध्याय-4, अनुभाग-12 (पृष्ठ 169 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-13 (पृष्ठ 221 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-16 (पृष्ठ 389 और आगे)
28. वही, अध्याय-4, अनुभाग-11 (पृष्ठ 162 और आगे); अध्याय-5, अनुभाग-12 (पृष्ठ 217 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग 9-10 (पृष्ठ 374 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 379 और आगे)
29. वही, अध्याय-2, अनुभाग-4 (पृष्ठ 65, पाद टिप्पणी 2)
30. वही, अध्याय-9, अनुभाग-8 (पृष्ठ 369 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 374 और आगे)

## अध्याय 15

## अर्थशास्त्र का दायित्व

1. मिर्डल, इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स (डकवर्थ एण्ड कम्पनी, 1957), पृष्ठ 120; संयुक्त राज्य अमरीका में रिच लैंड्स एण्ड पूअर शीर्षक से प्रकाशित (न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1958)
2. मिर्डल, दि पालिटिकल एलिमेण्ट इन दि डेवेलपमेण्ट ऑफ इकानामिक थ्योरी (रुटलेज एण्ड केगनपाल, 1953; कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954), अध्याय-3 (पृष्ठ 56 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 78 और आगे); देखिए इकानामिक थ्योरी एण्ड अण्डर डेवेल्प्ड रीजन्स, भाग-2 (पृष्ठ 107 और आगे, विशेषकर पृष्ठ 114 और आगे)
3. मिर्डल, दि पालिटिकल एलिमेण्ट इन इकानामिक थ्योरी, अध्याय-4 (पृष्ठ 80 और आगे)
4. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-3, अनुभाग-2 (पृष्ठ 1944, पाद टिप्पणी 3); परिशिष्ट-7, अनुभाग-1 (पृष्ठ 2063, पाद टिप्पणी 1); देखिए, परिशिष्ट-2, अनुभाग-14 (पृष्ठ 1884 और आगे)
5. वही, आमुख, अनुभाग-1 (पृष्ठ 5 और आगे)
6. मिर्डल, आब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च (न्यूयार्क : पान्थियन बुक्स, 1969), अनुभाग-8 (पृष्ठ 39 और आगे)

## परिशिष्ट

## लेटिन अमरीका की विस्फोटक स्थिति

1. नेलसन ए० रॉकफेलर, क्वालिटी ऑफ लाइफ इन अमेरिकाज़, अमरीकी राष्ट्रपति की ओर से भेजे गये एक प्रतिनिधि मण्डल की पश्चिमी गोलार्द्ध के बारे में रिपोर्ट (वाशिंगटन, 1969), साइक्लोस्टाइल प्रति।
2. एशियन ड्रामा, परिशिष्ट-2, अनुभाग-24 (पृष्ठ 1932 और आगे)
3. यू० एस० न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 14 जुलाई 1969, पृष्ठ 68
4. जुआन बोश, पेंटागनिज्म : ए सब्सटिट्यूट फार इम्पीरियलिज्म, अनुवादक हेलेन आर० लेन (न्यूयार्क : ग्रोव प्रेस, 1969)
5. मिर्डल एन अमेरिकन डिलेमा रिविज़िटेड : दि रेशियल क्राइसिस इन

पर्सपेक्टिव (न्यूयार्क : पान्यियन बुक्स, 1970)
6. यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 14 जुलाई 1969, पृष्ठ 68-9
7. क्वालिटी आफ लाइफ इन दि अमेरिकाज, पृष्ठ 5, 14, 25, 80
8. वही, पृष्ठ 80
9. रिचर्ड जे० वार्नेट, इण्टरवेंशन एण्ड रिवोल्यूशन : दि यूनाइटेड स्टेट्स इन दि थर्ड वर्ल्ड (न्यूयार्क : दि वर्ल्ड पब्लिशिंग कम्पनी, 1968), पृष्ठ 19, पाद टिप्पणी-8
10. उदाहरण के लिए देखिए, अन्तर-अमरीकी मामलों के सहायक मन्त्री, चार्ल्स ए० मीयर की विदेश सम्बन्धों की सीनेट समिति की पश्चिमी गोलार्द्ध के मामलों सम्बन्धी उपसमिति के समक्ष 8 जुलाई, 1969 को दी गई साक्षी, जिसे दि डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टेट बुलेटिन, खण्ड-59, अंक-1571, में 'यू० एस० मिलिटरी एसिस्टेन्स पॉलिसी टुवर्ड लेटिन अमेरिका' शीर्षक से 4 अगस्त 1969 को प्रकाशित किया गया।
11. वही, पृष्ठ 100
12. वही, पृष्ठ 101
13. डेक्लेरेशन ऑफ लेटिन अमेरिकन स्पेशलिस्ट्स आन प्रोफेशनल रेसपोन्सिबिलिटी, जनवरी 1969, साइक्लोस्टाइल प्रति। यह उल्लेखनीय है कि अमरीका की विदेश नीति और विदेशों में तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों से समाज विज्ञानियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल लेटिन अमरीका तक ही सीमित नही है। भारत की सरकारी पत्रिका, इण्डियन एण्ड फारेन रिव्यू, खण्ड-6, अंक-10, 1 मार्च 1969 में 'एकेडेमिक इम्पीरियलिज्म' शीर्षक से एक हस्ताक्षरित और सम्भवत: सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें भारत में इसी प्रकार की शिकायतों के बारे में बड़ी कड़ाई से विचार प्रकट किये गये थे।
14. क्वालिटी ऑफ लाइफ इन दि अमेरिकाज, पृष्ठ 49
15. वही, पृष्ठ 25
16. वही, पृष्ठ 21
17. वही, पृष्ठ 45
18. वही, पृष्ठ 14 और 22
19. वही, पृष्ठ 61 और आगे
20. वही, पृष्ठ 72 और आगे
21. वही, पृष्ठ 42 और आगे
22. चार्ल्स ए० मीयर, 'यू० एस० असिस्टेंस पालिसी टुवर्ड लेटिन अमेरिका', ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 102
23. क्वालिटी ऑफ लाइफ इन दि अमेरिकाज, पृष्ठ 46
24. वही, पृष्ठ 18
25. वही, पृष्ठ 17 और आगे
26. वही, पृष्ठ 15 और आगे
27. बैरिंगटन मूर, जूनियर, सोशल ओरिजिन्स ऑफ डिक्टेटरशिप एण्ड डेमोक्रेसी : लार्ड एण्ड पेजेण्ट इन दि मेकिंग ऑफ दि माडर्न वर्ल्ड (एलेन लेन

दि पेन्गुइन प्रेस, 1967), पृष्ठ 505

28. मेरे लिए यह सम्भव नही हुआ कि मैं वैज्ञानिक विश्लेषण में एक तकनीकी शब्द के रूप मे 'मार्क्सवाद' का उपयोग करूँ (एशियन ड्रामा, अध्याय-15, अनुभाग-5, पृष्ठ 726, पादटिप्पणी 1, अन्यत्र भी)। अनेक प्रकार के सिद्धान्तो और विचारधाराओं को अभिव्यक्ति देने के लिए सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जबकि इनमें से अनेक सिद्धान्तों और विचारधाराओ को अस्पष्ट छोड़ दिया जाता है।

(1) 'मार्क्सवाद' का एक स्पष्ट अर्थ निश्चय ही स्वयं मार्क्स की अपनी *संकल्पनाओं मे निहित होगा। यदि इस शब्द का यही एकमात्र अर्थ लिया* जाय, तो मैं उद्धरण चिह्न हटा देने के लिए तैयार हो जाऊंगा। कुछ दृष्टियों से मार्क्स के अपने विचारों को मूर्तरूप देना कठिन है, और कालान्तर में इनमें कुछ परिवर्तन भी हुआ है। लेकिन मार्क्स ने जो कुछ लिखा उसे ध्यान में रखते हुए, सिद्धान्तरूप में, 'मार्क्सवाद' का विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। समकालीन लेखन मे 'मार्क्सवाद' का शायद ही कभी यह अर्थ दिया जाता है अथवा कभी भी यह अर्थ नही दिया जाता, केवल कुछ ऐसे लोगों को छोड़कर जो स्वयं को मार्क्सवादी कहते हैं; नीचे (5) देखिए।

(2) जैसाकि मैंने इस पुस्तक में और अपनी अन्य रचनाओं मे अक्सर कहा है, पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने बहुत अधिक सीमा तक मार्क्स के सिद्धान्तों को अंगीकार किया पर उन्होने इसके उद्गम की बात नही कही अथवा उन्हें इस बात की जानकारी ही नहीं थी। अब क्योंकि यह कार्य अनजाने मे और अक्सर मार्क्स की रचनाओं के अधिक ज्ञान के बिना हुआ, इन सिद्धान्तों को उस रूप में परिष्कृत और स्पष्ट नही किया जा सका जिस रूप में मार्क्स इनका अर्थ लेते थे। अक्सर इन्हें अन्तर्निहित मान्यताओं के रूप मे छोड़ दिया गया। जब अन्तर्भूत समालोचना के द्वारा इनका स्वरूप स्पष्ट किया गया तो ये मार्क्स के विचारो का भदेस स्वरूप दिखायी पडे। इसी कारण से इन सिद्धान्तों को स्वयं पश्चिम के लेखक अथवा अन्य कोई भी मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार नहीं करता। इस छिपे 'मार्क्सवाद' को ढूँढ निकालना और इसकी सैद्धान्तिक विरासत को उजागर कर देना अनेक शोध-प्रबन्धों का विषय बन सकता है।

(3) इसके अलावा कम्युनिस्ट देशों के लेखकों और पश्चिम के देशों की विभिन्न कम्युनिस्ट पार्टियों से सम्बद्ध लेखकों ने भी अपने लेखन में सिद्धान्तों और विचारधाराओ का प्रतिपादन किया है। ये लेखक स्पष्ट रूप से और जोर देकर *अपनी रचनाओं को 'मार्क्सवादी' घोषित करते हैं।* और वे यह सिद्ध करने के लिए कठोर अध्यवसाय करते हैं। पर वास्तव में इन लोगों का 'मार्क्सवाद' अनेक दृष्टियों से पश्चिम के अर्थशास्त्रियो के छिपे 'मार्क्सवाद' से कही अधिक मार्क्स की अपनी विचारधारा से दूर है।

(4) संयुक्त राज्य अमरीका में विशेषरूप से 'गैर मार्क्सवादी' अत्यधिक विस्तृत और व्यापक अर्थों में हर प्रकार की वामपन्थी विचारधारा को दर्शाने के लिए 'मार्क्सवाद' का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार कम-विकसित

देशों मे भी यह प्रयोग होता है, उदाहरण के लिए एशिया के देशों में 'मार्क्सवाद' के बारे में जो साहित्य उपलब्ध है उसका अधिकांश भाग इसी कोटि के अन्तर्गत आता है, विशेषकर अमरीकी साहित्य। यह सर्वाधिक अस्पष्ट संकल्पना है।

(5) अन्त में अनेक वामपन्थी लेखकों की विचारधारा हमारे सामने आती है जो स्वयं को मार्क्सवादी बताते हैं, पर ये जरूरी नही कि वे कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का अनुसरण करते हों। इनमें से कुछ ही लेखकों के विचार स्पष्ट और स्थिर हैं। जब कभी यह होता है तब अनेक दृष्टियों से उनकी विचारधारा स्वयं मार्क्स की अपनी विचारधारा से बहुत भिन्न होती है। इनमें से कुछ लेखक इस बात को समझते हैं और अपने प्रतिपादनों को मार्क्स के विचारों का विकसित स्वरूप बताते हैं।

इस तथ्य के कारण इस विचार की आवश्यकता हुई क्योकि लेटिन अमरीका के प्रति संयुक्त राज्य अमरीका की साम्राज्यवादी नीतियों के वे आलोचक जो यह कल्पना करते रहते हैं कि जनता और संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा समर्थित शासक समूहों के बीच मुठभेड़ किसी भी क्षण होने वाली है, स्वयं को मार्क्सवादी कहते हैं।

मैं उनकी इन आशाओं से सहमत नही हूँ कि लेटिन अमरीका में जनता जल्दी विद्रोह करेगी। लेकिन मैं यह भी जोर देकर कहना चाहता हूँ कि पूँजीवादी समाज की 'गतिशीलता के नियमो' के अमूर्त नमूने तैयार करने मे अपनी समस्त दिलचस्पी के बावजूद बुनियादी तौर पर अनुभव के अनुसार काम करने मे आस्था रखते थे। अतः वे यथार्थ के स्वरूप के बारे में निष्कर्ष निकालने के लिए किसी भी व्यक्ति के अधिकारिकता के विरुद्ध थे। अपनी रचनाओं में कम-से-कम दो बार उन्होने अपने युग के 'मार्क्सवादियों' के खिलाफ घृणा प्रकट की। यह सम्भव दिखायी पड़ता है कि सौ वर्ष बाद वे अपने विचारों क व्याख्याकारों की कही कड़ी भर्त्सना करते।

यदि आज मार्क्स जीवित होते तो वे उन सब बातों पर विचार करते जिनकी अब हमें जानकारी है पर एक शताब्दी से अधिक समय पहले जिन बातों की जानकारी उन्हें नही हो सकती थी। यह भी निश्चय है कि वे हीगल और अन्य जर्मन दार्शनिको के ऊपर निर्भरता से मुक्त होते जो प्रायः उनके समकालीन थे।

मेरा विश्वास है कि यह बात कही अधिक महत्त्वपूर्ण होती कि वे स्वयं को परिणाम-परक सिद्धान्त के नैसर्गिक-नियम दर्शन की शक्तिशाली परम्परा के प्रभाव से मुक्त कर लेते जिसके प्रभाव के अन्तर्गत वे स्वयं और उनके प्रतिद्वन्द्वी (संस्थापित उदारतावादी विचारक) कार्य कर रहे थे यद्यपि मार्क्स और उनके प्रतिद्वन्द्वियों दोनों ने सिद्धान्तरूप मे इनका खण्डन किया था। यह अन्तिम और प्रमुख दार्शनिक प्रभाव मार्क्स सम्बन्धी लेखन में शायद ही कभी दिखायी पड़ता है क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में 'मार्क्स विरोधी' और 'मार्क्सवादी' भी आज तक इसके प्रभाव में हैं।

यह निश्चित है कि मार्क्स आजकल के 'मार्क्सवादियों' की विभिन्न कोटियों में से किसी भी कोटि में न होते। मार्क्स किस प्रकार काम करते थे उसका अध्ययन करने के बाद मैं यह विश्वास करने के लिए कारण देखता हूँ कि लेटिन अमरीका के सम्बन्ध मे वे जो निष्कर्ष निकालते, वे इस परिशिष्ट मे दिये गये निष्कर्षों से अधिक भिन्न न होते, पर जैसाकि स्पष्ट है मैं यह बात निर्णायक रूप से नही कह सकता।

मार्क्स और 'मार्क्सवाद' के बारे में यह संक्षिप्त विवेचन एक अतिरिक्त टिप्पणी के रूप मे दिया गया है। इन विचारों को सूक्ष्म बनाने और प्रमाणित करने के लिए बहुत अधिक विस्तृत विवेचन की आवश्यकता होगी।

29. एशियन ड्रामा, अध्याय-4, अनुभाग-6 (पृष्ठ 147 और आगे); अध्याय-9, अनुभाग-12 (पृष्ठ 386 और आगे)
30. यू० एस० न्यूज एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट, 27 जनवरी 1969, पृष्ठ 63

●●●